कल्याण
Vol. 71 1997 No. 6-11

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

Vol. 71
1997
No. 6-11

वर्ष ७१ संख्या ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, जून १९९७ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

श्रीरामदरबारकी झाँकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

वर्ष ७१ } गोरखपुर, सौर आषाढ़, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, जून १९९७ ई० { संख्या ६ पूर्ण संख्या ८४७

भगवान् श्रीरामका ध्यान

रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालंकृतं
श्यामाङ्गं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतया शोभितम्।
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैर्भ्रात्रादिभिर्भावितं
वन्दे विष्णुशिवादिसेव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम्॥

'जो भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले हैं; ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि निरन्तर जिनकी सेवा किया करते हैं; हनुमान्, सुग्रीव एवं भरत आदि भाई बड़े प्रेमसे जिनकी आराधनामें लगे रहते हैं; जो अहैतुक और अनन्त करुणारूपी अमृतके सागर हैं; जिनके साथ श्रीसीताजी शोभायमान हो रही हैं; उन श्यामसुन्दर, द्विभुज, पीताम्बरधारी, प्रसन्नमुख, लाल कमलके दलके समान सुन्दर नेत्रवाले भगवान् श्रीरामकी मैं वन्दना करता हूँ।'

कल्याण

याद रखो—सौन्दर्य किसी बाहरी रूप-रंग, वेश-भूषा और साज-शृंगारमें नहीं है; यह सब तो काल्पनिक है। कहीं गौर-वर्ण सुन्दर माना जाता है तो कहीं कृष्ण-वर्ण। इसी प्रकार वेश-भूषा, साज-शृंगारमें भी सुन्दरताकी कल्पना भिन्न-भिन्न है। शरीरके अवयवोंकी सुन्दरताके विषयमें भी लोगोंकी पृथक्-पृथक् कल्पना है। विषयासक्तको विषय-कामना बढ़ानेवाले अङ्ग सुन्दर लगते हैं और विषय-विरक्तको वे ही अत्यन्त भयानक प्रतीत होते हैं।

याद रखो—वस्तुतः जिसका हृदय सुन्दर है, जिसके अन्तरमें विषय-विराग, त्याग, अहिंसा, प्रेम, करुणा, परदुःखकातरता, विनय, दया, नम्रता, सहिष्णुता, सेवा, संयम, साधुता, समता, शान्ति आदि सुन्दर विचार, भाव, गुण भरे हैं, वही वस्तुतः सुन्दर है। ऐसे सुन्दर हृदयवाले पुरुष या स्त्रीकी मुखाकृतिमें, उसके नेत्रोंमें, उसके अङ्ग-अङ्गमें भीतरके इन सुन्दर भावों—गुणोंका प्रकाश अपने-आप छा जाता है और वह देखनेवालोंके हृदयमें उसके भावोंकी न्यूनाधिकताके अनुपातसे इन गुणोंका प्रकाश करता है।

याद रखो—किसीको देखकर तुम डर जाते हो, किसीको देखकर निर्भय हो जाते हो; किसीको देखते ही क्रोध उत्पन्न होता है, किसीको देखकर क्षमाका उदय हो जाता है; किसीको देखकर कामके वश हो जाते हो, किसीको देखते ही संयमकी सहज उत्पत्ति हो जाती है; यह सब इसीलिये होता है कि उसकी मुखाकृति आदिसे वैसे ही भावोंका प्रकाश हो रहा है।

याद रखो—जगत् त्रिगुणात्मक है, इसलिये सभीके अन्तरमें कम-ज्यादा सात्त्विक गुण भी है, तमोगुण भी है। देवता भी हैं, राक्षस भी हैं। तुम अपने सात्त्विक या तामस गुणसे, देवभाव या आसुरभावसे किसीके अंदरके देवताको जगा देते हो तो किसीके अंदरके असुरको जगा देते हो।

याद रखो—सुन्दर वह है जिसे देखते ही हमारे पापके विचार दब जायँ, लुप्त हो जायँ और पुण्यके विचार जग जायँ, बढ़ जायँ। देवता जगकर क्रियाशील हो जाय और असुर-राक्षस दबकर मृतवत् हो जाय।

याद रखो—जिसके हृदयमें आसक्ति, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, वैर, हिंसा, मोह, मद, अभिमान, विषमता, भोगपरायणता, अशान्ति आदि दुर्विचार, दुर्भाव और दुर्गुण भरे हैं, वह बाहरसे सुन्दर दीखनेपर भी, वेश-भूषासे सुसज्जित होनेपर भी वस्तुतः सुन्दर नहीं है, भयानक है। वह स्वयं सदा दोषोंका घर बना रहता है; क्योंकि उसके अंदरका असुर-राक्षस जगा हुआ सक्रिय हो रहा है और उसके सम्पर्कमें जो आता है, उसको भी वह अपनी नकली सुन्दरताके पर्देमें छिपे भयानक विचार-भाव देकर उसे भी असुर-राक्षस बना देना चाहता है।

याद रखो—जिस सुन्दरताके साथ हमारे चरित्रकी पवित्रता, भावोंकी विशुद्धि और आचरणकी शुचिता है, वही सुन्दरता वास्तविक है। शेष समस्त सौन्दर्य यथार्थतः वैसा ही है, जैसा जहरसे भरा चमकता हुआ स्वर्ण-कलश। इस भयानक सुन्दरतासे अपनेको बचाओ और इसीलिये बाहरी रूप-रंग, वेश-भूषा, साज-शृंगारके चक्करमें न पड़कर विचारों, भावों और गुणोंको तथा उसीके अनुसार अपनी क्रियाको सुन्दर बनाओ। इससे शरीर स्वस्थ होगा, मन स्वस्थ होगा, बुद्धि स्वस्थ होगी; क्योंकि इसीसे स्वस्थ आत्माके शुभदर्शन होंगे।

याद रखो—गंदे विचार, असद्भाव, दुर्गुण तथा दुष्कर्म स्वयं नरक हैं और नरकोंमें ले जानेवाले हैं। उनमें सर्वत्र गंदगी तथा कुरूपता भरी है, भले ही भ्रमसे वे कहीं बाहरसे स्वच्छ, सुन्दर प्रतीत होते हों।

याद रखो—भगवान् श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर हैं—उनका बाहरी रंग गोरा नहीं, पर उनकी सुन्दरता सबको मोह लेती है; इसीलिये कि उनके बाहर-भीतर, सर्वत्र सदा परम कल्याणमय, नित्य नवीन सुन्दर दिव्य भगवत्ताका प्रकाश हो रहा है। इस श्याम-प्रकाशमें डूब जाओ तो तुम भी बाहर-भीतरसे परम सुन्दर हो जाओगे—

'ज्यों-ज्यों डूबै स्यामरँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।'

—**'शिव'**

सार बात

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रत्येक माता-बहनों और भाइयोंको यह सोचना चाहिये कि हमारे मनसे कितने दुर्गुण मिटे तथा हमारे मनमें कितने सद्गुण-सदाचार आये और ईश्वरकी भक्तिका सिलसिला किस प्रकार शुरू हुआ। विचार करनेकी आवश्यकता है कि यदि आजके २० वर्ष पहले अथवा १० वर्ष पहले जैसी स्थिति थी वैसी ही आज भी है तो फिर अपना सुधार ही क्या किया? उसी समय दुःखोंका अत्यन्त अभाव करना चाहिये था। अस्तु, समय तो बहुत बीत गया, अब भी अपने दुर्गुणों-दुराचारोंको एकदम कुचल डालना चाहिये। सब प्रकारके दुःखोंका समूल नाश कर डालना चाहिये—समाप्त कर देना चाहिये। जो असली सुख—असली आनन्द है, उसे प्राप्त करनेका उपाय करना चाहिये। असली वस्तु वह है जो सदा कायम रहे।—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता २। १६)

जो सत् होता है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो मिथ्या वस्तु होती है, उसका भाव नहीं होता। सत् वस्तु तो है आत्मा और नाश होनेवाली वस्तु है शरीर। शरीरसे अपना सम्बन्ध ही क्या? शरीर तो नाशवान् पदार्थ है और आत्मा अविनाशी है। जब इस प्रकारका अनुभव साधकको हो जाता है तब शरीरके नाश होनेसे वह अपना नाश नहीं मानता, शरीरके नाश होनेसे उसे कष्ट नहीं होता। खयाल करना चाहिये कि ईश्वरने हमें जो विवेक दिया है, बुद्धि दी है, उसका सदुपयोग करना चाहिये, उससे हमें विशेष लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरने हम लोगोंको विवेक, ज्ञान एवं बुद्धि दी है उत्तरोत्तर उसे बढ़ानेके लिये, मुक्ति-प्राप्तिके लिये, किंतु हमारी जो उस विषयमें चेष्टा नहीं है, यह कितनी मूर्खताकी बात है। जिस ज्ञान और बुद्धिसे परमात्माका तत्त्व-रहस्य जाना जा सकता है, मुक्ति हो सकती है, परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है उस ज्ञान और बुद्धिको हम लिये बैठे रहें, उसकी उन्नति नहीं करें तो यह हमारी बहुत बड़ी मूर्खता है। हम लोगोंको सारे दुःखोंका सारे क्लेशोंका एकदम नाश कर डालना चाहिये। सारे पापोंको—दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन, आलस्य, प्रमाद एवं समस्त भोगोंको विषके समान समझकर इनका त्याग कर देना चाहिये।

उत्तम आचरण, उत्तम गुण, हृदयके उत्तम भाव ईश्वरकी भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार एवं धर्मका पालन—इन सबको अमृतके समान समझकर हर समय सेवन करना चाहिये, हमेशा इसका आस्वादन करना चाहिये, मुग्ध होना चाहिये, उत्तरोत्तर खूब चेष्टा करनी चाहिये। हम लोगोंकी वर्तमानमें जो चेष्टा है, वह बहुत ही साधारण है, इसपर हम लोगोंको ध्यान देना चाहिये और अपने साधनमें तीव्रता लानी चाहिये, जिससे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाय। हम लोग इस संसारके विषय-भोगोंको भोगनेके लिये नहीं आये हैं, इसे तो पशु-पक्षी भी भोगते हैं। हम आये हैं अपनी आत्माके उद्धारके लिये। यह हमारी नासमझी है कि हम अपनी आत्माके उद्धारको असम्भव समझकर, कठिन समझकर उससे उपराम-से हो रहे हैं। मनुष्यके लिये संसारमें कोई बात असम्भव है ही नहीं, कठिन है ही नहीं, जिसे मनुष्य कर न सके। यह दुर्लभ मनुष्य-योनि जो हम लोगोंको प्राप्त है, इससे हम लोगोंको विशेष लाभ उठाना चाहिये। कारण कि ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते जीवको परेशान देखकर भगवान्ने इसके आत्माके कल्याणके लिये, उद्धारके लिये इसे मनुष्य-शरीर दिया है। अतः जितने पदार्थ हैं उनके बदले परमात्माको खरीद लेना चाहिये। यानी परमात्माकी प्राप्तिमें इन सबको खर्च कर देना चाहिये। क्योंकि जब हम मर जायँगे, तब इन पदार्थोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं रहेगा फिर हमारी मूर्खता ही सिद्ध होगी। इसलिये हमें यह काम शीघ्र ही बना लेना चाहिये। मनुष्य-शरीर पाकर यदि अपना सुधार किये बिना हम यहाँसे विदा हों तो हमारे लिये यह बड़ा भारी लांछन है। किसी कविने कहा है—

आये थे कुछ लाभको खोय चले सब मूल।
फिर जावोगे सेठ पै पले पड़ेगी धूल॥

तात्पर्य यह कि आये थे तो कुछ लाभके लिये, किंतु जो कुछ मूल लाये थे (मनुष्य-जन्मकी आयु) उसको भी खोकर चले गये। ऐसी स्थितिमें जब यमराजके पास जायँगे और उससे कहेंगे कि हमको मनुष्यका शरीर दो तो क्या फिर मनुष्य-शरीर मिलेगा? नहीं मिलेगा अर्थात् धूल पल्ले पड़ेगी। इन सब बातोंको सोचकर अपना काम शीघ्र-से-शीघ्र बना लेना चाहिये—

कबिरा नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय॥

अतः हर समय भगवान्‌को याद रखना चाहिये, इसमें कमी नहीं रखनी चाहिये। विचार करनेसे मालूम होता है कि इस समय नित्य-निरन्तर भगवान्‌को याद रखनेसे भगवान्‌की प्राप्ति बहुत ही सहजमें—सुगमतासे शीघ्र ही हो सकती है, क्योंकि भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'जो अनन्यचित्त हुआ नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है उस योगी (भक्त)-के लिये मैं सहजहीमें प्राप्त हो जाता हूँ।' जब ऐसी बात भगवान् स्वयं कह रहे हैं तो फिर उनके वचनोंको सुनकर भी उनसे मिले बिना हम कैसे रह सकते हैं। भगवान्‌का न मिलना जो हम बर्दाश्त कर रहे हैं, इसका मतलब है कि हमारी उनके वचनोंमें श्रद्धा नहीं है, अन्यथा भगवान्‌के दर्शन किये बिना कोई एक क्षण भी कैसे रह सकता है। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर हम लोगोंको बहुत तेजीसे साधन करना चाहिये। किसी प्रकारके बहकावेमें आकर, दबावमें आकर, संसारी पदार्थोंके लोभमें आकर अपना समय बरबाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये सब संसारी पदार्थ—रुपये और गहने आदि यहीं पड़े रहेंगे। इन तुच्छ, नश्वर वस्तुओंके लोभमें हम अपने असली कामको छोड़ दें तो यह कितनी भारी मूर्खताकी बात है! परमात्माका नित्य-निरन्तर भजन-ध्यान अवश्य ही करते रहना चाहिये। उसमें तो किसी प्रकारकी—एक क्षणकी भी बाधा आनी ही नहीं चाहिये। हमारे लिये यह उत्तम-से-उत्तम बात है। यदि कहा जाय कि इसके लिये साधन क्या है? तो भगवान्‌के नाम और रूपका प्रत्येक क्षण स्मरण करके यानी भगवान्‌के नामका जप करने और भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करने तथा निष्काम-भावसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भजन करनेसे बढ़कर और क्या साधन है! यदि इन सब बातोंको सुनकर, समझकर इनमें हम दिलचस्पी नहीं लें, तत्पर नहीं हों तो यह हमारी बड़ी भारी गलती होगी। इन सार-सार बातोंको काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ये ऐसी अमूल्य बातें हैं कि इनको अपने हृदयमें धारण कर ही लेना चाहिये। कोई कठिन नहीं है, यदि हम यह समझ लें कि यह धारण करने योग्य है तो अपने-आप धारण हो जानी चाहिये। इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। ऐसा अवसर अपने हाथसे नहीं जाने देना चाहिये।

किसी कविने कहा है—

पाय परमपद हाथ सों जात गयी सो गई अब राख रहीको।

यह पाया हुआ परमपद तुम्हारे हाथसे जा रहा है, जो समय चला गया, वह तो चला गया; अब जो बाकी है, उसकी रक्षा करनी चाहिये।

परमात्माकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है। समय तो है ही। हम लोग जीवित हैं, शरीरमें प्राण है, फिर कौन बड़ी बात है। बस यही करना है कि अबसे लेकर मरणतक भगवान्‌को नहीं भूलें। भगवान्‌के नाम-रूपको याद रखते रहें तो हमारा निश्चय ही कल्याण हो जायगा। इसमें कोई संशय नहीं है। यही सार बात है। [पुराने प्रवचनसे]

शान्ति, सुख, सद्गुण—ये भगवान्‌पर विश्वास होते ही आ जाते हैं। ये पहले आ जायँ, तब विश्वास होगा—यह कैसे हो सकता है। हम चाहे अपने क्षोभका नाम शान्ति रख लें, सुख रख लें; पर वास्तविक बात यह है कि जबतक हमारे मनमें भगवान्‌पर विश्वास नहीं, भौतिक पदार्थोंपर विश्वास है, दैवी गुणोंपर विश्वास नहीं, आसुरी सम्पत्तिपर विश्वास है, तबतक शान्ति-सुख आ नहीं सकते।

धर्म ही राष्ट्रके सुसंघटनका मूल है

(ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

परलोकमें अभीष्ट फल प्रदान करनेवाले संध्या-जपादि धर्मका अनुष्ठान तथा अनिष्टप्रद सुरापान-अनृत आदिका परिवर्जन तो नास्तिकोंको भी करना चाहिये। फलके संदेहमें भी कृषि, व्यापार आदि कार्य किये ही जाते हैं। इस तरह परलोकके संदेहमें भी धर्म करना ही चाहिये। यदि परलोकमें धर्मकी अपेक्षा हुई, तब तो न करनेवाला पछतायेगा तथा करनेवाला आनन्दित होगा, और यदि धर्मकी कुछ अपेक्षा न हुई तो भी करनेवालेकी कोई हानि नहीं। किसी दूर जंगली प्रदेशमें जाना हो तो भोजन-सामग्री और रक्षाके साधन शस्त्र-अस्त्रादिसे सुसज्जित होकर ही जाना चाहिये। यदि वहाँ व्याघ्रादिका आक्रमण हुआ तो वे काम आयेंगे, नहीं तो पछताकर प्राण गँवाना पड़ेगा। परंतु सामग्री रहनेपर यदि आवश्यकता न भी हुई, तो भी कोई हानि नहीं, यद्यपि अनादिकालसे आस्तिक-नास्तिकका शास्त्रार्थ चलता है, कभी नास्तिकोंकी पराजय होती है और कभी आस्तिकोंकी। कोई भी मत अत्यन्त खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। सर्वत्र पराजय होनेपर भी मतिका ही दौर्बल्य समझा जाता है, न कि मतका। इसलिये समझदार नास्तिकको भी परमेश्वर और धर्मके विषयमें संदेह तो हो ही सकता है, परंतु ऐसे भी बहिर्मुख देश तथा समाज हैं, जहाँ परमेश्वर और धर्मकी चर्चा तक नहीं, फिर संदेह कहाँसे हो सकता है? संदेहसे जिज्ञासा और जिज्ञासासे बोध भी अनिवार्य होता है। अत: ईश्वर और धर्ममें संदेह अतिदुर्लभ है। इसलिये संदेह हो तो भी नास्तिकोंको भी धर्मका अनुष्ठान परमावश्यक है।

बिना धार्मिक भावनाओंका प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज एवं राष्ट्रका सुसंघटन हो ही नहीं सकता। सुन्दर वस्तु, रत्न तथा राज्यादिविहीन लोग दूसरोंकी उक्त सुख-सामग्रियोंको देखकर स्पृहा या ईर्ष्या करते हैं। कोई क्यों साम्राज्यादि सुख-सामग्री-सम्पन्न और हम क्यों दरिद्र एवं दुखी रहें?. बस, एतन्मूलक राजा-प्रजा, किसान-जमींदार और पूँजीपति-मजदूरोंका संघर्ष होना स्वाभाविक है। एक ओर ईर्ष्या या रागवश मजदूर-किसान संघटन करते हैं और क्रान्ति पैदा करके पूँजीपति-जमींदार आदिको मिटा देना चाहते हैं, दूसरी ओर राजा तथा धनी-मानियोंको भी प्रमादवश गरीबोंका शोषण करके अपने ही भोग-सामग्रियोंमें सर्वस्व लगानेकी सूझती है। एक वर्ग कुछ नहीं देना चाहता, दूसरा सब कुछ लेना चाहता है। इस तरह धन एवं भोगमें आसक्त धनिकवर्ग तथा दरिद्रता, उत्पीड़न एवं ईर्ष्यासे पीड़ित निर्धनवर्ग अपने-अपने कर्तव्योंसे वञ्चित होकर राष्ट्र और समाजके जीवनको संकटपूर्ण बना देते हैं। शास्त्र एवं धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे सभीमें संतोष एवं सामञ्जस्यकी भावना प्रतिष्ठित होती है। शास्त्र और धर्मका प्रभाव ऐसा था कि लोग पर-स्त्री एवं पर-द्रव्यको विषके समान मानते थे। लोगोंकी यह धारणा थी कि सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दु:खमें अपने शुभाशुभ कर्म ही मुख्य हेतु हैं। क्यों हम दुखी एवं दरिद्र हुए? इसका समाधान वे इस तरह कर लेते थे कि जैसे अपने कर्मवश कोई पशु, कोई पक्षी, कोई अन्धा, कोई बधिर या कोई उन्मत्त होता है, वैसे ही कर्मोंके अनुसार कोई भोग-सामग्रीसे विहीन और कोई उससे सम्पन्न होता है।

प्राणीको अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही सुख-दु:ख, सम्पत्ति-विपत्ति भोगना पड़ता है। उसे अपनी ही सम्पत्ति तथा सुख-सामग्रीमें संतुष्ट रहना चाहिये। परकीय धन या कलत्रकी स्पृहा न करनी चाहिये। पुरुषार्थसे अपने-आप हृष्ट-पुष्ट हो जाना और बात है, दूसरोंकी हृष्टता-पुष्टता मिटाकर अपने समान उसे भी बना देना और बात है। ऐसे ही अपने सत्प्रयत्नोंसे सुन्दर भोग-सामग्री-सम्पादन करना यद्यपि युक्त ही है, तथापि दूसरोंकी सामग्रियोंसे ईर्ष्या करना, उसे अपहरण करना अवश्य ही पाप है। ऋषिलोग अरण्योंमें रहते थे और नदियोंके तटपर कुदाल आदिसे कुछ सामग्री पैदा करते थे। उसमेंसे भी वे राजाका अंश निकालकर उसकी इच्छा न होते हुए भी उसे दे आते थे। पाप बन जानेपर पापी स्वयं जाकर राजासे दण्ड-ग्रहण करते और उससे अपनी शुद्धि समझते थे। अब भी पाप बन

जानेसे अपने-आप पापोंके प्रायश्चित्त करनेकी प्रथा भारतमें कुछ-कुछ प्रचलित है। लिखित महर्षिने अपने भाईके ही उद्यानसे फल लेनेको चोरी समझा और उससे शुद्ध होनेके लिये राजाके यहाँ स्वयं जाकर राजाकी अनिच्छा रहते हुए भी, हस्तच्छेदन कराया। इस तरह जब अपनी न्यायोपार्जित सामग्रियोंमें संतुष्ट रहनेका अभ्यास था, परकीय या अन्याय-समागत वस्तुओंसे घृणा एवं भय था, परोपकार करनेमें पुण्य-बुद्धि एवं उत्सुकता तथा पर-पीड़नमें घृणा और उद्वेग होता था, तब समाज तथा राष्ट्रकी सुव्यवस्था स्वाभाविक ही थी। मिलनेपर भी सभी भरसक यही प्रयत्न करते थे कि दूसरेकी वस्तु न ली जाय। इसके विपरीत देनेवालोंको यही स्पृहा रहती थी कि किसी प्रकार अपनी वस्तु परोपकारमें लगे। घर-घर अतिथि-सत्कारकी प्रथा थी। वैश्वदेवके उपरान्त द्वारपर खड़े होकर अतिथिकी प्रतीक्षा की जाती थी। उसके न मिलनेपर खेद प्रकट किया जाता था। अग्निहोत्रमें अग्नि-भगवान्से अतिथि पानेकी प्रार्थना की जाती थी। क्या ही उदात्त भावना थी। बहुत उपवासोंके बाद श्रीरन्तिदेव वैश्वदेवादि कृत्य करके जब थोड़ा-सा सत्तू खाने बैठे, तब पुल्कस आदि कई अतिथि आ पहुँचे। रन्तिदेव सब कुछ उन्हें देकर जलपान करने लगे, इतनेहीमें एक श्वपच अपने कुत्तोंके साथ आ पहुँचा और उसने अपनी क्षुधा-पिपासाकी व्यथा कह सुनायी। श्रीरन्तिदेव समस्त जल प्रदान करके भगवान्से प्रार्थना करने लगे कि 'हे नाथ! मैं स्वर्ग, अपवर्ग आदि कुछ भी नहीं चाहता हूँ, केवल यही चाहता हूँ कि संतप्त, आर्त प्राणियोंका कष्ट मुझे मिल जाय और सभी प्राणी सुखी हो जायँ।'

यज्ञ-यागादिके व्याजसे सभी सम्पत्तिशाली अपनी सम्पत्तियोंका विभाग करके समता उत्पन्न कर लेते थे। रामके यज्ञमें महाभागा वैदेहीके हाथमें केवल सौमङ्गल्य-सूत्र ही अवशिष्ट रह गया था। यद्यपि वह समय साम्राज्यवादका था, तथापि वर्तमान प्रजातन्त्र या साम्यवाद उस शासनके सौन्दर्यकी बराबरी कथमपि नहीं कर सकते। यद्यपि राजा अपने भुजबलसे साम्राज्य-पालन करते थे, उनका राष्ट्र निज-भुजबलपर सुरक्षित था, सेना केवल शोभाके लिये थी। उसमें शैथिल्य होनेपर सम्राट् स्वत: युद्धभूमिमें अवतीर्ण होते थे, फिर भी बिना प्रजाकी अनुमतिके पुत्र तकको शासन-भार नहीं दिया जा सकता था। प्रजाके संतोषके लिये सम्राट् अपने पुत्र-पत्नी तकका परित्याग कर सकते थे। जैसे सूर्य तिग्मरश्मियोंसे पृथ्वीका रस ग्रहण करते हैं और वर्षाऋतुमें उसे भूमिको प्रदान कर देते हैं, वैसे ही प्रजासे कर तो लिया जाता था, परंतु उसका लक्ष्य केवल प्रजाका संरक्षण ही था।

सीता, राम ही की थाती हैं

बोले वशिष्ठ, सुनिये मान्यवर विदेहराज,
याचक प्रतीक्षा करैं, कहाँ मेरे दानी हैं।
सुतन समेत ठाढ़े द्वारे दशरथ आज,
कैसे विलम्ब होत, अँखियाँ टकटकानी हैं॥
बेगि बुलवावो उन्हें, आँगन में लावो आप,
करो कन्यादान, मंगल-बेला पहुँची आनी हैं।
सीता लहैं राम, लखन उर्मिला, माण्डवी भरत,
शत्रुघ्न को सौंपो, श्रुतकीरति सुख-खानी हैं॥

बोले विदेह, होके मगन सनेह-सिन्धु,
सुनि के प्रिय बानी ये, जुड़ानी आज छाती है।
कौन प्रतिहारी, द्वार रोके राय दशरथ जू को,
अपने घर माँहि काकी अनुमति लई जाती है॥
ये हैं चक्रवर्ती, वसुधा के मण्डलीक-मणि,
मेरी तो परम्परा विरागी कहलाती है।
रमा सौंपूँ राम को तो मेरो एहसान कौन,
भले यहाँ प्रगटीं सीता, राम ही की थाती हैं॥

—श्रीनारायणदासजी 'भक्तमाली'

भक्त और चमत्कार

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भारतीय भक्तोंकी जीवनीमें कुछ-न-कुछ चमत्कारका उल्लेख रहना एक नियमित प्रथा-सी हो गयी है। भक्त-जीवनमें अलौकिक घटनाओंका होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो सर्वशक्तिमान् भगवान् **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** समर्थ हैं, अघटनघटनापटीयसी माया-नर्तकी जिसके साधारण संकेतपर सदा सावधानीसे पैंतरे बदलती हुई चलती है, जो संकल्पमात्रसे ही अवकाशमें अनवकाश और अनवकाशमें अवकाश कर सकता है, समस्त विश्वकी रचना, स्थिति और विनाश जिसका केवल क्रीड़ा-कौतुक है, उस प्रकृतिसे पर परमात्मामें सर्वथा आत्मसमर्पण कर चुकनेवाले प्रेमी भक्तोंद्वारा उसी अचिन्त्य-समर्थके सामर्थ्य-बलपर असाधारण और अप्राकृतिक कर्मोंका बन जाना असाधारण बात नहीं है। इसीसे बालक प्रह्लादका अग्निमें न जलना, विषपान करके भी जीते रहना आदि सर्वथा विश्वसनीय भी है। हम अभक्तोंको भक्त-जीवनकी अलौकिक घटनाओंपर अविश्वास करनेका कोई अधिकार नहीं है। हमारी अनिश्चयात्मिका विषयरसविमुग्ध बुद्धि उनके यथार्थ स्वरूपको पहचाननेमें समर्थ नहीं हो सकती। अहंकार, बल एवं दर्पादिके त्यागसे ब्रह्मभावमें स्थिति होनेपर परम भक्तिके द्वारा जब साधक परमात्माके यथार्थ तत्त्वको समझता है, तभी वह उस भक्तके चरितको समझनेका अधिकारी होता है। भगवान्की भाँति सच्चे भक्तके कर्म भी दिव्य होते हैं। अतएव प्रह्लादसे लेकर भक्त तुकाराम, तुलसीदास आदिके जीवनकी अलौकिक घटनाओंको पढ़कर, सुनकर उनपर कभी संदेह नहीं करना चाहिये। आजकल हमें ऐसे भक्त दिखायी नहीं देते या हममें ऐसी शक्ति नहीं है, इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि इन लोगोंके चरित्र भी मिथ्या, कल्पित या अतिरञ्जित घटनाओंके घर हैं। हमें उनपर विश्वास और श्रद्धा करनी चाहिये।

किंतु विचारणीय प्रश्न तो यह है कि क्या चमत्कार या अलौकिक घटनाओंमें ही भक्त-जीवनकी पूर्णता है? क्या भक्त-जीवनमें चमत्कारकी घटना अवश्य रहनी चाहिये? क्या चमत्काररहित जीवन भक्त-जीवन नहीं बन सकता और क्या भक्तोंकी पहचान चमत्कारोंसे ही होती है? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी समझमें तो यही बात आती है कि भक्तोंके लिये चमत्कार वास्तवमें अत्यन्त तुच्छ चीज है। भक्तोंके चरितमें जिन चमत्कारोंका वर्णन हुआ है, उनपर अविश्वास न करता हुआ भी मैं यह अवश्य कहूँगा कि भक्त-जीवनकी पूर्णता तो एक ओर रही, चमत्कारके बलपर भक्त कहलाना या कहना यथार्थ सच्ची भक्तिका तिरस्कार करना है। जो भक्त भगवत्कृपासे असम्भवको सम्भव कर सकते हैं, उनके लिये किसी एक कोढ़ीका कोढ़ दूर कर देना या एक मृतको जिला देना बड़ी बात नहीं है। इस तरहकी घटनाओंसे वास्तवमें भक्त-जीवनका महत्त्व कदापि नहीं बढ़ता। भक्तका जीवन तो इन बातोंसे बहुत ही ऊँचा उठा हुआ होता है। भगवान्के यथार्थ तत्त्वका सम्यक् अपरोक्ष ज्ञान हो जानेके कारण भक्तकी दृष्टिमें अखिल विश्व परमात्माके रूपमें बदल जाता है। ऐसी दशामें जगत्‌में दुःख-भावना उसके मनमें उठ ही कैसे सकती है। सारा जगत् ईश्वररूप है। ईश्वरमें दुःख और कष्टकी कल्पना करना ईश्वरत्वमें बट्टा लगाना है। जब कोई दुःख ही नहीं, तब दुःख दूर करनेकी बात कैसी? परमात्मा नित्य आनन्द-स्वरूप है। उस आनन्दघनमें दुःख नामक किसी अन्यको अवकाश ही कहाँ? जब दुःख ही नहीं, तब मिटाना कैसा? कारण बिना कार्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें अमुक भक्तने अमुकके दुःखसे दुखी होकर अपने चमत्कारसे उसका दुःख दूर कर दिया यह कहना युक्तिसंगत नहीं। इतना होनेपर भी मङ्गलमय बन जानेके कारण भक्तके ईश्वरार्पित और ईश्वरमय तन, मन, धनसे जगत्‌का सदा स्वाभाविक ही मङ्गल हुआ करता है। अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती। इसी भाँति भक्तसे किसीका अनिष्ट नहीं होता। उसका अन्तःकरण ईश्वरीय गुणसम्पन्न रहनेके कारण स्वभावसे ही अखिल विश्वरूप परमात्माकी सेवामें सदा संलग्न रहता है। शरीर तो अन्तःकरणके अनुसार चलता ही है। अतएव भक्त सदा ही लोकसेवक है। पर वह चमत्कारसे नहीं है, स्वाभाविक वृत्तिसे है।

चमत्कारी वर्णनोंकी अधिक विस्तृति और महत्तापर विश्वास हो जानेके कारण भारतवर्षमें अनर्थ भी कम नहीं हुआ है। चमत्कारने साधुके सच्चे स्वरूपको ढक दिया। साधुकी कसौटी चमत्कारोंपर होने लगी, इसीसे सच्चे सीधे-सादे संतोंकी दुर्दशा हुई। भण्ड और पाखंडियोंका काम

बना। सिद्ध-साधककी जोड़ी बनाकर अनेक प्रकारकी चमत्कारपूर्ण मिथ्या और अतिरञ्जित बातें फैलायी जाती हैं। 'अमुक बाबाजीने रोग मिटा दिया, अमुकने छूते ही कोढ़ दूर कर दिया, अमुकने कमण्डलुके जलसे पुत्रदान दे दिया, अमुकने आशीर्वादमात्रसे जज साहबकी मति बदलकर मुकदमा जिता दिया।' कहीं काकतालीय न्यायसे कोई घटना हो गयी कि उसको चमत्कारका रूप दे दिया गया। यों भेड़की खालमें अनेकों भेड़िये घुस बैठे और वे भक्तकी पवित्र गद्दीको कलंकित करने लगे। इसी चमत्कारकी भावनाने अनेक अपात्र और अभक्तोंको—अनेक मिथ्यावादी, व्यभिचारी, शराबखोर, ढोंगी और पाखंडियों तकको लोगोंकी दृष्टिमें भक्त बना दिया और वे लोग भक्तके पवित्र नामपर मनमानी-घरजानी करने लगे।

इसलिये हम लोगोंको भक्तकी पहचान उसमें किसी चमत्कारको देख-सुनकर नहीं करनी चाहिये। चमत्कार तो चालाकी या जादूसे भी दिखलाया जा सकता है। चमत्कार दिखलानेवाले आजकल अधिकांश तो धोखा ही देनेवाले हैं। भक्तमें तो उसके आराध्यदेव भगवान्‌के सदृश दैवी सम्पत्तिके गुणोंका विकास होना चाहिये। अतएव भक्तकी कसौटी भी उन्हीं गुणोंपर हो सकती है। भक्त-जीवनका सर्वथा शुद्ध लोक-परलोक-हितकारी स्वाभाविक प्रभुमय जीवनमें परिणत हो जाना ही उसका सबसे बड़ा आदरणीय और स्तुत्य चमत्कार है, भक्त बननेवालोंको अपने अंदर इसी चमत्कारके विकासके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

जो हौं सो हौं रामको

(डॉ० श्रीकृपाशंकरजी शुक्ल, पी-एच० डी०)

रामचरितमानस संत तुलसीदासकी समाधि-भाषा है। यह उनके अमल अन्त:करणकी सहज अनुपम अभिव्यक्ति है, तप:पूत अनुभूतिकी रसमयी, मधुमयी, आनन्दमयी दिव्य सृष्टि है। संत तुलसीदासजीने मानसमें किसी भी जाति, धर्म, पंथ या सम्प्रदायको विशिष्ट स्थान प्रदान नहीं किया। उन्होंने तो लौकिक एवं पारमार्थिक दृष्टिसे सर्वोत्कृष्ट सदाचरणको ही पूज्य माना है, विशेष माना है। रामके शरणागतको ही प्रधानता दी है। चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र। प्राणिमात्रके लिये एक ही सिद्धान्त है। इस सम्बन्धमें ब्रह्मण्यदेव मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी अवधारणा है—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥

(रा० च० मा० ३। ३३)

संतुष्ट, वेदज्ञ, असंग्रही, अनाकांक्षी, मनोमलमुक्त, ब्राह्मण 'महिसुर' कहा जाता है।[१] वह महनीय, वन्दनीय और धरणीधर रहा है।[२] उसका संग विवेक-वैराग्यमूलक है। स्वभावत: परोपकारपरायण, शान्त, अनासक्त, अजातशत्रु, सदय-हृदय, अनन्यभक्त, ब्राह्मण धरतीके शृंगार रहे हैं।[३] ऐसे विप्रोंके समस्त चरणानुरागी श्रीरामको प्राणप्रिय हैं। शरणागत विभीषणको श्रीराम इसी मर्मधर्मको हृदयंगम कराते हैं। तप, त्याग, तितिक्षाके कारण ही द्विज परम पूज्य हैं। वास्तवमें वे ही पुण्य-प्राण हैं, जिनके अन्त:करणमें अखण्ड द्विज-भक्ति है।—

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

(रा० च० मा० ५। ४८)

धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥

(रा० च० मा० ७। १२७। ६)

धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा॥

(रा० च० मा० ७। १२७। ८)

तपोनिरत विप्र अज्ञानान्धकार मिटानेके कारण सर्वप्रथम वन्दनीय है।—

बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥

(रा० च० मा० १। २। ३)

मनस्वी, तपस्वी, वर्चस्वी ब्राह्मण अपनी सहनशीलता, सरलता, शान्तिकी स्थिरता, समदर्शिता, प्राणाधार प्रभुपर निर्भरता, नि:स्पृहता एवं सांसारिक प्रपंचोंके प्रति उदासीनताके कारण ही चिर-पूजित रहे हैं। उनके जीवनका उद्देश्य शिश्नोदरपरायणता नहीं, आजीवन कठोर साधन-परायण रहते हुए परमानन्दमें लय होना रहा है—

१-संतुष्टो यर्हि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित्। (श्रीमद्भा० १०। ५२। ३१)

२-गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभि: सत्यवादिभि:। अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥ (स्कन्दपु० २। ६८। ७१)

३-ब्राह्मणा: साधव: शान्ता: नि:संगा भूतवत्सला:। एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैरा: समदर्शिन:॥ (श्रीमद्भा० १२। १०। २०)

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥

(श्रीमद्भा० ११। १७। ४२)

'गोस्वामी तुलसीदास ब्राह्मणवादी, अन्त्यज-विरोधी एवं नारी-निन्दक हैं'—इस प्रकारके अनर्गल प्रलाप तथा आरोप वस्तुत: निराधार हैं। कोई भी आरोप समग्र, सम्यक् अध्ययनके आधारपर ही लगाना युक्तिसंगत होता है। श्रीराम-प्रेमकी समाधिका जो सुख है, वही जिसका सोना है एवं रसनाका भलीभाँति राम-नाम जपना जिसका जगना है, उसे क्षुद्रताओं, संकीर्णताओं और सीमाओंके मनन-चिन्तन-रमणके लिये अवकाश कहाँ—

सोइबो जो रामके सनेहकी समाधि-सुखु,
जागिबो जो जीह जपै नीकें रामनामको॥

(कवि० उत्तर० ८३)

माँगकर खाना और मस्जिद (देवालय या महाश्मशान)-में सोना तथा लेन-देनकी सांसारिकतासे दूर रहना ही जिसका स्वभाव हो, उसे ब्राह्मण-प्रशंसक, नारी-निन्दक आदिके आरोपसे लांछित करना एक सर्वपूज्य विरक्त महात्माकी जीवनचर्यासे अपरिचित होनेका ही परिचायक है।—

माँगि कै खैबो, मसीतको सोइबो, लैबोको एकु न दैबेको दोऊ॥

(कवि० उत्तर० १०६)

ब्राह्मण क्या सृष्टिकर्ता विधाता भी यदि राम-विमुख है तो वह तुलसीदासके लिये वन्दनीय नहीं है। तुलसीकी धारणामें केवल वही शरीर सुशोभन-पावन है, जिसकी रति, मति, गति केवल श्रीराम हैं—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥
राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥

(रा० च० मा० ७। ९६। २-३)

जब कठोर अहं गलता है, उसी क्षण जीवन पवित्र-विभु हो जाता है। इसके लिये पुण्यवान् महान् उत्तम कुलमें जन्म लेना कोई अपरिहार्य नियम नहीं है।

केवट, भक्तिमूर्ति शबरी, कृती-सुकृती जटायु इसके प्रेरक प्रमाण हैं। अनपायिनी अमल भक्तिका वरदान अपढ़, अचाह, अकिंचन अनायास ही पा जाता है। केवट कहता है—

अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

(रा० च० मा० २। १०२। ७, १०२)

परहितमें ही जीवनका रस पानेवाले और इसी सेवा-साधनामें सर्वस्व देनेवाले अनुपमेय आमिष-भोगी जटायुका मरण कितना मधुर एवं मनोहर है—

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥

(रा० च० मा० ३। ३३। २)

तिर्यक्-योनिमें अधमाधम जन्म पानेवाले गीधराज अपवित्र, अधम, अनित्य-शरीरको राम-काजके लिये छोड़कर रामके पितृदेव होकर मुनि-दुर्लभ सारूप्य, सायुज्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

परहितमें प्राण-प्रसून समर्पित करनेवाले ये पुण्य-प्राण (नीच शरीर होनेपर भी) अमर हो गये।—

प्रभुहि बिलोकत गोद गत सिय हित घायल नीचु।
तुलसी पाई गीधपति मुकुति मनोहर मीचु॥

(दोहा० २२२)

प्राणाधार प्रभुकी चिर-विश्राम-दायिनी गोद उन्हें उसी प्रकार मिली, जैसे किसी सौभाग्यशाली पिताको कृती पुत्रकी सुखद गोद मिलती है और मिलती हैं कृतज्ञताभरी पुत्रकी अश्रुपूरित आँखें। परम पितृवत्सल रामके उद्गार तो देखें—

मेरे जान तात! कछू दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन-सेवासुख, मोहि पितुको सुख दीजै॥

(गीता० अरण्य० १५। १)

जिसे प्रभुका कोमल कर-स्पर्श प्राप्त है, जो छबि-धामको अपलक निहारता हुआ विगत-पीर हो प्राणाधारके नयन-नीरसे तृप्त होकर पूर्णकाम हो चुका हो, उसके भाग्यकी महिमा अवर्णनीय है। यहाँ तो पीड़ाओंको पीनेवाले श्रीराम उसे (अपने तात-पिता-जटायुको) सुखद अङ्कमें समेटे बैठे हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर॥

(रा० च० मा० ३। ३०)

अब इन्हें दिव्य देह, इच्छा-जीवन कुछ भी इष्ट नहीं है—

दिब्य-देह, इच्छा-जीवन जग बिधि मनाइ मँगि लीजै।

(गीता० अरण्य० १५। २)

भक्तिमयी शबरीके प्रति रामद्वारा भक्तितत्त्वके नवधा स्वरूपका आख्यान तुलसीदासके उदात्त दृष्टिकोणको ही उजागर करता है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(रा० च० मा० ३। ३५। ४—६)

जैसे नयनाभिराम जल-विहीन घनश्याम अपना 'पर्जन्य' नाम सार्थक नहीं कर पाता, ऐसा दम्भ-भरा उमड़ने-घुमड़नेवाला सुन्दर घनश्याम वनस्पति-जगत्‌को उजाड़नेके लिये केवल कीट भर छोड़ जाता है। वैसे ही भक्ति-प्रेमविहीन आभिजात्य कुलीनता, सम्पन्नता आदि निष्प्रयोजन हैं। *'बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।'* यह मूलत: हमारे दम्भाचरणपर एक सजीव सशक्त व्यंग्य है। दण्डक-वनका मननशील मुनिवृन्द रामको उतना प्रेम-विवश, द्रवित नहीं करता जितनी कि गीध-शबरीकी प्रीति-रीति उन्हें याद आती है—

मिलि मुनिबृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरीकी बरनत प्रीति सुहाई॥

(विनय० १६५। ३)

पामर पशु, अति कामी 'बानर' भी जब शरणागत हो जाते हैं तो वे राम-सखा बनकर राम-भवनमें सम्मानित किये जाते हैं—

कौन सुभग सुसील बानर, जिनहिं सुमिरत हानि।
किये ते सब सखा, पूजे भवन अपने आनि॥

(विनय० २१५। ६)

लोकनायक महात्मा तुलसीदासका लोकादर्श-स्थापक-स्वरूप जाति-पाँतिकी परिधियोंसे परे था। वेदविहीन, शील-सदाचरण-क्षीण, काम-क्रोध-लोभ-लीन विप्रसे उन्हें विरक्ति है—

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥

(रा० च० मा० २। १७२। ३)

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥

(रा० च० मा० ७। १००। ८)

उनकी एकान्त अनुरक्ति या तो श्रीराम-नामामृतमें अहर्निश छके प्रेमोन्मत्त 'विदेह' भोले-भाले भक्तोंमें है या फिर परोपकार-परायण सदय-हृदय चलते-फिरते संत तीर्थोंमें है। तुलसीकी दृष्टिमें रात-दिन राममें रमनेवाला श्वपच हरिनामरहित कुलीनसे श्रेष्ठ है—

तुलसी भगत सुपच भलौ, भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम॥

(वैराग्य-संदीपनी ३८)

तन-मन-वचनसे स्वभावत: परहित-रत संत-तीर्थ आजीवन प्रीति-प्रतीति लेकर अपनी लोकयात्रा सम्पन्न करते हैं—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

(रा० च० मा० ७। १२१। १४)

तुलसी-साहित्यमें दान, ज्ञान-तप, धर्म-व्रतकी अपेक्षा रामपद-प्रेमकी प्राप्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है—

संजम, जप, तप, नेम, धरम, ब्रत बहु भेषज-समुदाई।
तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

(विनय० ८१। ५)

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥

(रा० च० मा० ६। ११७ ख)

त्याग-तपोमूर्ति विप्र यदि कर्मविपाकसे भावावेशमें आकर शाप देता है, अपने आराध्यके वक्ष:स्थलपर उनकी सहनशीलताकी परीक्षाके लिये पद-प्रहार करता है, शील-नमित-नयन, सरल, संकोची 'मानद' प्रभुको परुष वचनोंसे मर्माहत करनेका प्रयास करता है तो वह अपने चिरसंचित तप-तेजको क्षीण करनेके कारण दण्डनीय नहीं अपितु विचारणीय, चिन्तनीय होकर भी आदरणीय ही बना रहता है। क्रोधजन्य विक्षिप्तता उसे दयनीय बनाकर ही छोड़ती है—

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥

(रा० च० मा० १। २८४। ५)

भृगुकुल-कमल-पतंग भगवान् परशुरामको उनके आत्म-प्रशंसाभरे वचनोंने बलहीन, क्षीण-पुण्य कर दिया और इस प्रकार भृगुपतिकी 'रिसानी' पर रामकी 'बर बानी'की विजय होती है—

घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी॥

(रा० च० मा० १। ४१। ४)

मानसका राम-लक्ष्मण-परशुराम-संवाद साक्षात् विनम्रता, ओजस्विता और अपनी तपोनिष्ठ ऊर्जासे ऊर्जस्वित तेजस्विताका संवाद है। एकमें बाल-सूर्यका विकास है, दूसरेमें मध्याह्नके सूर्यका ह्रास है। **'ममेति परमं दु:खं निर्ममेति परमं सुखम्'** की तात्त्विक व्याख्या यहाँ आद्योपान्त चलती है। भगवान्‌के आवेशावतार विप्रकुलावतंस, अनासक्त भगवान् परशुराम सब कुछ छोड़कर भी शिवधनुषसे अपनी ममता जोड़ लेते हैं। राम-लक्ष्मण निरन्तर विप्रवर परशुरामजीकी इसी मोह-निशामयी कुहूका बिहान (तमसाच्छन्न अज्ञानान्धकारसे मुक्ति) चाहते हैं। वे उन्हें अपनी व्यंग्य-विनोदभरी उक्तियोंसे उनके स्वरूपमें स्थित करना चाहते हैं। इसी भावके कुछ

विषयगत अनमोल अंश उद्धृत करना प्रासंगिक होगा—

एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू॥

(रा० च० मा० १। २७१। ८)

× × ×

छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू। मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू॥

(रा० च० मा० १। २७२। ३)

भारतीय संस्कृतिमें रघुवंशकी वीरताका आदर्श भी तो अनुपमेय है। उनकी अखण्ड द्विजभक्तिसे हमारा साहित्य सतत प्रोद्भासित है—

भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरें कुल इन्ह पर न सुराई॥
बधें पापु अपकीरति हारें। मारतहूँ पा परिअ तुम्हारें॥

(रा० च० मा० १। २७३। ५—७)

रामकी अडिग विनम्रता, शालीनताके बीचमें मुखरित होनेवाली उनकी अकुतोभय वीरताके दर्शन उनके शब्दोंमें ही पठनीय है—

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥

(रा० च० मा० १। २८३)

फलत: श्रीरामके कोमल और रहस्यपूर्ण वचन सुनकर भगवान् परशुरामकी बुद्धिके पटल खुल जाते हैं—

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के॥

(रा० च० मा० १। २८४। ६)

उत्तम कुल, वेद-भाष्य-व्याख्याता, परम शैव दशानन रावणके समूल पतनसे आज कौन अपरिचित है—

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती॥

(रा० च० मा० ६। २०। ३)

राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा॥

(रा० च० मा० ६। १०४। १०)

अपने क्रोधके लिये लोकविश्रुत महर्षि दुर्वासाकी दीन दशाका आख्यान भागवतके नवम स्कन्धके चतुर्थ अध्यायमें वर्णित है। गोस्वामी तुलसीदास भी इस तथ्यकी ओर संकेत कर रहे हैं—

सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा॥

(रा० च० मा० २। २६५। ४)

विप्रवर महर्षि भृगुके कोमल चरणोंका प्रहार श्रीपतिके धैर्यको विचलित नहीं कर पाता। परीक्षाकी इच्छा करनेवाले ऋषिको नहीं, परीक्षा देनेवाले विभुको प्रभुता मिलती है। इसी लोकप्रिय प्रसंगको गोस्वामी तुलसीदास दोहावली (रामायण)-के एक सटीक व्यंग्यके माध्यमसे स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि हे मन! क्षमा और क्रोधके गुण-दोषोंको सुनकर उनसे शिक्षा ग्रहण करो। भृगु मुनि (ब्राह्मण)-की क्रोधसे मारी लातको छातीपर सहकर भगवान् विष्णुने उन्हें क्षमा कर दिया। इस क्षमाके कारण ही श्रीहरि अविचल श्रीपति हुए; परंतु एक ब्राह्मणके क्रोधके परिणामस्वरूप आज ब्राह्मणोंको भीख भी माँगे नहीं मिलती—

छमा रोष के दोष गुन सुनि मनु मानहि सीख।
अबिचल श्रीपति हरि भए भूसुर लहै न भीख॥

(दोहा० ४२७)

इस प्रकार एक गम्भीर अध्ययन, अनुशीलनके अनन्तर ही किसी मन्त्र-द्रष्टा, सौन्दर्य-स्रष्टा, युगद्रष्टा, लोकनायक, कालजयी कविके कृतित्व—व्यक्तित्वका विवेचन करना उचित होगा।

सारांश यह है कि महात्मा तुलसीदासका चिन्तन एक सिद्ध संतका उदात्त चिन्तन है। उनकी लोकवेद-सम्मत सार्थक वाणीमें एक महत्संदेश, एक महत्-उद्देश्य और एक महत्भाव सर्वत्र निहित है। उनकी निर्भीकता, नि:स्पृहता, असंगता, उदारता एवं प्रभविष्णुताका दर्शन कवितावलीके एक भावभरित कवित्तमें देखनेको मिलता है। जहाँ यह निश्चिन्त होकर अपने रामके दास हो गये हैं। उनके अनुसार न उनकी कोई जाति-पाँति है, न उन्हें किसीकी जाति-पाँतिकी अपेक्षा है, न उनके कोई कामका है, न वह किसीके कामके हैं। उन्हें तो बस केवल राम-नामका ही अवलम्ब है। वह अपने प्रभुमें इतने तन्मय-तद्रूप हैं कि स्वामीका गोत्र ही उनका गोत्र हो गया है। उन्हें चाहे कोई साधु कहे या असाधु, भद्र कहे या अभद्र, उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं है—

मेरें जाति-पाँति न चहौं काहूकी जाति-पाँति,
मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको।
लोकु, परलोकु, रघुनाथही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसीकें एक नामको॥
अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग,
'साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको।'
साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोचु कहा,
का काहूके द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥

(कवि० उत्तर० १०७)
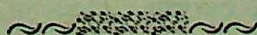
साधकोंके प्रति—

नित्यप्राप्तकी प्राप्ति

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति, तत्त्वज्ञान, मुक्ति आदि चाहता है तो उससे एक मूल भूल यह होती है कि वह संसारके सम्बन्धको, जन्म-मरणको तो स्वाभाविक मान लेता है और परमात्मप्राप्तिको अस्वाभाविक (कृतिसाध्य) मान लेता है। उसके भीतर ये बातें जँची हुई रहती हैं कि जन्म-मरण तो सदासे चले आ रहे हैं और मुक्ति हमारे करनेसे होगी; संसारकी प्राप्ति तो पहलेसे है, पर परमात्माकी प्राप्ति नया काम है; संसार तो नजदीक है, पर परमात्मा दूर हैं; संसार तो प्राप्त ही है, पर परमात्मा प्राप्त होते हैं कि नहीं होते—इसका पता नहीं; संसार तो है, पर परमात्मा हैं कि नहीं, पता नहीं; संसार तो हमारे सामने है, पर परमात्मा कहाँ हैं—इसका पता नहीं; आदि-आदि। परंतु वास्तवमें संसारकी प्राप्ति अस्वाभाविक है और परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति स्वाभाविक है। दूसरे शब्दोंमें, संसारका सम्बन्ध कृत्रिम (बनावटी) है और परमात्माका सम्बन्ध वास्तविक है। बनावटी बात टिक नहीं सकती और वास्तविक बात मिट नहीं सकती।

यह सबके अनुभवकी बात है कि बालकपना चला गया, जवानी चली गयी, रोग चला गया, नीरोगता चली गयी, निर्धनता चली गयी, धनवत्ता चली गयी, पर हम चले गये क्या? ऐसे ही सब संसार बदल गया, पर परमात्मा बदल गये क्या? तात्पर्य है कि शरीर तथा संसार बदलनेवाले हैं और हम तथा परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। अतः शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नकली है और परमात्माके साथ हमारा सम्बन्ध असली है।

हमारा स्वरूप नित्य ज्यों-का-त्यों रहनेवाला है। अगर यह नित्य ज्यों-का-त्यों न रहे तो स्वर्ग कौन भोगेगा? नरकोंमें कौन जायगा? मुक्त कौन होगा? जन्म-मरणमें कौन जायगा? परमात्मा भी नित्य ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। हमने संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़ रखा है। अगर इस बनावटी सम्बन्धका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति और संसारकी अप्राप्ति स्वतःसिद्ध है। भूल यही होती है कि हम संसारकी सत्ताको नित्य मान लेते हैं और मुक्तिकी सत्ताको अनित्य मान लेते हैं। इसलिये हमारी ऐसी धारणा रहती है कि संसारके साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः है और इस सम्बन्धको हम छोड़ेंगे तो मुक्ति हो जायगी अथवा संसारका सम्बन्ध छूटना बड़ा मुश्किल है, मोक्षकी प्राप्ति बड़ी कठिन है, आदि।

वास्तवमें संसारका सम्बन्ध कभी टिकता नहीं, कभी टिका नहीं, कभी टिकेगा नहीं, टिक सकता ही नहीं। ऐसे ही परमात्माका सम्बन्ध कभी मिटता नहीं, कभी मिटा नहीं, कभी मिटेगा नहीं, मिट सकता ही नहीं। संसारसे संयोग और परमात्मासे वियोग केवल हमारा माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। इसलिये जो साधनमें लगे हुए हैं, उनके मनमें कभी संसारकी आसक्ति आ जाय, सत्ता आ जाय तो समझना चाहिये कि भीतर जो कूड़ा-कचरा पड़ा हुआ है, वह निकल रहा है। मनुष्य दरवाजेसे आता हुआ भी दीखता है और जाते हुए भी दीखता है। अतः भीतरका कूड़ा-कचरा जाते हुए दीख रहा है। उसको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो वह उल्टे दृढ़ होगा। किसी भी विपरीत बातको मिटानेकी चेष्टा करेंगे तो मिटानेकी चेष्टा तो दो नंबरकी होगी, पर उसको जमाने (दृढ़ करने)-की चेष्टा एक नंबरकी होगी। कारण कि हम उसीको मिटानेकी चेष्टा करते हैं, जिसकी हम सत्ता स्वीकार करते हैं। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको क्या मिटायें? इसलिये उसको मिटानेकी जरूरत नहीं है। उसकी उपेक्षा कर दें तो वह स्वतः मिट जायगी; क्योंकि वह निरन्तर मिट ही रही है। तात्पर्य है कि अज्ञान अपने-आप मिट रहा है, बन्धन अपने-आप छूट रहा है, साधक उसको मिटानेका उद्योग नहीं करे, प्रत्युत उसकी उपेक्षा कर दे, उसकी बेपरवाह कर दे, उससे उदासीन हो जाय। जैसे एक छोटी-सी दियासलाईसे प्रकट हुई अग्निमें इतनी ताकत है कि वह घासके ढेरको जला देती है, ऐसे ही असत्‌की उपेक्षामें इतनी ताकत है कि वह असत्‌को मिटाकर सत्‌का साक्षात्कार करा देगी। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२। ४०)

'इस (समतारूपी) धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरणरूप) महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

—इसका कारण यह है कि निष्कामभाव थोड़ा होते हुए भी सत्य है और भय महान् होते हुए भी असत्य है। जैसे, मनभर रूई हो तो उसको जलानेके लिये मनभर अग्निकी जरूरत नहीं है। रूई एक मन हो या सौ मन, उसको जलानेके लिये एक दियासलाई पर्याप्त है। एक दियासलाई लगाते ही वह रूई खुद दियासलाई अर्थात् अग्नि बन जायगी। रूई खुद दियासलाईकी मदद करेगी। अग्नि रूईके साथ नहीं होगी, प्रत्युत रूई खुद ज्वलनशील होनेके कारण अग्निके साथ हो जायगी। इसी तरह असंगता आग है और संसार रूई है। संसारसे असंग होते ही संसार अपने-आप नष्ट हो जायगा; क्योंकि मूलमें संसारकी सत्ता है ही नहीं।

थोड़े-से-थोड़ा त्याग भी सत् है और महान्-से-महान् क्रिया भी असत् है। क्रियाका तो अन्त होता है, पर त्याग अनन्त होता है। इसलिये यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ तो फल देकर नष्ट हो जाती हैं*, पर त्याग कभी नष्ट नहीं होता—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)। एक अहम्के त्यागसे अनन्त सृष्टिका त्याग हो जाता है; क्योंकि अहम्ने ही सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रखा है।

जैसे, कितनी ही घास हो, क्या अग्निके सामने टिक सकती है? कितना ही अँधेरा हो, क्या प्रकाशके सामने टिक सकता है? अँधेरे और प्रकाशमें लड़ाई हो जाय तो क्या अँधेरा जीत जायगा? ऐसे ही अज्ञान और ज्ञानकी लड़ाई हो जाय तो क्या अज्ञान जीत जायगा? महान्-से-महान् भय क्या अभयके सामने टिक सकता है? पहलेके कितने ही संस्कार पड़े हुए हों, क्या सत्संगसे वे जीत जायँगे? समता थोड़ी हो तो भी पूरी है और भय महान् हो तो भी अधूरा है। स्वल्प भी महान् है; क्योंकि वह सच्चा है और महान् भी स्वल्प (सत्ताहीन) है; क्योंकि वह कच्चा है।

प्रश्न—समता, निष्कामभावको 'स्वल्प' (थोड़ा) कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—निष्कामभाव तो महान् है, पर हमारी समझमें, हमारे अनुभवमें थोड़ा आनेसे उसको स्वल्प कह दिया है। वास्तवमें समझ थोड़ी हुई, समता थोड़ी नहीं हुई। उधर हमारा ख्याल कम गया है, दृष्टि कम गयी है तो हमारी दृष्टिमें कमी है, तत्त्वमें कमी नहीं है। इसी तरह हमने असत्को ज्यादा आदर दे दिया तो असत् महान् नहीं हुआ, प्रत्युत हमारा आदर महान् हुआ। इसलिये अगर हम सत्का अधिक आदर करें तो सत् महान् हो जायगा अर्थात् उसकी महत्ताका अनुभव हो जायगा, और असत्का आदर न करें तो असत् स्वल्प हो जायगा। वास्तवमें असत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' और सत् महान् हो या स्वल्प, उसकी सत्ता नित्य-निरन्तर है—'**नाभावो विद्यते सतः**'। इसलिये उपनिषद्ने परमात्मतत्त्वको अणुसे भी अणु और महान्से भी महान् कहा है—'**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (कठ० १।२।२०; श्वेताश्वतर० ३।२०)।

जिसकी सत्ता ही नहीं है, उस असत्का आदर करना, उसको महत्त्व देना बहुत बड़ी भूल है। कभी साधकके मनमें उसकी सत्ता आ जाय तो उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये; क्योंकि जो कभी है और कभी नहीं है, उसकी सत्ता कभी नहीं है। जो किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें है और किसी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है, वह वास्तवमें किसी भी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें नहीं है अर्थात् उसका स्वतःसिद्ध नित्य अभाव है। परंतु असत्को सत्य मान लिया और सम्पूर्ण देश-कालादिमें नित्य-निरन्तर विद्यमान परमात्माको उद्योगसाध्य मान लिया—यह भूल है। जैसे, हम कहते हैं कि सूर्य बादलसे ढक गया, तो जो सूर्य पृथ्वीमण्डलसे भी बड़ा है, वह छोटे-से बादलसे कैसे ढक जायगा? अतः वास्तवमें सूर्य नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी आँख ढक जाती है। ऐसे ही परमात्मतत्त्व नहीं ढका जाता, प्रत्युत हमारी बुद्धि ढकी जाती है। बुद्धिमें असत्की सत्ता बैठी हुई है, इसलिये परमात्मा दीखते नहीं। तात्पर्य है कि असत्की सत्तारूपसे जो धारणा है, यही परमात्मप्राप्तिमें बाधक है।

अगर हम सच्चे हृदयसे साधनमें लगे हुए हैं, सत्संग कर रहे हैं, तो असत्की निवृत्ति करनी नहीं पड़ेगी, प्रत्युत उसकी निवृत्ति स्वतः हो जायगी। जैसे, छोटा बच्चा माँकी

*वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ (गीता ८।२८)

'योगी इसको (शुक्ल और कृष्णमार्गके रहस्यको) जानकर वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें तथा दानमें जो-जो पुण्यफल कहे गये हैं, उन सभी पुण्यफलोंका अतिक्रमण कर जाता है और आदिस्थान परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

गोदमें प्रतिदिन वैसा-का-वैसा ही दीखता है; परंतु एक महीनेके बाद देखें तो उसमें फर्क दीखेगा, एक वर्षके बाद देखें तो और अधिक फर्क दीखेगा। ऐसे ही सत्संग करते हुए हम वैसे-के-वैसे ही दीखते हैं, पर वास्तवमें वैसे नहीं रहते। पहलेवाली दशाको याद करें और अभीकी दशा देखें, दोनोंका मिलान करें, तब पता लगेगा। जो व्यक्ति सत्संग नहीं करते हैं, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। हम तो सत्संगमें लग गये, पर हमारे जो मित्र सत्संगमें नहीं लगे, उनसे मिलें, तब पता लगेगा। फिर भी तत्काल सिद्धि न होनेमें मूल कारण हमारी यह मान्यता है कि बन्धनमें तो हम हैं, मुक्ति हमें करनी है! व्याख्यान देनेवालोंसे, कथा करनेवालोंसे और पुस्तकोंसे भी यही बात मिलेगी कि अज्ञान सदासे है, हम सदासे जन्म-मरणमें पड़े हुए हैं, इसको मिटाना है और तत्त्वज्ञानको, मुक्तिको, परमात्माको प्राप्त करना है! परंतु यह तत्त्वकी बात नहीं है। तत्त्वकी बात तो यह है कि जो नित्यनिवृत्त है, उसीकी निवृत्ति करनी है और जो नित्यप्राप्त है, उसीकी प्राप्ति करनी है। जो नित्यनिवृत्त है, नित्य अप्राप्त है, उसको हमने सत्ता और महत्ता दे दी, इसीलिये नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें समय लग रहा है।

गीता कहती है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (२। १६) अर्थात् जो असत् है, उसका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और जो सत् है, उसका अभाव विद्यमान नहीं है। जो 'नहीं' है, वह असत् है और जो 'है', वह सत् है। 'नहीं' में 'है'-बुद्धि और 'है' में 'नहीं'-बुद्धि—यह विपरीत धारणा ही परमात्मप्राप्तिमें बाधक हो रही है। हमारे देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो भी संसार आ रहा है, वह सब-का-सब एक क्षण भी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बह रहा है; परंतु उसकी हमने सत्ता मान ली और जो सबमें ज्यों-का-त्यों पूर्ण है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उस परमात्माका अभाव मान लिया। इस विपरीत धारणाको हमने इतना दृढ़ कर लिया है कि विचारके द्वारा इसको हटानेपर भी यह धारणा पुनः सामने आ जाती है। इसका संस्कार हमारे भीतर दृढ़तासे पड़ा हुआ है। परमात्मा पहले युगोंमें और थे, अब बदलकर और हो गये हैं—ऐसा किसी शास्त्र, कथा आदिमें पढ़ने-सुननेमें नहीं आता। परंतु शरीर बालकपनमें जैसा था, वैसा आज नहीं है—यह सबके प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। फिर भी हम शरीरको जितना महत्त्व देते हैं, उतना परमात्माको नहीं देते, इसीलिये परमात्मप्राप्ति कठिन हो रही है। गीताप्रेसके संस्थापक, संचालक तथा संरक्षक श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने कहा था कि 'परमात्माकी प्राप्ति भी कठिन हो सकती है—यह बात मेरी समझमें नहीं आती थी; परंतु जब लोगोंपर आजमाइश की, तब हमें कठिनता मालूम दी।' हमारे भीतर असत्‌की सत्ता बैठी हुई है, इसीलिये परमात्मप्राप्तिमें कठिनता दीख रही है, अन्यथा इसमें कठिनताका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। अभी कोई कहे कि रोटी बनाओ तो रोटी बनानेमें समय लगेगा। रोटी बनेगी, तब मिलेगी; क्योंकि वह मौजूद नहीं है। परंतु जो चीज मौजूद है, उसकी प्राप्तिमें देरी क्यों? परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं।

प्रश्न—यह तो हम जानते ही हैं कि परमात्माकी सत्ता है और संसारकी सत्ता नहीं है, फिर भी अनुभव क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—वास्तवमें इसको जाना नहीं है, प्रत्युत सीखकर मान लिया है। अगर यह जान लें कि साँप काटनेसे आदमी मर जाता है तो क्या साँपको हाथसे पकड़ेंगे? ऐसे ही अगर यह जान लें कि यह असत् है, नाशवान् है तो क्या रुपये इकट्ठे करनेकी मनमें आयेगी? सुख भोगनेकी मनमें आयेगी? झूठ, कपट, बेईमानी करनेकी मनमें आयेगी?

किसी आदमीसे पूछो तो वह यही कहेगा कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! पर वास्तवमें जो भी मरता है, अभी मरता है। मरनेवाला अभी नहीं मरेगा तो क्या कल मरेगा अथवा परसों मरेगा? मरनेवाला जब मरेगा, अभी मरेगा। परंतु भीतर उल्टी बात जँची हुई है कि हम अभी थोड़े ही मरते हैं! कारण यही है कि भीतरमें असत्‌की सत्ता बैठी हुई है।

हम धन कमा लेंगे, पढ़-लिखकर विद्वान् बन जायँगे, कई बातें सीख जायँगे, कला-कौशल सीख जायँगे आदि कृतिसाध्य बातोंकी तो हमें उम्मीद रहती है, पर जो स्वतः नित्य-निरन्तर विद्यमान है, उस परमात्मतत्त्वकी उम्मीद ही नहीं होती! उसकी तो तत्काल प्राप्तिकी उम्मीद होनी चाहिये। उसकी तत्काल प्राप्ति इसलिये होनी चाहिये कि वह भी मौजूद है और हम भी मौजूद हैं तथा वे भी हमसे मिलना चाहते हैं और हम भी उससे मिलना चाहते हैं। फिर देरीका कारण क्या है? हमारे मनमें असत्‌की सत्ता और महत्ता बैठी हुई है, इसीलिये देरी हो रही है।

शैव-धर्म

(पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

परम पुरुष आनन्दघन अशेषगुणाकर भगवान्‌को शंकररूपसे भावना करनेवाला तथा तदनुरूप उपासना करनेवाला सम्प्रदाय 'शैव-सम्प्रदाय' के नामसे विख्यात है। ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर भारतीय धार्मिक सम्प्रदायोंमें यह प्राचीनतम है, इसे हम निःसंदेह मान सकते हैं। जो लोग ठोस वस्तुके प्रमाणपर ही अपनी आस्था जमानेवाले हैं, उन्हें यह बात टाँक लेनी चाहिये कि सिन्ध नदीकी घाटीमें मोहनजोदड़ो नामक स्थानपर मिली हुई मूर्तियोंमें भगवान् शंकरकी मूर्ति अन्यतम है। उसमें भगवान् शंकर योगीके रूपमें अंकित किये गये हैं और उनके पास ही उनका नन्दी भी विद्यमान है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आजसे पाँच हजार वर्ष पहले सिन्धकी उपत्यका (घाटी)-में जो आर्य जातियाँ निवास करती थीं, वे भगवान् शंकरका आराध्य देवताके रूपमें पूजन किया करती थीं। किसी भी धार्मिक सम्प्रदायकी इतनी प्राचीनता अभीतक सिद्ध नहीं हुई है।

व्यापकताकी दृष्टिसे भी यह सम्प्रदाय नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। उत्तरी भारतसे लेकर दक्षिणी भारततक, हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक भारतके समग्र प्रान्तोंमें देवादिदेव महादेवकी उपासना अत्यन्त प्राचीन कालसे प्रचलित रही है। यहाँके निवासियोंके हृदयमें धार्मिक भावनाको जाग्रत् तथा अग्रसर करनेमें भगवान् शंकरकी उपासना कितनी सफलतासे कार्यकारिणी सिद्ध हुई है, शैव-धर्मके इतिहाससे सामान्य भी परिचय रखनेवाले लोगोंसे इसे बतानेकी आवश्यकता नहीं है। अपनी रुचि तथा सम्मानके अनुसार भारतके विभिन्न प्रान्तोंके विद्वानोंने भगवान् शंकरको केन्द्र मानकर अनेक आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी महत्त्वपूर्ण उद्भावना की है। तमिल-प्रान्तके शैवगण 'शैव-सिद्धान्ती' के नामसे विख्यात हैं। आध्यात्मिक दृष्टिमें ये द्वैतवादी हैं। कर्नाटक प्रान्तका 'वीर शैव' धर्म शक्तिविशिष्टाद्वैतका उपासक है। गुजरात तथा राजपूतानेका पाशुपत मत भी द्वैतवादी ही है। इन सबोंसे दार्शनिक दृष्टिमें भिन्नता रखनेवाला कश्मीरका त्रिक या प्रत्यभिज्ञादर्शन है, जो पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है। इस प्रकार हम द्रविड़से लेकर कश्मीरतक भगवान् शंकरकी व्यापक उपासना पाते हैं। इतना ही नहीं, गुप्तकालके अनन्तर जब भारतीय पण्डितोंने वैदिक धर्मकी ध्वजा फहराते हुए भारतसे पूर्वीय देशों—जावा, सुमात्रा, मलय, बोर्नियो, चम्पा और कम्बोजमें उपनिवेश बनाये, तब अपने साथ वे भगवान् शंकरको भी लेते गये और इन देशोंमें शैव-धर्मकी दृढ़ प्रतिष्ठा की। आज भी शैव-मन्दिरोंकी सुन्दर रचना तथा कलापूर्ण सजावट देखकर कौन ऐसा कलाविद् होगा जो विस्मयसे चकित न हो उठे। इन सुदूर देशोंके निवासियोंमें धार्मिक भावना, आध्यात्मिक चिन्तन तथा कला-प्रेमको जाग्रत् करने एवं उसे मूर्तिमान् बनानेका सारा श्रेय इसी शैव-सम्प्रदायको है।

शैवमत विशुद्ध वैदिक मत है, इस बातको भी आज प्रमाणोंसे पुष्ट करनेकी आवश्यकता प्रतीत हो रही है? बात यह है कि पाश्चात्त्य पण्डितोंके मतसे प्रभावित होकर भारतमें ही पण्डितोंका एक ऐसा दल तैयार हो गया है जो रुद्र तथा शिवको आर्य देवता न मानकर अनार्य देवता उद्घोषित करनेका विपुल प्रयास कर रहा है। वैदिक ग्रन्थोंके अनुशीलन करनेसे रुद्र तथा शंकरके वैदिक देवता होनेमें तनिक भी संदेह नहीं रहता। रुद्रकी प्रशंसामें प्रत्येक संहितामें अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेदमें तो 'रुद्राध्याय' नामक एक महत्त्वपूर्ण तथा स्वतन्त्र अध्याय ही उपलब्ध होता है। रुद्र अनार्य देवता कथमपि नहीं हैं। वे वस्तुतः अग्निके ही प्रतीक हैं। अग्निके दृश्य भौतिक आधारपर ही रुद्रकी कल्पना खड़ी की गयी है। अग्निकी शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्रके ऊर्ध्व लिङ्गकी कल्पना है। शिवलिङ्गको 'ज्योतिर्लिङ्ग' कहनेका भी यही अभिप्राय है। अग्नि वेदीपर जलते हैं, इसीलिये शिव जलधारीके बीचमें स्थापित किये जाते हैं। शंकर जलके अभिषेकसे प्रसन्न होते हैं तथा शिवभक्त अपने शरीरपर भस्म धारण करते हैं। यह बात भी इसी सिद्धान्तको पुष्ट करती है। वस्तुतः अग्निके दो स्वरूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयंकर घोररूपसे वह संसारके संहार करनेमें समर्थ होता, परंतु अघोररूपमें वही संसारके पालनमें भी समर्थ होता है। यदि अग्निका निवास इस महीतलपर न हो तो क्या एक क्षणके लिये भी

प्राणियोंमें प्राण-संचार रह सकता है? सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि प्रलयमें ही सृष्टिके बीज निहित रहते हैं तथा संहारमें ही उत्पत्तिका निदान अन्तर्हित रहता है। अतः उग्ररूपके कारण जो देव रुद्र हैं, वे ही जगत्के मङ्गल-साधन करनेके कारण शिव हैं। जो रुद्र हैं वही शिव हैं। शिव और रुद्र दोनों अभिन्न हैं। इस प्रकार शैव-मतकी वैदिकता स्वतः सिद्ध है। अतः शैव-मत वेद-प्रतिपादित नितान्त विशुद्ध, व्यापक प्रभावशाली तथा प्राचीनतम है, इसमें किसी प्रकारके संदेह करनेकी गुंजाइश नहीं है।

अब शैव-मतके अनुसार साध्य तथा साधन, आनन्द तथा उसकी प्राप्तिके उपायका संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जाता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि शैव-सम्प्रदायके अनेक अवान्तर भेद हैं, जिनकी दार्शनिक दृष्टि भिन्न होनेके कारण दार्शनिक सिद्धान्तोंमें भेद होना स्वाभाविक है। संक्षेपमें कह सकते हैं कि इस मतके अनुसार तीन रत्न हैं और ये तीनों 'प'कारसे आरम्भ होते हैं—पशु, पाशु और पति। इन तीन तत्त्वोंके स्वरूपका ज्ञान इस सम्प्रदायका रहस्य जाननेके लिये नितान्त आवश्यक है।

पशु

अणु, परिच्छिन्न-रूप तथा सीमित शक्तिसे युक्त, होनेवाला जीव ही 'पशु' है। वह न तो चार्वाकके समान देहरूप है, न नैयायिकोंके समान प्रकाश्य और न जैनियोंके समान अव्यापक, अपितु व्यापक, प्रकाशरूप तथा अनेक है। वह सांख्यदर्शनके पुरुषके समान अकर्ता भी नहीं है; क्योंकि पाशोंके दूरीकरण करनेके अनन्तर शिवत्व-प्राप्ति होनेपर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिका उदय होता है। इसीलिये शैव-सिद्धान्त पशुको कर्ता मानता है। पाशोंके तारतम्यके कारण पशु तीन प्रकारके होते हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। मल तीन प्रकारके होते हैं—आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। जिन पशुओंमें विज्ञान, योग तथा संन्याससे या भोगमात्रसे कर्म क्षीण हो जाते हैं और इसी कर्मक्षयके कारण उनमें शरीरका योग नहीं होता, उन पशुओंको 'विज्ञानाकल' कहते हैं। इनमें केवल आणव मल ही शेष रहता है। 'प्रलयाकल'-में प्रलयदशामें शरीरपात होनेसे मायीय मल तो नहीं रहता; परंतु अन्य दो मलोंकी सत्ता तो बनी ही रहती है। तीसरे प्रकारके पशुओंमें अर्थात् सकलमें पूर्वोक्त तीनों प्रकारके मल विद्यमान रहते हैं। अतएव वह अधम श्रेणीका पशु है। संसारके समग्र जीव पशु हैं। पशुका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह व्यक्ति जो पाशोंके द्वारा जकड़ा गया हो—'**पाशनाच्च पशवः**'। यही पशुकी व्युत्पत्ति 'पाशुपतसूत्र' में दी गयी है। गाय-बैलको इसीलिये तो हम पशु कहते हैं कि वे बन्धनके द्वारा जकड़े जानेके कारण परतन्त्र हैं, अपने उद्धार करनेमें किसी प्रकार समर्थ नहीं हैं। संसारी जीवोंकी भी यही दशा है। वे स्वयं तो शिवरूप ही हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं। परंतु अनेक मलोंसे आवृत होनेके कारण उनकी वह मौलिक स्वातन्त्र्य-शक्ति नष्ट हो गयी है।

पाश

पाशका अर्थ है बन्धन—वह बन्धन, जिसके द्वारा शिवरूप होनेपर भी जीवोंको पशुत्व प्राप्त होता है। पाश चार प्रकारके होते हैं—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया और (४) रोध-शक्ति। जीव स्वाभाविक रूपसे ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिसे सम्पन्न है। वह विभु, सर्वत्र व्यापक है; परंतु जिस पाश या बन्धनके कारण उसके ज्ञान और क्रियाका तिरोभाव हो जाता है, वह परिच्छिन्न बन जाता है, उस पाशका नाम है—मल, आणव मल अर्थात् अणुता या परिच्छिन्नता। इस मलकी उपमा तन्त्रग्रन्थोंमें धानके ऊपरी छिलकेसे तथा ताँबामें लगनेवाली कालिमासे दी जाती है। जैसे छिलका धानके अंकुरित होनेका कारण होता है, उसी प्रकार यह मल इस देहकी उत्पत्तिका कारण होता है। जिस प्रकार ताम्रकी कालिमा रसशक्तिसे निवृत्त होती है, उसी प्रकार यह जीव भी शिवशक्तिसे निवृत्त होता है—

एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः।
तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्रस्थितकालिमावद् वा॥

फलार्थी जीवोंके द्वारा किये जानेवाले अनादि कार्यकलापको 'कर्म' कहते हैं। 'माया' शब्द 'मा' और 'या' इन दो पदोंसे बनता है। 'मा' का अर्थ है प्रलयकालमें जगत्का अधिष्ठान तथा 'या' का अर्थ है सृष्टिकालमें अभिव्यक्त होनेवाला पदार्थ। प्रलयकालमें जीव जिसमें लीन हो जाते हैं तथा

सृष्टिकालमें जिससे उत्पन्न हो जाते हैं, उसका नाम है माया। जगत्की मूल प्रकृतिका नाम माया है। माया शैवतन्त्रमें वस्तुरूपा है; वेदान्तके समान अनिर्वचनीया नहीं है। माया एक और नित्य है। यह अशुद्ध सृष्टिका मूल कारण है। चौथे पाशका नाम है 'रोध-शक्ति'। परमेश्वरकी यह वह शक्ति है, जिससे वे जीवोंके स्वरूपका तिरोधान करते हैं। इन्हीं पाशोंसे जीव सदा जकड़ा हुआ है। अपने शुद्ध रूपसे विहीन होकर वह जगत्-प्रपञ्चमें फँसा हुआ है। वस्तुत: तो वह स्वतन्त्र है; परंतु इन्हीं पाशोंने उसे परतन्त्र बना डाला है। जिस प्रकार लोकमें गायोंके गलेकी रस्सीको खोलकर उनका स्वामी ही उन्हें स्वतन्त्र बनाता है, ठीक इसी प्रकार बिना पशुपतिकी अनुकम्पा हुए पशु अपने पाशोंसे कथमपि विमुक्त नहीं हो सकता है।

पति

पतिसे अभिप्राय परमेश्वर परमशिवसे है। परम ऐश्वर्य स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व—ये सब पतिके असाधारण गुण हैं। शिव नित्य-मुक्त हैं। अर्थात् स्वभावसिद्ध नित्य, निर्मल, निरतिशय ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिसे युक्त हैं? सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह—इन पाँच कृत्योंके सम्पादक भगवान् शंकर ही हैं। वे कर्ता हैं और स्वतन्त्र हैं। कर्ता वही होता है जो स्वतन्त्र होता है। '**स्वतन्त्रः कर्ता**'। शिवकी दो अवस्थाएँ होती हैं—लयावस्था और भोगावस्था। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारोंको समाप्तकर स्वरूपमात्रमें अवस्थान करती है, यही लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेषको प्राप्त करती है, बिन्दुको कार्योत्पादनके लिये अभिमुख करती है और कार्यका उत्पादनकर शिवके ज्ञान और क्रियामें समृद्धि करती है, यह शिवकी भोगावस्था है।

रुद्र और शंकर एक ही हैं। 'ईश्वर' शब्दसे शिवका ही प्रधानतया बोध होता है। इसीलिये कालिदासने कहा है—'**महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः**'—अर्थात् 'महेश्वर' शब्दसे शिवका ही बोध होता है अन्य किसी देवताका नहीं। शिव शब्द '**शीङ् स्वप्ने**' धातुसे बना हुआ है, जिससे उसका अर्थ है '**शेरते प्राणिनो यस्मिन् स शिवः**' अर्थात् प्राणी जिसमें शयन करें, प्रलयकालमें जो सबका अधिष्ठानरूप है वही शिव है। 'रुद्र' शब्दका अर्थ भी यही है।

'**तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रुत् रुदं द्रावयतीति रुद्रः।**'

अर्थात् वह देवता, जो संसारके तीनों दु:खोंको दूर करते हैं, वही रुद्र हैं। इस प्रकार जगत्के परम मङ्गल-साधन करनेवाले शिव तथा भक्तोंके दु:खोंको दूर करनेवाले रुद्र एक ही परम तत्त्वके बोधक हैं। श्रुति कहती है—'**एको हि रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे**'—अर्थात् एक ही रुद्र तत्त्व है, उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व है ही नहीं। इस श्रुतिसे स्पष्ट है कि रुद्र ही महाकारणभूत शुद्ध परमब्रह्म हैं। इसीलिये वे प्रलयकालमें कालके भी काल हैं। जो मृत्यु-जगत्में उत्पन्न प्रत्येक पदार्थको अपने वशमें कर एक दिन संहार कर डालती है वह भी रुद्रके लिये एक सामान्य भोजन है। कठोपनिषद् (१। २। २५)-का कथन है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

—इसका आशय यह है कि ब्रह्मक्षत्रसे उपलक्षित समस्त संसार जिसका भात है, मृत्यु जिसका दाल-साग आदि है, उसे कौन भली प्रकार जान सकता है? जिस प्रकार प्राणी दाल-भातको मिलाकर अनायास ही खा डालता है, इसी प्रकार समस्त जगत् तथा विश्वसंहारक कालको खा जानेवाला परमेश्वर मृत्युका भी मृत्यु है। अतएव वह मृत्युञ्जय है। महाकाल, कालकाल, महाकालेश्वर शब्दोंसे वही अभिहित किया जाता है। यदि कोई बच जाय तब तो उसकी संहारशक्तिकी समग्रतामें बाधा ही पड़ जाय। इसीलिये सबको कवलित करनेवाले कालको भी भगवान् शंकर अपनी उदरदरीमें डाल देते हैं। वे जगत्के परम कारण हैं। वे प्रलयावस्थाके सूचक हैं। प्रलयसे जगत्की सृष्टि होती है और अन्तमें उसी प्रलयमें ही यह लीन हो जाती है। इसलिये वे कारणावस्थाके सूचक हैं।

भगवान् शंकरके गुणोंका क्या शब्दत: प्रतिपादन किया जा सकता है? जो मन और बुद्धिसे भी अगम्य है—क्या उसके यथार्थ रूपका परिचय कथमपि प्राप्त हो सकता है? अगाध समुद्रकी महत्ता तथा व्यापकता समझनेकी शक्ति सामान्य जलविन्दुमें क्या है? शिव अंशी हैं, पशु उनका सनातन अंश है (**जीवभूतः सनातनः**—गीता १५। ७)। अंशमें अंशीके अनुगमन करनेकी शक्ति है; परंतु महान्,

व्यापक, इन्द्रियागोचर-रूपके जाननेका सामर्थ्य कहाँ? कालिदासका कहना बिलकुल ठीक है—

'न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः'।

जितने विरोध हो सकते हैं, इन विरोधोंका अवसान जहाँ सम्पन्न होता है, वही तो शंकर हैं। वे स्वयं दरिद्र हैं, परंतु अपने भक्तोंके ऊपर प्रसन्न होकर अनन्त लक्ष्मीकी वर्षा करनेवाले हैं। त्रिलोकनाथ होते हुए भी श्मशानमें निवास करते हैं। उनका शरीर नितान्त भयानक है, परंतु वे 'शिव' (मङ्गलकारक) कहे जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उनके यथार्थरूपका परिचय हमें कैसे मिल सकता है? जो विश्वमूर्ति है, यह जगत् जिसका रूप है, उसकी मूर्तिका निरूपण कैसे किया जा सकता है? ठीक ही है—

'न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः।'

शिवका साकार रूप

भगवान् शंकरका जो साकार रूप है, वह कितनी आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत है—इसको आध्यात्मिक दृष्टि रखनेवाले विद्वान् भलीभाँति देख सकते हैं। भगवान् शंकरका शरीर भस्म-धवलित है। सत्त्वका रंग उजला होता है। अतः सत्त्वगुणका आश्रय करनेवाले शिवका शरीर श्वेत होना ही चाहिये। शंकरके मस्तक, गला तथा भुजदण्डोंमें भयंकर विकराल सर्प विराजमान हैं। यह सर्प है क्या? यह सर्प है मृत्युका प्रतीक। भगवान् शंकर मृत्युञ्जय हैं, तभी तो जो मृत्यु सभीको ग्रास बना लेती है, वह निर्वीर्य बनकर शंकरकी दासी बनी हुई उनके शरीरको सुशोभित करती है। शिवके ललाटपर चन्द्रमा है। चन्द्रमा प्राणियोंके संतापको हरण करनेवाला है तथा सौन्दर्यका परम निधान है। इसे ललाटपर धारण करनेसे यह लक्षित होता है कि शंकर जगत्के त्रिविध तापके निवारक तथा सौन्दर्यके अनन्तकोष हैं। गङ्गा जीवोंके लिये भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी हैं, वह जिसके मस्तकके ऊपर वशवर्तिनी बनकर विचरण करती हैं, वह परम पुरुष भुक्ति तथा मुक्तिका नितान्त सम्पादक होगा, यह कहना पुनरुक्तिमात्र है। शंकर त्रिलोचन हैं। दो नेत्र तो चन्द्र और सूर्यके रूपमें सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। तीसरा नेत्र है—ज्ञाननेत्र। इसी नेत्रसे कामका दहन किया जाता है। जबतक यह नेत्र उद्बुद्ध नहीं होता, तबतक कामका साम्राज्य रहता है, काम-वासना प्राणीको अपना दास बनाकर संतत विचलित तथा चञ्चल बनाये रहती है। ज्ञानकी अग्निसे ही कामोपलक्षित समस्त कर्मोंका संहार किया जाता है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(४। ३७)

गीता इसी तत्त्वका प्रतिपादन करती है। शंकरका वाहन है वृष। यह वृष धर्मका प्रतीक है। इसका रहस्य यह है कि कल्याणकी आधारभूमि धर्म ही है। बिना धर्मका अवलम्बन किये कल्याणकी कल्पना ही असम्भव है। जगत्को धारण करनेवाला धर्म है। उसीपर आरूढ़ होकर कल्याण गमन करता है। वृषारूढ़ शंकरके स्वरूपका यही आध्यात्मिक रहस्य है। भगवान् महादेव दिगम्बर (नग्न) रहते हैं। इसके भी अंदर गूढ़ तत्त्व निहित है। देश, काल, गुण, क्रिया आदि पदार्थ प्राणियोंको सदा आवरण किया करते हैं, ये प्राणियोंको सदा सीमित किया करते हैं; परंतु परमेश्वर देश-कालादिसे अनवच्छिन्न रहता है। इसीलिये श्रुति उसे **'नेति', 'नेति'** शब्दोंसे पुकारती है। ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण, निर्लेप, अकारण है—इसीकी सूचना भगवान् शंकरके नग्नरूप (उपाधिहीन रूप)-से हमें मिल रही है। भागवतका यह कथन शंकरके सच्चे रूपका प्रतिपादक है—

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः।
नायं गुणः कर्म न सन्न चास-
न्निषेधशेषो जयतादशेषः॥

साधन-तत्त्व

मुक्ति तथा मुक्ति-साधनकी कल्पना तन्त्रोंके अनुसार अन्य मतोंसे विलक्षण है। यह तो निश्चय ही है कि अनादि कालसे प्रवृत्त मलावरणोंसे संयुक्त होनेके कारण पशु नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अनन्त क्लेशोंका भाजन बना हुआ है। इन मलोंके दूर करनेका उपाय बताना प्रत्येक दर्शनका कार्य है। तन्त्रोंका तो कहना है कि यह मल न तो ज्ञानके द्वारा हटाया जा सकता है न कर्मके द्वारा, बल्कि 'क्रिया' के द्वारा ही इसका अपसरण हो सकता है। जबतक पाक पूरे रूपसे नहीं होता तबतक वह हटाया नहीं जा सकता। मल एक सत्तात्मक पदार्थ है, उसकी उपमा नेत्रमें

पड़नेवाली जाली (मोतियाबिन्द)-से दी जा सकती है। जाली बिना शस्त्र-क्रियाके हटायी नहीं जा सकती। मलकी भी ठीक यही दशा है। परिपक्वता दोनोंमें अपेक्षित है। जीवमें स्वत: कोई सामर्थ्य नहीं है, जिससे यह मल हटाया जा सके। तप आदि तीव्रतर उपाय हैं, परंतु ये भी मलको दूर करनेमें समर्थ नहीं होते। मलके दूर करनेका एक ही साधन है और वह है परमशिवका अनुग्रह। इसे ही तन्त्रोंमें 'शक्तिपात' कहते हैं। जब शंकरका अनुग्रह होता है, तभी जीव जीवत्वसे मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी अनुग्रह-शक्तिका नाम है दीक्षा। 'दीक्षा' शब्दका अर्थ है ज्ञानका दान तथा पापका क्षपण करनेवाला साधन-विशेष—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबन्धना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥

(तन्त्रालोक)

आचार्य भगवान्‌का ही रूप है। गुरुकी दीक्षाके बिना, जो भगवान्‌की ही अनुग्रह-शक्तिका प्रतीक है, जीवके पशुत्वका अपसरण हो नहीं सकता। सच्चे गुरुकी खोज इसीलिये की जाती है। अनाड़ी पुरुषको सन्मार्गपर लगानेका काम गुरुका ही है, परंतु सच्चा गुरु तभी मिलता है, जब भगवान् शंकरका अनुग्रह होता है और भगवान् शंकरके अनुग्रहका उपाय है शरणापन्न होना। जीव जबतक बहिरंग होकर बाहरी वृत्तियोंमें लगा हुआ है, तबतक वह सन्मार्गसे बहुत दूर है। जब वह शंकरकी शरणमें जाता है, उसका चित्त अन्तर्मुख होकर अपने ही हृदयकमलमें निवास करनेवाले सौन्दर्यसुधाकर, परम कल्याणमय भगवान् शंकरके ध्यानमें लीन होता है, तभी उसके ज्ञानचक्षु खुलते हैं और वह परमतत्त्वके साक्षात्कार करनेमें कृतकार्य होता है। भगवान् तो परम दयालु ठहरे। वह जीवका क्लेश क्षणभरके लिये भी सह नहीं सकते; परंतु जीव तो अपने बाहरी प्रपञ्चोंमें इतना फँसा हुआ है कि वह शिवकी ओर कभी बढ़ता ही नहीं। भगवान् अज्ञानियोंके लिये दूर हैं; परंतु ज्ञानियोंके लिये नितान्त पास हैं—**'तद्दूरे चान्तिके च तत्।'** विश्वनाथ तो आशुतोष ठहरे, वे महादेव नाम उच्चारण करनेवालेके पीछे उसी प्रकार दौड़ते हैं, जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेके पीछे दौड़ती है—

महादेव महादेव महादेवेति वादिनम्।
वत्सं गौरिव गौरीशो धावन्तमनुधावति॥

—यह बात बिलकुल ठीक है। वेदान्तके अनुसार शब्दसे तत्त्वका साक्षात्कार होता है। महावाक्य तथा प्रणव आदि नामोंके लेनेसे तत्त्व-ज्ञान होनेकी बात श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें कहती है। भगवान्‌के दर्शन होते ही कल्पित संसार मिट जाता है और परम रसरूपा मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌के नामकी विपुल महिमाका यही रहस्य है—***'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'*** इस प्रकार शिवके कल्याणमय स्वरूपको जानकर सर्वभावसे अपने समस्त जीवनको, अपने समग्र कार्यको उन्हींके चरणोंमें समर्पित कर देना प्रत्येक जीवका कर्तव्य है। यही वह राजमार्ग है जिसके ऊपर चलकर प्रत्येक जीव अपने जीवनको सफल बना सकता है और परम तत्त्वका साक्षात्कार कर सकता है। शैव-मतके अनुसार साधन और साध्यका यही संक्षिप्त विवेचन है—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

विचलति यदि मेरुः स्वात् पदाद् भास्करोऽपि
जगति यदि समुद्राः शोषमायान्ति सर्वे।
विसृजति यदि तापं पावकोऽपि स्वकीयं
चलति न खलु भर्तृप्रेमतो जातु साध्वी॥

'चाहे मेरु पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, सूर्य अपने स्थानसे गिर जायँ, संसारके सारे समुद्र सूख जायँ, आग अपनी गर्मी छोड़ दे, परंतु सती नारी पति-प्रेमसे कभी विचलित नहीं हो सकती।'

परिवार-नियोजन और भारतीय संस्कृति

(संत विनोबा भावे)

परिवार-नियोजनमें मैं अपने देशका कल्याण नहीं देखता, बल्कि इसमें आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योंकी हार है, ऐसा मैं मानता हूँ। इसके कई पहलू हैं—आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक। यह चीज ही ऐसी है कि बिलकुल जीवनके केन्द्रमें खड़ी है। इसलिये यों ही सहज-भावसे कह देना कि 'हाँ भाई, जनसंख्या बढ़ रही है तो करो नियमन,' यह मुझे जँचता नहीं।

पृथ्वीको पापका भार है, संख्याका नहीं

मैंने एक सूत्र बनाया है—'पृथ्वीको पापका भार है, संख्याका नहीं।' संतान पापसे बढ़ सकती है, पुण्यसे भी बढ़ सकती है। संतान पापसे घट सकती है, पुण्यसे भी घट सकती है। पुण्य-मार्गसे संतान बढ़ेगी तो पृथ्वीको बोझ नहीं होगा। पुण्य-मार्गसे संतान घटेगी तो नुकसान नहीं होगा। पाप-मार्गसे संतान बढ़ेगी तो पृथ्वीको भार होगा और पापमार्गसे संतान घटेगी तो नुकसान होगा। यह मेरा अपना एक विचार है। इसलिये संतति-निरोधके जो कृत्रिम उपाय चलते हैं, उनको मैं मातृत्वकी विडम्बना कहता हूँ।

युद्धसे भी भयानक

आज मानव-समाजमें सेक्सका ऊधम मचाया जा रहा है। मुझे इसमें युद्धसे भी ज्यादा भय मालूम होता है। अहिंसाको हिंसाका जितना भय है, उससे ज्यादा काम-वासनाका है। हर जगह विज्ञानकी मदद ली जा रही है जिसके कारण सेक्समें भी साईंटिफिक ऑट्टिट्यूड (वैज्ञानिक वृत्ति)-की आवश्यकता पैदा हुई है।

वैज्ञानिक दृष्टि और संयम

परिवार-नियोजनका तात्पर्य है—आत्मसंयम, अपनेपर नियन्त्रण रखना। यह चीज नामुमकिन नहीं। विज्ञानके जमानेमें पहलेसे ज्यादा आसान होनी चाहिये। उस विषयका स्वरूप क्या है, परिवारका उद्देश्य क्या है, ब्रह्मचर्यकी साधना क्या होती है, उसमें कौन-सी शक्ति भरी है, इन बातोंका आज विज्ञानके जमानेमें प्रजाको पहलेकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ ज्ञान होगा। हममें एक ऐसी शक्ति है कि उसे ऊपर उठाया जा सकता है। जैसे दीपक या लालटेनकी प्रभा होती है, उसके लिये नीचेसे तेलकी शक्ति प्राप्त होती है, तभी उसकी प्रभा, बत्ती, ज्योति अच्छी तरह चमकती है। मनुष्यके लिये 'ब्रह्मचर्य' तेल है और प्रज्ञा प्रभा, उसकी बुद्धिमत्ता उसका प्रकाश है। ब्रह्मचर्यके तेलकी शक्ति उसे सतत मिलती रहे तो बुद्धिमत्ता तेजस्वी होती है। वह न रही तो बुद्धि ही कमजोर पड़ जाती है, बुद्धिकी प्रतिभा कम होती है।

देश तेजोहीन होगा

कृत्रिम उपायोंके अवलम्बसे सिर्फ संतान ही नहीं रुकेगी, बुद्धिमत्ता भी रुकेगी। यह जो क्रिएटिव एनर्जी (सर्जक शक्ति) है, जिसे हम 'वीर्य' कहते हैं, उसीसे वाल्मीकि-जैसे महाकवि पैदा हुए, महावीर हनुमान्-जैसे उसीसे निकले। प्रतिभावान् पुरुष और तत्त्वज्ञानी उसीसे निकले। उस निर्माण-शक्तिका मनुष्य दुरुपयोग करता है, अर्थात् संख्या-नियमन करके संतानको रोक लिया और उस शक्तिका दूसरी तरफ जो उपयोग हो सकता था, उसे विषय-उपभोगमें लगा दिया। विषय-वासनापर जो अंकुश रहता था, वह नहीं रहा। पति-पत्नी संतान उत्पन्न न हो, ऐसी व्यवस्था करके विषय-वासनामें व्यस्त रहेंगे तो उनके दिमागका कोई संतुलन नहीं रहेगा। ऐसी हालतमें देश तेजोहीन बनेगा। संतान कम होगी तो लाभ होगा यह मानकर ये लोग उसे उत्तेजन देंगे। लेकिन सिर्फ संतान ही कम नहीं होगी, ज्ञानतन्तु क्षीण होंगे, प्रभा कम होगी, प्रज्ञा कम पड़ेगी, तेजस्विता कम होगी।

पुरुषार्थ बढ़ायें

दुनियाका अनुभव है कि जब जीवनमें पुरुषार्थ बढ़ता है, तब विषय-वासना कम होती है। सबको अच्छी तरह पुरुषार्थ करनेका मौका मिलेगा तो स्वभावतः विषय-वासनापर नियन्त्रण हो जायगा। साथ ही हिंदुस्तानका

पुरुषार्थ जितना बढ़ेगा, उतना ही पोषणका इंतजाम भी बढ़ेगा। जहाँ पोषण अच्छा नहीं मिलता, वहाँ भोग-वासना बढ़ती है। जानवरोंमें भी यह देखा गया है। शेरके बच्चे कम होते हैं, बकरीके ज्यादा। मजबूत जानवरोंमें विषय-वासना कम होती है और कमजोरमें ज्यादा। फिर कमजोरोंकी जो संतान पैदा होती है, वह भी निर्वीर्य या निकम्मी होती है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह विषय सामाजिक और आध्यात्मिक है, उससे खिलवाड़ न किया जाय। ऐसे वातावरणका निर्माण किया जाय, जो संयमके अनुकूल हो। समाजमें पुरुषार्थ बढ़ायें, साहित्य सुधारें और गंदे साहित्य-सिनेमा आदिपर पूर्णत: प्रतिबन्ध लगायें।

चार आश्रमोंकी योजना

शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि हमारे पूर्वजोंने जो योजना बनायी थी; वह ठीक है—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम। अगर ऐसी मर्यादा हम बनाते हैं तो उससे हमें लाभ होगा। गृहस्थाश्रमका पैमाना २५ सालकी उम्रसे ४५ तक २० सालका हो तो संतानका भी थोड़ा-बहुत नियमन होना चाहिये। वह होगा तो लाभ-ही-लाभ मिलेगा और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी मिलेंगी।

हमारे सामने एक अदर्श होना चाहिये कि इतने वर्षोंके बाद हम गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होंगे। जैसे विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं, वैसे ही विधिपूर्वक गृहस्थाश्रमका विसर्जन होना चाहिये। इससे हम विषय-वासनासे मुक्त होते हैं।

'विषय-वासनासे मुक्ति सहज ही मिलेगी—ऐसे भ्रममें जो रहता है, वह स्वयं अपनी कब्र खोदता है'—ऐसा महाराज ययातिने कहा है। वे बूढ़े हो गये थे, लेकिन उन्हें वासना-तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिये उन्होंने अपने बच्चोंसे जवानी माँगी। बच्चोंने दे दी। जवान होकर दुबारा भोग भोगा, लेकिन फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। फिर महाराज ययातिने अपना अनुभव श्रीमद्भागवतके एक श्लोकमें बता दिया—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(९। १९। १४)

'कामके उपभोगसे काम-पिपासा कम नहीं होती। घीसे जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही वह बढ़ती चली जाती है।' चाहे शक्ति घट जाय, इच्छा बढ़ती ही रहती है। इसलिये उसको तोड़ना ही होता है। स्वायम्भुव मनुकी कथा तुलसीदासजीने रामायणमें दी है कि *'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन'*—बुढ़ापा आया, लेकिन विषय-वासना नहीं मिटी। मनुको बड़ा दु:ख हुआ कि *'जनम गयउ हरि भगति बिनु।'* तब उन्होंने क्या किया?' *'बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा।'* —जबरदस्ती राज्य अपने पुत्रको सौंप दिया और *'नारि समेत गवन बन कीन्हा।'*—पत्नीके साथ वनमें प्रवेश किया।' ये तुलसी-रामायणके शब्द हैं। इस तरह अपने ऊपर, अपनी इन्द्रियोंपर, मनपर जबरदस्ती करनेका अधिकार पुरुषको होता है। उसका उपयोग उन्होंने किया और वनमें चले गये। सारांश यह कि विषय-वासना ऐसे ही टूटेगी। उसमेंसे हम छूटेंगे, ऐसा मानना बिलकुल गलत है।

विषय-वासनाकी एक मर्यादा होनी चाहिये। जब लोकमत होता है, तभी यह सम्भव होती है। और जिन्होंने यह वानप्रस्थाश्रमकी कल्पना निकाली, उन्होंने इस विषयमें लोकमत बनाया था। लेकिन वह लोकमत आज टूट गया, वानप्रस्थाश्रम खतम हो गया। गृहस्थाश्रमकी प्रतिष्ठा गयी। ऐसी हालतमें जो समाज रहता है, वह कैसे आगे बढ़ेगा? यह शोचनीय बात है। इसलिये वानप्रस्थकी बात करनी चाहिये।

जिस दिन चार आश्रमकी स्थापनाकी आशा मैं छोड़ूँगा, उस दिन हिंदू होनेका दावा भी छोड़ दूँगा। और कहना चाहिये कि यह सिर्फ हिंदुओंकी वस्तु नहीं है। मुहम्मदने भी लिखा है कि '४० सालके बाद मनुष्यका ध्यान भगवान्‌की ओर जाना चाहिये' और जाता है। उन्होंने ४०की मर्यादा मानी, जिसमें मनुष्यको विषय-वासनासे अलग होना चाहिये।

सुखी दम्पति

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

महात्मा कबीरदासके घरपर सत्संग करनेवालोंकी भीड़ लगी हुई थी। जिज्ञासु लोग जीवन तथा धर्म-सम्बन्धी अनेक शंकाएँ—समस्याएँ उनके पास लेकर आते और उनका समाधान प्राप्त करते। कबीरदासके उत्तर सुननेमें तो कुछ अटपटे लेकिन मनपर स्थायी प्रभाव डालनेवाले होते थे। इन प्रश्नोत्तरोंके माध्यमसे शरीर और आत्मामें अधिक-से-अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णताका विकास हो सकता है, उसे स्पष्ट करना ही कबीरका उद्देश्य रहता था। मानवताके पुजारी महात्मा कबीरदासजी आस-पासके अनेक व्यक्तियोंके हृदय-परिवर्तन करने एवं जीवन-पथको सन्मार्गपर लानेमें महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहते और उनके ज्ञानके चक्षु खोलते रहते।

उस दिन बहुतसे श्रद्धालु भक्त कबीरके घर पधारे। किसीने भक्ति, किसीने ज्ञान और किसीने योग-सम्बन्धी अपनी शंकाओंका समाधान कराया। महात्मा कबीरने अपने सहज गूढ़ एवं अनुभवजन्य ज्ञानसे सभीको संतुष्ट किया।

आजका दिन महात्माजीके लिये अपेक्षाकृत अधिक व्यस्ततापूर्ण था। काफी समय व्यतीत हो गया। सारे दिन वे भक्तोंसे घिरे रहे। एक समय वे किसी भक्तको समझाते हुए कह रहे थे—'इस संसारमें अनेक प्रकारकी उपलब्धियाँ भरी पड़ी हैं। एक-एक कणमें विराट् शक्तियों और आत्मिक सम्पदाओंके अम्बार भरे पड़े हैं, पर उन्हें विकसित करना सतत अभ्याससे ही सम्भव है।'

किसी भक्तने पूछा महात्माजी! कृपया बताइये, उन्नतिका उपाय क्या है?

वे बोले—'कैसी भी विषम परिस्थितिमें उन्नति करनेका उपाय यह है कि अपने ज्ञान और अभ्यासकी शक्ति बढ़ाते रहो। धैर्यपूर्वक अपने सभी कार्योंका सम्पादन ठीक समयपर समुचितरूपसे करते जाओ। ऐसा करते रहनेपर तुम्हारी उन्नतिका कोई-न-कोई उपाय अवश्य निकल आयेगा।'

सभी श्रद्धालु भक्त संतुष्ट होकर घर जा रहे थे। धीरे-धीरे उनकी श्रोता-मण्डली कम होती जा रही थी।

जिस प्रकार जिज्ञासु और भक्तजन महात्माजीके सद्वचनोंसे पूर्णतः संतुष्ट होकर अपने-अपने घरोंको वापस जा रहे थे, उसी प्रकार सूर्यरश्मियाँ अपनी उष्मा एवं प्रकाशसे समस्त जगत्को तृप्तकर मानो संतुष्ट-मुद्रामें वापस जा रही थीं। लीजिये, अब संध्या रात्रिमें परिवर्तित होने लगी और अज्ञानकी कालिमाकी तरह अन्धकारने अपना साम्राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया।

लेकिन यह क्या!

एक जिज्ञासु भक्त अभीतक सत्संग-स्थलमें बैठा हुआ है। अरे, ऐसा लगता है मानो यह अपने प्रश्नोंकी पिटारी मनमें ही दबाये बैठा है!

क्या हैं इसकी जिज्ञासाएँ और शंकाएँ?

'कहिये, आप चुपचाप क्यों बैठे हैं? आप क्या चाहते हैं?'

महात्मा कबीरने उस व्यक्तिकी ओर देखकर प्रश्न किया।

'जी, क्षमा करें। मेरी कुछ व्यक्तिगत समस्याएँ हैं। बिलकुल व्यक्तिगत, गुप्त·····पेचीदा·····।' वह कुछ झिझकते हुए बोला।

'कोई हर्ज नहीं, शर्माइये मत! कहिये, क्या पूछना है आपको?'

कबीरदास मुस्करा रहे थे। जहाँ निष्कपट मुस्कराहट है, वहाँ, भला मनमें कोई दुर्भावना, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि कैसे टिक सकते हैं?

कबीरका आत्मभाव देखकर वह व्यक्ति द्रवित हो उठा।

उस समय महात्माजी उस भक्तके मुखमण्डलको ध्यानपूर्वक देखनेके बाद स्वयं ही कहने लगे—'आपके चेहरेपर तो असंतोष और व्यग्रताकी कालिमा पड़ी दीखती है। इससे लगता है, आपका दाम्पत्य-जीवन अतृप्ति और कलहसे भरा है।'

'महात्मन्! तभी तो हिचक अनुभव कर रहा हूँ।'

'कहिये, कहिये, क्या उलझन है? बड़े ही स्नेहपूर्वक कबीरदासजीने कहा।

'मेरा दाम्पत्य-जीवन एक दिन भी शान्ति, सुख और संतोषके साथ नहीं बीता है। अनेक बार सम्बन्ध-विच्छेदकी कल्पना किया करता हूँ, गुरुदेव! आश्चर्य है,

आपने मेरे असंतोषको कैसे पहचान लिया?'

'कोई हर्ज नहीं, तुम अपनी समस्या कहो?'

'भगवन्! क्षमा करें। मैं अपनी धर्मपत्नीसे संतुष्ट नहीं हूँ।'

'आखिर क्यों? कोई कारण तो होगा ही उसका?'

'जी, उसके और मेरे स्वभाव, रुचि, आदतों और मानसिक विकास—सबमें भारी असमानता है। उसीको लेकर दाम्पत्य-जीवनमें परस्पर अनबन बनी रहती है। उसे सही-रूपमें काम करना नहीं आता। वह मेरा अनुशासन भी नहीं मानती और सदैव परेशान करती रहती है। क्या करूँ? जिससे मेरा दाम्पत्य-जीवन सुख-शान्तिमय हो जाय? वह दुःखपूरित स्वरमें प्रार्थना करने लगा।

जिज्ञासु व्यक्ति इतना कहनेके बाद एकदम हलके एवं शान्त-मनसे उत्तरकी प्रतीक्षामें कबीरदासका चेहरा अपलक निहारने लगा।

'अभी समझाता हूँ। लेकिन कुछ देर ठहरना होगा!'

'कोई हर्ज नहीं।'

कबीरदास फाटक खोलकर भीतर चले गये।

आगन्तुक कल्पना कर रहा था कि उन्हें कबीरके मुँहसे दाम्पत्य-जीवनकी सफलतापर कोई लंबा भाषण सुननेको मिलेगा, जिससे पत्नीसे उनकी कटुता और पारिवारिक कलह दूर हो ही जायगी, काले मेघोंसे निकले हुए सूर्यके समान तनावका दूषित वातावरण समाप्त हो जायगा। शायद वे उसे अपनी पत्नीकी भर्त्सना करनेकी सलाह देंगे! इसी आत्ममन्थनमें वह जिज्ञासु विचारमग्न था।

थोड़ी देर बाद कबीरदासजी अंदरसे सूत लेकर लौटे। सूत कातकर जो कुछ मिलता था, उसीसे वे जीवनका निर्वाह करते थे।

वे उस व्यक्तिके सामने जैसे-के-तैसे निःसंकोच-भावसे बैठ गये और सूत कातनेकी तैयारीमें लग गये।

दो-तीन मिनटके उपरान्त बोले—

'अजी, बड़ा अँधेरा हो रहा है। मुझे सूत कातना है। इधर सूत कातनेमें कठिनाई अनुभव हो रही है। जरा तुम्हें तकलीफ तो होगी, दीपक जलाकर रख जाओ।'

अभी ज्यादे अँधेरा नहीं हुआ था, साधारण काम करनेके लिये यथेष्ट उजाला था।

इस उजालेमें भी कबीर दीपक मँगवा रहे हैं? प्रकाशमें भला दीपकसे क्या करेंगे? दिनमें दीपकके मद्धिम प्रकाशकी क्या उपयोगिता है? जरूर ये सोचनेमें कोई गलती कर रहे हैं। प्रकाशमें दीपक? अजीब मूर्खता है।

यह सोचकर वे जिज्ञासु सज्जन मन-ही-मन कबीरकी मूर्खतापर शायद हँस रहे हों।

थोड़ी देरमें उस व्यक्तिने देखा एक सीधी-सादी भारतीय महिला अंदरसे दीप जलाकर लायी और जहाँ कबीर सूत सुलझा रहे थे, वहाँ चुपचाप रख गयी।

शामको ही दीपक! प्रकाशमें ही यह टिमटिमाती रोशनी! दिनके प्रकाशमें ही—समयसे पूर्व ही दीपक जला लायी! इस औरतने प्रतिवाद नहीं किया कि 'दिनमें ही भला, मुझसे दीपक क्यों जलवाकर मँगवाया है?' कबीरकी धर्मपत्नी भी उन्हींकी तरह मूर्ख दीखती है। उसने यह नहीं कहा—'अभी घंटेभर दिन शेष है? दीपककी अभीसे क्यों जरूरत पड़ गयी।'

थोड़ी देर बाद उनकी धर्मपत्नीने पुनः प्रवेश किया। इस बार उसके हाथोंमें दो गिलास थे, जिनमें दूध भरा हुआ था।

'लीजिये, दूध पीजिये। हमारा आतिथ्य ग्रहण कीजिये।' एक गिलास आगन्तुकके आगे बढ़ाती हुई वह स्त्री बोली।

वे दोनों दूधकी चुस्कियाँ ले रहे थे। तबतक गृहपत्नी अंदर चली गयी थी।

थोड़ी देर बाद वह फिर लौटी। ओ, इतनी जल्दी फिर वापस?

'जी, दूधमें मीठा तो कम नहीं रह गया है? गृहपत्नीने पूछा। 'नहीं, पर्याप्त चीनी है हमारे लिये।' कबीरने मधुर-सी वाणीमें उत्तर दिया। वे दूध उसी भावसे पीते रहे।

संयोगकी बात—

उनकी पत्नीकी दृष्टि कमजोर थी। सफेद रंगकी भूलमें उन्होंने शक्करके स्थानपर दूधमें नमक डाल दिया था।

नमकीन दूधको ही पीकर कबीर दूधमें काफी मीठा बता रहे थे।

उस व्यक्तिने मन-ही-मन सोचा, कबीरदासजीकी मूर्खताकी कोई सीमा ही नहीं है। कह रहे हैं, दूधमें मीठा काफी है, जबकि दूधमें मिठास है ही नहीं। नमक तथा चीनीमें ये अन्तर नहीं समझते। बड़े विद्वान् बने फिरते हैं। इनसे, भला, सुखी दाम्पत्य-जीवनका रहस्य क्या मालूम होना है? मैं भी कहाँ भूलकर गृहस्थ-जीवनकी शिक्षा लेने

चला आया।

उस जिज्ञासुकी समस्या सुलझ नहीं रही थी, सम्भवतः उसके अज्ञानकी संकुचित और कलुषित कालिमाका आवरण अभीतक हट नहीं पाया था, तभी तो वह कबीरदासकी प्रत्येक शिक्षाप्रद एवं समाधानपूर्ण क्रियात्मक उत्तरको देख-सुनकर भी मन-ही-मन झल्ला रहा था, उधर कबीरदासजी नमकीन दूध पीकर प्रसन्न-मुद्रामें मुँह पोंछ रहे थे।

'महाराज, मेरे प्रश्नका उत्तर मिल जाता तो मैं घर चला जाता।'

'अरे भाई, समझा तो दिया तुम्हें!'

'जी, अभीतक तो सुखी दाम्पत्य-जीवनके बारेमें आपने एक शब्द भी नहीं कहा है?'

'क्या और कुछ कहना शेष है?' कबीरदासजी कुछ विस्मयपूर्वक बोले।'

'महाराज, स्पष्ट कीजिये। यों कुछ समझमें नहीं आता। मेरी धर्मपत्नीसे पटती नहीं। कैसे सुखी रहें?'

'मेरा उदाहरण देखो। सुखी दाम्पत्यके लिये यह आवश्यक है कि सदस्योंको अपने अनुकूल बनाओ, पर स्वयं भी परिवारके अनुकूल ढलो। दोनों बदलो, एक-दूसरेको भलीभाँति समझो। कुछ तुम पत्नीका सहन करो, कुछ तुम्हारी पत्नी तुम्हारी बात मानें। यह पारस्परिक सद्भाव, अपने साथीके प्रति पूरा और सच्चे हृदयसे प्यार समुन्नत गृहस्थीकी आधारशिला है।'

'प्यारका क्या तात्पर्य है?'

'साथीके दोषों और गलतियोंको सहानुभूतिपूर्वक क्षमा करते रहना। देखिये, यदि आपसमें मतभेद या कोई गलतफहमी हो भी जाय तो जल्दी-से-जल्दी उसे दूर करनेका प्रयत्न कीजिये। अहंभावसे बचिये। सरलता, मधुर भाषण और क्षमाशील-स्वभावसे दाम्पत्य-जीवनके सूखते हुए वृक्षमें भी सरसता आ सकती है।'

'मैं तो कभी-कभी उसपर संदेह कर बैठता हूँ।'

'यही तो आपकी सबसे बड़ी कमजोरी है। एक-दूसरेपर अविचल विश्वास रखिये। संदेहको पनपाकर ही अनेक दाम्पत्य-परिवार आज कष्ट भोग रहे हैं। इसलिये अच्छे दाम्पत्यके लिये संदेहके विषवृक्षको तो पनपने ही मत दीजिये। सब परिस्थितियोंमें एक-दूसरेका पूरा साथ दीजिये। दुःखके दिनोंमें एक-दूसरेके साथ रहिये और सुखोंके दिन भी साथ रहकर काटिये। बीमारी, पीड़ा, दुखी मानसिक स्थितिमें एक-दूसरेका पूरा साथ दीजिये।'

'मैं तो उसकी टीका-टिपण्णी कर बैठता हूँ? क्या करूँ?'

'यथासम्भव एक-दूसरेकी आलोचनासे बचिये। कमजोरी और दोष किसमें नहीं हैं? सर्वगुणसम्पन्न कौन है? यदि आप परिवारमें सुख और शान्ति चाहते हैं तो दूसरोंमें दोष ढूँढ़नेकी आदत आज ही त्याग दीजिये। दोष निकालते रहनेसे परस्पर कटुताकी भावना पैदा होती है।'

इसलिये विश्वासकी नींवपर सम्मानपूर्वक उनको स्नेहिल संरक्षण प्रदान कीजिये। यही प्रेमपूर्ण सद्भावना सुखी दाम्पत्यका मूल है।'

'समझ गया महात्मन्! बस, अब तो निष्कर्ष-रूपमें पूरेका सार कह दीजिये।' वह व्यक्ति पूछने लगा।

'सुनो, शास्त्रोंमें जो कहा गया है, वह सुखी दाम्पत्यका सार ही है—

मा भेर्मा सं विक्था ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथामूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥

(यजुर्वेद ६। ३५)

'इसका अर्थ क्या है महात्मन्?'

'इसका मतलब है कि पति-पत्नी परस्पर ऐसा व्यवहार करें, जिससे उनके पारस्परिक भय और उद्वेगका कलुषित भाव नष्ट हो जाय। दोनोंकी आत्माओंकी एकता बढ़े। आपसी विश्वास, दृढ़ता और उत्साह बने रहें। इससे गृहस्थाश्रममें ही स्वर्गीय सुखकी अनुभूति होती है। याद रखो, एक-दूसरेके दोषोंका दर्शन और कटु आलोचनाएँ सुखी दाम्पत्य-जीवनके लिये विष हैं।'

'अब मेरे मनकी शंकाएँ समाप्त हो गयीं! मैं इन सूत्रोंको सदा व्यवहारमें लाऊँगा।' यह कहते हुए वह जिज्ञासु हर्षित-मन और प्रसन्न मुखमुद्रासे अत्यन्त संतुष्ट हो वहाँसे चला गया।
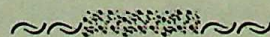
गोरक्षा एवं गोहत्याका तुलनात्मक अध्ययन

गोरक्षासे—

१-देशवासियोंको पर्याप्तमात्रामें दूध मिलनेकी सम्भावना बढ़ती है। दूधके दाम कम होंगे।

२-दूध-दहीकी नदियाँ बहेंगी।

३-देश एवं देशवासी खुशहाल होंगे।

४-देश एवं देशवासी गोधनसे सम्पन्न होंगे।

५-कृषि-प्रधान देशकी कृषि-योग्य भूमिका सही पोषण होगा।

६-देशकी अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होगी एवं सुधरती जायगी।

७-गोबरसे श्रेष्ठ खाद मिलेगी।

८-अन्नकी पौष्टिक शक्ति बढ़ेगी।

९-प्रदूषण दूर होगा।

१०-बेरोजगारी कम होगी।

११-गाँवोंसे शहरकी तरफ पलायन घटेगा।

१२-दूध-मक्खन, गोबर, रासायनिक खादका आयात एवं विदेशोंपर निर्भरता घटेगी।

१३-गोबरसे करोड़ों टन तेलके बराबर उर्जा प्राप्त हो सकती है।

१४-गोमूत्रसे कीटनाशक लाभ मिलेगा।

१५-कैमिकल खादके आयातमें खर्च होनेवाली विदेशी मुद्राकी बचत होगी।

१६-भूकम्प, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अकाल आदि महामारीकी सम्भावना नहीं होगी।

१७-जलकी उपलब्धता बढ़ेगी—भूमिके अंदरका स्तर ऊँचा रहेगा, भूजल शुद्ध रहेगा।

१८-बीमारियाँ दूर होंगी—लोग स्वस्थ होंगे।

१९-देशके संविधान, अनेक कानून, सर्वोच्च न्यायालयके आदेश और स्वतन्त्रताके समय जनताको दिये गये वायदोंका सम्मान होगा।

२०-स्वतन्त्रता-सेनानियों, देशसेवकों, संतों, महात्माओं, सब धर्मोंके सच्चे अनुयायियों एवं जनताकी आत्माको शान्ति मिलेगी; क्योंकि कोई भी धर्म या सत्पुरुष जीव-हिंसा नहीं चाहता।

२१-कृषि एवं यातायात बैलसे होगा तब सस्ता पड़ेगा। अन्न, दाल एवं सब्जी आदिके दाम कम होंगे। निर्यात बढ़ेगा। अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ होगी।

२२-भारतके बहुसंख्यक जनताकी धार्मिक भावनाको जो मर्मान्तक आघात पहुँचता आ रहा है वह शान्त होगा। सब खुश होंगे। कोई दुखी नहीं होगा।

गोहत्यासे—

१-देशवासियोंको दूध नहीं मिलेगा। दूधके भाव बढ़ते जायँगे।

२-खूनकी नदियाँ बहेंगी।

३-देश एवं देशवासी दुखी होंगे।

४-देश एवं देशवासी गोधन गँवाकर कंगाल हो रहे हैं।

५-कृषि-प्रधान इस देशकी भूमि बंजर होती चली जायगी।

६-देशकी अर्थव्यवस्था गिरती जा रही है, बिगड़ती जा रही है।

७-श्रेष्ठ खादसे वञ्चित रहना होगा।

८-अन्नकी पौष्टिक शक्ति घटेगी।

९-हर तरहका प्रदूषण बढ़ेगा।

१०-बेरोजगारी बढ़ेगी।

११-गाँवोंसे शहरकी तरफ पलायन बढ़ेगा।

१२-दूध-पाउडर, मक्खन, गोबर, रासायनिक खादका आयात एवं विदेशोंपर निर्भरता बढ़ेगी।

१३-उर्जाका यह स्रोत नष्ट होता जायगा।

१४-जहरीला कैमिकल कीटनाशक-कीड़ोंके साथ-साथ हमारा भी सफाया कर रहा है।

१५-खाद-आयातमें विदेशी मुद्राका व्यय एवं विदेशोंपर निर्भरता बढ़ती जायगी।

१६-अकाल, अनावृष्टि, भूकम्प आदि महामारियोंकी सम्भावना बढ़ेगी।

१७-भूमिके अंदरका जल-स्तर घटेगा, वह जल प्रदूषित होता जा रहा है एवं जलकी उपलब्धता कम हो रही है।

१८-बीमारियाँ बढ़ती जायँगी। प्रत्येक घरमें लोग अस्वस्थ होंगे। पापबुद्धि, दुष्टबुद्धि बढ़ेगी।

१९-देशके संविधान, सर्वोच्च न्यायालयके आदेश, अनेक कानून एवं स्वतन्त्रताके समय जनताको दिये गये वायदोंका असम्मान होगा।

२०-इन सभीकी आत्माको अत्यन्त पीड़ा पहुँचती है। सम्पूर्ण वातावरणमें इस पीड़ाका असर होता है, एवं प्राणीमात्र दुखी-संतप्त, विचलित एवं विकारग्रस्त हो जाता है।

२१-कृषि एवं यातायात ट्रेक्टरोंसे करना होगा। कृषि-उत्पादोंके दाम बढ़ते जायँगे। प्रदूषण बढ़ेगा। पेट्रोल, डीजलका आयात बढ़ेगा, अर्थव्यवस्था चरमरा जायगी।

२२-कोई भी धर्म गाय-जैसे सीधे-सादे सर्वहितकारी पशुकी हत्याका निर्देश नहीं देता। हिन्दू उसे 'माँ' मानते हैं। उनकी पीड़ा बढ़ती जायगी। गो-हत्यारे भी दुष्कर्मके कष्टदायक फल पाकर दुखी ही होंगे।

[प्रेषक—श्रीसुदर्शनजी ढंढारिया]

तुम प्रभुके ही अंश हो, अपने इस स्वरूपको पहचानो!

(डॉ० श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

क्यों चिंता करते हो? किसकी तुम चिंता करते पागल?
क्या लेकर तुम आये थे, औ क्या लेकर तुम जाओगे?
जो भी मिला, यहीं से, सब कुछ यहीं छोड़कर जाना है!
खाली हाथ कभी आये थे, खाली हाथ विदा होगे॥

जिसे स्वजन, परिजन कहते हो, धन, जन, भवन, प्रतिष्ठा, पद;
इसी जगत्‌में, यहीं मिले सब, जिनसे अपनापन जोड़ा।
क्यों रोते हो? कौन तुम्हारा गया? और क्या नष्ट हुआ?
जिसने दिया, उसीने छीना; नाता है जोड़ा—तोड़ा॥

क्यों डरते हो? किसका भय है? चेतन तो अविनाशी है।
और, देहका केवल भौतिक रूपान्तर ही होता है॥
फिर तुम किसके लिये शोक करते हो? कौन यहाँ मरता है?
अविनश्वरका नाश नहीं, नश्वर नश्वर ही होता है॥

तुम शरीरके नहीं, तुम्हारा यह शरीर भी कभी नहीं;
पृथ्वी, जल, अरु, पावक, समीर, आकाशजन्य सम्बन्ध बने॥
फूले नहीं समाते हो अज्ञान-निशामें सोये तुम।
मोह और मदकी मदिरासे मतवाले हो, अंध बने॥

पञ्चतत्त्वमें देह मिलेगी, किंतु तुम्हारा क्या होगा?
अविनाशीके अंश, शेष तुम अन्तकाल बच जाओगे॥
बन सकते हो नहीं मृत्युके ग्रास, कालके कौर कभी;
तुम पैदा ही नहीं हुए, तो फिर कैसे मर जाओगे?

मृत्युशीलका जन्म, जरा है, अरे अजन्मा तो कैसे?
किसी वस्तुका एक छोर हो, तभी दूसरा छोर बने॥
जिसका आदि नहीं है, उसका अन्त भला हो सकता क्या?
जन्म-मरणका द्वन्द्व जगत्, निर्द्वन्द्व कहाँ किस ओर बने?

सुख-निद्राके मधुर स्वप्नमें तुम महीप बन जाते हो।
और दूसरे क्षण भिक्षुक-से दीन-भाव दिखलाते हो॥
पलमें लक्ष-कोटिके स्वामी, पलमें महा दरिद्र हुए।
भूलभुलैयामें पड़कर यों महा दुःख तुम पाते हो॥

परिवर्तन ही नियम प्रकृतिका, क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तन है।
जिसको मृत्यु समझते हो तुम, अरे! वही तो जीवन है॥
रंगमंचपर उदय-अस्त है पात्र और अभिनेताका।
जिसकी रही भूमिका जितनी, उसकी स्थिति उतने क्षण है॥

जो भी हुआ, हुआ अच्छा ही, जो होगा, वह भी अच्छा।
मङ्गलमयकी सृष्टि अमङ्गल भला कहीं हो सकती है?
जो चलता है चलने दो तुम, जो होता है होने दो।
लाख प्रयत्न करो लेकिन क्या उलटी धारा बनती है?

व्यक्ति, वस्तु, संसार तुम्हारे नहीं दुःखका कारण है।
सारी आधि-व्याधिकी जड़में मोह, कामना, जड़ता है॥
तुम इस मिथ्या मोह-पाशको ज्ञान-खड्गसे काटो, तो,
जगत् रहे या जाय, इससे बनता कुछ न बिगड़ता है॥

जादूका यह खेल, ताशका महल, घरौंदा बच्चोंका,
इन्द्रधनुष दो रौंद पाँवसे, तुम्हें बहुत जो प्यारा है।
मनसे मेरे और तुम्हारे, अपने और परायेका,
भाव हटा लो, फिर तो सबके तुम हो, सकल तुम्हारा है॥

परम नियति है यही तुम्हारी, महा सत्य यह तुम जानो।
तुम प्रभुके ही अंश हो, अपने इस स्वरूपको पहचानो॥
शब्दजाल, कोरे आडंबर, शास्त्र-ज्ञानसे क्या करना?
तुम श्रद्धा-विश्वास करो, निःसंशय वचनोंको मानो॥

जो कुछ तुम हो और तुम्हारा जो कुछ भी है जीवनमें,
सबको उसे समर्पित कर तुम मुक्त रहो भवबन्धनसे।
फिर चाहे तुम भक्ति, योग, तप, ध्यान करो या युद्ध करो;
प्रभुका ही आदेश करो, सर्वस्व समर्पित कर मनसे॥

गीता-तत्त्व-चिन्तन

साधक-संजीवनी-परिशिष्ट

[सातवाँ अध्याय]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[कुछ समयपूर्व परम पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा लिखित गीताकी साधक-संजीवनी टीका 'गीताप्रेस'-द्वारा प्रकाशित हुई है। गीताके जितने भाव स्वामीजी महाराजके मनमें थे, वे सभी भाव साधक-संजीवनीमें प्रायः आ चुके हैं। पर जैसे प्रभु अनन्त हैं वैसे ही उनकी वाणी श्रीमद्भगवद्गीताके भाव भी अनन्त हैं। स्वामीजी महाराजके हृदयमें अब भी नये भाव उद्बुद्ध होते हैं जो पहले भावोंसे भी अधिक कारगर प्रतीत होते हैं। यद्यपि साधक-संजीवनीके परिशिष्टरूपमें 'गीताप्रेस' द्वारा उसका मुद्रण हो रहा है, पर इसके साथ 'कल्याण'के पाठकोंको भी ये नये भाव प्राप्त हो जायँ इस दृष्टिसे इन्हें यहाँ क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है।—सं०]

जैसे भगवान्‌की बात चले तो भक्त उसीमें मस्त हो जाता है, उसको और दूसरी बात सुहाती ही नहीं, ऐसे ही पिछले अध्यायके अन्तमें भक्तकी बात चली तो भगवान् भी मस्त हो गये, दूसरी सब बातें भूल गये और उनके भीतर भक्तिकी बात कहनेका उत्साह हुआ। उन्होंने अर्जुनके द्वारा प्रश्न किये बिना ही अपनी प्रसन्नतासे भक्तिकी विशेष बात कहनी शुरू कर दी!

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ=हे पृथानन्दन!
मयि=मुझमें
आसक्तमनाः=आसक्त मनवाला,
मदाश्रयः=मेरे आश्रित होकर
योगम्=योगका
युञ्जन्=अभ्यास करता हुआ
माम्=(तू) मेरे
समग्रम्=समग्ररूपको
असंशयम्=निःसंदेह
यथा=जिस प्रकारसे
ज्ञास्यसि=जानेगा,
तत्=(उसी प्रकारसे) उसको
शृणु=सुन।

विशेष भाव—जिसका मन स्वाभाविक ही भगवान्‌की तरफ खिंच गया है, जो सर्वथा भगवान्‌के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्ययोग (आत्मीय सम्बन्ध)-को स्वीकार कर लिया है, वह भक्त भगवान्‌के समग्ररूपको जान लेता है। सब कुछ भगवान् ही हैं—यह भगवान्‌का समग्ररूप है।

'**मय्यासक्तमनाः**' में प्रेमकी और '**मदाश्रयः**' में श्रद्धाकी मुख्यता है।

'**समग्रं माम्**'—इसमें '**समग्रम्**' (समग्ररूप) विशेषण है और '**माम्**' (भगवान्) विशेष्य हैं। भक्तका सम्बन्ध विशेषणके साथ न होकर विशेष्यके साथ होता है।

छठे अध्यायके अन्तमें '**श्रद्धावान्भजते यो माम्**' पदोंमें आये '**माम्**' का क्या स्वरूप है—इसको भगवान् यहाँ बताते हैं कि वह '**माम्**' मेरा समग्ररूप है।

'**यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**'—उस समग्ररूपका वर्णन मैं इस प्रकार, ढंग, युक्ति, शैलीसे करूँगा, जिससे तू मेरेको सुगमतापूर्वक यथार्थरूपसे जान लेगा।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २॥

ते=तेरे लिये
अहम्=मैं
इदम्=यह
सविज्ञानम्=विज्ञानसहित
ज्ञानम्=ज्ञान
अशेषतः=सम्पूर्णतासे
वक्ष्यामि=कहूँगा,
यत्=जिसको
ज्ञात्वा=जाननेके बाद
भूयः=फिर
इह=इस विषयमें
ज्ञातव्यम्=जानने योग्य
अन्यत्=अन्य (कुछ भी)
न, अवशिष्यते=शेष नहीं रहेगा।

विशेष भाव—परा तथा अपरा प्रकृति भगवान्‌की है—यह 'ज्ञान' है और परा-अपरा सब कुछ भगवान् ही हैं—यह 'विज्ञान' है। अतः अहम्-सहित सब कुछ भगवान् ही हैं—यही विज्ञानसहित ज्ञान है।

'**ज्ञातव्यम्**'—जिसको अवश्य जानना चाहिये और जो जाना जा सकता है, उसको 'ज्ञातव्य' कहते हैं।

विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेके बाद फिर जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् जो यथार्थ तत्त्व जानना चाहता है, उसके लिये जानना कुछ भी बाकी नहीं रहता। कारण कि जब एक

भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं (गीता ७। ७), तो फिर जानने योग्य क्या बाकी रहेगा?

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

सहस्रेषु=हजारों
मनुष्याणाम्=मनुष्योंमें
कश्चित्=कोई (एक)
सिद्धये=सिद्धि (कल्याण)-के लिये
यतति=यत्न करता है (और)
यतताम्=(उन) यत्न करनेवाले
सिद्धानाम्=सिद्धों (मुक्त पुरुषों)-में
कश्चित्=कोई (एक)
अपि=ही
माम्=मुझे
तत्त्वतः=यथार्थ-रूपसे
वेत्ति=जानता है।

विशेष भाव—कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जितने साधन हैं, उन साधनोंसे (यत्न करते हुए) जो सिद्ध हो चुके हैं, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इस प्रकार भगवान्‌के समग्ररूपको यथार्थरूपसे अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्त दुर्लभ हैं* (गीता ७। १९)।

'**यततामपि सिद्धानाम्**'—वे सिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति (मुक्तावस्था)-से असंतुष्ट हैं और उनके भीतर परमप्रेम (अनन्तरस)-को प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा है, भूख है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—'**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्**' (१। ३। २) 'उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है'। कारण यह है कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। वह भूख भगवान्‌की कृपासे ही जाग्रत् होती है। तात्पर्य है कि जो भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास रखते हुए साधन करते हैं, जिनके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उनको भगवान् ज्ञानमें संतुष्ट नहीं होने देते, उसमें टिकने नहीं देते और उनकी मुक्तिके रसको फीका कर देते हैं।

सिद्ध (मुक्त) तो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी आदि सभी हो सकते हैं, पर भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेवाले सब नहीं होते। अतः '**यततामपि सिद्धानाम्**' पदोंका तात्पर्य है कि वे यत्न करते हुए अपनी पद्धतिसे सिद्ध तो हो गये, पर मेरे समग्ररूपको नहीं जान सके! कारण कि मेरे समग्ररूपको पराभक्तिसे ही जाना जा सकता है—'**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**' (गीता १८। ५५)।

'**कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**'—यहाँ '**माम्**' पद समग्र परमात्माका वाचक है। भगवान्‌के समग्ररूपको भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है, विचारसे नहीं†; क्योंकि विचार करनेमें स्वयंकी सत्ता रहती है।

कर्मयोगसे 'शान्त आनन्द' (शान्ति)-की प्राप्ति होती है, क्योंकि संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अशान्ति होती है। कर्मयोगसे संसारका सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे शान्ति प्राप्त हो जाती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। ज्ञानयोगसे 'अखण्ड आनन्द' की प्राप्ति होती है। अखण्ड आनन्दको 'निजानन्द' भी कहते हैं; क्योंकि यह अपने स्वरूपका आनन्द है। निजानन्दमें जीवका ब्रह्मके साथ साधर्म्य हो जाता है अर्थात् जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है, ऐसे ही जीव भी सत्-चित्-आनन्दस्वरूप हो जाता है। यद्यपि निजानन्दकी प्राप्ति होनेपर साधकमें कोई कमी नहीं रहती, फिर भी जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं और भगवान्‌की कृपाका आश्रय है, उसको निजानन्दमें संतोष नहीं होता। उसके भीतर 'अनन्त आनन्द' की भूख रहती है। अतः भक्तियोगसे 'अनन्त आनन्द' की प्राप्ति होती है। निजानन्द तो अंश (स्वरूप)-का आनन्द है, पर अनन्त आनन्द अंशी (भगवान्)-का आनन्द है। यह सिद्धान्त है कि वस्तुके आकर्षणमें जो सुख होता है, वह सुख वस्तुके ज्ञानमें नहीं होता। जैसे, रुपयोंके लोभमें जो सुख मिलता है, वह रुपयोंका ज्ञान होनेसे नहीं मिलता। रुपयोंका सुख तो लोभरूप दोषके कारण दीखता है, वास्तवमें है नहीं, पर भगवान्‌का आनन्द निर्दोष प्रेमके कारण है, जो वास्तवमें है। कारण कि भगवान्‌का ही अंश होनेसे जीवमें अंशी (भगवान्)-का आकर्षण स्वतः है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ ४॥

---

* धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥ (मानस, उत्तर० ५४। ३-४)

† तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥

भूमिः=पृथ्वी,
आपः=जल,
अनलः=तेज,
वायुः=वायु,
खम्=आकाश (—ये पञ्चमहाभूत)
च=और
मनः=मन,
बुद्धिः=बुद्धि
एव=तथा
अहंकारः=अहंकार—
इति=इस प्रकार
इयम्=यह
अष्टधा=आठ प्रकारके
भिन्ना=भेदोंवाली
मे=मेरी
इयम्=यह
अपरा=अपरा
प्रकृतिः=प्रकृति है;
तु=और
महाबाहो=हे महाबाहो!
इतः=इस अपरा प्रकृतिसे
अन्याम्=भिन्न
मे=मेरी
जीवभूताम्=जीवरूपा
पराम्=परा
प्रकृतिम्=प्रकृतिको
विद्धि=जान,
यया=जिसके द्वारा
इदम्=यह
जगत्=जगत्
धार्यते=धारण किया जाता है।

विशेष भाव—जब चेतन अपरा प्रकृतिके साथ तादात्म्य कर लेता है अर्थात् 'अहम्' के साथ एक होकर अपनेको 'मैं हूँ' ऐसा मान लेता है, तब वह जीवरूप 'परा प्रकृति' कहलाता है। 'अहम्' ('मैं')-से इधर जगत् (अपरा प्रकृति) है और उधर परमात्मा हैं। परंतु जीव उन परमात्माको स्वीकार न करके, प्रत्युत उनकी अपरा प्रकृतिको स्वीकार करके उसको जगत्-रूपसे धारण कर लेता है और जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ जाता है।

अपरा और परा—दोनों ही भगवान्‌की प्रकृतियाँ अर्थात् शक्तियाँ हैं, स्वभाव हैं। भगवान्‌की शक्ति होनेसे दोनों भगवान्‌से अभिन्न हैं; क्योंकि शक्तिमान्‌के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे नख और केश निष्प्राण होनेपर भी हमारे प्राणयुक्त शरीरसे अलग नहीं हैं, ऐसे ही अपरा प्रकृति जड़ होनेपर भी चेतन भगवान्‌से अलग नहीं है—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। इस प्रकार जब अपरा और परा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌का स्वरूप हुईं, तो फिर भगवान्‌के सिवाय क्या शेष रहा? कुछ भी शेष नहीं रहा—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। तात्पर्य है कि अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके सहित भगवान्‌का स्वरूप 'समग्र' है अर्थात् परा-अपरा, सत्-असत्, जड़-चेतन सब कुछ भगवान् ही हैं।

'**ययेदं धार्यते जगत्**' का तात्पर्य है कि संसार न तो भगवान्‌की दृष्टिमें है और न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टि (मान्यता)-में है। भगवान्‌की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९) और महात्माकी दृष्टिमें भी सब कुछ भगवान् ही हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। जीवने ही राग-द्वेषके कारण जगत्‌को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है। इसी बातको आगे पंद्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' पदोंसे कहा गया है।

जीवने संसारकी सत्ता मान ली और सत्ता मानकर उसको महत्ता दे दी। महत्ता देनेसे कामना अर्थात् सुखभोगकी इच्छा पैदा हुई, जिससे जीव जन्म-मरणमें पड़ गया। तात्पर्य यह हुआ कि एक भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता माननेसे ही जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है। अतः दूसरी सत्ता न माननेकी जिम्मेवारी जीवकी ही है। अगर वह संसारकी सत्ता न माने तो संसार है ही कहाँ?

भगवान्‌ने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंको अपरा (जड़) प्रकृति कहा है। अतः जैसे पृथ्वी जड़ और जाननेमें आनेवाली है, ऐसे ही अहम् भी जड़ और जाननेमें आनेवाला है। तात्पर्य है कि पृथ्वी, जल आदि आठों एक ही जातिके हैं*। अतः जिस जातिकी पृथ्वी है, उसी जातिका अहम् भी है अर्थात् अहम् भी मिट्टीके ढेलेकी तरह जड़ और दृश्य है। अतः भगवान्‌ने अहम्‌को एतत्तासे कहा है; जैसे—'**एतत् यो वेत्ति**' (गीता १३। १)। 'एतत्' (यह) कभी 'अहम्' (मैं) नहीं होता; अतः अहम्‌को एतत्तासे कहनेका तात्पर्य है कि यह अपना स्वरूप नहीं है। परंतु जब चेतन (जीव) इस अहम्‌के साथ अपना तादात्म्य मान लेता है, तब वह बँध जाता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। इसीको

* एक अनेकमें अनुगत हो तो उसे 'जाति' कहते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—इन आठोंमें जातीय एकता तो है, पर स्वरूपकी एकता नहीं है अर्थात् जाति एक होनेपर भी इनका स्वरूप अलग-अलग है। इसीलिये इसको 'अष्टधा' कहा गया है। अपरा प्रकृतिका कार्य होनेसे यहाँ पृथ्वी, जल आदिको भी अपरा प्रकृति कहा गया है।

चिज्जड़ग्रन्थि कहते हैं।

क्रिया और पदार्थ न तो परा प्रकृतिमें हैं और न परमात्मामें हैं, प्रत्युत अपरा प्रकृतिमें हैं। अपरा प्रकृति क्रियारूप और पदार्थरूप है। परमात्मा प्रकृतिकी सहायतासे ही सृष्टि-रचना करते हैं। परा प्रकृति अर्थात् जीव क्रिया और पदार्थरूप अपरा प्रकृतिमें आसक्ति करके और उसका आश्रय लेकर बँध जाता है। अपराकी आसक्ति और उसका आश्रय लेना ही जगत्‌को धारण करना है। इसलिये भगवान्‌ने सातवें अध्यायके आरम्भमें ही '**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः**' पदोंसे अपनेमें आसक्ति (प्रेम) करने और अपना आश्रय लेनेकी बात कही है। अगर जीव अपरा प्रकृतिमें आसक्ति न रखे और उसका आश्रय न ले तो वह 'मुक्त' हो जायगा। अगर वह भगवान्‌में आसक्ति (प्रेम) करे और उनका आश्रय ले तो वह 'भक्त' हो जायगा।

जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। जीव जगत्‌को धारण करता है, इसीसे सुख-दुःख होते हैं, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियाँ, भूत, प्रेत, पिशाच, देवता आदि योनियाँ तथा नरकोंकी प्राप्ति होती है। सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण कोई बाधा नहीं देते; परंतु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। गुणोंका संग जीव स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। जीव स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह 'परा' अर्थात् उत्कृष्ट प्रकृति है। अपरा प्रकृति तो बेचारी कुछ नहीं करती। उससे सम्बन्ध जोड़कर, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके जीव ऊँच-नीच योनियोंमें जाता है, भटकता है। तात्पर्य है कि अपरिवर्तनशील होते हुए भी जीव विजातीय जगत्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर परिवर्तनशील जगत्-रूप हो जाता है* (गीता ७। १३)। उसकी दृष्टि शरीरकी तरफ ही रहती है, अपने स्वरूपकी स्फुरणा होती ही नहीं!

जो हमसे सर्वथा अलग है, उस जगत् अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के साथ अपनी एकता मान ली—यही जगत्‌को धारण करना है। वास्तवमें जगत् हमारा है ही नहीं; क्योंकि अगर हमारी चीज हमारेको मिल गयी होती तो हमारी कामनाएँ सदाके लिये मिट जातीं, हम निर्मम, निर्भय, निश्चिन्त, निष्काम हो जाते। परंतु जगत् हमें ऐसी चीज नहीं दे सकता, जो हमारी हो अर्थात् जो हमसे कभी बिछुड़े नहीं। जो चीज वास्तवमें हमारी है, वह जगत्‌के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती, प्रत्युत जगत्‌के सम्बन्ध-विच्छेदसे प्राप्त हो सकती है। हमारी वस्तु है—परमात्मा। हम उस परमात्माके ही अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। उसकी प्राप्तिका उपाय (कर्मयोगकी दृष्टिसे) यह है कि जगत्‌से मिली हुई वस्तुओं (शरीरादि)-को जगत्‌की ही सेवामें लगा दें और बदलेमें उससे कुछ भी आशा (फलेच्छा) न रखें। उससे कोई सम्बन्ध न जोड़ें, न क्रियाके साथ, न पदार्थके साथ। सेवा करनेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न देना श्रेष्ठ है। किसीको भी दुःख न देनेसे, किसीका भी अहित न करनेसे सेवा अपने-आप होने लगती है, करनी नहीं पड़ती। अपने-आप होनेवाली क्रियाका अभिमान नहीं होता और उसके फलकी इच्छा भी नहीं होती। अभिमान और फलेच्छाका त्याग होनेपर हमें वह वस्तु मिल जाती है, जो वास्तवमें हमारी है।

वास्तवमें अपरा प्रकृतिकी परमात्माके सिवाय अलग सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**'। उसको विशेष सत्ता जीवने ही दी है। जैसे, रुपयोंकी अपनी कोई महत्ता नहीं है, हम ही लोभके कारण उसको महत्ता देते हैं। हम जिसको महत्ता देते हैं, उसीमें हमारा आकर्षण होता है। महत्ता तब देते हैं, जब दोषोंको स्वीकार करते हैं†। काम-रूप दोषके कारण ही स्त्रीमें आकर्षण होता है, लोभ-रूप दोषके कारण ही धनमें आकर्षण होता है, मोह-रूप दोषके कारण ही कुटुम्ब-परिवारमें आकर्षण होता है, आदि। परंतु दोषोंके साथ तादात्म्य होनेके कारण दोष दोषरूपसे नहीं

* यहाँ 'जगत्' शब्द परिवर्तनशीलका वाचक है—'**गच्छतीति जगत्**'।

† संसारके सब सुख दोषजनित हैं। दोषोंको स्वीकार करनेसे ही सुख दीखता है। कामके कारण ही मनुष्य स्त्रीके बिना नहीं रह सकता। लोभके कारण ही मनुष्य धनके बिना नहीं रह सकता। मोहके कारण ही मनुष्य परिवारके बिना नहीं रह सकता। दोषके कारण ही उसको त्यागका महत्त्व नहीं दीखता।

दीखते और हमें इस बातका पता नहीं लगता कि हम ही उनको (अपरा प्रकृतिको) सत्ता और महत्ता दे रहे हैं। तादात्म्य मिटनेपर दोष तो रहते नहीं और गुण दीखते नहीं!

अनन्त ब्रह्माण्डोंमें तीन लोक, चौदह भुवन, जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, थलचर-जलचर-नभचर, जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, सात्त्विक-राजस-तामस, मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, भूत-प्रेत-पिशाच, ब्रह्मराक्षस आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है, उसमें 'परा' और 'अपरा'—इन दो प्रकृतियोंके सिवाय कुछ भी नहीं है। जो देखने, सुनने, पढ़ने तथा कल्पना करनेमें आता है और जिन शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌के द्वारा देखा, सुना, पढ़ा, सोचा जाता है, वह सब-का-सब 'अपरा' है। परंतु जो देखता, सुनता, पढ़ता, सोचता, जानता, मानता है, वह 'परा' है। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌की शक्तियाँ होनेसे भगवान्‌से अभिन्न अर्थात् भगवत्स्वरूप ही हैं। अत: अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तथा बाहर और अनन्त ब्रह्माण्डोंके रूपमें एक भगवान्‌के सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९), '**सदसच्चाहमर्जुन**' (९। १९)। संसारके सभी दर्शन, मत-मतान्तर आचार्योंको लेकर हैं, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' किसी आचार्यका दर्शन, मत नहीं है, प्रत्युत साक्षात् भगवान्‌का अटल सिद्धान्त है, जिसके अन्तर्गत सभी दर्शन, मत-मतान्तर आ जाते हैं।

'अपरा' (जगत्)-को स्वतन्त्र सत्ता जीवने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**'। 'अपरा' भगवान्‌की है, पर उसको अर्थात् शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-अहम्‌को अपना और अपने लिये मान लेनेसे ही जीव बन्धनमें पड़ा है। अत: साधकको अगर जगत् दीखता है तो यह उसकी व्यक्तिगत दृष्टि है। व्यक्तिगत दृष्टि सिद्धान्त नहीं होता। दीखना सीमित होता है, जबकि तत्त्व असीम है। जैसे, सूर्य थालीकी तरह दीखता है, पर वास्तवमें वह थालीके आकारका नहीं होता।

अगर साधकको जगत् दीखता है तो उसको निष्कामभावपूर्वक जगत्‌की सेवा करनी चाहिये। जगत्‌को अपना और अपने लिये मानना तथा उससे सुख लेना ही असाधन है, बन्धन है। कारण कि हमारे पास शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि जो कुछ भी है, वह सब जगत्‌का है और जगत्‌के लिये है। अत: जगत्‌की वस्तुको जगत्‌की सेवामें लगानेसे जगत् जगत्-रूपसे नहीं दीखेगा, प्रत्युत भगवत्स्वरूप दीखने लगेगा, जो कि वास्तवमें है। तात्पर्य है कि साधक चाहे जगत्‌को माने, चाहे आत्माको माने, चाहे परमात्माको माने, किसीको भी मानकर वह साधन कर सकता है और अन्तिम तत्त्व '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव कर सकता है। [क्रमश:]

सुअवसरोंका सदुपयोग

जीवन एक साझेका रोजगार है, जिसमें हर एक साझीदारसे यह आशा की जाती है कि वह अपनी योग्यता, सचाई, परिश्रम, ईमानदारी और दूरदर्शिताकी पूँजी लगाये। हम लोग जीवन-व्यापारके व्यापारी हैं, और हमें इस व्यापारको लाभप्रद रोजगार बनाना है। जब यह रोजगार लाभदायक बन जाता है, तब वह मुनाफेके रूपमें अनेकों शुभ फल—जैसे प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, धन, सुख, शान्ति और साख आदि प्रदान करता है।

इस साझेके रोजगारमें मेहनत न करनेवाले निष्क्रिय साझीदारोंको (Sleeping Partners) कुछ नहीं मिलता, फिर भी वे लोग इस बातकी शिकायत करते हैं कि दुनिया बड़ी क्रूर और निर्मम है, उन्हें पग-पगपर कठिनता होती है, वे रोके जाते हैं, और वे ही हमेशा शिकार बनाये जाते हैं।

जो स्त्री या पुरुष जीवनके कार्यमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है, उसे इस बातकी शिकायतका, कि वह संसारमें जीवनसे कुछ नहीं पाता, मौका ही नहीं आता। हमारे सुखकी सामग्री उतनी ही बढ़ती जाती है, जितना हम जीवनके सुअवसरोंका सदुपयोग करते हैं।

साधनोपयोगी पत्र

[परमार्थ-पत्रावली]

(१)

प्रेमपूर्वक सादर हरिस्मरण! आपका पत्र यथासमय मिला, समाचार विदित हुए।

ईश्वर और जीव एक है या दो—इस विषयमें आपने मेरी सम्मति प्रमाणसहित माँगी, सो आपके प्रेम और विश्वासकी बात है। यह विषय वास्तवमें बहुत ही जटिल है, ऋषियोंमें भी मतभेद पाया जाता है। श्रुति और स्मृतियोंके प्रमाण भी दोनों बातोंको पुष्ट करनेवाले यथेष्ट मिलते हैं। उपनिषदोंमें जगह-जगह अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है और उसीको सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्त-उपादान-कारण बताया गया है। किंतु ऐसा होते हुए भी जीव और ईश्वरका भेद प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी कम नहीं हैं। विचार करनेपर यही समझमें आता है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी अद्वैतभावसे उपासना करनेवालोंके लिये आत्मा और परमात्मामें अभेद मानना ही उपयुक्त है और सेवक-सेव्य-भावसे सगुण ईश्वरकी भक्ति करनेवालोंके लिये नित्य-भेद मानना ही उपयुक्त है। दोनों ही मार्ग वेद-शास्त्रप्रतिपादित हैं। दोनोंका फल सब प्रकारके दु:खोंसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाना है। अतएव साधक किसी भी एक मार्गका अवलम्बन करके चल पड़े, यही उसके लिये श्रेयस्कर है। वास्तवमें तो भगवान् द्वैत और अद्वैत दोनोंसे ही परे हैं, उन्हें न 'एक' कह सकते हैं और न 'दो' ही। वे सबसे अतीत भी हैं और सर्वरूप भी हैं। अत: उनके विषयमें साधक जो कुछ भी धारणा करता है, वही ठीक है। ऐसा होते हुए भी मेरी समझमें प्रत्येक मनुष्यके लिये यही मानना ठीक है कि जीव ईश्वरका दास है, ईश्वर जीवका स्वामी है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। जीव मायाके वशमें है, ईश्वर मायाके प्रेरक और अधिपति हैं—माया उसकी दासी है। अत: ईश्वर और जीव एक नहीं है। ईश्वर ही एक है, जीव नाना हैं। वे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें घूम-घूमकर कर्मोंका फल भोग रहे हैं। भगवान्की भक्तिसे ही जीव इस संसार-चक्रसे छुटकारा पा सकता है।

जीव और ईश्वर दो हैं, इसका प्रमाण आपको देखना हो तो श्वेताश्वतरोपनिषद्, कठोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद्में जगह-जगह देख सकते हैं। ब्रह्मसूत्रमें भी इसका खूब निर्णय किया गया है। गीतामें भी भगवान्ने कहा ही है—

'ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, वही अपनी मायासे सबको उनके कर्मानुसार घुमा रहा है। (१८। ६१)। तू सब प्रकारसे उसीकी शरण ग्रहण कर। उसीकी कृपासे परम शान्तिको और सनातन स्थानको प्राप्त करेगा। (१८। ६२) इत्यादि।

(२)

सादर प्रणाम और प्रेमपूर्वक हरिस्मरण! आपका पत्र यथासमय मिला, समाचार मालूम हुए। आपने अपने पत्रमें जगह-जगह मुझे 'गुरु'-शब्दसे सम्बोधित किया है, यह बहुत ही अनुचित है। ऐसा भूलकर भी कभी नहीं करना चाहिये; क्योंकि मेरा न तो गुरु बननेका अधिकार है, न मुझमें योग्यता ही। आप जानते ही होंगे कि मैं वैश्यजातिका एक साधारण मनुष्य हूँ और आप ब्राह्मण हैं। अत: आप ही सब प्रकारसे हमारे पूज्य हैं।

इतनेपर भी आप जो मुझसे भगवत्-विषयक लाभ उठानेकी आशा रखते हैं और मुझसे मिलनेके लिये व्यग्र रहते हैं—यह आपके विश्वास और प्रेमकी बात है, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ।

राजा साहब अपने परिवारसहित अपने पुरोहितसे भी अधिक आपपर विश्वास करते हैं और आपको मानते हैं—इसे प्रकारान्तरसे भगवान्की ही प्रेरणा समझकर अपने मनमें किसी तरहका अभिमान न आने देना अच्छा है। सांसारिक मान-बड़ाई यदि प्रिय न लगे तो इसमें भगवान्की परम दयाका अनुभव करके भगवान्के प्रेममें विह्वल होना चाहिये और जोरोंसे भगवत्स्मरणमें लगे रहना चाहिये।

आपने मेरे पास रहनेकी और मेरे दर्शनोंकी इच्छा प्रकट की, सो आपके प्रेमकी बात है। दर्शनोंकी इच्छा तो भगवान्की करनी चाहिये। मैं तो साधारण मनुष्य हूँ। मेरे दर्शनोंमें क्या रखा है। पास रहना या मिलना प्रारब्धके वशकी बात है। जब जहाँका संयोग होता है, वहीं मनुष्यको रहना पड़ता है। अत: यह किसीके हाथकी बात नहीं है।

भगवान् ही एक ऐसे हैं जो कि एक साथ अनेक जगह प्रकट होकर उसके पास रह सकते हैं और दर्शन दे सकते हैं, अत: ऐसी प्रार्थना भगवान्से ही करनी चाहिये।

आपने लिखा कि मेरा यह दृढ़ निश्चय है, आपकी दयासे मेरा इस महाभयानक भवसागरसे उद्धार हो जायगा, सो ऐसा निश्चय आपको भगवान्पर करना चाहिये। वे सर्वसमर्थ हैं, निश्चय करनेके योग्य हैं। भगवान्पर भरोसा करना, उनकी शरण ग्रहण करना अपने साधनका बल नहीं है। जिनमें साधनका अभिमान नहीं होता, जो अपनेको दीन, हीन, मलिन समझते हैं और भगवान्की शरणमें चले जाते हैं, उन्हींको पतितपावन भगवान् अधिक अपनाते हैं। यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि भगवान् विद्या, बुद्धि, बल, साधन, आचरण, रूप, जाति आदि कुछ नहीं देखते हैं। वे देखते हैं केवल कपटरहित सच्ची दीनता, आतुरता एवं सच्चा विश्वास।

आपने लिखा कि मेरा समस्त समय दूसरोंके लिये पूजा-पाठ और अनुष्ठान करनेमें बीत जाता है। यही मेरी जीविका है, सो इस विषयमें मेरी राय ऐसी है कि यदि हो सके तो आप इस जीविकाको छोड़कर लोगोंको भगवत्-विषयक शास्त्रोंका अभ्यास कराकर या भगवान्की कथा-वार्ता सुनाकर सात्त्विक भावसे अपने-आप प्राप्त हुए द्रव्यसे ही जीविका-निर्वाह करें और अपने अमूल्य समयको भगवान्के ही लिये उनके भजन-स्मरणमें व्यतीत करें। जीविकाका भार प्रारब्धपर छोड़ दें। शरीर-निर्वाह तो किसी तरह हो ही जायगा, उसकी क्या चिन्ता है।

(३)

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण! आपका पत्र यथासमय मिला, समाचार विदित हुए। अवकाश न मिलनेके कारण उत्तर देनेमें कुछ विलम्ब हुआ है। इसके लिये मनमें किसी प्रकारका दु:ख नहीं करना चाहिये।

आपने बालकपनके वैराग्य और भगवत्प्रेमकी बातें लिखीं सो बहुत अच्छी बात है। भगवान्की परम दयासे ही ऐसा सौभाग्य मिलता है।

इसके सिवा आपने अपने जीवनकी दूसरी-दूसरी घटनाओंका दिग्दर्शन कराया, यह भी मालूम हुआ। भगवान्से सांसारिक सुखके लिये किसी अंशमें भी कामना न करना सब प्रकारसे उत्तम और परम श्रेयस्कर है।

आपने अपने द्वारा पाप बननेकी बात लिखी सो आपकी सरलता है। पापोंका पश्चात्ताप तो वैराग्य और भजनमें सहायक होता है। पर पापोंसे किसी प्रकार भजन या वैराग्यमें सहायता नहीं मिलती। पाप-वासना तो हर प्रकारसे मनुष्यका पतन करनेवाली है। पाप बननेके बाद यदि सच्चा पश्चात्ताप होता है तो इसमें अवश्य ही भगवान्की दया भरी हुई है, और यह पूर्वकृत भगवद्भजनका प्रभाव है। भगवान् कभी भी किसीका अज्ञान दूर करानेके लिये उससे पापकर्म करवावें—यह सम्भव नहीं है। भगवान् तो हर समय पापोंसे हटानेके लिये ही प्रेरणा करते हैं। मनुष्य कुसंग और आसक्तिवश पाप कर बैठता है। हाँ, पश्चात्तापमें अवश्य भगवान्का हाथ है।

भगवान्की दयासे उनका रहस्य और नयी-नयी अनुभूतियाँ आपको प्राप्त हुई सो अच्छी बात है। आपको चिन्मय प्रकाशमान स्वरूप अपने चारों ओर दिखायी देता है—यह भी शुभ लक्षण है। पर यह असली निर्गुण ब्रह्मके दर्शन नहीं हैं। निर्गुण ब्रह्म इन्द्रियोंका या मनका विषय नहीं है। आपके मनमें जो भगवान् श्रीराम-कृष्णके दर्शनोंकी लालसा बढ़ी हुई है, सो बहुत ही अच्छी बात है। इसे अधिक-से-अधिक बढ़ानेकी आवश्यकता है।

आपने लिखा कि कभी-कभी ऐसे कड़वे अनुभव आते हैं, जिनके स्मरणमात्रसे नरक प्राप्त होता है। इसमें आप किसी अंशमें भी माताका यानी भगवान्का हाथ समझते हैं तो यह आपकी भूल है। यह सब करतूत पाजी मनकी है। वही पुरानी वासनाको हरी-भरी करके मनुष्यको विचलित करता रहता है। आप ऐसे मौकोंपर रोते हैं—यह बहुत अच्छी बात है। भगवान्से प्रार्थना करनेपर सब विकार शान्त हो जाते हैं और पहलेसे भी अधिक लगन लग जाती है। यह बहुत अच्छी बात है। ऐसा होना ही चाहिये।

आपने शादी नहीं की और करना भी नहीं चाहते—यह अच्छी बात है; पर ब्रह्मचर्यका पूर्णतया पालन होना चाहिये।

आशीर्वाद और उपदेश देनेका तो मेरा अधिकार और योग्यता नहीं है। इसलिये लाचार हूँ। पर सलाहके रूपमें मेरा यही लिखना है कि आप भगवान्में प्रेम और उनकी रटन बढ़ाते रहें। भगवान्का चिन्तन निरन्तर होना चाहिये। सत्संग इसके लिये बहुत ही सहायक है।

बाल-कल्याण

(१)

व्यायाम और खेल

देखो कैसा खेल कबड्डी। हों मजबूत नसें औ हड्डी॥
तनमें पूरी फुर्ती आवे। खूब खेलना मनमें भावे॥

आओ दौड़ें लंबी दौड़। एक साथ सब करके होड़॥
यह भी है उत्तम व्यायाम। आगे जाये उसका नाम॥

ये हैं बैठक-दण्ड लगाते। कुश्तीके भी दाव दिखाते॥
आदर करते इनका लोग। बल बढ़ता है भगते रोग॥

व्यायाम और खेल

रस्साकसी जोरका खेल। खींचो एक साथ कर मेल॥
देखो जीतेगा दल कौन। बोलो मत सब रक्खो मौन॥

है तो अच्छी साइकिल-दौड़। पर मत करना इसमें होड़॥
भीड़ भाड़को देख चलाना। ऊँची नीची राह बचाना॥
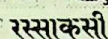
बालक जलमें तैर रहे हैं। कूद रहे हैं, पैर रहे हैं॥
मैल दूर हो, हो व्यायाम। तैराकीमें दो-दो काम॥

(२)

पाण्डवोंका बाल-जीवन

महाराज पाण्डुके दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्तीके तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन एवं माद्रीके दो पुत्र हुए—नकुल और सहदेव। ये ही पाण्डुपुत्र होनेसे 'पाण्डव' कहलाये। ये पाँचों इन्द्रके अथवा धर्मराज, वायु, इन्द्र एवं अश्विनीकुमारोंके अंश थे तथा भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे।

हस्तिनापुरमें पाण्डवोंके विधिवत् सब संस्कार हुए। ये पाँचों भाई बचपनसे ही विनम्र, गुणवान् और शीलसम्पन्न थे। अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका चारों भाई बहुत आदर करते थे और उनकी आज्ञाका सावधानीसे पालन करते थे। युधिष्ठिर भी अपने छोटे भाइयोंको प्राणोंके समान प्यार करते थे। पाण्डवोंमें भीमसेन अत्यन्त बलवान् थे। दौड़नेमें, कुश्ती लड़नेमें तथा भोजन करनेमें कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। होड़के कारण वे धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सभी पुत्रोंको खेलमें हरा दिया करते थे। वैसे उनके मनमें कोई वैरभाव नहीं था। दुर्योधन आदि जब किसी वृक्षपर चढ़ जाते, तब वे वृक्षकी जड़ पकड़कर हिला देते, जिससे सब बालक पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। बराबर भीमसेनसे हारनेके कारण दुर्योधनके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष हो गया। वह बराबर भीमको मार डालने तथा युधिष्ठिर आदिको बंदी बनानेका उपाय सोचने लगा।

द्वेषवश दुर्योधनने एक योजना बनायी। गङ्गा-किनारे प्रमाण-कोटि नामक स्थानपर उसने जलविहारके लिये एक शिविर लगवाया और पाण्डवोंको आमन्त्रित किया। पाण्डवोंने उसका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ पहुँचकर कौरवोंने बड़ा आदर दिखाते हुए पाण्डवोंको भोजन कराया। दुर्योधनने पहलेसे विष मिलाकर लड्डू बनवाये थे। बड़े आग्रहसे उसने भीमसेनको वे लड्डू खिलाये। अनजानमें वे सब लड्डू खा गये। जल-क्रीडाके पश्चात् भीमको बड़ी थकावट जान पड़ी। वे अपने शिविरमें आकर सो गये और विषके शरीरमें फैल जानेसे मूर्छित हो गये। दुर्योधनने अपने हाथों उन्हें लताओंसे बाँधकर एक ऊँचे तटसे गङ्गाजीमें फेंक दिया। इसी दशामें भीम पाताललोक पहुँचे। वहाँ उन्हें विषैले सर्पोंने खूब काटा। सर्पोंके काटनेसे भोजनमें खाये विषका प्रभाव दूर हो गया। अब सचेत होकर वे सर्पोंको मारने लगे। उसी समय वहाँ आर्यक नागके साथ नागराज वासुकि आये। आर्यक नागने भीमको पहचान लिया। वह भीमका नाना लगता था। आर्यककी प्रार्थनापर नागराज वासुकिने भीमको नागलोकमें भरा अमृत पीनेकी आज्ञा दे दी। एक घूँटमें भीम एक कुण्डका रस पी जाते थे। इस प्रकार आठ कुण्डका रस पीकर नागोंके कहनेपर वे एक उत्तम शय्यापर सो गये और आठ दिनतक सोते रहे। यहाँ दुर्योधन मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था। युधिष्ठिर आदि चारों भाइयोंने बहुत ढूँढ़ा, किंतु उन्हें कहीं भीम मिले नहीं। घर लौटकर माता कुन्तीको उन्होंने यह समाचार दिया। सबको यह शंका तो हो गयी कि इसमें दुर्योधनकी कुछ दुष्टता है; परंतु विदुरजीके समझानेसे सबने शान्त रहना ही उचित समझा। आठ दिनपर जब भीमसेनके शरीरमें वह रस पच गया, तब वे जगे। उनको अब दस सहस्र हाथियोंका बल प्राप्त हो गया था। नागोंने उनका दिव्य वस्त्र तथा आभूषणोंसे सत्कार किया। वहाँसे नागराजकी अनुमति लेकर भीमसेन ऊपर आये। माता कुन्ती तथा भाइयोंको भीमसे मिलकर बड़ा ही आनन्द हुआ। जब भीमने दुर्योधनकी दुष्टता सुनायी, तब युधिष्ठिरजीने कहा—'भाई! बस, अब चुप रहो। यह बात कभी किसीसे मत कहना। हम लोगोंको अब सावधानीसे एक-दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये।'

दुरात्मा दुर्योधनने भीमसेनके प्यारे सारथिको गला घोंटकर मार डाला। भीमसेनके भोजनमें एक बार और विष डाला गया। युयुत्सुने यह बात पाण्डवोंको बतला दी, किंतु भीमसेनने वह विष खाकर पचा लिया। उनके शरीरपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भीमको विषसे मरते न देखकर उन्हें मारनेके लिये दुर्योधनने अपने मामा शकुनिसे सलाह करके और भी अनेक उपाय किये। पाण्डव सब कुछ जानकर भी सह लेते थे। वे किसीसे कुछ कहते नहीं थे। युधिष्ठिर बचपनसे इतने धर्मात्मा थे कि वे कौरवोंको अपना भाई मानकर अपकार करनेपर भी उनकी बदनामी करना पसंद नहीं करते थे।

जब धृतराष्ट्रने देखा कि राजकुमार खेल-कूदमें ही लगे रहते हैं, तब उन्होंने कृपाचार्यजीको बुलाकर उन्हें शिक्षा देनेके लिये कहा। पाण्डवों और कौरवोंने कृपाचार्यजीसे शास्त्रोंकी तथा धनुर्वेदकी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। द्रोणाचार्यजीके हस्तिनापुर आ जानेपर भीष्मपितामहने उनसे प्रार्थना की कि वे राजकुमारोंको विधिवत् धनुर्वेदकी शिक्षा दें। आचार्य द्रोणसे ही

कौरव तथा पाण्डवोंने धनुर्वेदकी सम्पूर्ण शिक्षा पायी।

जब सब राजकुमार कृपाचार्यजीके यहाँ पढ़ रहे थे, तब आचार्यने उन्हें पढ़ाया—**'सत्यं वद', 'धर्मं चर'** अर्थात् सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो। एक दिन आचार्यके पूछनेपर सभी राजकुमारोंने बताया कि हमें पाठ याद हो गया है, किंतु युधिष्ठिरजीने कहा कि 'मुझे एक वाक्य तो आ गया है, पर दूसरा पूरी तरह नहीं आया।' कई दिनोंतक आचार्य बराबर पूछते कि पाठ याद हुआ या नहीं और युधिष्ठिर वही उत्तर देते। अन्तमें आचार्यके अप्रसन्न होनेपर युधिष्ठिरने बताया—'धर्मका आचरण करना चाहिये, यह बात मेरे चित्तमें पूर्णतया बैठ गयी है; किंतु सदा सत्य ही बोलना चाहिये, यह बात इतनी दृढ़ नहीं बैठी है कि मैं कह सकूँ कि जीवनमें मुझसे कभी छलसे भी झूठ नहीं बोला जायगा।' आचार्यने युधिष्ठिरको हृदयसे लगा लिया और कहा—'सचमुच तुमने ही पढ़ा है। दूसरोंने तो कुछ भी पढ़ा नहीं।'

जिस प्रकार युधिष्ठिर धर्मनिष्ठ थे और भीमसेन सबसे बड़े बलवान् थे, वैसे ही अर्जुन धनुष-विद्यामें सर्वश्रेष्ठ थे। एक बार आचार्य द्रोणने अपने शिष्योंकी परीक्षा लेनेके लिये एक नकली पक्षी बनवाकर वृक्षपर टाँग दिया और राजकुमारोंसे कहा—'तुम्हें बाण मारकर पक्षीका मस्तक उड़ाना होगा।' जब कोई राजकुमार धनुष चढ़ाकर तैयार हो जाता, तब आचार्य पूछते—'तुम्हें क्या दिखायी पड़ रहा है?' राजकुमार बतलाते—'हमको वृक्ष, पक्षी तथा यहाँकि सब दृश्य दीख रहे हैं।' आचार्य कह देते—'धनुष रख दो। तुमसे लक्ष्य-वेध नहीं होगा।' एक-एककर सभी राजकुमार इसी प्रकार बैठा दिये गये। अन्तमें जब अर्जुन उठे, तब उनसे भी वही प्रश्न हुआ। अर्जुनने कहा—'मुझे तो पक्षीके मस्तकको छोड़कर कुछ भी इस समय नहीं दीखता।' आचार्यने प्रसन्न होकर उन्हें बाण चलानेकी आज्ञा दी और पक्षीका मस्तक उस बाणसे कटकर गिर पड़ा। जबतक उद्देश्यके प्रति इतनी एकाग्रता न हो कि उसे छोड़कर दूसरा कुछ न सूझे, तबतक पूरी सफलता नहीं होती, यही बात आचार्य द्रोणने अपने शिष्योंको इस घटनासे सिखायी। एक दिन गङ्गा-स्नान करते समय एक मगरने द्रोणाचार्यजीकी जाँघ पकड़ ली, आचार्य स्वयं छूट सकते थे, फिर भी उन्होंने शिष्योंको पुकारा। शेष राजकुमार तो हक्के-बक्के-से खड़े रह गये, पर अर्जुनने पाँच बाण मारकर पानीमें डूबे मगरको मार डाला। आचार्यने प्रसन्न होकर ब्रह्मशिर नामक दिव्यास्त्रका प्रयोग और संहार (लौटा लेना) अर्जुनको बतलाया। इस अस्त्रको प्राप्त करके अर्जुन सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हो गये।

आचार्य द्रोण तथा राजा द्रुपद एक साथ एक आचार्यके यहाँ बाल्यकालमें शिक्षा पाते थे। उस समय दोनोंमें बड़ी मित्रता थी। द्रुपदने कहा था कि 'मैं राजा होनेपर अपना आधा राज्य आपको दे दूँगा।' समय आनेपर द्रुपद राजा हो गये। जब द्रोणाचार्यजी उनसे मिलने गये, तब उन्होंने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया। 'मित्रता समानमें ही होती है। एक राजा और एक दरिद्र ब्राह्मणमें कैसी मित्रता? बचपनमें, अबोध दशामें कही हुई बातोंका कोई मूल्य नहीं होता।' इस प्रकारकी बातें करके उन्होंने द्रोणाचार्यका अपमान किया। आचार्य उन्हें दण्ड देनेमें समर्थ थे; किंतु उन्होंने अपने मित्रसे स्वयं युद्ध करना उचित नहीं समझा। वहाँसे वे हस्तिनापुर चले आये, पर द्रुपदको उनके अभिमानका दण्ड देनेका विचार उनके मनसे गया नहीं। जब कौरव-पाण्डवोंकी शिक्षा पूरी हो गयी, तब आचार्यने कहा—'द्रुपदको बंदी बनाकर मेरे पास ले आओ! यही मेरी गुरुदक्षिणा है।' दुर्योधनादिने उत्साहवश पहले द्रुपदपर आक्रमण कर दिया; किंतु उन्हें पराजित होना पड़ा। अन्तमें अर्जुनने घोर संग्राम करके द्रुपदको पकड़ लिया और लाकर द्रोणाचार्यके सम्मुख खड़ा कर दिया। द्रुपदका गर्व नष्ट हो गया था। द्रोणाचार्यने कहा—'राजन्! मैं अब भी पुरानी मित्रताको बनाये रखना चाहता हूँ। तुमने कहा था कि 'राजाका मित्र राजा ही हो सकता है', अतः तुम्हारा आधा राज्य मैं ले लेता हूँ और आधा तुम्हें लौटा देता हूँ। अब हम दोनों बराबर हो गये।' इसके बाद द्रुपदको आचार्यने छोड़ दिया।

द्रुपदको जीतनेके एक वर्ष पश्चात् धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरको युवराजपदपर अभिषिक्त किया; किंतु पाण्डवोंकी बढ़ती हुई शक्ति तथा जनताका पाण्डवोंके प्रति प्रेम देखकर वे मन-ही-मन चिन्तित रहते थे। अपने पुत्र दुर्योधनके प्रति उनका बहुत अधिक मोह था। दुर्योधन तो पाण्डवोंसे जलता ही था, उसने उन्हें मार डालनेका एक उपाय निकाला और धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर सहमत कर लिया। वारणावत नगरमें दुर्योधनने अपने मन्त्री पुरोचनको इसलिये भेज दिया कि वहाँ सन, राल, लकड़ी तथा दूसरे शीघ्र जलनेवाले पदार्थोंके संयोगसे एक सुन्दर भवन पाण्डवोंको निवास करनेके लिये बनाया जाय। दुर्योधनके चरोंने वारणावत नगरकी प्रशंसा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरजीको आज्ञा दी कि 'वे भाइयोंके साथ उस सुन्दर नगरको देखने जायँ और कुछ दिन वहाँ रहकर लौट आवें।' युधिष्ठिरने इच्छा न होनेपर भी अपना आदरणीय होनेके कारण धृतराष्ट्रकी

आज्ञा स्वीकार कर ली। विदुरजीको दुर्योधनकी दुष्टताका पता लग गया था। जब पाण्डव वारणावत नगर जाने लगे, तब विदुरजीने सांकेतिक भाषामें बता दिया कि 'तुम लोगोंको अग्निसे सावधान रहना चाहिये और घूम-फिरकर वनमें जानेवाले मार्गों तथा दिशाओंका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।'

पाण्डवोंके वारणावत जानेपर पुरोचनने बड़े ढंगसे अपने बनवाये भवनकी चर्चा की। ऊपरसे देखनेमें वह बहुत सुन्दर था; किंतु उसमें सब जलनेवाली वस्तुएँ लगी थीं। उसकी दीवारोंपर ऐसे लेप चढ़ाये गये थे जो झटपट जल उठें, पर परीक्षा करनेपर भी संदेह न हो। विदुरजीके संकेतसे युधिष्ठिर सब बातें समझ गये थे, फिर भी माता कुन्ती तथा भाइयोंके साथ वे उसी भवनमें आकर रहने लगे। गुप्तरूपसे पाण्डवोंने उस भवनसे वनमें निकल जानेके लिये एक सुरंग बनवाना प्रारम्भ कर दिया और वनमें शिकारके लिये नित्य घूमनेके बहाने आस-पासके मार्गोंका भी वे पता लगाते रहे। विदुरजीने एक सुरंग खोदनेवालेको पाण्डवोंके पास भेज दिया था। उसने एक बड़ी सुरंग बना दी और उसका द्वार भूमिके बराबर ऐसा कर दिया कि पता न लगे। पाण्डव एक वर्षतक उस भवनमें रहे। पुरोचन उन्हें धोखेसे भवनमें अग्नि लगाकर भस्म कर देना चाहता था। एक दिन रात्रिको पाण्डवोंने स्वयं ही उस भवनमें अग्नि लगा दी और सुरंगके मार्गसे वनमें निकल गये। उस भवनमें चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें थीं और एक ही द्वार था। उस दिन माता कुन्तीने ब्राह्मणोंको दान दिया था और गरीबोंको भोजन कराया था। एक भीलकी स्त्री भी अपने पुत्रोंके साथ वहाँ आयी थी। वे सब शराब पिये हुए थे, अतः भोजन करके संयोगवश उसी भवनमें सो गये थे। पापी पुरोचन तथा अपने पुत्रोंके साथ वह भीलनी उस भवनमें जलकर भस्म हो गये। प्रातःकाल शवोंको देखकर लोगोंने समझा कि अपनी माताके साथ पाण्डव जल गये हैं। प्रजामें हाहाकार मच गया। भीष्मपितामह आदिको भी बड़ा दुःख हुआ। विदुरजी सब कुछ जानते थे; फिर भी ऊपरसे उन्होंने भी शोक प्रकट किया। धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्र मनमें बहुत प्रसन्न हो रहे थे और ऊपरसे दिखाऊ शोक भी प्रकट कर रहे थे।

सुरंगके द्वारा वनमें पहुँचनेपर पाण्डवोंने शीघ्र ही दूर चले जानेका विचार किया। उन्हें दुर्योधनके दुष्ट साथियोंका अब भी भय था। इतना होनेपर भी माता कुन्तीके कारण शीघ्रतासे वे चल नहीं पाते थे। अन्तमें भीमसेनने कुन्ती देवीको कंधेपर उठाया, नकुल-सहदेवको गोदमें लिया और युधिष्ठिर तथा अर्जुनको हाथोंका सहारा देते हुए वे शीघ्रतासे चलने लगे। इसी समय विदुरजीका भेजा हुआ सेवक आया और उसने उन लोगोंको नौकाद्वारा गङ्गा-पार पहुँचा दिया। अनेक कष्ट उठाते हुए भीमसेन सबको पूर्ववत् लेकर आगे जाने लगे। रात्रिमें एक वृक्षके नीचे कुन्तीदेवी तथा चारों भाई सो गये। केवल भीमसेन सावधानीसे जगते हुए सबकी रक्षा करते रहे। उसी वनमें हिडिम्ब नामक एक राक्षस रहता था। वह काले रंगका, भयंकर दाढ़ोंवाला विशाल आकारका, बलवान् तथा मांसभक्षी था। उसे भूख लग रही थी। मनुष्योंकी गन्ध पाकर उसने अपनी बहिन हिडिम्बाको उन्हें मारकर लानेके लिये भेजा। हिडिम्बा वहाँ पहुँची तो भीमसेनको देखकर मुग्ध हो गयी और प्रार्थना करने लगी कि वे उसे पत्नीके रूपमें स्वीकार कर लें। उसने अपने भाईके भयसे भी सूचित कर दिया। भीमसेनने कहा—'तू डर मत! तेरा भाई मेरा या मेरे भाइयोंका कुछ बिगाड़ नहीं सकता।' इधर इन बातोंमें लगनेसे हिडिम्बाको लौटनेमें देर होते देख राक्षस हिडिम्ब क्रोधमें भरा हुआ आया। भीमसेनने उसे पकड़ लिया और थोड़ी देरतक दोनोंमें घमासान युद्ध होता रहा, पर अन्तमें भीमने राक्षसको पटककर मार डाला। राक्षसके मरनेपर हिडिम्बाने माता कुन्तीके चरण पकड़कर प्रार्थना की। माताकी आज्ञासे भीमसेनने उससे विवाह कर लिया। घटोत्कच नामक परम पराक्रमी पुत्र हिडिम्बासे उत्पन्न हुआ।

पाण्डवोंने सिरपर जटाएँ बढ़ा ली थीं। वे तपस्वियोंके समान वेश रखते थे और वनके कन्द-मूल खाते थे। कभी वे माताको पीठपर बैठा लेते और कभी धीरे-धीरे चलते। भगवान् व्यास उनसे एक बार वनमें मिले और उन्होंने पाण्डवोंको सान्त्वना दी। व्यासजीके आदेशसे पाण्डव एकचक्रा नगरीमें गये और वहाँ एक ब्राह्मणके घरमें रहने लगे। भगवान् व्यासने अपने पुनः आनेतक उन्हें वहीं रहनेका आदेश दे दिया था। उस समय पाण्डव भिक्षा माँगकर लाते थे, भिक्षामें जो कुछ मिलता, उसे बनाकर कुन्तीदेवी आधा भीमसेनको खिला देतीं और आधेमें शेष सब बाँटकर खा लेते थे।

जिस घरमें वे लोग रहते थे, उस ब्राह्मण-परिवारके लोग एक दिन करुण-क्रन्दन कर रहे थे। पूछनेपर पता लगा कि उस नगरके पास 'बक' नामका राक्षस रहता है। उस बलवान् राक्षसके लिये नगरसे बारी-बारीसे लोग प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न और दो भैंसे भेजते थे। जो मनुष्य यह सामग्री लेकर

जाता, उसे भी वह राक्षस खा लेता था। उस दिन उस ब्राह्मणके घरकी बारी थी; उस ब्राह्मणके घरमें ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र तथा पुत्री—ये चार ही प्राणी थे। इनमेंसे प्रत्येक चाहता था कि दूसरोंकी जीवन-रक्षा हो और वह स्वयं राक्षसका आहार बनने उसके पास जाय। कुन्तीदेवीने ब्राह्मणसे कहा—'आप लोग दुखी न हों। मेरे पाँच पुत्र हैं, मैं अपना एक पुत्र राक्षसके पास भेज दूँगी। आपके घरमें हम इतने दिनों बड़े आरामसे रहे हैं। आपके संकटको दूर करना हमारा कर्तव्य है।' ब्राह्मण-ब्राह्मणीने यह बात स्पष्ट अस्वीकार कर दी। अपने घर ठहरे अभ्यागतको अपने प्राणोंके लिये राक्षसके पास भेजना तो बड़ा भारी पाप है। पाप करके यदि जीवनकी रक्षा होती हो तो उससे मर जाना लाख गुना श्रेष्ठ है। किसी प्रकार कुन्तीदेवीने ब्राह्मणको समझाया कि 'मेरा पुत्र मरेगा नहीं बल्कि वह राक्षसको मारकर पूरे नगरका संकट दूर कर देगा।' जब कुन्तीने यह बहाना किया कि मेरा पुत्र ऐसी मन्त्रविद्या जानता है कि राक्षस उसका कुछ नहीं कर सकता, तब वह ब्राह्मण-परिवार राजी हुआ। माताकी आज्ञासे गाड़ीभर अन्न तथा भैंसे लेकर भीमसेन रात्रिके समय वनमें गये। वहाँ उन्होंने गाड़ीके भैंसे तो खोलकर भगा दिये और बकासुरको पुकारकर स्वयं लाया हुआ अन्न भोजन करने बैठ गये। वह भयंकर राक्षस वहाँ आया और अपने लिये लाया अन्न दूसरेको खाते देख क्रोधके मारे काँपने लगा। उसने बहुत गर्जन-तर्जन किया, पर भीमसेन तो उसकी ओर पीठ करके भोजन करनेमें लगे ही रहे। भोजन समाप्त करने एवं हाथ-मुँह धोनेके बाद भीमने राक्षसकी ओर ध्यान दिया। थोड़ी ही देरके युद्धमें उन्होंने राक्षसको पटक दिया और घुटनोंसे रगड़कर मार डाला। राक्षसको मारकर उसका शव वे नगरद्वारतक उठा लाये और वहाँ पटककर माताके पास चले गये। उस दुष्ट राक्षसके मारे जानेसे सदाके लिये उस नगरके लोगोंका भय दूर हो गया।

भगवान् व्यास फिर एकचक्रा नगरीमें आये। उन्होंने पाण्डवोंको द्रौपदीके जन्मकी कथा सुनाकर बताया कि उसका स्वयंवर होनेवाला है। व्यासजीकी आज्ञासे पाण्डवोंने माताके साथ पाञ्चाल देशके लिये प्रस्थान किया। मार्गमें एक दिन रात्रिके समय पाण्डव गङ्गातटके सोमाश्रयायणतीर्थपर पहुँचे। उस समय अर्जुन आगे-आगे मशाल लिये चल रहे थे। गन्धर्वराज चित्ररथ स्त्रियोंके साथ वहाँ गङ्गाजीमें विहार कर रहे थे। उन्होंने पाण्डवोंको जलमें प्रवेश करनेसे यह कहकर रोका कि 'संध्याके पश्चात्का समय गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षसोंका है। इस समय मनुष्योंको जलमें नहीं उतरना चाहिये।' अर्जुनने कहा—'भला, समुद्र, हिमालय पर्वत और गङ्गाजी भी किसीके लिये सुरक्षित हो सकती हैं?' बात बढ़ जानेपर गन्धर्वराजने विषैले बाण चलाने प्रारम्भ किये। अर्जुनने अपनी ढाल और मशालपर ही उनके बाण रोक लिये और आग्नेयास्त्र चलाकर उनका रथ भस्म कर दिया। चित्ररथसे वे दग्धरथ हो गये। गन्धर्वराजको पकड़कर अर्जुन युधिष्ठिरके पास ले आये; पर दयालु एवं धर्मात्मा युधिष्ठिरने उन्हें मुक्त करवा दिया। चित्ररथने अर्जुनसे मित्रता कर ली। अर्जुनने उसे आग्नेयास्त्र दिया और उसने अर्जुनको चाक्षुषी विद्या दी तथा बहुतसे गन्धर्वोंके दिव्य घोड़े यथासमय देनेका वचन दिया। गन्धर्वराज चित्ररथकी सम्मतिसे पाण्डवोंने तपस्वी मुनि धौम्यको अपना पुरोहित बनाया और द्रौपदी-स्वयंवरको देखने जानेवाले ब्राह्मणोंके साथ वे पाञ्चाल पहुँचे। नगरमें पहुँचकर एक कुम्हारके घर ठहर गये।

महाराज द्रुपद चाहते थे कि उनकी पुत्रीका विवाह अर्जुनके साथ ही हो। उन्होंने एक ऐसा यन्त्र बना रखा था कि उसमें बनायी मछली बराबर घूमती रहती थी। नीचे कड़ाहेमें तेल भरा था। तेलमें मछलीकी छाया देखकर वहाँ रखे धनुषपर डोरी चढ़ाकर पाँच बाणोंसे उस मत्स्यको मारकर गिरा देनेवालेके साथ ही द्रौपदीका विवाह होगा, यह घोषणा हो गयी थी। आये हुए नरेशोंमेंसे बहुतोंसे तो धनुष चढ़ा ही नहीं। कुछने धनुष चढ़ा भी लिया तो वे लक्ष्यका वेध नहीं कर सके। सब नरेशोंके निराश हो जानेपर अर्जुन उठे और उन्होंने सहज ही धनुष चढ़ाकर उस मछलीको बाण मारकर गिरा दिया। उस समय पाण्डव ब्राह्मणों-जैसे वेशमें थे। राजाओंने उनपर आक्रमण कर दिया; किंतु अर्जुन तथा भीमके आगे उन सबकी एक नहीं चल सकी। श्रीबलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भी वहाँ आये थे। उन्होंने पहले ही पाण्डवोंको पहचान लिया था। राजाओंको समझा-बुझाकर भगवान्ने शान्त करा दिया। इस प्रकार अपने शील, सदाचार, त्याग, पराक्रम तथा सहनशीलतासे बाल्यकालमें ही पाण्डवोंने भगवान्की कृपा प्राप्त कर ली। द्रौपदीको उन्होंने प्राप्त किया तथा समस्त संकटोंसे भी पार हो गये।
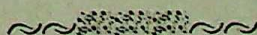
एक गृहस्थ भक्त

(पं० श्रीछगनलालजी शर्मा, ज्योतिषाचार्य)

सेठ राधाकृष्णजी अजमेरके सराधना गाँवके निवासी थे। सत्यता, मृदुभाषिता, परोपकारशीलता आदि गुण इनमें प्रचुर मात्रामें थे। बाल्यावस्थासे ही अपने पिताजीके आदर्शके अनुसार आप नित्यप्रति भगवान्की प्रार्थना किया करते थे। स्वभावसे ही उदार थे। यथायोग्य सभीका सम्मान करते थे। शायद ही कोई ऐसा हो जो आपके पास जाकर खाली हाथ लौटा हो। व्यापारमें भी आप उदारतासे काम लेते थे। किसीपर नालिश करके उसकी जमीन-जायदादको कुर्क करवाना तो आप जानते ही नहीं थे, बल्कि मौका पड़नेपर मुनीमोंके रोकनेपर भी उन्हें पुनः कर्ज दे देते थे।

आपके इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण थे और आप प्रायः निरन्तर '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' मन्त्रका स्मरण किया करते थे। अभ्यास इतना बढ़ गया था कि मन्त्रके साथ अँगुलियोंपर अँगूठा हर समय चलता ही रहता था। निद्रावस्थामें भी यह कार्य बंद नहीं होता था। स्वप्नमें आप भगवान् श्रीकृष्णकी विचित्र लीलाएँ देखा करते थे और कभी-कभी नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहाते हुए उनका वर्णन भी किया करते थे।

आपकी दयालुता और सदाशयता प्रसिद्ध थी। एक समयकी बात है—आप रातको ग्यारह बजे बैलगाड़ीपर अजमेरसे सराधना आ रहे थे। उस समय आपके साथ पर्याप्तमात्रामें जेवर और नक़द रुपये थे। सुनसान जंगलमें गाड़ी चली जा रही थी। आप भगवान्की स्तुति करके गाड़ीमें सोये ही थे कि बंदूक लिये हुए दो डाकुओंने आकर गाड़ीको रोक दिया। सेठजी जाग उठे और बोले—'क्या बात है?' मुँहसे कपड़ा हटाते ही डाकुओंने आपको पहचान लिया और यह कहकर कि 'अरे, यह तो सेठजी हैं' वे भाग गये। उस समयका दृश्य बड़ा विचित्र था। डाकू भाग रहे थे और सेठजी पीछेसे पुकार-पुकारकर कह रहे थे—'भाई! कुछ तो ले जाओ!' बहुत पुकारनेपर भी डाकू नहीं लौटे। अन्तमें सेठजीने विवश होकर उनको आवाज देकर कहा—'भाई! मेरे पास आकर खाली हाथ लौट जाओ, यह तो ठीक नहीं। मैं तुम्हारे लिये पेड़के नीचे दो सौ रुपये रख देता हूँ, आकर ले जाना।' इसके बाद दो सौ रुपये पेड़के नीचे रखकर सेठजी वहाँसे आगे चले। पता नहीं, डाकू फिर रुपये लेने आये या नहीं। यह बात सेठजीने किसीसे नहीं कही थी और गाड़ीवानको भी कुछ भी कहनेके लिये मना कर दिया था। जब वे इस असार संसारको छोड़कर चले गये, तब गाड़ीवानने यह बात बतायी थी।

सेठजी प्रतिदिन नियमपूर्वक दो घंटे ब्राह्मणके द्वारा भगवत्कथा-श्रवण करते थे और स्वयं श्रीमद्भागवतका पाठ करते थे। श्रावण मासमें आप कुछ अस्वस्थ हुए। मृत्युके तीन दिन पूर्व खूब दान-पुण्य किया और घरका सारा हिसाब-किताब पुत्रोंको सँभला दिया। मृत्युके दिन सेठजी देखनेमें स्वस्थ मालूम होते थे और वैद्य-डॉक्टर भी उन्हें स्वस्थ बता रहे थे, परंतु वे कहते थे कि 'रातको ग्यारह बजे मैं चला जाऊँगा।'

गीता सुनायी जा रही थी और आप भी ध्यानपूर्वक श्लोकोंका उच्चारण कर रहे थे। कुछ समय बाद आपने अपने इष्टदेवके चित्रपटको पूजास्थानसे मँगवाकर सामने रखवाया और घृतका दीपक जलाकर खड़े होकर प्रतिदिनकी भाँति भगवान्से प्रार्थना की। तदनन्तर आप लेट गये और कहने लगे कि 'अब दुर्बलता प्रतीत होती है; किंतु मुझे कोई भी दवा न देना और मेरी मृत्युके बाद पचीस मिनटतक कोई रोना नहीं।' इतना कहकर सेठजीने अपने नेत्रोंको भगवान्की मूर्तिपर लगा दिया और वे अपने इष्ट-मन्त्र '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' का स्मरण करने लगे। उस समय साढ़े दस बजे थे। उपस्थित वैद्य-डॉक्टर तथा प्रियजन सब यही कह रहे थे कि 'अब ग्यारह बजनेमें केवल तीस मिनट रह गये हैं। मालूम होता है सेठजीको भ्रम हो गया है।' तदनन्तर दस बजकर पचपन मिनटपर आप पुनः उठ बैठे और कहने लगे 'मोर-मुकुटवाले अब क्यों विलम्ब करते हैं? क्या अब भी तस्वीरमें ही रहेंगे?' इतना कहकर आप ध्यानावस्थित हो गये और दो मिनट बाद आपने कहा—'भगवान् श्रीकृष्ण आ गये हैं!'

पूर्वसे प्रस्तुत किये हुए कुशासनपर आपको लिटा दिया गया। ठीक ग्यारह बजे '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' की बड़े जोरकी ध्वनिके साथ आपको अन्तिम श्वास आया। इस प्रकार आपने दुर्लभ मृत्यु प्राप्त की। वहाँ उपस्थित लगभग सौ व्यक्ति एक साथ ***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*** की ध्वनि पचीस मिनटतक करते रहे और आपकी ऐसी विचित्र मृत्युको देखकर सभी लोग आश्चर्यान्वित हो गये। इस सत्य घटनाका मैंने अपनी आँखों-देखा वर्णन किया है।

अमृत-बिन्दु

भगवान्‌से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नामजप, ध्यान, सेवा, आज्ञापालन और संग। परंतु संतोंसे लाभ उठानेमें तीन ही बातें उपयुक्त हैं—सेवा, आज्ञापालन और संग।

× × ×

संसारसे सम्बन्ध रखते हुए कितना ही साधन करें, वर्तमानमें सिद्धि नहीं होगी।

× × ×

जो वस्तु अपनेसे अलग होती है, वह अपनी नहीं होती। अलग वही वस्तु होती है, जो वास्तवमें अपनेसे अलग है।

× × ×

सुखकी इच्छासे सुख नहीं मिलता—यह नियम है।

× × ×

शरीरको अपना मानना असत्‌का संग है और शरीरको अपना न मानना सत्‌का संग है।

× × ×

जहाँ जातिका अभिमान होता है, वहाँ भक्ति होनी बड़ी कठिन है; क्योंकि भक्ति स्वयंसे होती है, शरीरसे नहीं। परंतु जाति शरीरकी होती है, स्वयंकी नहीं।

× × ×

शरणागति बहुत सुगम है, पर अभिमानी व्यक्तिके लिये बहुत कठिन है। 'मैं कुछ कर सकता हूँ'—यह अभिमान जबतक रहेगा, तबतक शरण होना कठिन है।

× × ×

भक्तको भगवान्‌की सेवामें आनन्द आता है और भगवान्‌को भक्तकी सेवामें आनन्द आता है।

× × ×

परमात्माकी प्राप्तिके बिना मनुष्य-शरीर कोई कामका नहीं है।

× × ×

गरीब घरकी कन्या लेनेके समान कोई पुण्य नहीं है। यह पुण्य कल्याण करनेवाला है।

× × ×

परमात्मप्राप्ति वास्तवमें सुगम है, पर लगन न होनेके कारण कठिन है।

× × ×

लगन होनेपर साधन स्वतः होता है और लगन न होनेपर साधन करना पड़ता है। जो स्वतः होता है, वह असली होता है और जो करना पड़ता है, वह नकली होता है।

× × ×

जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ सत्संग नहीं होता, प्रत्युत कुसंग होता है।

× × ×

असत्यका आश्रय लेनेवाला व्यक्ति हमारा नुकसान नहीं कर सकता।

× × ×

संसारमें भगवद्‌भक्तिके समान मूल्यवान् कोई चीज नहीं है।

× × ×

मकान यहाँ बना रहे हो, सजावट यहाँ कर रहे हो, संग्रह यहाँ कर रहे हो, पर खुद मौतकी तरफ भागे चले जा रहे हो? जहाँ जाना है, पहले उसको ठीक करो।

× × ×

वह उलटा काम कभी मत करो, जिसे सुलटा न कर सको।

× × ×

हर हालमें खुश रहनेकी विद्या सत्संगसे ही मिलती है।

× × ×

भलाई करनेसे सीमित भलाई होती है, पर बुराई छोड़नेसे असीम भलाई होती है।

× × ×

साधन वही सिद्ध होता है, जो निरन्तर होता है।

× × ×

साधक वही होता है, जो निरन्तर सावधान रहता है।

× × ×

भोगोंकी इच्छाका त्याग करनेके लिये मुक्तिकी इच्छा करना जरूरी है। परंतु मुक्ति पानेके लिये मुक्तिकी इच्छा करना बाधक है।

× × ×

सच्ची बातको मान लें—यह सत्संग है।

× × ×

हमारा स्वरूप खुदका है, पराया नहीं है; अगर उसे जानना कठिन है तो फिर सुगम क्या होगा?

पढ़ो, समझो और करो

(१)

मानवता

एस०एस०सी० का रिजल्ट निकला। उस दिन हाथमें एक छोटी-सी कागजकी पुर्जी लिये एक ट्रक-ड्राइवर मेरे पास आया और बोला—'भाई! जरा यह नंबर तो देख लो।'

मैंने पुर्जीमें लिखा नंबर पढ़ा और राजकोट केन्द्र देखा। अख़बारके पन्ने उलटकर नंबर खोजने लगा। वह ट्रक-ड्राइवर बड़ी उत्सुक-दृष्टिसे अपलक मेरी ओर देख रहा था। मैंने उससे पूछा—'किसका नंबर है?'

आतुरता नहीं रोक सकता हो—इस भावसे उसने कहा—'तुम पहले नंबर देखो, पीछे मैं सब बताता हूँ।'

मैं इस ट्रक-ड्राइवरसे परिचित हूँ, यह भी मुझको जानता है। हम दोनों एक ही गाँवके निवासी हैं। मैंने पढ़कर डाक-विभागमें नौकरी कर ली और इसने कुछ बड़े होनेपर जिम्मेवारीका खयाल आनेसे किसी प्राइवेट ट्रक-कम्पनीमें काम करना शुरू कर दिया। अकेला फक्कड़ है, न कोई आगे, न पीछे। खाता-पीता है और जितना कमाता है, उतनेमें मौजसे जिंदगी बिताता है।

वह बहुत खुश था, उसके चेहरेपर मनके आनन्दकी रेखाएँ स्पष्ट दीख रही थीं। उसने मुझे जो नंबर बताया था, वह नंबर एस०एस०सी०की परीक्षामें उत्तीर्ण छपा था। मैंने उससे कहा कि 'वह उत्तीर्ण हो गया है'—सुनते ही उसने गद्‌गद होकर कहा—

'आखिर प्रभुने उसकी ओर कृपादृष्टि की तो सही भाई!' और उसकी आँखें डबडबा आयीं।

'तू किसकी बात कर रहा है ड्राइवर?' मैंने पूछा! वह भूतकालकी याद करके कहने लगा—'चार वर्ष पहले एक दुर्घटनाका केस हुआ था न? उस दुर्घटनाके मामलेमें मैं निर्दोष छूट गया था भाई! परंतु मुझको उसी समय यह मालूम हो गया था कि जो आदमी उस दुर्घटनामें मारा गया था, वह बेचारा एक मिलमें मजदूरी करके मुश्किलसे अपना गुजारा करता था। उसकी साइकिल ताँगे और ट्रकके बीचमें आ गयी थी—इसीसे उसकी मृत्यु हो गयी। इस मामलेमें मैं निर्दोष छूट गया था, पर जब मुझे यह पता लगा कि इसका एक लड़का अंग्रेजी स्कूलमें तीसरी कक्षा पास होकर चौथे दर्जेमें आया है और अब उसे पढ़ाई छोड़कर मजदूरीमें लगना पड़ेगा, तब ईश्वरने स्वाभाविक ही मेरे मनमें उसकी मदद करनेकी प्रेरणा की······उजले रंगका वह लड़का था, पर पढ़नेमें बहुत तेज नहीं था, अतएव उसे कहींसे फीसके पैसे मिल जायँ या फीस माफ हो जाय—इसकी सम्भावना नहीं थी। परमात्मप्रभुकी कृपासे सुप्त सद्वृत्तिका उदय हुआ। मेरे मनमें आया कि अब मैं हर तरहसे इसकी सहायता—सेवा करनेका संकल्प लेता हूँ।

मैंने उस लड़केसे कहा—'भाई! तू निश्चिन्त होकर पढ़!······तुझे फीस, पुस्तकें मैं दूँगा, यों चार वर्ष सुख-दुःखसे निकल जायँगे······' उसकी माँ इधर-उधर दल-पीसकर पेट भरती है। भाई! आज मेरी खुशीका पार नहीं है। मेरा मनोरथ सफल हो गया; क्योंकि वह पास हो गया······'—इतना कहकर कुछ क्षणोंके लिये वह ट्रक-ड्राइवर कुछ गहरे विचारमें डूब गया! फिर बोला—'यह सब ईश्वरकी लीला है भाई! नहीं तो कहाँ मैं, कहाँ दुर्घटनामें मारा गया मिल-मजदूर और कहाँ उसका यह मैट्रिकमें पास होनेवाला बच्चा! निमित्तकी बड़ी बात है भाई······।'

—'स्नेहाब्धि'

(२)

गोसेवासे रोग-निवारण

घटना १९७५ ई० की है। अख्तियारपुर नामक गाँवमें एक दीनहीन बुढ़िया रहती थी। उसको एक ही बेटा था जो अभी छोटा था। बुढ़िया गोसेवा करती तथा गौका दूध और मट्ठा बेचकर जीवन-यापन करती। जब बेटा कुछ सयाना हुआ और कमाने लगा, तब बुढ़ियाने उसका विवाह कर दिया। तत्पश्चात् उसे एक पोती हुई। कुछ समयके बाद उसके बेटेको टी०बी० हो गयी। बेटेकी बीमारीसे बेचारी बुढ़िया बहुत चिन्तित रहती। उसने अपने बेटेको अपने ही

गाँवके एक डॉक्टरको दिखाया। डॉक्टरने देखा और दवा दी जिससे कुछ सुधार हुआ, फिर भी डॉक्टरने परामर्श दिया—'गौका दूध खिलाओ-पिलाओ, अच्छी तरहसे गोसेवा करो।' बुढ़ियाने ऐसा ही किया। उसका बेटा भी गोदुग्ध-सेवनके साथ ही गौ माताकी तन्मयतासे सेवा करने लगा। गोसेवाके प्रभाव तथा गोदुग्धके सेवनसे बुढ़ियाका बेटा टी०बी० रोगसे मुक्त हो गया। गोदुग्ध एवं गोसेवाके इस चमत्कारिक प्रभावको देखकर बुढ़ियाके आश्चर्यका तो ठिकाना न रहा, अब तो वह बुढ़िया एवं उसका बेटा दोनों और भी लगनसे अहर्निश गौकी सेवामें जुट गये। गाँववाले उनकी गोसेवासे चकित रहते। गोसेवासे आरोग्य, धन-धान्य तथा सभी फल मिलते हैं। यह घटना प्रत्यक्ष देखी गयी है।

—देवनारायण भट्ट 'दिवाकर'

(३)

विचित्र सेवा

एक बार दिल्लीकी एक गरीब बस्तीमें भयानक आग लगी। बहुत नुकसान हुआ। पाँच हजार मनुष्य बिना घर-बारके हो गये और लगभग बीस आदमी जल गये। दिनमें लगभग बारह बजे आग लगी थी, उस समय पुरुष तो अधिकांश कामसे बाहर गये हुए थे। एकके बाद एक घरोंमें आग फैलती गयी और देखते-ही-देखते बहुत-से घर जलकर खाक हो गये।

यों एक ओर अग्निका प्रकाण्ड ताण्डव हो रहा था, दूसरी ओर लगभग तीस वर्षकी एक युवती बहुत बड़ी बहादुरीका काम कर रही थी। उसके पड़ोसके घरके सब लोग बाहर गये हुए थे। आग वहाँ भी पहुँच गयी थी, इसी बीच वह स्त्री पड़ोसीके उस जलते घरमें कूदकर जा पहुँची और घरके कपड़े, बर्तन तथा अन्यान्य सामानोंको बाहर निकालती गयी। वहाँ इकट्ठे हुए लोगोंने पुकार-पुकार उसे समझाया कि 'देखो उधर तुम्हारा घर आगकी लपेटमें आ गया है, जाकर जो कुछ सामान निकल सके, निकाल लो।' पर उसने किसीकी बात नहीं सुनी। वह निडर स्त्री अपने काममें लगी रही। जबतक उस घरका तमाम सामान निकाल न दिया, तबतक हटी नहीं। जलते घरमें आने-जानेसे उसके हाथ-पैर तथा बाल भी कई जगह जल गये, परंतु इसका कोई दुःख उसे नहीं था। वह अपना कर्तव्यपालन करके प्रसन्न थी।

कुछ ही देरमें वह पड़ोसके घरवाला आया। अपने सारे सामानोंको सही-सलामत पाकर उसके हर्षका पार न रहा। अगल-बगलवालोंने बताया कि तुम्हारे घरके सारे सामानोंको बचानेवाली तो वह स्त्री है। तुरंत वह जाकर उस स्त्रीके पैरों पड़ गया और बोला कि 'बहन, यह तुमने क्या किया। अपने घरकी कुछ भी परवा न करके मेरा घर बचाया।' इसपर उस स्त्रीने शान्तिके साथ उत्तर दिया—'भाई! मैंने समझ-बूझकर ही यह सब किया है। अभी दस ही दिनके बाद तुम्हारी कन्याका विवाह होनेवाला है। लड़कीको देनेके लिये तुमने कितनी तकलीफें उठाकर सामान इकट्ठा किया था। ये सब चीजें आगमें जल जातीं तो तुम फिरसे इन्हें कहाँसे जुटा सकते। परिणामस्वरूप लड़कीका विवाह रुक जाता। मेरा घर जल गया तो कोई बात नहीं, मैं किसी भी झोंपड़ीमें जा रहूँगी। पर तुम्हारी लड़कीका तो घर ही न बँधता।' यह सुनते ही उस भाईकी आँखें आँसू बहाने लगीं। उसके मुँहसे सहज ही निकला—'इस तपोभूमि भारतमें अब भी ऐसी देवियोंका अभाव नहीं है।'

—जेठालाल कानजी शाह

(४)

अटूट भगवद्विश्वाससे व्रतकी पूर्णता

घटना सन् १९८४ ई० की है। मैं रविवारके दिन अपने चचेरे भाईके सालेकी बारातमें गया हुआ था। मेरा प्रत्येक सोमवारको व्रत रखने एवं देव-दरबार सकादामें दर्शन-पूजनहेतु जानेका नियम है। अतः दूसरे दिन सोमवार होनेके कारण मैं सुबह ही नहा-धोकर सात बजे अपने भाईसे कहा कि मैं देव-दरबारमें भगवान्के दर्शन-हेतु जा रहा हूँ, तुम बारातके साथ जाना। लेकिन मेरे चचेरे भाईने कहा कि जल्द ही बारात बिदा होनेवाली है, अतः साथ ही चलें। मैं रुक तो गया, परंतु मेरा मन सोमवार-व्रतकी पूर्णता एवं भगवद्दर्शनमें लगा हुआ था, इसलिये मनमें ही प्रार्थना

करते हुए मैंने कहा—'हे भगवन्! मेरे नियम-व्रतकी पूर्णता तुम्हारे हाथोंमें है, उसकी रक्षा करना।' बारातकी बिदाई होते-होते बारह बज गया। अब मेरे अंदर घबराहट पैदा हो गयी। ड्राइवरसे गाड़ी तेज चलानेको कहा, परंतु जम्पिंगकी वजहसे वह गाड़ी सीमित गतिमें ही चला पा रहा था। बस बाराबंकी चार बजे पहुँची। मैं जल्दीमें रिक्शेसे लखनऊ जानेवाली बस पकड़नेके लिये रोडवेज गया। वहाँ जानेपर पता चला कि कोई बस नहीं है। पुनः प्राइवेट बस-अड्डेपर आया। एक बस खड़ी थी जो पूरी भरी हुई थी। वहाँ टिकटमें टोकेन-सिस्टम होनेसे मैं और भी निराश हो गया। इस समयतक साढ़े चार बज गये थे। बाराबंकीसे लखनऊ और वहाँसे पुनः दूसरी बसद्वारा हरदोई जो कि बाराबंकीसे १३५ कि०मी० की दूरीपर है और हरदोईसे देव-दरबारकी दूरी बीस कि०मी० है, जहाँ मुझे जाना था। मैं बराबर भगवान् शिवसे प्रार्थना कर रहा था कि भगवान्, मुझे अपने दरबारतक शीघ्र पहुँचा दो, जिससे मैं तुम्हारा दर्शन कर सकूँ। क्योंकि यदि आज दर्शन नहीं कर पाया तो मेरा व्रत-भंग हो जायगा। बस-ड्राइवर बैठ चुका था, बस अब छूटने ही वाली थी, मेरे पास टिकट तो था नहीं, टिकट मिलनेकी कोई उम्मीद भी नहीं थी। तभी एक सज्जनने मेरा कुर्ता हिलाया और बोले—'भाई साहब, क्या आपको लखनऊ जाना है?' मैं हड़बड़ाकर मुड़ा और बड़ी ही आतुरतासे कहा—'हाँ भाई साहब, मुझे लखनऊ ही जाना है।' उन्होंने मुझसे कहा कि रजिस्टरमें मेरा नाम कृष्णमुरारी तथा यह मेरा टोकेन नं० बारह है। यदि आपके पास टिकट न हो तो आप यह टोकेन लेकर चले जाइये। मेरी मोटर साइकिल आ गयी है, अतः मैं उससे निकल जाऊँगा। मैंने टिकटके पैसे उन्हें दे दिये और टोकेन लेकर तीव्र गतिसे मिनीबसकी तरफ भागा। खिड़कीके पास १२ नं० की सीट खाली थी। मैं बैठ गया और पुनः नीचे जहाँपर मुझे टोकेन दिया गया था, नजर दौड़ायी तो कोई भी नजर नहीं आया। टोकेन देनेवाले महानुभाव कुर्ता-पायजामा पहने हुए थे। जिस मोटर साइकिलसे उन्हें जाना था, वह मोटर साइकिलवाला व्यक्ति तो अपनी मोटर साइकिलके साथ वहीं खड़ा था। लेकिन वे सज्जन दूर-दूरतक कहीं नहीं दिखायी पड़े। द्रुतगतिसे चलनेके कारण गाड़ी बाराबंकीसे मात्र आधे घंटेमें कैसरबाग पहुँच गयी। जबकि अक्सर मैंने लगभग एक घंटेमें सफर तय किया है। पाँच बजे वहाँ जब मैंने हरदोई जानेवाली प्राइवेट बसकी जानकारी की तो पता चला कि दस मिनट बाद बस जायगी। अब चिन्ता थी कि हरदोईसे आखिरी गाड़ी साढ़े सातपर छूट जाती है और मैं वहाँ लगभग आठ बजे पहुँचूँगा, फिर वहाँसे २० कि०मी० दूर सकादा देव-दरबार पहुँचना कैसे सम्भव होगा। परंतु अपने इष्टदेव भगवान्पर पूर्ण श्रद्धा-आस्था और विश्वासके साथ सफर करता रहा। प्रभुकृपासे लगभग आठ बजे मैं हरदोई बस-स्टैंड पहुँचा। वहाँपर शहाबाद जाने-हेतु कुछ लड़कोंने बस रुकवा रखी थी। यह देख मैं भगवान्को मन-ही-मन धन्यवाद देता हुआ बहुत प्रसन्न हुआ और सोचा मानो भगवान्ने मेरे लिये ही इस बसको लड़कोंसे रुकवा रखी है। अतः मैं ९ बजे देव-दरबार मन्दिर पहुँचा। यद्यपि मन्दिर ९ बजेतक नित्य-प्रति बंद हो जाया करता है तथापि भगवत्कृपासे एक बारात रुकी होनेके कारण आज मन्दिर खुला हुआ था। दुकानें भी खुली थीं। उस दिन मैंने बहुत ही श्रद्धा-भक्तिके साथ भगवान्का दर्शन-पूजन किया और अत्यन्त भावविभोर हो भगवान्के समक्ष बार-बार प्रणति निवेदन करता हुआ कहा—'हे शरणागत भक्तवत्सल प्रभु! तुम्हारी ही असीम कृपासे मेरे व्रतकी रक्षा सम्भव हो सकी है।' उसके बाद मैंने सोचा वह टिकट (टोकेन) देनेवाला व्यक्ति कोई और नहीं, अपितु मेरे भोले बाबा ही थे और यह आभास होनेपर तो अपनी श्रद्धाके वेगसे भगवच्चरणोंमें लोट-पोट हो रहा था। अटूट श्रद्धा-भक्ति हो तो साक्षात् भगवान्का दर्शन हो जाता है।

—राजेन्द्रप्रतापसिंह

(५)

पुलिसकी ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता

कुछ समय पहलेकी घटना है। प्रभासपाटन (सोमनाथ) 'समाज-कल्याण-केन्द्र'के एकाउन्टेंट जूनागढ़ बैंक ऑफ

सौराष्ट्रसे साढ़े बारह हजार रुपये लेकर निकले। उनकी बेजानकारीमें नोटोंका बंडल नीचे गिर गया। उन्हें पता नहीं लगा। वे चले गये।

कुछ समय बाद पुलिसका एक नौजवान उधरसे निकला। उसको बंडल पड़ा दिखायी दिया। उसने उठाकर देखा तो उसमें साढ़े बारह हजार रुपये थे। इतनी बड़ी रकम देखकर भी उसका मन विचलित नहीं हुआ और वह नोटोंके मालिकका पता लगाता हुआ बैंकमें पहुँचा।

उधर एकाउन्टेंट साहबको जब रुपये गिर जानेका पता लगा तो वे भी घबराये हुए नोटोंको खोजते हुए बैंकमें जा पहुँचे।

अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर लेने और यह जान लेनेपर कि ये रुपये इन्हीं सज्जनके हैं, उस ईमानदार एवं कर्तव्यपरायण व्यक्तिने साढ़े बारह हजार रुपये उनको सुपुर्द कर दिये। श्रीएकाउन्टेंट साहबको कितना सुख हुआ और उनसे भी अधिक कर्तव्यपरायण गरीब तथा ईमानदार सिपाहीने कितना आनन्द लाभ किया, इसको तो वे ही जानते हैं।

इस घटनाका पता जब जूनागढ़के डी०एस०पी० महोदयको लगा तो उन्हें अपने सिपाहीकी कर्तव्यपरायणता और ईमानदारीपर बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उसे बुलाकर शाबाशीके साथ ही दो सौ रुपयेका पुरस्कार भी प्रदान किया।

सिपाहीने कर्तव्यपालन ही किया, कोई खास महत्त्व नहीं। पर आजके बिगड़े युगमें, जहाँ पैसा ही परमेश्वर है—इतना लोभ-संवरण बड़े ही महत्त्वकी बात है। हमारी पुलिसके सभी कर्मचारी ऐसे ही हों।

—मकनदास नरसीदास
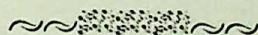
मनन करने योग्य

चोरीके अन्नसे महात्माकी भी बुद्धि मारी गयी

किसी भी प्रकारसे हो, पैसा आना चाहिये—फिर चाहे वह चोरीसे हो, ठगीसे हो, किसीकी हिंसा करके हो या डकैतीसे हो। धन आनेपर समाजमें सब ओरसे व्यक्तिको सम्मान मिलता है। आज प्रतिष्ठा—पूछ उसीकी है, जिसके पास धन है। इस प्रवृत्तिके फलस्वरूप 'चोर-पूजा' बढ़ रही है।

समाजमें प्रतिष्ठा तथा सम्मान-प्राप्त एक बड़े व्यापारी थे। उन्होंने धनार्जनके लिये अपने निजी व्यापारके अतिरिक्त और भी कई मार्ग ढूँढ़ निकाले थे। इस क्रममें उन्होंने रेलवे स्टेशनके अधिकारियोंसे तथा जहाज-घाटके कर्मचारियोंसे अपना हिसाब-किताब बैठा रखा था। इसी साँठ-गाँठ और सहयोगसे स्टेशनपर या जहाज-घाटोंपर पड़ा हुआ दूसरोंका माल वे रातको ट्रकसे मँगवा लिया करते थे और यों लाखों रुपये कमाते थे। उन अधिकारियोंको भी इसमें अच्छी-खासी रकम प्राप्त हो जाती थी और उन व्यापारी बन्धुका क्या कहना, इस अवैध धंधेसे तो वे खूब धनाढ्य होते जा रहे थे। चूँकि समाजमें वे धर्मात्मा माने जाते थे, दान-पुण्य भी करते थे, साधु-सेवामें भी कोई कमी नहीं करते थे और वे सत्संगमें भी जाया करते थे। साधु-महात्मा भी उनके यहाँ आते थे। एक दिन स्टेशनसे उपर्युक्त प्रकारसे ट्रकमें माल आया था, उसमें दस बोरे चावल भी थे। चावल बहुत बढ़िया थे, अतः उनमेंसे पाँच बोरे बाबूके घरपर मँगा लिये गये थे। उसी दिन एक विरक्त साधु उनके घरपर आये, जो प्रायः उनके यहाँ आया करते थे। बाबूजी साधु-सेवी थे ही। उठकर सामने गये। प्रणाम करके उनको आदरपूर्वक भीतर ले गये। इसके बाद महात्माजीको भिक्षा करायी गयी। उस दिन उन्हीं चावलोंकी खीर बनाकर देवीजीका प्रसाद तैयार किया गया था। महात्माजीने भी भिक्षामें वही खीर खायी। उसके बाद महात्माजीको विश्रामके लिये बाबूजी उस एकान्त कमरेमें ले आये, जहाँ वे पहले नोट गिन रहे थे। नोटोंकी गड्डियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं। विरक्त महात्माजीके सम्बन्धमें तो इसकी शंका थी ही नहीं कि वे नोट चुरा लेंगे। यह सोचकर जल्दीके कारण महात्माजीको वहाँ बैठाकर वे व्यापारी बाबू भोजन करने चले गये। बादमें महात्माजीका मन बिगड़ा। उन्होंने दस हजारके नोटोंकी

एक गड्डी उठाकर चुपकेसे अपनी झोलीमें डाल ली। कुछ देरमें वे व्यापारी भोजन करके आये। आज देर हो गयी थी, जल्दी ऑफिस जाना था, इसलिये बिना गिने ही नोटोंकी गड्डियोंको उठाकर तिजोरीमें रखकर ताला बंद कर दिया और महात्माजीको विश्राम करनेके लिये कहकर वे आफिस चले गये।

महात्माजीको कहाँ विश्राम करना था। झोलीमें पड़ी नोटोंकी गड्डीने उन विरक्तके मनको रागयुक्त बनाकर अशान्त कर रखा था। महात्माजीने घरवालोंसे कहकर कमरा बंद करवा दिया और वे अपनी कुटियापर चले गये। वे सोचे कि अब आरामसे सो जाऊँ, लेकिन—'**अशान्तस्य कुतः सुखम्**'—उनको नींद नहीं लगी।

रात्रिको बाबूजीने आकर नोट गिने तो दस हजार कम। वे बड़े दुःखी हुए। महात्माजीपर तो संदेहकी कोई कल्पना ही नहीं थी। उन्होंने समझा—महात्माजी ध्यानमें बैठे होंगे, उन्हें बाह्यज्ञान न रहा होगा, और किसी नौकरने नोट चुरा लिये होंगे। बेचारे नौकरोंकी शामत आयी। उन्हें तंग किया जाने लगा, पर जब वे नोट लिये हों तब तो बतावें। सबेरे पुलिस बुलानेकी बात निश्चित की गयी।

महात्माजी पेट-साफके लिये रोज त्रिफला लिया करते थे, आज भी लिया। सबेरे शौचमें कलकी खीरका बहुत-सा अंश मल बनकर निकल गया, तब महात्माजीकी बुद्धिमें तनिक निर्मलता आयी। उनकी बुद्धि कुछ शुद्ध हुई। निर्मल ज्ञानके विवेकमें वे नोट चुरानेके अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करने लगे। सोचा—वहाँ मुझपर तो कोई संदेह कर नहीं सकता, बेचारे नौकर-चाकर सताये जाते होंगे। फिर, यह भी उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि 'मेरे सर्वथा विषय-विरक्त मनमें ऐसी जघन्य तथा नीच वृत्ति कैसे पैदा हुई और मैंने क्यों चोरी की?'

उन्होंने झोली उठायी और तुरंत बाबूजीके घर पहुँचे। वहाँ नौकरोंको डाँटा जा रहा था और पुलिसमें रिपोर्ट करनेके लिये एक आदमी जानेकी तैयारीमें था। महात्माजीने पहुँचते ही बाबूजीको अलग ले जाकर नोटोंकी गड्डी दी और कहा कि 'ये नौकर बेचारे निर्दोष हैं, नोटोंकी गड्डी तो मैं ले गया था।' बाबूजी नोट पाकर तो बड़े प्रसन्न हुए, पर उन्होंने 'महात्माजी नोट ले गये' इसपर विश्वास न करके कहा—'महाराजजी! आप दयालु हैं, किसी नौकरने अपने बचावके लिये इन रुपयोंको ले जाकर आपको दिया होगा और आप उसे बचानेके लिये अपनेको चोर बता रहे हैं। आप-सरीखे विरक्तका मन इन तुच्छ नोटोंपर डिग ही नहीं सकता और यदि आप ले ही गये होते तो लौटाने क्यों आते?'

महात्माजीने कहा—'भाई! नोट मैं ही ले गया था, पर मेरी बुद्धि बिगड़ी क्यों, यह समझमें नहीं आता। कल तुम्हारे यहाँ भिक्षा की थी, उसमें कोई चोरीकी चीज तो नहीं थी न?' अब बाबूको स्मरण आया कि चावल तो चोरीके ही थे। बाबूने कुछ उत्तर नहीं दिया। साधुजी समझ गये कि दालमें कुछ काला अवश्य है। उन्होंने कहा—'भाई! तुम्हारे यहाँ भिक्षा करनेके बाद ही मेरी बुद्धि बिगड़ी, इसी कारण मुझे ऐसा लग रहा है कि अवश्य ही उसमें कोई चोरीकी चीज रही होगी। उस चोरीके अन्नकी भिक्षाका अधिकांश भाग जब मलरूपमें निकल गया, तब मेरी बुद्धिमें प्रकाश आया। मैंने अपनी करनीपर पश्चात्ताप किया और नोट लेकर मैं यहाँ दौड़ा आया।' महात्माजी इतना कहकर तुरंत चल दिये। बाबूजीको उन्हें रोकनेका साहस नहीं हुआ। नौकरोंको डाँटने-डपटनेका काम बंद हो गया। बाबूके मनमें भी कुछ देरके लिये तो यह विचार आया कि जब जरा-सी चोरीके पदार्थसे विरक्त महात्माकी बुद्धि इस प्रकार बिगड़ जाती है, तब मेरी बुद्धि तो सदाके लिये ही बिगड़ गयी होगी। अब वे भी ग्लानिपूर्वक पश्चात्तापमें डूब गये थे, और सोच रहे थे, जब मैं ही चोर हूँ तो रुपया चुरानेवाला दूसरा चोर कहाँसे मिले।

महात्माजीकी परिवर्तित बुद्धिने व्यापारीकी भी बुद्धि निर्मल कर दी। अब वे शुद्ध, सात्त्विक वृत्तिके व्यापारका आश्रय ग्रहण करनेके लिये दृढ़-संकल्प थे।

आज जो व्यापारी-कर्मचारी, अधिकारी-नेता एवं पण्डित-साधु प्रायः सभीकी बुद्धि बिगड़ी है और उत्तरोत्तर अन्यान्य तथा अधर्मसे पैसा पैदा करनेकी सबकी प्रवृत्ति हो रही है, इसका प्रधान कारण दूषित आहार-विहार है, अन्यायोपार्जित पैसेका अन्न खाना है, इसीलिये कहा गया है—***'जैसा अन्न, वैसा मन'***।

—हरिवक्ष अग्रवाल

बहुत आवश्यक ध्यान देने योग्य बातें

सबसे विनयपूर्वक मीठी वाणीसे बोलना।

किसीकी चुगली या निन्दा नहीं करना।

किसीके सामने किसी भी दूसरेकी कही हुई ऐसी बातको न कहना, जिससे सुननेवालेके मनमें उसके प्रति द्वेष या दुर्भाव पैदा हो, या बढ़े।

जिससे किसीके प्रति सद्भाव तथा प्रेम बढ़े, द्वेष हो तो मिट जाय या घट जाय, ऐसी ही उसकी बात किसीके सामने कहना।

किसीको ऐसी बात कभी न कहना जिससे उसका जी दुखे।

बिना कार्य ज्यादा न बोलना, किसीके बीचमें न बोलना, बिना पूछे अभिमानपूर्वक सलाह न देना, ताना न मारना, शाप न देना। अपनेको भी बुरा-भला न कहना, गुस्सेमें आकर अपनेको भी शाप न देना, न सिर पीटना।

जहाँतक हो परचर्चा न करना, जगच्चर्चा न करना।

आये हुएका आदर-सत्कार करना, विनय-सम्मानके साथ हँसते हुए बोलना।

किसीके दुःखके समय सहानुभूतिपूर्ण वाणीसे बोलना, हँसना नहीं।

किसीको कभी चिढ़ाना नहीं।

अभिमानवश घरवालोंको या कभी किसीको मूर्ख, मन्दबुद्धि, नीच वृत्तिवाला तथा अपनेसे नीचा न मानना, सच्चे हृदयसे सबका सम्मान-हित करना। मनमें अभिमान तथा दुर्भाव न रखना, वाणीसे कभी कठोर तथा निन्दनीय शब्दोंका उच्चारण न करना। सदा मधुर विनम्रतायुक्त वचन बोलना मूर्खको भी मूर्ख कहकर उसे दुःख न देना।

किसीका अहित हो ऐसी बात न सोचना, न कहना और न कभी करना।

ऐसी ही बात सोचना, कहना और करना जिससे किसीका हित हो।

धन, जन, विद्या, जाति, उम्र, रूप, स्वास्थ्य, बुद्धि आदिका कभी अभिमान न करना।

भावसे, वाणीसे, इशारेसे भी कभी किसीका अपमान न करना, किसीकी दिल्लगी न उड़ाना।

दिल्लगी न करना, मुँहसे गंदी तथा कड़वी जबान कभी न निकालना। आपसमें द्वेष बढ़े, ऐसी किसीको भी कभी सलाह न देना। द्वेषकी आगमें आहुति न देकर, प्रेम बढ़े, ऐसा अमृत ही सींचना।

फैशनके वशमें न होना, कपड़े साफ-सुथरे पहनना, परंतु फैशनके लिये नहीं।

घरकी चीजोंको सँभालकर रखना। इधर-उधर न फेंकना। घरकी चीजोंकी गिनती रखना।

अपना काम जहाँतक हो सके, हाथसे करना। अपना काम आप करनेमें तो कभी लजाना ही नहीं, बल्कि जो काम नौकरोंसे या दूसरोंसे कराये बिना अपने करनेसे हो सकता हो, उस कामको अपने ही करना। काम करनेमें उत्साहित रहना, काम करनेकी आदत न छोड़ना।

किसी भी नौकरका कभी अपमान न करना। तिरस्कारयुक्त बोली न बोलना।

स्त्रियोंको न तो पुरुषोंमें बैठना, न बिना काम मिलना-जुलना, न हँसी-मजाक करना। इसी प्रकार पुरुषोंको स्त्रियोंमें न बैठना, न बिना काम मिलना-जुलना, न हँसी-मजाक करना।

दूसरोंकी सेवा करनेका अवसर मिलनेपर सौभाग्य मानना और विनम्रभावसे निर्दोष सेवा करना।

खर्च न बढ़ाना, खर्चीली आदत न डालना, अनावश्यक चीजें न खरीदना। अनावश्यक वस्तुओंका संग्रह न करना, दूसरोंकी देखा-देखी रहन-सहनमें बाबूगिरी, खर्च बढ़ानेका काम, दिखानेका काम न करना। बुरी नकल किसीकी न करना।

संतोंके गुण लेना, दोष नहीं।

मनमें सदा प्रसन्न रहना, चेहरेको प्रसन्न रखना, रोनी सूरत न रखना तथा रोनी जबान न बोलना।

जीवनसे कभी निराश न होना। निराशाके विचार ही न करना। दूसरोंको उत्साह दिलाना, किसीकी हिम्मत न

तोड़ना, उसे निराश न करना। किसीको बार-बार दोषी बताकर उस दोषको उसके पल्ले न बाँधना।

आपसमें कलह बढ़े, ऐसा कोई काम शरीर-मन-वचनसे न करना।

दूसरोंकी चीजपर कभी मन न चलाना। शौकीनीकी चीजोंसे जहाँतक हो सके दूर ही रहना।

सदा उत्साहपूर्ण, सर्वहितकर, सुखपूर्ण, शान्तिमय, पवित्र विचार करना, निराशा, उद्वेग, अहितकर, विषादयुक्त और गंदे विचार कभी न करना।

दूसरेको नीचा दिखानेका न कोई काम करना, न सोचना और न किसीको अपमानित होते देखकर जरा भी प्रसन्न होना। सदैव सभीको सम्मान देना तथा ऊँचे उठते देखकर प्रसन्न होना।

बुरा कर्म करनेवालेके प्रति उपेक्षा करना, उसका संग न करना, पर उसका बुरा न चाहना। बुरे कामसे घृणा करना, बुरा करनेवालेसे नहीं। उसको दयाका पात्र समझना।

गरीब तथा अभावग्रस्तको चुपचाप, अपनेसे जितना भी हो सके हर सम्भव उतनी सहायता करना, पर न उसपर कभी एहसान करना, न बदला चाहना और न उस सहायताको प्रकट ही करना।

दूसरेसे सेवा कराना नहीं, दूसरोंकी सेवा करना।

दूसरोंसे आशा रखना नहीं, दूसरा कोई आशा रखता हो तो भरसक उसे पूरी करना।

दूसरेसे मान चाहना नहीं, सर्वथा अमानी रहकर दूसरोंको मान देना।

दूसरेके हककी कभी चोरी करनेकी बात ही न सोचना। करना तो नहीं ही।

किसीसे द्वेष न करना, पर बेमतलब मोह-ममता भी न जोड़ना।

कम बोलना, कम खाना, कम सोना, कम चिन्ता करना, कम मिलना-जुलना, कम सुनना।

बढ़िया खाने-पहननेसे यथासाध्य परहेज रखना, सादा खान-पान, सादा पहनावा रखना।

धनकी सात्त्विक दानमें, शरीरकी सेवामें, वाणीकी भगवन्नाम-गुणगानमें, मनकी भगवच्चिन्तनमें, जीवनकी भगवत्प्राप्तिमें, क्रियाकी परदुःखहरण तथा परोपकारमें, समयकी भगवत्स्मरण तथा सेवामें सार्थकता समझना।

कपटका व्यवहार न करना, किसीको ठगना नहीं।

आमदनीसे कम खर्च करना, कम खर्च करने तथा सादगीसे रहनेमें अपमान न समझना, बल्कि गौरव समझना। अपनी आवश्यकता न बढ़ाना।

किसी भी प्रकारके व्यसनकी आदत न डालना।

अतिथिका अत्यन्त विनयपूर्वक निर्दोष होकर यथासाध्य सत्कार करना।

गरीब-परिवारके भाई-बन्धुओंके साथ विशेष नम्रता तथा प्रेमका व्यवहार करना। किसीको अपनी किसी प्रकारकी शान कभी न दिखाना।

हम कमाते हैं और तो सब खानेवाले हैं—यह न कभी कहना, न मानना ही।

विकार पैदा करनेवाला असत्-साहित्य न पढ़ना, चित्र न देखना, बातचीत न करना।

आजका काम कलपर और अभीका पीछेपर न छोड़ना।

स्त्रियोंको चाहिये, देवरानी-जेठानीका सम्मान करना, उनके बच्चोंको अपने बच्चोंसे अधिक आदर-स्नेह देना, पतिको ऐसी सलाह देना जिससे घरमें कभी कलह न हो तथा परस्पर प्रेम बढ़े, सासकी सेवा-सम्मान करना। बहूको पुत्रीसे बढ़कर प्यार करना। ऐंठ न रखना, अभिमान न करना, अपनेको किसी भी कारणसे बड़ा न समझना। सबसे नम्र तथा विनयी होकर रहना। भाभीका ननदसे तथा ननदका भाभीसे सम्मान तथा प्रेमका बर्ताव करना।

यथासाध्य किसीकी निन्दा, बुराई, दोषचर्चा न सुनना, अपनी बड़ाई तथा भगवन्निन्दा न सुनना। ऐसी बातोंमें साथ तो देना ही नहीं।

प्रतिदिन कुछ समय गीता, रामायण, अन्यान्य सद्ग्रन्थोंके स्वाध्याय, स्तोत्र-पाठ, मन्त्र और भगवन्नाम-जप, भगवत्प्रार्थना तथा इच्छानुसार भगवत्पूजनमें लगाना। बड़ोंको यथायोग्य प्रणाम करना।

जीभसे सदा-सर्वदा भगवन्नाम-जपका अभ्यास करना।

नवीन प्रकाशन

[Code No. 786] Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi text and its english translation) Medium size— Śrī Rāmacaritamānasa is a unique benedictory treatise not only of Hindu society but of whole humanity. There remains no problem of human being unsolved after studying and considering Śrī Rāmacaritamānasa. It was published in english with Hindi text to propagate its basic ideas to the english knowing people in a voluminous size. Thereafter realising its vast utility, another new edition is brought out in medium size. Attractive laminated cover, with illustration, well bound, pages 1024, price Rs. 50/= with postal charge of Rs. 18.

[कोड-नं० ७८५] श्रीरामचरितमानस (गुजराती अनुवादसहित) मझला साइज—सम्पूर्ण भारतीय धर्म-ग्रन्थोंके सारको अगर कोई ग्रन्थ एक जगह आत्मसात् किये हुए है तो वह श्रीरामचरितमानस ही है। इस पवित्र ग्रन्थका अधिक-से-अधिक भाषामें अनुवाद मानवमात्रके कल्याणका मार्ग प्रशस्त करनेवाला है। गुजरातवासियोंकी विशेष माँगपर गुजराती भक्तोंके कल्याणार्थ इसके गुजराती अनुवादके साथ मूल भी गुजरातीमें ही प्रकाशित किया गया है। आकर्षक लेमिनेटेड आवरण, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ९३६, मूल्य रु० ४५ मात्र, डाकखर्च रु० १६ (रजिस्ट्रीसे)।

[कोड-नं० ७८८] साधक-संजीवनी परिशिष्ट (सातवाँ अध्याय) पाकेट-साइज—भगवान् और उनके उपदेश (श्रीमद्भगवद्गीता)-के भाव अनन्त हैं। उसपर जितना ही विचार किया जाय नित्य नये भावोंका ज्ञान होता है। प्रस्तुत पुस्तकमें गीतार्णवमें डुबकी लगाकर गहन-से-गहन भावोंके पवित्र प्रसादको लोक-कल्याण-हेतु वितरित करनेवाले परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके सातवें अध्यायपर नये भावोंका संकलन है, आकर्षक आवरण, पृष्ठ-संख्या १९२, मूल्य रु० ३ मात्र। डाकखर्च रु० २

Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa—(With Sanskrit text and its english translation)

(Code No. 452, 453, 454) Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa, equal in stature to the Vedas, is the first oldest epic in this theistical world on this earth. This oldest epic stands as a precious national treasure and the most excellent inheritance for the entire cosmos as well. The greatest thinkers of the world have supported their views by deep study of the Vālmīki Rāmāyaṇa and sublimated themselves. Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa contains the narration of the character of Lord Śrī Rāma's supreme Brahmahood and a wonderful blending of various myths, ideal politics, religious ethics, geographical depiction and the subjects like psychology etc. Gita Press has published Vālmīki Rāmāyaṇa in three volumes with sanskrit text and its english translation with an ambition to introduce it to the entire human race throughout the world. There are very few copies available in our stock for sale. Desirous people should place their order forms in order to get the books at their earliest. Price Rs. 250/= postal charge Rs. 38. (With Registry) extra.

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

'कल्याण' के पुराने, लोकप्रिय पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

नाम	कल्याण-वर्ष	मूल्य रुपये	डाक-खर्च	कुल मूल्य रु०
शिवाङ्क	८	८०	+ १२	९२
शक्ति-अङ्क	९	८०	+ १२	९२
योगाङ्क	१०	६०	+ १२	७२
संत-अङ्क	१२	९०	+ १२	१०२
साधनाङ्क	१५	७५	+ १२	८७
सं० महाभारत (दो खण्डोंमें)	१७	१५०	+ ३०	१८०
सं० पद्मपुराण	१९	८५	+ १९	१०४
सं० मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाङ्क	२१	७५	+ १२	८७
नारी-अङ्क	२२	७०	+ १२	८२
उपनिषद्-अङ्क	२३	९०	+ १२	१०२
हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	२४	७५	+ १२	८७
स्कन्दपुराणाङ्क	२५	१००	+ १२	११२
भक्त-चरिताङ्क	२६	८०	+ १२	९२

नाम	कल्याण-वर्ष	मूल्य रुपये	डाक-खर्च	कुल मूल्य रु०
बालक-अङ्क	२७	८०	+ १२	९२
सं० नारद-विष्णुपुराणाङ्क	२८	८०	+ १२	९२
संतवाणी-अङ्क	२९	८५	+ १२	९७
सत्कथा-अङ्क	३०	६५	+ १२	७७
तीर्थाङ्क	३१	८५	+ १२	९७
भक्ति-अङ्क	३२	८०	+ १२	९२
सं० श्रीमद्देवीभागवत	३४	७०	+ १९	८९
सं० योगवासिष्ठाङ्क	३५	७५	+ १२	८७
सं० शिवपुराण	३६	७०	+ १९	८९
सं० ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क	३७	७५	+ १२	८७
परलोक-पुनर्जन्माङ्क	४३	७०	+ १२	८२
गर्गसंहिता	४४-४५	५५	+ १६	७१
श्रीगणेश-अङ्क	४८	६०	+ १२	७२
श्रीहनुमान-अङ्क	४९	५०	+ १२	६२

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर-२७३००५

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

प्र० ति० २०-५-९७

LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

शीघ्र प्रकाश्य

[कोड-नं० ७४०] श्रीरामचरितमानस ग्रन्थाकार, केवल हिन्दी अनुवाद—श्रीरामचरितमानसका स्थान केवल हिन्दी साहित्यमें ही नहीं, अपितु विश्व-साहित्यमें अनुपम है। इस सत्यको प्रत्येक विचारक तथा अन्वेषक एक स्वरसे स्वीकार करते हैं। जहाँ यह उत्तम काव्यकला तथा साहित्यके सभी रसोंका आगार है, वहीं आदर्श गृहस्थ-धर्म, राजधर्म, पतिव्रत-धर्म, पुत्रधर्म तथा सर्वोच्च भक्ति, ज्ञान, कर्म तथा सदाचारका संस्थापक है। इसके सिद्धान्त सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। पाठकोंकी विशेष माँगपर इसकी महनीय उपयोगिता देखकर सर्वसामान्यके कल्याणार्थ इसका केवल हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करनेकी योजना है। यह आकर्षक लेमिनेटेड आवरण, मजबूत जिल्द तथा सुन्दर चित्रोंसे सज्जित है। पृष्ठ-संख्या ६०५ मूल्य रु० ५५ मात्र, डाकखर्च रु० १८ (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

[कोड-नं० ७८९] संक्षिप्त शिवपुराण मोटा टाइप (ग्रन्थाकार)—इस पुराणमें परात्पर ब्रह्म भगवान् शिवके कल्याणकारी स्वरूपके विवेचनके साथ उनके रहस्य-महिमा और उपासनाका सुन्दर वर्णन है। भगवान् शिव मात्र पौराणिक देवता ही नहीं हैं, अपितु पञ्चदेवोंमें प्रधान तथा वेदोंमें अनन्त महिमासे मण्डित पूर्ण ब्रह्म महादेव हैं। वह आत्मकल्याणकामी साधकोंहेतु कल्पवृक्षकी तरह तत्काल फल देनेवाले हैं। इसमें उन्हें अनादिसिद्ध परमेश्वरके रूपमें स्वीकार किया गया है साथ हीमें भगवान् शिवके लीला-कथाओंके अतिरिक्त पूजा-पद्धति तथा अनेक ज्ञानप्रद आख्यानोंका सुन्दर संयोजन है। ग्राहकोंकी विशेष माँगपर यह विशेष संस्करण मोटे टाइपमें प्रकाशित करनेकी योजना है। सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ८३२, मूल्य रु० ८० मात्र, डाकखर्च रु० २२ (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

[कोड-नं० ७७९] दशावतार—प्रस्तुत पुस्तकमें भगवान्के (दशावतार) मत्स्य, कच्छप, वामन, वराह, नृसिंह, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि-अवतारकी लोककल्याणकारी कथाओंका सरल भाषामें बड़े ही सुन्दर ढंगसे चित्रण किया गया है। प्रत्येक अवतारकी कथाके साथ सुन्दर तथा अत्यन्त आकर्षक चित्र भी हैं। सर्वसाधारण जनताके मनमें भगवान्के प्रति जहाँ इसके स्वाध्यायसे भक्तिका संचार होता है, वहीं बालकोंके लिये भगवदवतारोंकी जानकारी-हेतु यह विशेष उपयोगी है। मूल्य रु० ६, डाकखर्च रु० ३

[कोड नं० ७९१] सूर्याङ्क—[कल्याण वर्ष ५३ सन् १९७९] हिन्दू-संस्कृतिके उन्नायक वेद, शास्त्र, उपनिषद् सम्पूर्ण ग्रन्थ भगवान् सूर्यके अनन्त महिमाके परिचायक हैं। वास्तवमें भारतीय सनातन धर्म भगवान् विवस्वान्की महिमा एवं प्रकाशसे ही अनुप्राणित तथा आलोकित है। इसीलिये 'गीताप्रेस' ('कल्याण')-में भगवान् सूर्यके अनन्त गुणोंको व्यक्त करनेवाले विशेषाङ्कका प्रकाशन **'सूर्याङ्क'**के रूपमें किया गया था, जो बहुत दिनोंसे अप्राप्त था। पाठकोंकी विशेष माँगपर इसके पुनः प्रकाशनका निर्णय लिया गया है। इस अङ्कमें वेदोंमें भगवान् सूर्यकी महिमा, सूर्य-तत्त्व, सूर्यका प्रभाव, त्रिकाल-संध्यामें भगवान् सूर्य, सूर्योपासनासे लाभ, वेदों, पुराणों, उपनिषदोंमें सूर्य-महिमा, सूर्य-पूजाकी परम्परा, भारतमें सूर्य-मूर्तियाँ, सूर्योपासनासे विभिन्न रोगोंका निवारण इत्यादि अनेक उपयोगी विषयोंपर अधिकारी विद्वानोंद्वारा लिखे लेखोंका अनुपम संग्रह है। अनेक उपयोगी प्रेरणास्पद उपाख्यानोंके साथ मासिक अङ्कके रूपमें प्रकाशित अङ्क दो और तीन भी संलग्न किया जा रहा है, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जायगी। सचित्र, सजिल्द, मूल्य रु० ४५, डाकखर्च रु० १० (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

सर्वोपयोगी विशिष्ट प्रकाशन

[कोड-नं० २०४] ॐ नमः शिवाय—विशाल भारतके अनेकानेक स्थानोंपर लिङ्गरूपसे आशुतोष भगवान् शिवकी पूजा-अर्चना प्राचीन कालसे होती चली आ रही है। ये स्वल्प उपासनासे ही प्रसन्न होकर भक्तोंके मनोवाञ्छित फलके प्रदाता हैं। प्रस्तुत पुस्तक इन्हीं भगवान् शंकरके द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंका सरल परिचय है। इसमें ज्योतिर्लिङ्गोंकी उत्पत्ति, उपासना तथा माहात्म्यका मनोहर विवेचन है, साथ ही उनके बारहों स्वरूपोंके आकर्षक रंगीन चित्र भी दिये गये हैं। मूल्य रु० १० मात्र, डाकखर्च रु० ३

[कोड-नं० २०५] नवदुर्गा—आदिशक्ति त्रिपुरसुन्दरी पराम्बा दुर्गाके नवों स्वरूपोंका परिचय देनेवाली 'गीताप्रेस'से प्रकाशित अद्भुत पुस्तक। इसमें भगवती दुर्गाके नवों स्वरूपोंके उद्भव, उपासना-विधि तथा इससे प्राप्त होनेवाले फलोंका अत्यन्त ही रोचक भाषामें सुन्दर वर्णन किया गया है। पुस्तकमें माँ दुर्गाके नवों स्वरूपोंके आकर्षक रंगीन चित्र भी दिये गये हैं। अत्यल्प समयमें पुस्तककी लगभग एक लाख प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक जाना इसकी लोकप्रियताका परिचायक है। मूल्य रु० ५ मात्र, डाकखर्च रु० ३

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**—२७३००५

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *
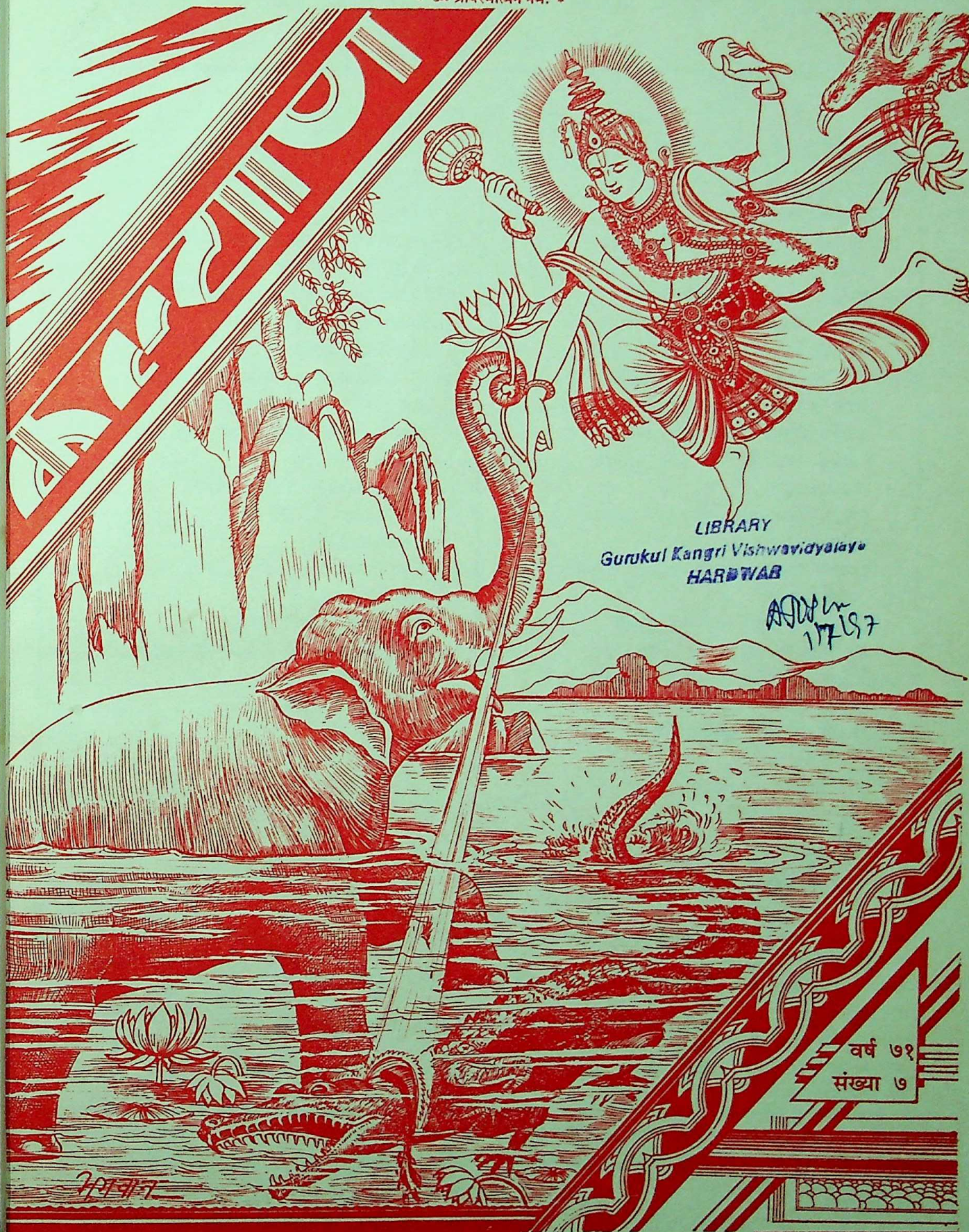
कल्याण

वर्ष ७१
संख्या ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर श्रावण, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, जुलाई १९९७ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

भगवान् शिवका हलाहल-पान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

वर्ष ७१ | गोरखपुर, सौर श्रावण, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, जुलाई १९९७ ई० | संख्या ७ | पूर्ण संख्या ८४८

शिवजीसे विनय

को जाँचिये संभु तजि आन।
दीनदयालु भगत-आरति-हर, सब प्रकार समरथ भगवान॥
कालकूट-जुर जरत सुरासुर, निज पन लागि किये बिष पान।
दारुन दनुज, जगत-दुखदायक, मारेउ त्रिपुर एक ही बान॥
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत, श्रुति, सकल पुरान।
सो गति मरन-काल अपने पुर, देत सदासिव सबहिं समान॥
सेवत सुलभ, उदार कलपतरु, पारबती-पति परम सुजान।
देहु काम-रिपु राम-चरन-रति, तुलसिदास कहँ कृपानिधान॥

कल्याण

श्रीभगवान‍्के चरणोंकी शरण लेना ही जीवनकी एकमात्र सफलता है; क्योंकि भगवान् ही समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं। जो लोग इन्द्रिय-भोगोंमें फँस जाते हैं, उन्हें भगवान‍्के परम कल्याण-स्वरूप चरण-कमलोंकी प्राप्ति नहीं होती।

इसलिये यह मानव-शरीर, जो भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है—जबतक रोग-शोकादिसे ग्रस्त होकर मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये।

× × ×

प्रभुका पथ बतलानेवाले और उसपर ले चलनेवाले गुरुकी भक्तिपूर्वक सेवा, अपनेको जो कुछ मिले—सब भगवान‍्के समर्पण कर देना, प्रेमी भक्त साधुओंका सत्संग, भगवान‍्की आराधना, भगवत्कथामें श्रद्धा, भगवान‍्के गुण और लीलाओंका कीर्तन, भगवान‍्के चरण-कमलोंका ध्यान और भगवान‍्के श्रीविग्रहादिके दर्शन-पूजन आदि साधनोंसे भगवान‍्में सहज प्रेम हो जाता है।

भगवान् परमेश्वर श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं, यह समझकर यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूरी करो और हृदयसे उन सबका सम्मान करो।

जो लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः भीतरी शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके उपर्युक्त प्रकारसे भगवान‍्की भक्ति करते हैं, उन्हें भगवान् वासुदेवके श्रीचरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है।

× × ×

प्रेमभक्तिकी प्राप्ति होनेपर भगवान‍्के लीला-शरीरोंमें किये हुए अद्‌भुत पराक्रम, उनके अनुपम गुण और चरित्रोंको सुनकर अत्यन्त हर्षसे जब मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, प्रेमाश्रुओंके कारण कण्ठ गद्‌गद हो जाता है और वह संकोच छोड़कर उच्च स्वरसे गाने-नाचने लगता है; जब वह ग्रहाविष्ट उन्मत्तकी भाँति कभी हँसता है, कभी करुण क्रन्दन करता है, कभी भगवान‍्के दिव्य गुणोंका स्मरण करके उनका ध्यान करता है तो कभी भगवद्-भावसे सबकी वन्दना करने लगता है; जब वह भगवान‍्में तन्मय होकर निःसंकोच श्वास-श्वासमें 'हरे, हे जगत्पते, हे नारायण'—इस प्रकार पुकारने लगता है, तब इस प्रेमाभक्तिके प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद्‌भावकी भावना करते-करते उसका हृदय भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मरणके बीजोंका भंडार बिलकुल जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान‍्को प्राप्त कर लेता है।

× × ×

धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, जमीन, हाथी, खजाना और भाँति-भाँतिके ऐश्वर्य और तो क्या, संसारका समस्त धन तथा भोगपदार्थ—सभी क्षणभंगुर हैं। वे इस मरणशील मनुष्यको क्या सुख दे सकते हैं।

× × ×

भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचारपरायण और ज्ञानवान् होना तथा दान, तप, यज्ञ, शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान करना पर्याप्त नहीं है। भगवान् श्रीहरि तो केवल निष्काम प्रेमभक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं और सब तो विडम्बनामात्र है।

इसलिये सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर सर्वत्र विराजमान सबके आत्मा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर श्रीहरिकी भक्ति करो।

यह भक्ति ऐसी है कि इसके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, गोपालक, पशु, पक्षी और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्‌भावको प्राप्त हो गये हैं।

इस जगत‍्में जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ—परम स्वार्थ एकमात्र यही है कि वह सदा-सर्वदा सर्वत्र सबमें भगवान‍्के दर्शन करता हुआ भगवान् गोविन्दकी अनन्य भक्ति करे।—**'शिव'**

वीरताका रहस्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

प्रत्येक व्यक्तिको कंचन-कामिनीके त्यागमें तथा अपने प्राणोंके त्यागमें वीर बनना चाहिये। कामिनीके त्यागमें अर्जुनकी भाँति वीर बनना चाहिये। यदि कोई भाई आपको अपना सर्वस्व सौंप रहा हो जो आपकी कमाईका नहीं है और दूसरा आदमी रुपया देकर उत्तराधिकारी बना रहा हो और उसे आप स्वीकार न करें तो यह वीरता है। बिना हकका रुपया तो ले ही नहीं, बल्कि यदि हकका रुपया हो तो भी उसका त्याग कर दे, ऐसा करनेवाला वीर है। मान लो अपनी ही कमाईका रुपया है, पर टैक्स बचाते हैं तो वह बिना हकका है। इसलिये उसका भी वीरताके साथ ग्रहण नहीं करना चाहिये अर्थात् त्याग कर देना चाहिये।

मान लो इस समय लोगोंको तकलीफ हो रही है और अपने पास लाखों रुपये हैं तो उन लोगोंकी मदद करना न करना तो अपनी मरजीकी बात है, लेकिन ऐसी जगह जो दूसरोंके सुखके लिये उसका त्याग कर दे वही वीर है। लोभके त्यागमें भी वह वीर है या यों कहो कि वह कंचनके त्यागमें वीर है। उदाहरणके लिये देखिये—नचिकेताको।

यमराज भाँति-भाँतिके प्रलोभन दे रहे हैं पर नचिकेता उसे स्वीकार नहीं करते हैं, अतः नचिकेता वीर हैं। इसी प्रकार रन्तिदेव अपने लिये बचे हुए मात्र एक गिलास जलको भी स्वयं ग्रहण न कर दूसरेको दे देते हैं, अतः वे दानवीर हैं। अतिथि-सेवाके विषयमें महाभारतमें[1] एक ब्राह्मण और नेवलेकी कथा आती है। वह ब्राह्मण भी दानवीर है। वहाँ प्राणोंका भी त्याग है। प्राण-त्यागकी वीरता उसमें भी है। घोर संकट प्राप्त है, पर प्राणोंकी परवाह नहीं। धर्म नहीं जाना चाहिये, प्राण भले ही चले जायँ। इस प्रकारकी वीरता ही वीरता है। गुरु गोविन्दसिंहके लड़कोंसे तलवारके बलपर धर्मका त्याग करवाया जाता है; पर वे धर्मका त्याग नहीं करते, बल्कि हँसते-हँसते प्राणोंका त्याग कर देते हैं। अतः वे धर्मवीर हैं। इसी प्रकार हमें कामिनी-कांचन-त्यागमें वीर तथा दानवीर बनना चाहिये।

तलवारकी धारसे जूझकर मरनेकी अपेक्षा भी यह वीरता ऊँचे दर्जेकी है। तलवारसे जूझकर मरनेवाले तो बहुत पुरुष होते हैं, किंतु इस प्रकारके वीर पुरुष कम ही मिलते हैं।

कामिनी-त्याग-वीरके रूपमें अर्जुनका उदाहरण दिया गया, दानवीरके रूपमें रन्तिदेव आदिका उदाहरण और धर्मवीरका उदाहरण गुरुगोविन्दसिंहके लड़कोंका दिया गया। इस प्रकारकी वीरता हममें भी होनी चाहिये।

जिस जगह गोला-बारूद बरसे, वहाँ भी जो मनुष्य धर्मका त्याग न करे तो वह वीर है। किसी भी अवस्थामें जो धर्मका त्याग नहीं करे वह वीर है। धर्मके लिये भारी संकटका सामना करना, उसका आघात सह लेना वीरता है—

कर्म-वीर सोइ सूरमा लोट-पोट हो जाय।
ओट कछू राखै नहीं चोट मूँह पर खाय॥

धर्मवीर व्यक्ति दुःख-पर-दुःख पड़नेपर भी किसी भी अवस्थामें किसी प्रकार विचलित नहीं होता, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

१-स्त्री, पुत्र और पुत्र-वधूके साथ कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्तिधारी एक ब्राह्मणने एक बार पड़े हुए भयंकर अकालके समय कई दिनोंके बाद मिले जौके सत्तूका एक अतिथिको दान किया। अतिथि सत्तू-प्रसाद लेनेके बाद जब हाथ-मुँह धोया, तब उसके हाथ-लगे सत्तूके कुछ कण जलके साथ नीचे गिर गये। उसी सत्तू-कणके पंकमें अचानक एक नेवला कहींसे आकर लोटने लगा, जिससे उसकी आधी देह सोनेकी हो गयी, शेष आधी देह सोनेकी बनानेकी लालसामें वह महाराज युधिष्ठिरके यज्ञमें उनकी कीर्ति-गाथा सुनकर गया और अतिथियोंके स्वागत—भोजनादि क्रियाओंमें गिरे जलसे बने कीचड़में लोटनेपर भी जब आधी देह सोनेकी न हो सकी तब उसने ब्राह्मणके सत्तू-दानकी प्रशंसा करके युधिष्ठिरकी कीर्तिगाथाको नहींके बराबर समझा।

धर्मवीर युधिष्ठिर हैं, उन्होंने हिमालयमें धर्मसंकट पड़नेपर धर्मकी ही रक्षा की। उन्होंने स्वर्ग-प्राप्तिकी बात ठुकरा दी। यक्षद्वारा राज्यका एवं भाईका लोभ दिखानेपर भी उन्होंने कुछ भी परवाह नहीं की। धर्मके लिये किसीकी परवाह नहीं की। इतनी कठिनता पड़नेपर भी धर्मका त्याग न करना वीरता है। इस प्रकार धर्मका त्याग न करनेवाला करोड़ोंमें कोई एक होता है। हमें इसी प्रकार बनना चाहिये।

धर्म-पालनका जब कभी मौका पड़े, उस समय आपको ये बातें याद आ जायँ तो आपको लाभ हो सकता है। समय-समयपर उसे याद कर लें, या इसे रोज पढ़ें तो बहुत लाभ हो सकता है।

किसीको मेरी लंबी मित्रतासे ज्यादा लाभ हुआ हो या उससे मुझे लाभ हुआ हो यह बात नहीं है। इसका कारण यह है कि मित्रता पहले सकाम भावसे रही, लौकिक कामको लेकर रही। भगवद्विषयको लेकर भी सम्बन्ध रहा, पर कामनाकी प्रबलता रही। ईश्वरसे भी यदि रुपयोंके लिये मित्रता करे तो वह नीचे दर्जेकी ही है। यद्यपि ईश्वर तो ऊँचे भावसे ही देखते हैं, किंतु निष्कामी भक्तकी विशेष प्रशंसा करते हैं, ऊँचा दर्जा तो निष्कामीका ही है।

किसी सज्जनने पूछा—आपके साथ निष्कामभावसे भी तो लोगोंकी मित्रता होगी?

मित्रता उसीको कहते हैं जिसमें परस्पर मित्र-भाव हो। मेरी तरफसे मित्रताका भाव हो दूसरेकी तरफसे श्रेष्ठताका भाव हो तो वह मिश्रित मित्रता है। भगवत्प्राप्तिकी कामनाको छोड़कर इस प्रकारकी मित्रता कई आदमियोंकी है। भगवत्प्राप्तिकी कामना कामना नहीं मानी जाय तो कई आदमियोंकी मित्रता है।

भगवत्प्राप्तिकी कामना दूषित कामना नहीं, आप लोग जितने भी आदमी हैं उनमें किसी-किसीके साथ बिलकुल निष्काम भाव है। तो क्या परमात्माके प्रति भी निष्कामभाव है? परमात्माकी प्राप्तिके सिवा कोई कामना नहीं है।

भगवत्प्राप्तिकी इच्छा न हो ऐसा प्रेम मेरा किसीके साथ नहीं है। ऐसा प्रेम मनुष्यके साथ होना भी क्यों चाहिये, यह भी अपना सिद्धान्त है। ऐसा प्रेम तो भगवान्‌के साथ ही होना चाहिये। उस प्रेमका अधिकारी मनुष्य नहीं है। मैं यदि भगवान्‌से बलवान् होता तो कह देता कि भगवान्‌के मिलनेकी भी परवाह मत करो। कल्याण करके क्या करोगे? भगवान् भी क्या कभी अपना उद्धार चाहते हैं। भगवान्‌के कर्म दिव्य हैं। उनका जन्म दिव्य है। वे झंझट ही नहीं मानते तो फिर इनसे मुक्ति क्यों चाहेंगे। इन सब बातोंमें रहस्य भरा हुआ है। इसे सुननेवाला मनुष्य अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार समझ सकता है। यह विनोद समझो या रहस्य समझो। ये सब पुस्तकोंमें मिलनेवाली बातें नहीं हैं। बड़ी विचित्र बात है।

यदि कोई कहे कि अगर यह विचित्र बात है तो उसे स्पष्ट होना चाहिये? तो संक्षेपमें इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—इस प्रकारका प्रेम भगवान्‌से ही होना चाहिये। यदि मैं कहूँ कि भगवान्‌की परवाह मत करो, विशुद्ध प्रेम करो तो यह कहना मेरे लिये अनुचित ही होगा। इसे मेरे हृदयका अन्धकार समझना चाहिये। यदि मैं कोई प्रभावशाली पुरुष हूँ तो कह सकता हूँ कि ईश्वरकी भी परवाह न करके ईश्वरसे विशुद्ध प्रेम करनेकी अपेक्षा मेरेसे विशुद्ध प्रेम करनेसे नतीजा ज्यादा बढ़िया हो सकता है। ऐसी बात वास्तवमें हो तो भी मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिये। या मैं ठग हूँ, तो यह कह सकता हूँ; क्योंकि कोई भी श्रेष्ठ पुरुष इस प्रकार नहीं कहेगा। जो ठग हैं, महात्माके स्थानपर बैठकर अपनी पूजा करवा रहे हैं, वे इस प्रकार कहेंगे। किसीमें छिपी हुई मुक्तिकी कामना हो और पीछे उसे मालूम पड़े कि मैंने जो आशा कर रखी थी, उस प्रकारके ये पुरुष नहीं हैं तो उसके पश्चात्तापका ठिकाना भी नहीं रहेगा। इसलिये अच्छे पुरुषको ऐसी गुंजाइश ही नहीं देनी चाहिये। कोई भी उच्च कोटिका महात्मा अपने नाम या रूपको नहीं पुजवायेगा, न ऐसी चेष्टा ही करेगा और न प्रेरणा ही करेगा। वह तो भगवान्‌के नाम-रूपको ही पुजवायेगा और भगवान्‌के नाम-रूपकी ही पूजा करनेकी प्रेरणा देगा।

मरनेके बाद शोक-सभा करना स्वाभाविक बात है। किंतु वास्तवमें विचार करके देखा जाय तो उच्च कोटिका पुरुष मरे तो उसके लिये शोक क्यों करना चाहिये!

अभिमन्युकी मृत्युपर युधिष्ठिर शोक करने लगे तो ऋषियोंने आकर कहा कि अभिमन्युने तो उत्तम गति प्राप्त की है, उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये।

मान लीजिये यदि मैं महात्मा हूँ और मेरे घरमें कोई मर जाय, उस समय कोई आकर धैर्य बँधाये तो मूर्खता ही है; क्योंकि उत्तम पुरुषोंके चले जानेपर क्या शोक मनाना चाहिये? नहीं। पश्चात्ताप करना चाहिये। पश्चात्ताप भी इस प्रकार करना चाहिये—'ऐसे पुरुषोंसे सम्बन्ध होनेपर भी जो लाभ उनसे उठाना चाहिये था, वह नहीं उठा सका।' उत्तम पुरुषोंका भी कैसा पश्चात्ताप, वे तो मर्यादाका पालन कर देते हैं। उनके तो शोक-हर्ष-पश्चात्ताप करना कलंक है। जो जिज्ञासु हैं उनके लिये कोई कलंक नहीं। सिद्धके लिये कलंक है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(गीता ३। १७-१८)

परंतु जो मनुष्य आत्माहीमें प्रीतिवाला और आत्माहीमें तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट होवे, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। क्योंकि इस संसारमें उस पुरुषका किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा नहीं किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं। इसका सम्पूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।

यहाँ सब बैठे हैं। सत्संगकी बात हो रही है। नीचे कोई आदमी बात करे और वह कानमें आ गयी इससे अपनेको तो बाधा आती है, पर महापुरुषके नहीं। व्यवहार करना तो उचित है न? हाँ, व्यवहार योग्यताके अनुसार होना चाहिये। शिष्टाचारसे व्यवहार कर सकता है। फिर वर्णाश्रमके अनुसार अलग-अलग बात है। लक्ष्मणको शक्ति लगी तो भगवान् विलाप करने लगे। आप लोग जितने हैं किसीका भी पहले मरना हो तो सबकी मृत्युपर मेरा व्यवहार अलग-अलग होगा। क्योंकि सबका सम्बन्ध—प्रेमभाव एक-सा नहीं है फिर मेरा भी एक-सा क्यों होगा। यदि कोई पूछे कि तुम्हें सबसे ज्यादा प्रिय कौन लगते हैं? किसी भी दृष्टिसे कहो, कहनेका काम पड़ता है और कहनेकी गुंजाइश है। मेरा जो ध्येय है, मैं जिस बातको अच्छा समझता हूँ, मेरे ही भावके अनुसार जिसका भाव है, मेरी समझके अनुसार ही जिसकी मान्यता है वह ज्यादा प्रिय है। उदाहरणके लिये गीता-उपनिषद्‌की बात कही जाती है, उसी तरह दूसरा जो चाहता है, वह मुझको प्रिय है। मैं पुस्तकोंमें सुधार चाहता हूँ। इसी प्रकार जो सुधार चाहता है वह ज्यादा प्रिय है। मेरे जीते हुए या मरनेके बाद मैं जिस बातको अच्छा समझूँ, उसीका ज्यादा प्रचार जो करे उसीको मैं ज्यादा प्रिय समझता हूँ।

गीता-उपनिषद् आदि जितने सद्ग्रन्थ हैं, उनका जो भाव अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार समझमें आवे, उसके अनुसार जो मनुष्य प्रचार करे वह मुझे ज्यादा प्रिय है। विचार करके देखा जाय तो आपको भी ऐसा ही आदमी प्रिय लगेगा। यदि शरीरके भोगोंके किंकर होंगे तो इसके विरुद्ध भी बात आपको जँच सकती है। श्रुति-स्मृतिके अनुसार जो प्रार्थना की जाती है, उसके अनुसार जो चेष्टा करता है वही मेरा सखा है। वही मेरा अनुयायी है, मैं उसका अनुयायी हूँ।

जो आदमी अपना कल्याण चाहे उसके लिये लाखों आदमियोंमें घोषणा करके कहा जा सकता है कि उसके कल्याणमें संशय नहीं है, क्योंकि वह मेरी बात नहीं है भगवान्‌की बात है। समझानेके लिये ही मैं कहता हूँ कि मेरा शब्द है। मेरा शब्द नहीं है, ईश्वरका कहा हुआ वचन है। मैं कहूँ और स्वयं पालन न करूँ तो मेरा कल्याण नहीं हो सकता। आप पालन करें तो आपका कल्याण हो सकता है।

नाम-रूप परमात्माका ही पूजनेके लायक है। जो अपने नाम-रूपको पूजनेके लिये गुंजाइश देता है, वहाँ अँधेरा है। यह जो बात बता रहा हूँ न अज्ञानी बता सकता है, न आचार्य ही। मूर्खको तो मालूम नहीं है। आचार्य खुद पूजा चाहता है। इसीलिये वह नहीं कह सकता। अतः साधकको आचार्यत्व स्वीकार नहीं करना चाहिये।

अपने विषयमें मैं क्या बतलाऊँ। भविष्यमें क्या होगा यह

तो कोई नहीं कह सकता। यह अनुमान किया जा सकता है कि मेरा जो विशेष अनुकरण करनेवाला है, मैं यही विश्वास करता हूँ कि वह मेरे नाम-रूपका पूजन नहीं करेगा। अपने नाम-रूपकी पूजा अच्छे पुरुषोंके लिये कलंक है, जिस बातके लिये दूसरोंकी संसारमें लोग निन्दा करते हैं, घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं वे अपनेको घृणाकी दृष्टिसे देखेंगे। इतना विरोध किसलिये किया जाता है, इसलिये कि आवश्यकता है। जितना इसके लिये विरोध किया जायगा उतना ही उन लोगोंको सहायता पहुँचती है। जितना कम किया जायगा उतना ही उन लोगोंके लिये घातक है। मैं नाम-रूप-पूजाके लिये विरोध करता हूँ। पर सत्संगकी बातें कहता हूँ, उसके लिये प्रचार और काममें लगानेके लिये प्रेरणा करता हूँ।

ईश्वरके नाम, रूप, गुण, चरित्र, उपदेश और प्रभाव—ये सभी स्मरण-चिन्तन करने लायक हैं। महात्माके नाम-रूपको छोड़कर चार लेने लायक हैं और मेरी एक बात लेने लायक है जो मैं कथन करता हूँ। तीन बात छोड़ दो,—गुण-प्रभाव-चरित्र। क्योंकि मेरा सारा चरित्र आदर्श नहीं है। मेरा सारा गुण धारण करने लायक नहीं है। सभी चरित्र पवित्र नहीं हैं। ईश्वरकी सभी ली जा सकती हैं। महात्माकी चार ही। बाकीकी दो भी ली जा सकती हैं, ईश्वरके मुकाबलेमें नहीं, गुरु-शिष्यके पदमें ली जा सकती हैं। गुरु-पूजा नष्ट नहीं करनी है। इसलिये जो आचार्य-कोटिके पुरुष हैं, उनकी शिष्य यदि पूजा करें तो आपत्ति नहीं।

मेरेमें अच्छी बात हो और उसे कोई ले तो विरोध नहीं है। मेरेमें जो गुण हो उसे ले ले, बुराई हो उसे छोड़ दे। लेना यानी काममें लाना। मेरी जीवनी लिखकर प्रचार करे, तो मुझे कलंक ही लगाता है। जब श्रीरामचन्द्रजीका जीवन सामने पड़ा है, फिर उसे क्यों आच्छादित करना चाहिये।

यह जो बात कही जाती है कि मैं नयी बात सुनाता हूँ, पुस्तकोंमें नहीं मिल सकती है, ये मेरे शब्द तो अनुचित हैं। कहनेकी जरूरत नहीं है तो फिर क्यों कहा जाता है। मुझे तो समझना चाहिये कि स्वभावका दोष है। आपको क्या समझना चाहिये यह आप सोचें। आपकी दृष्टिसे जो जँचे सो अर्थ निकालें। वह अर्थ मुझे नहीं सिखाना चाहिये। आपके स्वयं समझमें आ जाय तो इसीमें आपका हित है।

यह बात मैं नयी नहीं कह रहा हूँ। सदासे ही यह बात होती आयी है, रुचि प्रकट करनेके लिये, सावधान करनेके लिये—कई हेतुओंसे होती है।

आर्षग्रन्थोंका संसारमें प्रचार करनेसे जितना भगवान् खुश हो सकते हैं और किसीसे नहीं। भगवान् चाहे न मिलें पर भगवान्में अनन्य प्रेम होना चाहिये। यह याचना याचना नहीं है, यह उद्देश्य पवित्र है।

भगवत्प्रेमका हेतु क्या है? भगवत्प्रेम और उस प्रेमका हेतु भगवान्‌का दर्शन नहीं बल्कि उसका हेतु भी भगवत्प्रेम है, भगवत्प्रेमका फल भी भगवत्प्रेम है। यह बात समझमें आ जाय तो क्या होना चाहिये। भगवान् ही उसके दर्शनकी इच्छा करें। किंतु यह उद्देश्य नहीं रखना चाहिये कि भगवान् आकर दर्शन करें। क्योंकि अपने तो उसके लायक नहीं हैं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ बुलानेकी आवश्यकता नहीं है।

जो बुलावा भेजकर बुलाना है वह न तो उच्च कोटिका प्रेम है, न शिष्टाचार है; न व्यवहार है। यह बात प्रेमका तत्त्व है। प्रेमका तत्त्व तो प्रेमास्पद भगवान् ही जानते हैं। इसलिये यह प्रेमके तत्त्वका अंश है। [पुराने प्रवचनसे]
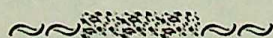
चित्तमें कभी किसीपर उद्वेग नहीं होना चाहिये। कोई भी परिस्थिति हो, उसीमें आनन्द मानना चाहिये। क्योंकि जो कुछ भी होता है मालिककी आज्ञासे और मालिकके अनुकूल ही होता है। फिर यदि सब कुछ मालिकके अनुकूल ही होता है तो अपनेको भी मालिकके अनुकूल ही बनना चाहिये।

× × ×

अपना बिगाड़ करनेवालेपर भी क्रोध नहीं करना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि बुरा या बिगाड़ दूसरेके करनेसे नहीं होता। यह तो प्रारब्धसे होता है, फिर किसीका क्या दोष है? सब भगवान्‌के स्वरूप हैं, फिर मैं क्रोध किसपर करूँ।
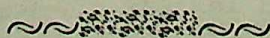
पापोंका एकमात्र प्रायश्चित्त भगवन्नाम

(स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज, लक्ष्मणकिलाधीश)

[प्रस्तुत लेखके लेखक अयोध्यावासी पूज्यचरण लक्ष्मणकिलाधीश स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराजका कुछ दिनों-पूर्व 'साकेतवास' हो गया, जो भारतीय सनातन संस्कृति एवं आध्यात्मिक जगत्की एक अपूरणीय क्षति है। वे श्रीरामचरितमानस तथा वाल्मीकीयरामायणके मर्मज्ञ, वैदिक वाङ्मयसे सम्बन्धित विविध विषयोंके निष्णात पण्डित और विद्वत्तापूर्ण पीयूषवर्षिणी श्रीरामकथाके तो वे अनन्य प्रवक्ता ही थे। हम उनके सद्वचनोंका एकाग्रचित्त होकर मनन-चिन्तन एवं निदिध्यासनपूर्वक यत्किंचित् भी लाभ उठा सकें, अपने जीवनमें उसे कार्यान्वित कर सकें और साथ ही अपना परमार्थ-पथ प्रशस्त कर सकें—इसी दृष्टिसे यह निबन्ध-पुष्प यहाँ प्रस्तुत है।—सम्पादक]

भगवान्की इस लीला-विभूतिमें ऐसे विरले संत होते हैं, जिनका जीवन केवल भगवच्चिन्तनमें ही व्यतीत होता है। जिन बड़भागी सज्जनोंके जीवन सदा ही सत्संग, स्वाध्याय एवं साधन-भजनमें व्यतीत होते हैं, उनका सदा ही मङ्गल होता है। सात्त्विक जीवन सरल एवं सरस होता है। सात्त्विक जीवनमें दूषित प्रवृत्तियाँ अपने-आप नहीं फटक पातीं। तभी तो सात्त्विक सज्जन सदा ऊपरके लोकोंमें ही विचरते रहते हैं। गीता कहती है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।

दुष्ट मनकी शुद्धिके लिये इन्द्रियोंको साधन-भजनमें लगाना चाहिये। भजनकी मधुरिमासे इन्द्रियोंकी विषय-लालसा सर्वथा निर्मूल हो जाती है। साथ ही विषयोंमें कोटि-कोटि-गुणित भजन-रसामृतके लाभसे वासनाकी पूर्ति भी हो जाती है। इन्द्रियोंका बाह्य (बाहरी) संयम भी लाभप्रद ही है। संयमी जीवनको ही सच्चे अर्थमें मानव-जीवन कहा जाता है। मानवका अर्थ है 'संयमी'। असंयमी जीवन ही पशु-जीवन है। असंयमका ही दूसरा नाम पशुता है। असंयमकी ज्वालासे दग्ध-शरीर नाममात्रका मानव भी भगवत्कृपासे सत्पुरुषोंके संगसे प्राप्त संयमद्वारा शाश्वती शान्ति प्राप्त कर लेता है।

धीरे-धीरे बाह्य संयमके पश्चात् सत्संगकी कृपासे आभ्यन्तर (भीतरी) संयम भी हो जाता है। उपवास एवं सात्त्विक अल्पाहारके द्वारा बाह्य संयम होता है। उपवासका महत्त्व स्वास्थ्य एवं अध्यात्म—दोनोंके लिये लाभप्रद है। इसी विचारसे ऋषि-मुनियोंने एकादशी, रामनवमी, जन्माष्टमी आदि व्रतोंका महत्त्व प्रतिपादित किया है। सूखे-रूखे सात्त्विक भोजनसे असंयमीकी इन्द्रियाँ भी कुछ कालके लिये शान्त हो जाती हैं। गीता कहती है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

उपवास करनेसे विषयोंकी ओरसे प्रवृत्ति अवश्य कम हो जाती है। किंतु केवल उपवास आदि भी प्रथम कोटिके साधकोंके लिये विशेष लाभकारी है। वास्तविक संयम तो भगवत्-रसके रसास्वादनसे ही सम्भव है। आपातरमणीय (बिना विचारके सुन्दर प्रतीत होनेवाला) विषय-भोग सर्वदा दुःख एवं मृत्यु-रूप है। मोक्ष अमृत और भोग ही मृत्यु है।

राजा-महाराजाओंको प्राप्त होनेवाले भोग लौकिक हैं। इससे कोटि-कोटि-गुणित उत्कृष्ट इन्द्र-कुबेर आदि देवताओंको प्राप्त होनेवाले भोग अलौकिक हैं। किंतु तत्त्वदर्शीकी दृष्टिमें ये अलौकिक दिव्य भोग भी क्षुद्र, क्षयिष्णु एवं ईर्ष्या-द्वेष आदि विकारोंसे परिपूर्ण होनेके कारण नितान्त निन्दनीय हैं। भागवतकार कहते हैं—

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दा शुचार्पिताः॥

(११। १४। ११)

भगवान् श्रीकृष्ण श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—उद्धव! यज्ञ-दान आदि कर्मोंसे जो स्वर्ग आदि लोक मिलते हैं, वे उत्पत्ति एवं नाशवाले हैं। साथ ही कर्मोंका फल समाप्त हो जानेपर स्वर्ग आदि लोकोंसे पुण्यात्माको बलात् नीचे गिरा दिया जाता है। '**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**'-यह गीता-वाक्य प्रसिद्ध है। इसीलिये कर्म-फल दुःखोदर्क, तमोनिष्ठ, क्षुद्रानन्द एवं शुचार्पित—इन चारों विशेषणोंसे विशिष्ट हैं। कर्मफलकी समाप्तिपर अन्तमें दुःख-ही-दुःख है, इसलिये 'दुःखोदर्क' है। चिरकालतक विषयभोगोंके सम्पर्कके कारण एवं स्वर्गमें भगवद्भजनके अभावके कारण अन्तमें घोर

अज्ञानके सघन अन्धकारमें ही मनुष्य पहुँच जाता है। अतएव 'तमोनिष्ठ' है। स्वर्ग आदि लोकोंमें प्राप्त होनेवाले सुख भी ईर्ष्या-द्वेषसे भरे रहते हैं। वहाँ अपनेसे अधिक भोग-सम्पन्न पुण्यशीलको देखकर ईर्ष्या भी होती है तथा अपने अभावके कारण सदा ही शोक-संतापकी ज्वालाका अनुभव होता रहता है। इसलिये 'क्षुद्रानन्द' एवं 'शुचार्पित' है। ठीक इसके विपरीत भक्तोंको भगवद्-भजनमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह सर्वथा अवर्णनीय है। भगवान् कहते हैं—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयाऽऽत्मना सुखं यत्तत् कुतः स्याद् विषयात्मनाम्॥
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १२-१३)

'जो बड़भागी सभी ओरसे निरपेक्ष हो गया है, जिसने अपने मनको सब प्रकारसे मुझमें ही समर्पित कर दिया है, वह जिस परम सुखका अनुभव करता है, वह विषयी जीवोंको किसी प्रकार नहीं मिल सकता है। जो अकिंचन है, जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर चुका है, शान्त तथा समदर्शी हो गया है, जो मेरी संनिधिके अनुभवसे परिपूर्ण हो चुका है, उसके लिये सारी दिशाएँ सुखसे भरी हैं।'

पापोंके वास्तविक प्रायश्चित्तपर विचार करते हुए महर्षि श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्से कहा है—जिस प्रकार चतुर चिकित्सक रोगोंके कारण एवं उनकी लघुता-गुरुताको जानकर चिकित्सा करता है, उसी प्रकार मृत्युसे पूर्व ही पापोंकी गुरुता-लघुतापर विचार करके उनका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये—

'दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्॥'

(श्रीमद्भा० ६। १। ८)

अब राजाके मनमें प्रश्न उठा कि इन पापोंके प्रायश्चित्त क्या हो सकते हैं। एक प्रायश्चित्त तो कृच्छ्रचान्द्रायण-व्रत आदि हैं। इन प्रायश्चित्तोंके करनेके पश्चात् भी पापोंकी ओर प्रवृत्ति देखी जाती है। अतएव राजा परीक्षित् महर्षिसे पूछते हैं—

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात् क्वचिच्चरति तत्पुनः।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत्॥

(श्रीमद्भा० ६। १। १०)

'महर्षे! मनुष्य कभी तो प्रायश्चित्तके द्वारा पापोंसे मुक्त हो जाता है तथा कभी पापोंमें प्रवृत्त हो जाता है। ऐसी स्थितिमें मेरी समझमें जैसे हाथी स्नान करनेके बाद पुनः अपने ऊपर धूल डाल लेता है, उसी प्रकार मनुष्यका प्रायश्चित्त भी कुंजर-शौच (हाथीके स्नान)-की भाँति व्यर्थ ही प्रतीत होता है।' राजाके प्रश्नका उत्तर देते हुए महर्षि श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥
नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि।
एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० ६। १। ११-१२)

राजन्! वस्तुतः कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतरूपी कर्मोंके द्वारा कर्मका बीज-सहित नाश नहीं होता है, क्योंकि कर्मका अधिकारी साधारण मुग्ध (अज्ञानी) लोग होते हैं।

अज्ञान जबतक रहता है तबतक पाप-वासनाएँ भी रहती हैं, अतः पापोंका सच्चा प्रायश्चित्त तो तत्त्व-ज्ञान ही है। जो मनुष्य सदा सुपथ्यका सेवन करता है, वह रोगके वशमें नहीं होता है। उसी प्रकार जो मनुष्य नियमोंका पालन करता है, वह धीरे-धीरे पाप-वासनाओंसे मुक्त होकर कल्याण-स्वरूप तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मानसमें स्पष्ट है—

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

भागवतकार कहते हैं—

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥

(श्रीमद्भा० ६। १। १६)

पापी मनुष्यकी वास्तविक शुद्धि जैसी भगवत्-भागवत-सेवासे होती है वैसी तप-दान आदिसे नहीं होती है। सच तो यह है कि—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥

(श्रीमद्भा० ६। १। १८)

जिस प्रकार मदिरासे भरे घड़ेको समस्त नदियाँ मिलकर भी पवित्र नहीं कर सकती हैं, उसी प्रकार

भगवद्-विमुख मनुष्यको तप-यज्ञ आदि साधन भी पवित्र नहीं कर सकते हैं। धर्मराजके दूतोंको भगवान्‌के पार्षदोंने डिम-डिम-घोषके साथ पापोंके वास्तविक प्रायश्चित्तका उपदेश दिया है। यहाँ अजामिलके प्रसंगमें समस्त वेदार्थका निर्णय पार्षदोंने किया है। अजामिल पापी था, किंतु भगवन्नामके उच्चारणसे उसके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं। विष्णुपार्षद कहते हैं—

स्तेनः सुरापो मित्रधुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। ९-१०)

चोर, शराबी, मित्रद्रोही, ब्रह्मघाती, गुरु-पत्नीगामी, स्त्री, राजा, पिता, गायको मारनेवाला एवं अन्य बड़ा-से-बड़ा पाप करनेवाला चाहे जैसा जितना भी बड़ा पापी हो उसके लिये समस्त पापोंका एकमात्र सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त यही है कि उसके द्वारा भगवान्‌के परम पावन नामोंका उच्चारण किया जाय। नामोच्चारणसे मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌की लीला एवं स्वरूपमें आसक्त हो जाती है तथा नामोच्चारण करनेवाले मनुष्यके प्रति भगवान्‌की ममता हो जाती है कि यह मेरा है, इसकी रक्षा करना मेरा धर्म है।

यदि प्रायश्चित्त करनेके पश्चात् भी पापोंकी ओर मन जाय तो वह अत्यन्त शुद्ध करनेवाला प्रायश्चित्त नहीं है, कृच्छ्रचान्द्रायण, पराक आदि प्रायश्चित्तोंके बाद भी पापीका मन पापकी ओर जाते देखा जाता है, अतः मनु आदि स्मृतियोंमें कहे गये ये प्रायश्चित्त निश्चय ही अज्ञानियोंके लिये हैं। जो लोग ऐसा प्रायश्चित्त करना चाहते हैं जिससे वासनाओंके सहित पापकर्मोंका समूल नाश हो जाय, तो उन्हें प्रभुके गुणोंका ही गान करना चाहिये। भगवान्‌के गुणगानसे ही चित्तकी वास्तविक शुद्धि होती है—

गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। २)

जिस प्रकार अनिच्छासे स्पर्श होनेपर भी अग्नि हाथको जला देती है, अनजानमें भी औषधि खानेसे लाभ होता है अथवा अनजानमें भी विष खानेसे मृत्यु तथा अमृत पीनेसे अमरत्वकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अनजानमें भी भगवान्‌के नामस्मरणसे पाप नष्ट हो जाते हैं—

यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १९)

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः।
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥

नामस्मरणमें देश-कालका नियम नहीं है, पवित्रता-अपवित्रताका झंझट नहीं है, बस, केवल श्रीराम-नामके संकीर्तनसे मनुष्य संसारसे मुक्त हो जाता है।

कलियुगमें तो श्रीराम-नामको छोड़कर अन्य धर्मोंमें अधिकार ही नहीं है—

कलौ युगे कल्मषमानसाना-
मन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः।

गोस्वामीजी कहते हैं—

'नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु, है स्रम-फलनि फरो सो।'

(विनय-पत्रिका, पद-१७३)

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

इसी भगवन्नाम-महिमाकी महत्ताको प्रतिपादित करते हुए पुनः गोस्वामीजी कहते हैं—

नाना पथ निरबान के नाना विधान बहु भाँति।
तुलसी तूँ मेरे कहे जपु राम नाम दिन राति॥

अतएव समस्त पापोंका एकमात्र प्रायश्चित्त भगवन्नाम है। जैसे भी बने वैसे नाम-स्मरण करना चाहिये। कम-से-कम प्रतिदिन पचीस हजार नामके स्मरणसे कुछ दिनमें नामकी मधुरिमा मिलने लग जाती है, फिर तो पचास हजार नाम-जप करनेकी लालसा बढ़ जाती है। इसी प्रकार नाम-जपका अभ्यास करते-करते कुछ ही दिनोंमें एक लाख, सवा लाख नाम-जपका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है।

साधकको चाहिये कि इस घोर कलिकालमें अधिक-से-अधिक नाम-जपका अभ्यास करे। फिर तो—

'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'

['श्रीसीताराम-संदेश' से साभार]

सुहृद् समझते ही मुक्ति

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'जो मुझको समस्त प्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित अहैतुक प्रेमी) जान लेता है, वह शान्तिको—मोक्षको प्राप्त हो जाता है।' भगवान् जीवोंके परम सुहृद् हैं, स्वभावसे ही सबका हित करते हैं—इस बातको वास्तवमें हम लोग जानते नहीं। कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते हैं, कभी-कभी बुद्धिमें भी यह बात आती है; परंतु मनने वस्तुतः इस तत्त्वको जाना और माना नहीं। यदि दुःखोंकी ज्वालासे जलता हुआ जीव परम सुखराशि सच्चिदानन्दघन परमात्माको अपना सुहृद् जान ले तो फिर वह अपने दुःखोंकी निवृत्तिके लिये जगत्के अन्यान्य उपायोंका अवलम्बन ही क्यों करे? एक मनुष्यको किसी वस्तुका अभाव है और उसे उस अभावको मिटानेकी बड़ी आवश्यकता है तथा वह उसे मिटानेके लिये व्याकुल है, ऐसी स्थितिमें उसे यदि किसी ऐसे पुरुषका पता लग जाय, जिसके पास उसके अभावको दूर करनेवाली वस्तु हो, जो उसको हृदयसे चाहता भी हो और साथ ही उसके अभावको भी उतना ही जानता और अनुभव करता हो, जितना कि वह अभाववाला पुरुष करता है, तो फिर उसका अभाव दूर होनेमें देर क्यों होनी चाहिये? उस पुरुषके पास जाते ही उसका अभाव मिट जायगा। यही स्थिति जीवकी और भगवान्की है। जीव भगवान्का सनातन अभिन्न अंश होनेपर भी आनन्द और शान्तिके अभावसे दुःखी है, इसीलिये वह अनादिकालसे आनन्द और शान्तिकी खोजमें ही भटक रहा है; परंतु आनन्द और शान्तिके यथार्थ स्वरूप और उनके निवास-स्थानको न जाननेके कारण बार-बार उसे निरानन्द और अशान्तिकी आगमें ही जलना पड़ता है एवं जबतक उसे आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति न होगी, तबतक उसकी यही दशा रहेगी। भगवान् आनन्द और शान्तिके अपार सागर हैं एवं जीवके परम प्रेमी हैं; क्योंकि वह उन्हींका अंश है तथा वे उसके अभावजन्य दुःखोंको भी जानते हैं, इसीलिये वे बारम्बार जीवको सावधान करते, प्रबोध देते और सन्मार्गपर लानेका प्रयत्न करते हैं। सब जीवोंके प्रति समान प्रेम होनेपर भी, उनका यह नियम है कि जो उन्हें भजता है, उनकी शरण होता है, वे उसीकी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेते हैं; इसीलिये वे कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

मैं समस्त प्राणियोंमें समान-भावसे व्याप्त हूँ, मेरा न कोई अप्रिय है और न प्रिय, परंतु जो लोग मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे (अपनेको) मुझमें (देखते) हैं और मैं (उन्हें) उनमें (दीखता) हूँ। भगवान्की कितनी अपार दयालुता है कि जो वे भूले हुए दुःखग्रस्त जीवोंको अपने मुँहसे अपना नियम और प्रभाव बतलाकर अपनी शरणमें बुलाते हैं। जिस समय मनुष्य उनके आवाहनको यथार्थमें सुन लेता है, उसी दिन—उसी क्षण वह अभिसारिकाकी भाँति छूट निकलता है, फिर वह संसारके धन-जन-परिवारकी तनिक भी परवाह नहीं करता, वह ऐसे परम धन, परम प्रियतम, समस्त सुख-शान्तिके सनातन और पूर्ण भण्डारकी ओर दौड़ता है कि उसे फिर पीछे मुड़कर देखनेकी स्मृति ही नहीं हुआ करती। वह तो जल्दी-से-जल्दी उस परम प्रियतमको पानेके लिये तन-मन और लोक-परलोककी बाजी लगाकर सारी विघ्न-बाधाओंको लाँघता हुआ हवाके वेग-से चलता है; फिर कोई भी बाधा उसे रोक नहीं सकती। सारी प्रतिकूलताएँ उसके अनुकूल बन जाती हैं—वह भगवत्-मार्गका पथिक न कभी थकता है, न विराम लेता है, न घबराता है, न निराश होता है; ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों नये-नये उत्साह और प्रकाशको प्राप्त होता हुआ दूर-से-दूर स्थानको भी नजदीक-से-नजदीक समझकर चला ही जाता है। वास्तवमें उसे भगवान्की दयासे सुविधाएँ प्राप्त होती हैं और वह उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी करता है। भगवान्ने कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

'मुझमें मन लगा देनेपर तू मेरी कृपासे समस्त बाधाओंके समुद्रोंसे अनायास ही तर जायगा।' हम लोग जो

पद-पदपर बाधा-विघ्नों और कराल क्लेशोंका सामना करते हैं—इसका कारण यही है कि हम भगवान्‌को परम समर्थ सुहृद् समझकर उनमें मन नहीं लगाते, उनके शरण नहीं होते। पूर्णरूपसे मन सौंप देने या शरणागत हो जानेवालोंके लिये तो भगवान्‌की आश्वासन-वाणी है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६५)

'अर्जुन! मुझमें चित्तको प्रविष्ट करा देनेवाले उन भक्तोंको मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र मैं पार कर देता हूँ। (इसलिये) सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा, मैं (स्वयं ही) तुझे सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता न कर।'

ये सारी बातें होते हुए भी हम उनकी शरण नहीं होते, इसका प्रधान कारण यही है कि हमें उनकी सर्वज्ञता, दयालुता, सर्वशक्तिमत्तापर विश्वास नहीं है। हम वस्तुतः उन्हें अपना परम सुहृद् नहीं जानते—इसी विश्वासकी कमीसे हम उन्हें न भजकर अन्य उपायोंसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति चाहते हैं और इसीलिये बारम्बार एक दुःखके राज्यसे दूसरे महान् दुःखके राज्यमें प्रवेश करते हुए दुःखमय बन रहे हैं।
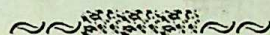
'अब न बजाओ स्याम! बाँसुरिया'

(श्रीमती रामपाली देवी 'हिंदी-प्रभाकर')

एक बाँसके टुकड़ेको प्रियतमके अधरामृतका पान करते हुए देखकर उस अमृतकी एकमात्र अधिकारिणी गोपिकाएँ जल उठती हैं। उनका सौतियाडाह उद्दीप्त हो उठता है। अतः वे अपने प्रियतमको उसे अधरपर रखनेसे मना करती हैं—

'अब न बजाओ स्याम! बाँसुरिया.........।'

पर श्यामको तो मुरलीने पूर्णरूपसे अपने वशमें कर रखा है। वे उसे बजाये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते। अतः वे गोपिकाओंकी शिकायतपर ध्यान न देकर उसे बजाते ही रहते हैं। लेकिन श्यामका यह वंशी बजाना तो गोपिकाओंके जीवन-मरणका प्रश्न है। क्या किया जाय? जब अपना ही पैसा खोटा हो तो परखनेवालेका क्या दोष? श्यामकी मुरली-ध्वनि सुनकर वे चुप भी नहीं रह सकती, अतः उसे 'गुमान' न करनेकी शिक्षा देकर वे अपने हृदयको शान्त करना चाहती हैं। वे कहती हैं—

'मुरलिया! तू काहे गुमान भरी?.........'

इस प्रकार झुँझलानेसे क्या होगा, जब प्रियतम ही अपने वशका नहीं रहा? वे मुरलियाके वंशके बारेमें कहने लगती हैं—

'जर तोरी जानो पिंड पहिचानो, मधुवनकी लकरी......'

किंतु उसके कुलकी हीनता जानते हुए भी जब श्यामने उसे अपना लिया तब क्या किया जाय।

जिस सौभाग्यको गोपिकाएँ मानवदेह पाकर भी प्राप्त न कर सकीं, उसीको पूर्णरूपसे नीरस बाँसकी वंशीने प्राप्त कर लिया।

कबहुँक मुरली हरि-कर राजे, कबहुँक अधर धरी।
सूर स्याम को सब तन परसत लूटत निसि सिगरी॥

श्यामसे मुरलीकी शिकायत करके भी देख लिया गया। वे उसे किसी प्रकार नहीं छोड़ते। तब वे आपसमें वंशीकी आलोचना करती हैं—

'कै तो या ब्रजमें राधे ही बसेगी
कै तो यह दारी बाँसुरिया बसि जावेगी।'

इतना करनेपर भी मनमोहन मुरली बजाना नहीं छोड़ते, तब गोपिकाएँ करबद्ध होकर मुरलीसे ही प्रार्थना करती हैं—

अरी छमा कर मुरलिया, परत तिहारे पाय।
और सुखी सुनि होत सब, महा दुखी हम हाय॥
अरी बाँसकी बँसुरिया तू पिय अधरन धारि।
कहा जगत जस लेयगी हम अबलनि कौं मारि॥

किंतु मुरली तो अपने सुहागके बलपर इतनी इठलायी

हुई है कि वह दूसरोंकी प्रार्थना सुनने ही क्यों लगी? जब प्रार्थना करनेपर भी मुरली सुनवायी नहीं करती, तब वे उसे ताने देने लगती हैं—

किये न करिये को नहीं पिय सुहाग को राज।
अरी सुहागिन मुरलिया! मुँह लागी मत गाज॥
बंसी बंसी नाम है काहू धर्‍यो प्रवीन।
तान तान की डोर सों खैंचत है मन मीन॥

जब फिर प्रिय सुहागका राज्य भोगनेवाली वंशी किसीके तानोंकी परवा नहीं करती, तब तो गोपिकाएँ उसकी इस अवज्ञाको सहन न कर सकनेके कारण तिलमिला उठती हैं और रोषावेशमें आकर कहने लगती हैं—

अरी बाँसकी मुरलिया इठलावै तू क्यों न?
तीखी तीखी बाज कै देत कटे पर नोंन॥

फिर वे उसके जन्मदाता बाँसको ही कोसने लगती हैं—

जो हम पहले जानतीं बंसी की दृढ़ टेक।
सारे बाँस कटावतीं रहन न देतीं एक॥

गोपाङ्गनाओंको यदि पहलेसे पता होता कि बाँसकी बँसुरिया इस प्रकार जलेपर नमक छिड़केगी तो वे वनके सारे बाँस ही कटवा डालतीं, पर अब क्या हो। ***'अब पछिताएँ होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।'*** अब तो वंशीके तपकी प्रशंसा करती हुई वे उससे पूछती हैं—

अरी बाँस की बँसुरिया तैं तप कीन्हो कौन।
अधर-सुधारस पियत नित हम तरफत हैं मौन॥

वंशीने मानो कहा—अरी सखियो! मैं तप-वप कुछ नहीं जानती। मैं अपनेको भी नहीं जानती। मैं तो बिलकुल खाली हूँ। मेरा अंतर सर्वथा सूना है। उसमें केवल श्यामसुन्दरका सुर भरा है। वे जैसे चाहते हैं, जब चाहते हैं, जो चाहते हैं, बजाते हैं। मेरा काम तो बजना ही है। न मैं बजानेपर बजनेसे रुकती हूँ, न बजानेको कहती हूँ और न यही कहती हूँ कि यह बजाओ, यह न बजाओ। मेरी न कोई चाह है और न शिकायत। मैं कुछ हूँ ही नहीं। मैं न कुछ बोलती हूँ, न कुछ करती हूँ। श्याम अपने हाथमें लेकर जो कुछ करते हैं, जैसे बजाते हैं—वे ही जानें—

तन, मन सकल खाली कर्‍यो।
रही एक न गाँठि भीतर स्याम सुर ही भर्‍यो॥
जौन सुर जैसो भर्‍यो बस तैसो हि निकर्‍यो।
अहं-ममकी वासनामें नेकु ना बिगर्‍यो॥
मेरो कछु वै रह्यो नाहिंन स्याम ही सगर्‍यो।
कौन तें, अब कौन कारन, कौन को झगर्‍यो॥

वंशीने नहीं, वंशीके सुरोंमें श्यामने ही गोपियोंको यह शिक्षा दी। यदि गोपियाँ भी वंशीकी भाँति ऐसी ही तपस्या करतीं तो आज उन्हें क्यों पराजित होना पड़ता।

गोपियोंने अपनी त्रुटिको समझा और वे साधनामें लगीं। तब भी वे बीच-बीचमें मुरली और मुरलीमनोहरको दो-चार जली-कटी सुना ही देती हैं।

अन्तमें अपनी प्राणप्रिया मुरलीके प्रति गोपिकाओंकी इतनी बड़ी ईर्ष्या देखकर मुरलीमनोहर मुरलीको लेकर मथुरा चले गये। वहाँ जाकर वे अपनी मुरलीके साथ पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करते रहे। इस प्रकार श्यामने अपनी मुरलीको गोपिकाओंके ताने सहनेसे बचा लिया। इधर गोपिकाएँ तिलमिलाती रहीं, परंतु श्याम अपनी प्रिया मुरलीको पुनः दुःखमें डालने व्रजमें नहीं आये, नहीं ही आये। परंतु गोपिकाओंका इतना शाप तो लग ही गया कि मथुरा और द्वारिकामें मुरलीको छिपकर ही रहना पड़ा। श्यामसुन्दरके हाथोंमें शार्ङ्गधनुष और बाण ही सुशोभित हुए।

जुगल छबि नयनन माँहि निहार।
सेत स्याम सुख धाम पुतरियन पलकन परदा डार॥
ग्यानचन्द्र की ध्यान-चन्द्रिका भेटो अङ्क पसार।
रहो निसंक कलंक न लागे सहज फरैं फल चार॥
झूँठे जग जीवनके नाते याते बेग बिसार।
वल्लभ सब सुखमूरि श्याम-घन लूटत लगहि न बार॥

साधकोंके प्रति—

अमरताका अनुभव

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्यमात्रके भीतर स्वाभाविक ही एक ज्ञान (विवेक) है। साधकका काम उस ज्ञानको महत्त्व देना है। वह ज्ञान पैदा नहीं होता। अगर वह पैदा होता तो नष्ट भी हो जाता; क्योंकि पैदा होनेवाली हरेक चीज नष्ट होनेवाली होती है—यह नियम है। अत: ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत जागृति होती है। जब साधक अपने भीतर उस स्वत:सिद्ध ज्ञानको महत्त्व देता है, तब वह ज्ञान जाग्रत् हो जाता है। इसीको तत्त्वज्ञान अथवा बोध कहा जाता है।

मनुष्यमात्रको इस बातका ज्ञान है कि यह शरीर (स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणशरीर) मेरा असली स्वरूप नहीं है। शरीर प्रत्यक्ष रूपसे बदलता है। बाल्यावस्थामें जैसा शरीर था, वैसा आज नहीं है और आज जैसा शरीर है, वैसा आगे नहीं रहेगा। परंतु मैं वही हूँ अर्थात् बाल्यावस्थामें जो मैं था, वही मैं आज हूँ और आगे भी रहूँगा। अत: मैं शरीरसे अलग हूँ और शरीर मेरेसे अलग है अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ—यह सबके अनुभवकी बात है। फिर भी अपनेको शरीरसे अलग न मानकर शरीरके साथ एक मान लेना अपने ज्ञानका निरादर है, अपमान है, तिरस्कार है। साधकको अपने इस ज्ञानको महत्त्व देना है कि मैं तो निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर मरनेवाला है। ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें शरीर मरता न हो। मरनेके प्रवाहको ही जीना कहते हैं। वह प्रवाह प्रकट हो जाय तो उसको जन्मना कह देते हैं और अदृश्य हो जाय तो उसको मरना कह देते हैं। तात्पर्य है कि जो हरदम बदलता है, उसीका नाम जन्म है, उसीका नाम स्थिति है और उसीका नाम मृत्यु है। बाल्यावस्था मर जाती है तो युवावस्था पैदा हो जाती है और युवावस्था मर जाती है तो वृद्धावस्था पैदा हो जाती है। इस तरह प्रतिक्षण पैदा होने और मरनेको ही जीना (स्थिति) कहते हैं। पैदा होने और मरनेका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। परंतु हम स्वयं निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है, पर हमारे स्वरूपमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। अत: शरीर तो निरन्तर मृत्युमें रहता है और मैं निरन्तर अमरतामें रहता हूँ—इस ज्ञानको महत्त्व देना है।

गीतामें आया है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२। २२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नये कपड़े धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते, ऐसे ही पुराने शरीरको छोड़नेसे हम मर नहीं जाते और नया शरीर धारण करनेसे हम पैदा नहीं हो जाते। तात्पर्य है कि शरीर मरता है, हम नहीं मरते। अगर हम मर जायँ तो फिर पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा? अन्य योनियोंमें कौन जायगा? मुक्ति किसकी होगी?

शरीर नाशवान् है, इसको कोई रख सकता ही नहीं और हमारा स्वरूप अविनाशी है, इसको कोई मार सकता ही नहीं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

(गीता २। १७)

अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा और विनाशी सदा विनाशी ही रहेगा। जो विनाशी है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। हमने कुर्ता पहन लिया तो क्या कुर्ता हमारा स्वरूप हो गया? हमने चादर ओढ़ ली तो क्या चादर हमारा स्वरूप हो गयी? जैसे हम कपड़ोंसे अलग हैं, ऐसे ही हम इन शरीरोंसे भी अलग हैं। इसलिये हमारे मनमें निरन्तर स्वत: यह बात रहनी चाहिये कि मैं मरनेवाला नहीं हूँ, मैं तो अमर हूँ। *'अमर जीव मरे सो काया'* जीव अमर है, काया मरती है। अगर इस विवेकको महत्त्व दें तो मरनेका भय मिट जायगा। जब हम मरते ही नहीं, तो फिर मरनेका भय

कैसा? और जो मरता ही है, उसको रखनेकी इच्छा कैसी? हमारा बालकपना नहीं रहा तो अब हम बालकपनेको लाकर नहीं दिखा सकते; क्योंकि वह मर गया, पर हम वही रहे। अत: शरीर सदा मरनेवाला है और मैं सदा अमर रहनेवाला हूँ—इसमें क्या संदेह रहा? अब केवल इस बातका आदर करना है, इसको महत्त्व देना है, इसका स्वयं अनुभव करना है, कोरा सीखना नहीं है। जैसे धन मिल जाय तो भीतरसे खुशी आती है, ऐसे ही इस बातको सुनकर भीतरसे खुशी आनी चाहिये! कारण कि जिस बातसे हमारा दु:ख, जलन, संताप, रोना मिट जाय, उसके मिलनेसे बढ़कर और क्या खुशीकी बात होगी! ऐसा लाभ तो करोड़ों-अरबों रुपयोंके मिलनेसे भी नहीं होता। कारण कि अरबों-खरबों रुपये मिल जायँ और पृथ्वीका राज्य मिल जाय तो भी एक दिन वह सब छूट जायगा, हमारेसे बिछुड़ जायगा!

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवे किहि काज॥

हम शरीरमें अपनी स्थिति मान लेते हैं, अपनेको शरीर मान लेते हैं तो यह हमारी गलती है। गलत बातका आदर करना और सही बातका निरादर करना ही मुक्तिमें खास बाधा है। अपनेको शरीर मानकर ही हम कहते हैं कि मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ, मैं बूढ़ा हूँ। वास्तवमें हम न बालक हुए, न हम जवान हुए, न हम बूढ़े हुए, प्रत्युत शरीर ही बालक हुआ, शरीर ही जवान हुआ, शरीर ही बूढ़ा हुआ। शरीर बीमार हो गया तो मैं बीमार हो गया, शरीर कमजोर हो गया तो मैं कमजोर हो गया, धन पासमें आ गया तो मैं धनी हो गया, धन चला गया तो मैं निर्धन हो गया—यह शरीरके साथ एकता माननेसे ही होता है। जब क्रोध आता है, तब हम कहते हैं कि मैं क्रोधी हूँ! विचार करें, क्या क्रोध सब समय रहता है? सबके लिये होता है? जो हरदम नहीं रहता और जो सबके लिये नहीं होता, वह मेरेमें कैसे हुआ? कुत्ता घरमें आ गया तो क्या वह घरका मालिक हो गया? ऐसे ही क्रोध आ गया तो क्या मैं क्रोधी हो गया? क्रोध तो आता है और चला जाता है, पर मैं निरन्तर रहता हूँ।

देश बदलता है, काल बदलता है, वस्तुएँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, क्रिया बदलती है, अवस्था बदलती है, परिस्थिति बदलती है, घटना बदलती है, पर हम निरन्तर रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि—ये पाँचों अवस्थाएँ बदलती हैं, पर हम तो एक ही रहते हैं, तभी हमें अवस्थाओंका और उनके परिवर्तनका अर्थात् उनके आरम्भ और अन्तका ज्ञान होता है। स्थूल दृष्टिसे विचार करें तो जैसे हम हरिद्वारसे ऋषिकेश आये तो पहले हम हरिद्वारसे रायवाला आये, फिर रायवालासे ऋषिकेश आये। अगर हम हरिद्वारमें ही रहनेवाले होते तो रायवाला और ऋषिकेश कैसे आते? रायवालामें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और ऋषिकेश कैसे आते? ऋषिकेशमें रहनेवाले होते तो हरिद्वार और रायवाला कैसे आते? अत: हम न तो हरिद्वारमें रहते हैं, न रायवालामें रहते हैं, न ऋषिकेशमें रहते हैं। हरिद्वार, रायवाला और ऋषिकेश—तीनों अलग-अलग हैं, पर हम एक ही हैं। हरिद्वारमें भी हम वही रहे, रायवालामें भी हम वही रहे और ऋषिकेशमें भी हम वही रहे। ऐसे ही जाग्रत्‌में भी हम वही रहे, स्वप्नमें भी हम वही रहे और सुषुप्तिमें भी हम वही रहे। इसी तरह मूर्च्छामें भी हम वही रहे और समाधिमें भी हम वही रहे। अत: बदलनेवालेको न देखकर रहनेवालेको देखना है अर्थात् अपनेमें निर्लिप्तताका अनुभव करना है—

'रहता रूप सही कर राखो बहता संग न बहीजे'

बदलनेवालेके साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है—यही अमरता (मुक्ति) है। अमरता स्वत:सिद्ध और स्वाभाविक है, करनी नहीं पड़ती। मृत्युके साथ सम्बन्ध तो हमने माना है।

प्रश्न—अभी सिंह सामने आ जाय तो भय लगेगा ही?

उत्तर—भय इस कारण लगेगा कि 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—यह बात सुनकर सीख ली है, समझी नहीं है। सीखी हुई और समझी हुई बातमें यही फर्क है। तोता अन्य समय तो राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करता है, पर जब बिल्ली सामने आती है, तब टें-टें करता है, जबकि समय तो अब राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण करनेका है! परंतु सीखा हुआ ज्ञान समयपर काम नहीं आता।

सिंह आ जाय तो उससे बचनेकी चेष्टा करनेमें कोई दोष नहीं है, पर भयभीत होना दोष है। कारण कि मरनेवाला तो मर ही रहा है और जीनेवाला जी ही रहा है, फिर भय किस बातका? सिंह मारेगा तो मरनेवालेको ही मारेगा, जीनेवालेको कैसे मारेगा? सिंह खा लेगा तो उसकी भूख मिट जायगी, अपनेमें क्या फर्क पड़ेगा? मरनेवालेको कबतक बचाओगे? वह तो मरेगा ही। अत: न जीनेकी

इच्छा करनी है, न मरनेका भय करना है।

एक मार्मिक बात है। सत्संग करनेसे पहले जितना भय लगता है, उतना भय सत्संगके बाद नहीं लगता। सत्संग करनेसे वृत्तियोंमें बहुत फर्क पड़ता है और विकार अपने-आप नष्ट होते हैं। परंतु ऐसा तब होगा, जब हम सत्संगकी बातोंको आदर देंगे, महत्त्व देंगे, उनका अनुभव करेंगे। सत्संगकी बातोंको महत्त्व देनेसे साधकके अनुभवमें ये तीन बातें अवश्य आती हैं—

१-काम-क्रोधादि विकार पहले जितनी तेजीसे आते थे, उतनी तेजीसे अब नहीं आते।

२-पहले जितनी देर ठहरते थे, उतनी देर अब नहीं ठहरते।

३-पहले जितनी जल्दी आते थे, उतनी जल्दी अब नहीं आते।

—इन बातोंको देखकर साधकका उत्साह बढ़ना चाहिये। व्यापारमें तो लाभ और नुकसान दोनों होते हैं, पर सत्संगमें लाभ-ही-लाभ होता है, नुकसान होता ही नहीं। जैसे माँकी गोदीमें पड़ा हुआ बालक अपने-आप बड़ा होता है, बड़ा होनेके लिये उसको उद्योग नहीं करना पड़ता। ऐसे ही सत्संगमें पड़े रहनेसे मनुष्यका अपने-आप विकास होता है। अगर जिज्ञासा जोरदार हो और थोड़ा भी विकार असह्य हो तो तत्काल सिद्धि होती है।

सत्संगसे विवेक जाग्रत् होता है। साधक जितने अंशमें उस विवेकको महत्त्व देता है, उतने अंशमें उसके काम-क्रोधादि विकार कम हो जाते हैं। विवेकको सर्वथा महत्त्व देनेसे वह विवेक ही तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, फिर दूसरी सत्ताका अभाव होनेसे विकार रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

किसी प्रियजनकी मृत्यु हो जाय, धन चला जाय तो मनुष्यको शोक होता है। ऐसे ही भविष्यको लेकर चिन्ता होती है कि अगर स्त्री मर गयी तो क्या होगा? पुत्र मर गया तो क्या होगा? ये शोक-चिन्ता भी विवेकको महत्त्व न देनेके कारण ही होते हैं। संसारमें परिवर्तन होना, परिस्थिति बदलना आवश्यक है। यदि परिस्थिति नहीं बदलेगी तो संसार कैसे चलेगा? मनुष्य बालकसे जवान कैसे बनेगा? मूर्खसे विद्वान् कैसे बनेगा? रोगीसे नीरोग कैसे बनेगा? बीजका वृक्ष कैसे बनेगा? परिवर्तनके बिना संसार स्थिर चित्रकी तरह बन जायगा! वास्तवमें मरनेवाला (परिवर्तनशील) ही मरता है, रहनेवाला कभी मरता ही नहीं। यह सबका प्रत्यक्ष अनुभव है कि मृत्यु होनेपर शरीर तो हमारे सामने पड़ा रहता है, पर शरीरका मालिक (जीवात्मा) निकल जाता है। यदि इस अनुभवको महत्त्व दें तो फिर चिन्ता-शोक हो ही नहीं सकते। बालिके मरनेपर भगवान् राम इसी अनुभवकी ओर ताराका लक्ष्य कराते हैं—

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥

(मानस, किष्किन्धा० ११। २-३)

प्रश्न—ज्ञानका आदर न होनेमें खास कारण क्या है?

उत्तर—खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। हम संयोगजन्य सुखका भोग करना चाहते हैं, इसीलिये अपने ज्ञानका आदर नहीं होता अर्थात् ज्ञान भीतर ठहरता नहीं। तात्पर्य है कि भोगोंमें जितनी आसक्ति होती है, उतनी ही बुद्धिमें जड़ता आती है, जिससे सत्संगकी तात्त्विक बातें पढ़-सुनकर भी समझमें नहीं आतीं। गीतामें आया है कि भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते*। भोगोंकी आसक्तिसे उनका ज्ञान ढका जाता है†। इसलिये जबतक वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, चिन्तन, स्थिरता (समाधि) आदिमें किंचिन्मात्र भी राग है, तबतक ज्ञान सीखा हुआ ही है—**'रागो लिङ्गमबोधस्य'**।

प्रश्न—शरीर मैं नहीं हूँ—यह तो ठीक है, पर शरीर मेरा और मेरे लिये तो है ही?

उत्तर—शरीरके साथ हम तीन तरहसे सम्बन्ध मानते हैं—१-शरीर मैं हूँ, २-शरीर मेरा है और ३-शरीर मेरे लिये है। ये तीनों ही सम्बन्ध बनावटी हैं, वास्तविक नहीं हैं। वास्तवमें शरीर **'मैं'** भी नहीं है, **'मेरा'** भी नहीं है और **'मेरे लिये'** भी नहीं है। कारण कि अगर शरीर **'मैं'** होता तो

* भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २। ४४)

† आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ (गीता ३। ३९)

'हे कुन्तीनन्दन! इस अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाले और विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामके द्वारा मनुष्यका विवेक ढका हुआ है।'

शरीरके बदलनेपर मैं भी बदल जाता। परंतु यह सबका अनुभव है कि शरीर पहले जैसा था, वैसा आज नहीं है, पर मैं वही हूँ। शरीर बदला है, पर मैं नहीं बदला। अगर शरीर **'मेरा'** होता तो उसपर मेरा पूरा अधिकार चलता अर्थात् मैं जैसा चाहता, वैसा ही शरीरको रख सकता, उसको बदलने नहीं देता, बीमार नहीं होने देता, कमजोर नहीं होने देता, बूढ़ा नहीं होने देता और कम-से-कम मरने तो देता ही नहीं। परंतु यह सबका अनुभव है कि शरीरपर हमारा बिलकुल वश नहीं चलता और न चाहते हुए भी, लाख कोशिश करते हुए भी वह बीमार हो जाता है, कमजोर हो जाता है, वृद्ध हो जाता है और मर भी जाता है। अगर शरीर **'मेरे लिये'** होता तो उसके मिलनेपर हमें संतोष हो जाता, हमारे भीतर और कुछ पानेकी इच्छा नहीं रहती और शरीरसे कभी वियोग भी नहीं होता, वह सदा मेरे साथ ही रहता। परंतु यह सबका अनुभव है कि शरीर मिलनेपर भी हमें किंचिन्मात्र संतोष नहीं होता, हमारी इच्छाएँ समाप्त नहीं होतीं, हमें पूर्णताका अनुभव नहीं होता और शरीर भी निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत हमारेसे बिछुड़ जाता है।

जैसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ही स्थूलशरीरसे होनेवाली 'क्रिया', सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला 'चिन्तन' और कारणशरीरसे होनेवाली 'स्थिरता' (समाधि)-के साथ भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और समाप्ति होती है। कोई भी चिन्तन निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत आता-जाता रहता है। स्थिरताके बाद चंचलता, समाधिके बाद व्युत्थान होता ही है। तात्पर्य है कि न तो क्रिया निरन्तर रहती है, न चिन्तन निरन्तर रहता है और न स्थिरता निरन्तर रहती है। इन तीनोंके आने-जानेका, परिवर्तनका अनुभव तो हम सबको होता है, पर अपने परिवर्तनका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। हमारा होनापन निरन्तर रहता है। हमारे साथ न तो पदार्थ एवं क्रिया रहती है, न चिन्तन रहता है और न स्थिरता ही रहती है। हम अकेले ही रहते हैं। इसलिये हमें अकेले (पदार्थ, क्रिया, चिन्तन और स्थिरतासे रहित) रहनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

जब स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर तथा उनके कार्य क्रिया, चिन्तन और स्थिरताके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं, तो फिर उनका संयोग हो अथवा वियोग हो, हमारेमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसा ही अनुभव गुणातीतको भी होता है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

(गीता १४। २२)

'हे पाण्डव! प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरहसे प्रवृत्त हो जायँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जायँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।'

संयोग-वियोग तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। तत्त्वमें न संयोग है, न वियोग है, प्रत्युत 'योग' है—'**तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६। २३)।

जबतक हमारा सम्बन्ध पदार्थ, क्रिया, चिन्तन, स्थिरताके साथ रहता है, तबतक परतन्त्रता रहती है; क्योंकि पदार्थ, क्रिया आदि 'पर' हैं, 'स्व' नहीं हैं। इनसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर हम स्वतन्त्र (मुक्त) हो जाते हैं। वास्तवमें हमारा स्वरूप (होनापन) स्वतन्त्रता-परतन्त्रता दोनोंसे रहित है; क्योंकि स्वतन्त्रता-परतन्त्रता तो सापेक्ष हैं, पर स्वरूप निरपेक्ष है।

भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता २। १६)

'असत्‌का भाव विद्यमान नहीं है और सत्‌का अभाव विद्यमान नहीं है।'

शरीर, पदार्थ, क्रिया, अवस्था आदि असत् हैं; अतः उनका भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है अर्थात् उनका निरन्तर अभाव है। स्वरूप सत् है; अतः उसका अभाव विद्यमान नहीं है अर्थात् उसका निरन्तर भाव (सत्ता) है। असत्‌के साथ अपने सम्बन्धको न माननेसे अभावरूप असत्‌का अभाव हो जाता है और भावरूप सत् ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

ज्ञानमार्गमें असत्‌से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और अपने स्वरूप (चिन्मय सत्तामात्र)-में स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जाता है। फिर स्वरूप जिसका अंश है, उस परमात्माकी ओर स्वतः आकर्षण होता है, जिसको प्रेम कहते हैं। अपना स्वरूप सभीको प्रिय लगता है, फिर वह जिसका अंश है, वे परमात्मा कितने प्रिय लगेंगे—इसका कोई पारावार नहीं है!

महाभारतका सारभूत उपदेश

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

महर्षि वेदव्यासने आदरपूर्वक कहा—'पधारिये विद्वद्वरेण्य प्रथमपूज्य विनायकजी! आपका स्वागत है।'

'महर्षि वेदव्यासके चरणोंमें सविनय प्रणाम!' बड़े ही श्रद्धास्पदभावसे नतमस्तक होकर भगवान् गणेशने कहा।

तत्पश्चात् अत्यन्त प्रसन्नमुद्रामें वेदव्यासने कहा—'भक्तवाञ्छाकल्पतरु विघ्नेश्वर! कुछ दिनोंसे मेरे मनमें विचार हो रहा था कि आपसे मिले बहुत समय हो गया है, चातुर्मासके पावन दिनोंमें आपसे भेंट हो जाती तो कुछ सत्संगका लाभ हो जाता। आपने स्वयं ही कृपा कर दी, यह तो अति उत्तम हुआ।'

भगवान् श्रीगणेशने भी अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—'निग्रहानुग्रह-समर्थ सर्वज्ञ! आप स्मरण करें और मैं न आऊँ, यह तो असम्भव है। मेरे हृदयमें भी कई दिनोंसे एक जिज्ञासा हो रही थी कि जब भी आपके दर्शन होंगे आपसे निवेदन करूँगा।'

'निःसंकोच कहिये गणाध्यक्ष! आप क्या कहना चाहते हैं?' महर्षि व्यासने कहा।

'प्रशस्त व्रतधारी! महाभारतके लेखनकार्यका सुअवसर प्रदान कर आपने मुझपर जो अनुग्रह किया, उसके लिये मैं सर्वदा आपका आभारी रहूँगा।'

'गणेशजी! यह तो लोकगुरु ब्रह्माकी आज्ञा थी। आपकी स्वीकृतिसे ही यह लोकपावन इतिहास जन-जनको सुलभ हो पाया। अपने परिश्रमका श्रेय दूसरोंको देना तो आपका सहज स्वभाव है।'

'महर्षे! अपनी प्रतिज्ञानुसार मैं ग्रन्थ-लेखनके समय आपसे यह निवेदन नहीं कर पाया कि आपने इस ग्रन्थमें कलियुगके वर्णनमें यह लिखवाया है कि धर्मग्रन्थोंके प्रति इस कलियुगका मानव श्रद्धा नहीं रखेगा, न इनका पठन-पाठन ही करेगा, न सुनेगा। भगवन्! चाहे जैसे भी हो मानवका कल्याण तो होना ही चाहिये। यह भी सत्य है कि एक लाख श्लोकोंका स्वाध्याय प्रत्येकके लिये सम्भव नहीं है। आप सर्वज्ञ हैं, कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे कि महाभारतका सम्पूर्ण सार-तत्त्व बहुत थोड़ेमें ही समझकर मानव उसे हृदयंगम कर सके।'

'गणनायक! आपने जो प्रस्ताव रखा है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मैंने जब अपने पुत्र विरक्तशिरोमणि शुकदेवको इस ग्रन्थका अध्ययन कराया तब उसने भी ऐसी ही जिज्ञासा प्रकट की थी, परंतु शुकदेवजीने स्वयं ही इस समस्याका समाधान प्रस्तुत करते हुए इस प्रकारका भाव व्यक्त किया था, जिसका अवलोकनकर आप भी अवश्य संतुष्ट होंगे—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥
हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति॥

(महा० स्वर्गा० ५। ६०—६४)

—'इस जगत्‌में मनुष्य हजारों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके संयोग-वियोगका अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे। अज्ञानी पुरुषको प्रतिदिन हर्षके हजारों और भयके सैकड़ों अवसर प्राप्त होते हैं, किंतु ज्ञानीके मनपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मैं दोनों हाथ ऊपर उठाकर घोषणा कर रहा हूँ, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता—धर्मसे मोक्षका मार्ग तो प्रशस्त होता ही है, अर्थ और कामकी भी सिद्धि होती है, तो भी मानव उसका सेवन क्यों नहीं करता? कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा प्राण बचानेके लिये भी धर्मका त्याग हितकर नहीं है। धर्म नित्य है और हर्ष-विषाद अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धनका हेतु अनित्य। महाभारतका यह सारभूत उपदेश भारत-सावित्रीके नामसे

प्रसिद्ध है। जो नित्य प्रात: इसका पाठ (मनन) करता है, वह सम्पूर्ण महाभारतके अध्ययनका फल पाकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।'

गणेशजीने ध्यानपूर्वक यह विवरण सुनकर कहा—'प्रभो! मेरी जिज्ञासाका समाधान हो गया। मैं आपको और महामुनि शुकदेवजीको बारम्बार नमन करता हूँ।'

लक्ष-श्लोक-समन्वित सम्पूर्ण महाभारतसे सारतत्त्वके रूपमें उपर्युक्त वर्णित प्रसंगका जो प्रतिदिन अध्ययन, श्रवण और मनन करता है, वह निश्चय ही समस्त पापोंसे मुक्त होकर अपने परम लक्ष्य नि:श्रेयस-पदको प्राप्त करता है।

अनन्तकी खोज

(श्रीवीरनारायणजी शर्मा, एडवोकेट)

(१)

सर्वत्र यह समाचार फैला हुआ था कि तुम तीनों लोकोंके स्वामी हो। केवल यही नहीं वरन् सभी लोकोंके। यह सुनकर मैं आश्वस्त हो गया और निकल पड़ा तुम्हें ढूँढ़ने; पर तुम कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुए। कण-कण और अणु-अणुमें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सूर्योदय हो गया और तब तुम्हारे दिव्य प्रकाशसे कण-कण चमकने लगा। धन्य है प्रभु, तुम्हारा प्रकाश जिसने मेरे नैराश्यपूर्ण जीवनमें आशाकी किरण उत्पन्न की और जीवनको जीने योग्य बनाया। यथार्थमें तुम सर्वत्र और सर्वव्यापी हो।

(२)

अबतक मैं तिमिराच्छादित महानिशीथके अन्धकारमें तुम्हें तलाशता रहा। फलत: घोर अन्धकारमें घोर निराशाने मुझे घेर लिया और मैं हताश हो गया कि तुम्हें ढूँढ़ पाना असम्भव है। प्रकाशकी कोई किरण दिखायी नहीं दी और मेरी निराशाकी कोई सीमा न रही। द्वन्द्व चलता रहा, तभी मेरे मनने मुझे ललकारा कि यही वह अन्धकार है जो परम प्रकाशका पता दे रहा है।

(३)

तिमिर छँटने लगा। प्राचीकी ओरसे प्रकाश दिखायी देने लगा। धीरे-धीरे निराशाका स्थान आशा ग्रहण करने लगी। देखते-ही-देखते चारों ओर प्रकाश फैल गया, परंतु तुम कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हुए। तभी मेरी दृष्टि फूलोंसे लदे एक वृक्षपर पड़ी और तुम थे कि फूलोंकी मुसकान बनकर मुसकरा रहे थे। मेरे परम प्रिय प्रभु, और मैं था कि तुम्हें एकटक निहारता ही रहा।

(४)

पावस-ऋतुमें वन-उपवन और पर्वत-पर्वत घूमते-घूमते एकाएक सांध्य-बेला आ पहुँची। धीरे-धीरे तिमिरकी गति बढ़ने लगी। देखते-ही-देखते चारों ओर दूर-दूरतक गहन अन्धकार फैलने लगा। वृक्षों और पत्तोंपर निस्तब्धता छा गयी। पक्षी अपने नीडोंमें जा छिपे और उनका कलरव शान्त हो गया, वनके उस घोर अन्धकारमें मैं तुम्हें ढूँढ़ता रहा, पर तुम थे कि कहीं दूर पर्वतपर अदृश्य झरना बन कल-कलकी कर्णप्रिय मधुर ध्वनिसे मुझे पुकारते हुए नीचे मेरे निकट आ रहे थे और आश्चर्य कि मैं तुम्हारी उस पुकारसे अपरिचित रहकर भटकता रहा और तुम्हें ढूँढ़ता रहा। धन्य है प्रभु, तुम्हारा यह रहस्यमय रूप!

(५)

हे स्वयम्भू, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, शाश्वत, असीम, अपराजेय, अनन्त, अखण्ड, अवेद्य! तुम्हारे भेदको जान लेना ज्ञानी, योगी, विरक्त, तपस्वी, ऋषि, मुनि, साधक और सिद्धके लिये कोई सरल काम नहीं है। फिर मैं अकिंचन भला तुम्हें एकदम कैसे पा लेता। मैं तो तुम्हें यत्र-तत्र सर्वत्र ढूँढ़कर हताश हो समुद्र-तटपर बैठ गया और एकटक उसकी शान्त लहरोंकी ओर उसके असीमित स्वरूपको निहार रहा था कि इतनेमें समुद्रमें तूफान उठने लगा। उसकी उत्ताल तरंगें भयावह रूप धारण कर तटसे टकराने लगीं और मैं था कि भयभीत होकर वहाँसे भाग खड़ा हुआ। हे प्रभु, मुझे क्षमा करना। मैं आपके उस वास्तविक रूपको भूल गया कि वे लहरें आपकी फैली भुजाओंके रूपमें आपके हृदयसे मेरे लिये उमड़ा हुआ असीम प्रेम था, जिसमें आप मुझे समेट

कर अपने अनन्त स्वरूपमें विलीन कर लेना चाहते थे। सचमुच मैं बड़ा अभागा हूँ जो डूबनेके डरसे आपके विराट् स्वरूपके उन्मुक्त दर्शनसे वंचित रह गया।

(६)

रे मन! डूबनेका डर कैसा? डूबनेसे डरे तो पार कैसे जाओगे? डूबकर ढूँढ़नेके पश्चात् ही तो गोताखोर सिन्धुकी असीम गहराईसे वास्तविक मुक्तामणि प्राप्त करता है। ज्ञानी और ध्यानी ज्ञान और ध्यानके समुद्रमें मग्न होकर ही अपने लक्ष्यको प्राप्त करते हैं। सुन नहीं रहे हो कबीरकी वह पुकार—*'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ। हौं बौरी डूबन डरी रही किनारे बैठ॥'* जाओ, डूबो और फिर बाहर आओ तथा अब अमृतत्व प्राप्त करो—**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**

(७)

हे परम आराध्य! तुम परम श्रेष्ठ, सत्य-स्वरूप, निराकार, निर्गुण-निर्विकार होकर भी सदैव सगुण-साकार हो। सत्, चित् और आनन्द तुम्हारा सदा-सर्वदा सत्यस्वरूप है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् तुम्हें प्राप्त करनेका शाश्वत मूल मन्त्र है। जीवनके सर्वश्रेष्ठ क्षणोंमें तुम्हीं याज्ञवल्क्य, मनु और व्यासकी मानव-कल्याण-रूपी चेतना हो। हे सदानन्द सच्चिदानन्द! तुम्हें बारम्बार नमन है।

(८)

मैं भूलवश तुम्हें सम्पन्न, समृद्ध, सामर्थ्यवान् और सम्भ्रान्त लोगोंके मध्य ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थककर बैठ गया। तभी मेरी दृष्टि एक अति क्षीण, दीन-हीन और दरिद्रपर पड़ी और कुछ समझते देर न लगी कि दलितोंके मध्य दरिद्रनारायण भी तुम्हारा ही साक्षात् सत्यस्वरूप है। हे सर्वहाराके सर्वस्व! निरालम्बके अवलम्ब और निराधारके आधार! तुम्हें मेरा बारम्बार नमस्कार है।
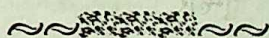
बड़ी गोद किसकी?

समस्त श्रान्त जीव जिसकी गोदमें विश्राम पाते हैं, अधम-से-अधमको भी जिसकी गोदमें सदा समान जगह है। भक्त प्रह्लाद आगमें तपे सुवर्णकी भाँति निर्मल, देदीप्यमान कीर्तियुक्तको जिस गोदने ललककर लिया था, उसीने अधमाधम दुष्ट हिरण्यकशिपुको भी उसी गोदमें सुलाया। जिसे कहीं भी स्थान नहीं मिलता, उसके लिये वह शीतल त्रयतापहारी गोद सदा उन्मुक्त रहती है। रावण, जिसने चराचरको व्यथित कर रखा था, जो सबके जीवनालम्ब हैं, उनसे द्वेष किया था; परंतु उसके लिये भी उस महान् गोदमें किंचिन्मात्र भी संकीर्णता न आयी। कंस, पूतना, वकासुर इत्यादिने इतनी दुष्टता की, भ्रममें पड़कर; सारा विश्व उनसे व्यथित था, नरक भी डरता था उन्हें अपनेमें स्थान देनेको और मृत्यु भी उनके स्पर्शके भयसे भागती थी; किंतु उस महान् गोदने उन्हें बिना किसी हिचकके अपनेमें ले लिया। जब अखिल विश्व उसका है, तब वह किससे घृणा करे। माता अपने दुष्टसे भी दुष्ट बालकको क्या त्याग सकती है! उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि उसे सन्मार्गपर लाये और ऐसा ही उसका प्रयत्न भी होता है। वह दण्ड देती है, इसीलिये कि वह दुष्टता छोड़ दे और उसके दूसरे भोले बालक, जो कुमार्गमें पड़े हों, सँभल जायँ। यह देखकर समझ लें कि माँ हमसे भी इसी तरह पेश आयेगी, परंतु वह क्या उन्हें कभी अपनी गोदसे दूर करेगी, नहीं। वह उन्हें समझा-बुझाकर ठोंक-पीटकर भी रखेगी अपनी ममत्वभरी गोदमें ही।

ऐसी उस विस्तृत महान् ममतामयी गोदवालेको भी जब मैं किसी रानी या अहीरनीकी गोदके लिये मचलते, रोते, ठुनकते और मिन्नतें करते देखती हूँ, तब मैं समझ नहीं पाती कि बड़ी गोद किसकी है?

(श्री'दुर्गेश')
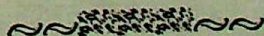
विवेक और प्रीति

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय संत स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

जीवनका अध्ययन करनेपर यह विदित होता है कि जो स्वत: हमसे दूर हो रहा है, उसपरसे हमें अपना स्वत्व हटा लेना चाहिये। ऐसा करते ही लोभ, मोह, जड़ता आदि सभी विकार मिट जाते हैं और निर्विकारता एवं प्रीतिका उदय होता है, जो अपनेमें ही अपने प्रीतमसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। जानेवाली वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियोंकी ममता ही हमें लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारोंमें आबद्ध करती है।

अब विचार यह करना है कि ममतासे क्या प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित रह सकती हैं? अथवा अप्राप्त वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ममताका जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है और ममताके त्यागसे कोई क्षति भी नहीं है। वस्तुओंके सदुपयोगका और व्यक्तियोंकी सेवाका जीवनमें स्थान है, पर उनको अपना माननेका नहीं।

यह नियम है कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं, उनका राग अंकित हो जाता है। जिसका राग अंकित हो जाता है, उसकी स्मृति स्वत: होने लगती है और वह स्मृति व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करती है जो सार्थक-चिन्तनमें विघ्न है। सार्थक-चिन्तनके बिना प्रीति जाग्रत् नहीं होती और प्रीतिके बिना नित्य-प्राप्त प्रीतमसे अभिन्नता नहीं होती।

अत: प्रीतिकी जागृतिके लिये निरर्थक चिन्तनका त्याग अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपनी ममता सब ओरसे हटाकर अपने नित्य-प्राप्त प्रीतममें कर लें।

हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिनसे निराश नहीं होना चाहिये, उनसे निराश होते हैं और जिनकी आशा नहीं करनी चाहिये, उनकी आशा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो प्रीति करने योग्य है, उससे प्रीति नहीं हो पाती और जो चिन्तन करने योग्य नहीं है, उसका चिन्तन करने लगते हैं।

यद्यपि प्रीति बीजरूपसे सभीमें विद्यमान है, परंतु जब हम उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदिमें आबद्ध कर देते हैं, तब वह आसक्ति तथा लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारोंमें बदल जाती है। जैसे, नदीका निर्मल जल किसी गड्ढेमें आबद्ध होनेसे विकृत होकर अनेक विषैले कीटाणु उत्पन्न करता है।

अत: प्रीति-जैसे निर्मल चिन्मय तत्त्वको किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें आबद्ध नहीं करना चाहिये। प्रीति तो प्रीतमका स्वभाव है। उसे सब ओरसे हटाकर अपने प्रीतमकी ओर ही स्वत: प्रवाहित होने देना चाहिये। अनन्तकी प्रीति भी अनन्त है। उसका कभी अन्त नहीं होता। इसी कारण वह नित-नूतन रस प्रदान करनेमें समर्थ है।

हम वस्तु आदिकी प्राप्तिमें भले ही असमर्थ हों; परंतु प्रीतिकी प्राप्तिमें असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि प्रीतिसे हमारी जातीय एकता है। प्रीतिका कभी नाश नहीं होता, अपितु स्थान-भेदसे रूपान्तर-सा प्रतीत होता है।

यदि प्रीति समस्त दृश्यकी ओर प्रवाहित हो तो उसका नाम विश्वप्रेम हो जाता है; यदि 'स्व' की ओर प्रवाहित हो तो उसे आत्मरति कहते हैं और वही यदि अनन्तकी ओर प्रवाहित हो तो उसीका नाम प्रभु-प्रेम हो जाता है।

सभीके प्रति होनेवाली प्रीति अथवा देहसे अतीत अपने प्रति होनेवाली प्रीति साधना है और अनन्तके प्रति होनेवाली प्रीति साध्य है। इस दृष्टिसे प्रीति साधन भी है और साध्य भी, नित्य भी है और अनन्त भी।

यह सबको मान्य होगा कि प्रीति सभीमें विद्यमान है। पर जो उसका सदुपयोग करते हैं, वे दिव्य तथा चिन्मय जीवनकी ओर गतिशील होते हैं और जो दुरुपयोग करते हैं, वे जड़ता आदि विकारोंमें आबद्ध हो जाते हैं। प्रीतिका सदुपयोग वे ही कर सकते हैं, जो सब प्रकारकी चाहसे रहित हैं। चाहसे युक्त प्राणी तो प्रीतिका दुरुपयोग करता है। प्रीतिके दुरुपयोगमें अपना विनाश है और प्रीतिके सदुपयोगमें जीवन है।

किसी मान्यता-विशेषमें आबद्ध प्रीति ही सीमित होकर संघर्ष उत्पन्न करती है, जो विनाशका मूल है। सभी मान्यताओंसे अतीत सत्तामें होनेवाली प्रीति विभु होकर शान्ति तथ अभिन्नता प्रदान करती है। प्रीतिका दुरुपयोग अविवेकसिद्ध है और सदुपयोग विवेकके प्रकाशमें निहित है, कारण कि विवेक सभी मान्यताओंसे अतीत अनन्त-तत्त्वसे नित्य-योग करानेमें समर्थ है। नित्य-योगमें ही प्रीतिकी प्राप्ति है।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विवेकयुक्त जीवनमें ही प्रीतिका प्रादुर्भाव होता है। प्रीति जिसका जीवन है, उसकी दृष्टिमें सृष्टि नहीं रहती; कारण कि प्रीति प्रीतमसे अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

सम्पूर्ण विश्वको प्रदूषणके भयानक संकटसे बचायें एवं बचें

(महामण्डलेश्वर स्वामीभक्त हरिजी)

वैज्ञानिकोंद्वारा की गयी खोजके आधारपर अनेक समाचार-पत्र-पत्रिकाओंमें यह प्रकाशित हो चुका है कि हिंदुस्थानसहित सम्पूर्ण विश्व प्रदूषित पर्यावरण तथा दूषित आहारके कारण भयंकर बीमारियोंका घर बनता जा रहा है। निम्न एवं उच्च रक्तचाप, हृदयरोग, क्षय एवं कैंसर-जैसी घातक बीमारियाँ तेजीसे फैलती जा रही हैं। आजके विकसित विज्ञान और चिकित्सा-पद्धतियोंमें इसका कोई कारगर उपाय नहीं ढूँढ़ा जा सका है। अत: स्वास्थ्य-वैज्ञानिकोंने अपने प्रयोगोंसे यह सिद्ध कर दिखाया है कि इन बीमारियोंकी रोकथाम बहुत कुछ अंशोंमें गोमूत्रद्वारा की जा सकती है और विशेष-रूपसे हिंदुस्थान ही इसका प्रचार-प्रसार करनेमें समर्थ है। प्रस्तुत कुछ विन्दुओंमें हम गोमूत्रसहित गोदुग्ध, घृत, दधि एवं गोमय आदिके लाभकारी प्रयोगोंको विस्तृत रूपसे जान सकते हैं और उसका सम्यक् अनुकरण-अनुपालन कर देश एवं विश्वको भयंकर प्रदूषण और रोगोंसे बचा सकते हैं। साथ ही पीपलवृक्षसे प्रदूषण दूर करनेके उपायोंको भी उद्घाटित किया गया है, जिसपर सभीको अमल करना चाहिये—

१-गोदुग्ध विश्वके सर्वोत्तम दुग्धोंमें एक है। इसमें स्वर्ण पाया जाता है और मनुष्य-शरीरकी सभी आवश्यकताओंको पूर्ण करता है, बीमारियोंसे बचाता है।

इसलिये यह आवश्यक है कि हिंदुस्थान गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध तथा घृतपर शोध-कार्य करके आयुर्वेदिक ओषधियोंका निर्माण कर जीवनोपयोगी गोरक्षण, गोपालन एवं गोसंवर्धनके लिये अग्रसर होकर गोपदार्थोंसे प्रदूषण समाप्त कर सम्पूर्ण विश्वको एक स्वच्छ पर्यावरण देनेका प्रयास करे।

२-पर्यावरणकी समस्या विश्वमें एक नयी दुलहन बनी हुई है। वैज्ञानिकोंके अनुसार प्रदूषित पर्यावरणके कारण आनेवाले समयमें कभी भी उफनते हुए समुद्रमें पूरे-के-पूरे अनेक देश बह जायँगे। अमेरिकासे लेकर बम्बईतक एवं समुद्रतटीय देश बाढ़के पानीमें डूब जायँगे। प्रसिद्ध समुद्री वैज्ञानिक 'स्टीफन कैक्स'-ने खोज की और कहा कि इस भयावह स्थितिकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये, नहीं तो उफनते समुद्रमें तटवर्ती देश पूर्णरूपसे जल-समाधि ले लेंगे।

३-वैज्ञानिकोंका कहना है कि पृथ्वीके वायुमण्डलमें कार्बन-डाई-आक्साईड बढ़नेसे तापमान बढ़ता है तो बर्फ पिघलनेसे समुद्रका जलस्तर भी बढ़ेगा। उनके अनुसार दक्षिणी ध्रुवमें व्यापक विखण्डन होगा, जिसके कारण प्रतिक्रिया अधिक तीव्र होगी और आनेवाले वर्षोंमें समुद्रका जल-स्तर १५ से ३५ मीटरतक बढ़ जायगा, तब समुद्रतटीय भूमि खेती योग्य नहीं रह जायगी। प्रदूषण बढ़नेके कारण समुद्रतटीय देशोंको भयंकर खतरा होगा। श्रीस्टीफनने कार्बन-डाई-आक्साईडकी बढ़ती मात्राको अत्यन्त हानिकारक बताया और कहा कि मानवद्वारा भौतिक उपकरणों—जैसे वाहन-चिमनियाँ एवं विषैली गैसोंके अंधाधुंध प्रयोगसे वायुमण्डल दूषित होनेके साथ-साथ प्राकृतिक संतुलन भी बिगड़ रहा है। हम इसे ही वैज्ञानिक आविष्कार और प्रगति मानते हैं। लेकिन जो मानव तथा प्रकृतिके संतुलनको बिगाड़े उसे प्रगति नहीं कहा जा सकता।

४-भारतीय दर्शन मानवमात्रको यह सीख देता है कि प्रदूषण कम करो, इसीलिये ऋषियोंने यज्ञ-हवन करनेकी आवश्यकतापर बल दिया। वायुमण्डलको शुद्ध करनेके निमित्त सुगन्धित वनस्पतियों, ओषधियोंको गायके घृतमें हवन-यज्ञ करनेके लिये कहा है। गोघृतमें वायुमण्डलको शुद्ध करनेकी अलौकिक शक्ति है। गाय मानव एवं वनस्पतिके लिये अत्यन्त उपयोगी है, इसके सम्बन्धमें जितना भी वर्णन किया जाय वह कम ही होगा।

वैज्ञानिकोंकी उक्त चेतावनी, कि कई देश उफनते समुद्रमें समा जायँगे, के सम्बन्धमें हिंदुओंद्वारा गायको माता मानना और वैतरणी पार जानेकी बात विज्ञानसम्मत ही है। इसका अभिप्राय यह है कि इस भीषण उत्पातसे बचनेके लिये हमें गोमाताका आश्रयण लेना ही पड़ेगा।

५-'रूसके प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्रीशिरोविच गायपर किये गये शोधों (खोजों)-के आधारपर बताते हैं—(१) गायके दुग्धमें रेडियो-विकिरणसे सुरक्षाकी सर्वाधिक क्षमता है।

(२) जिन घरोंको गायके गोबरसे लीपा जाता है, उनमें रेडियो-विकिरण, हाईड्रोजन बमों तथा एटम बमोंका प्रभाव नहीं होता है। छतके ऊपर गायका गोबर लीपनेसे विकिरण प्रवेश नहीं करता, साथ ही यदि बिजली चमककर गोबरपर गिरती है तो उसका प्रभाव निष्क्रिय हो जाता है। (३) गोघृत आगमें डालकर धुआँ किया जाय तो वायुमण्डलमें रेडियेशनका प्रभाव बहुत कम होता है। (४) श्रीशिरोविच कहते हैं कि रूसमें गायके पञ्चगव्य (दूध, दही, घी, गोबर और गोमूत्र)-लेपनसे अनेक चर्म-रोग जीवनपर्यन्तके लिये ठीक हुए हैं। पञ्चगव्य-सेवनसे मनुष्य सदैव नीरोग रहता है, यह सर्वथा अनुभूत है।

६-हिंदू और हिंदू-जीवन-दर्शनको मृत बतानेवाले तथा अपनेको प्रगतिशील माननेवालोंको भारतके महान् ऋषियोंद्वारा बताये गये मानव-कल्याणके रहस्योंको विवेकपूर्वक समझकर उसको स्वीकार करनेमें नहीं हिचकिचाना चाहिये। इसीमें हम सबका कल्याण है।

७-गोघृतका हवन बड़े पैमानेपर किया जाय तो कार्बन-डाई-आक्साईडके बढ़ते खतरेसे बचा जा सकता है। बर्फके पिघलने और उफनते समुद्रपर रोक लगाकर अनेक देशोंको जल-समाधिसे भी बचाया जा सकता है। इस प्रकार गऊ माताद्वारा देशोंको सागरमें डूबनेसे बचा सकते हैं या यों कहा जा सकता है कि गऊकी पूँछ पकड़कर वैतरणी पार कर सकते हैं। अन्यथा डूबनेसे कोई नहीं बचा सकता। इसीलिये हम जब गो-जातिके संरक्षण एवं संवर्धनके प्रति जागरूक होंगे तभी विश्वको इस प्रलयंकर विभीषिकासे बचा सकेंगे।

८-अमेरिकाद्वारा समय-समयपर बाजार-भावोंमें संतुलन रखनेके लिये मक्खनके पहाड़-के-पहाड़ समुद्रमें डाल दिये जाते हैं, जिसका समुद्री जीवोंके खानेके अलावा कोई दूसरा उपयोग नहीं है। उक्त मक्खनको 'देवदारु, चन्दन, पीपल, आम, बरगद' आदि वृक्षोंकी लकड़ी और जौ, तिल आदि वनस्पति औषधियोंके साथ घीमें मिलाकर बड़ी मात्रामें लगातार जलाया जाय तो मानव एवं प्राणिमात्रको ही अधिक लाभ होगा। अतः उचित है कि इसे समुद्रमें डालनेकी जगह अग्निमें जलाया जाय, पर्यावरण-शोधनके रूपमें यज्ञिय हवन बनाया जाय।

९-विज्ञान कहता है कि विश्वमें एकमात्र पीपल ही एक ऐसा वृक्ष है जो चौबीसों घंटे ऑक्सीजन छोड़ता है और कार्बन-डाई-आक्साईड ग्रहण करता है। इससे बड़ा मानव एवं प्राणिमात्रका उपकारी कौन होगा। इसीलिये हिंदू पीपलका पूजन-अर्चन करते हुए उसके संवर्धन-संरक्षणकी सीख देता है।

१०-हिंदू समाज श्रद्धा-भक्ति और परम्परागतरूपसे पीपलकी पूजा करता है तथा साथ ही इसमें विष्णु भगवान् एवं धनकी अधिष्ठात्री लक्ष्मीजीका निवास भी मानता है।

११-अतः वैज्ञानिकोंने सम्पूर्ण विश्वके निवासियों तथा विज्ञानको चेतावनी दी कि उक्त उपायोंसे हम पर्यावरणको प्रदूषित होनेसे बचा सकते हैं। 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' गोघृतका हवन सभी देशोंमें करा सकता है। पीपल-वृक्षारोपणका कार्य करा सकता है, गोवंश-संवर्धन तथा गोवंश-हत्या बंद कराकर गायोंको दुर्दशासे बचाया जा सकता है। ऐसा करनेसे हम समुद्रमें डूबनेसे बच सकते हैं, भयंकर बीमारियोंसे मुक्त हो सकते हैं। जिस प्रकार अरबों रुपये भारत सरकार मछली-पालनको देती है, उसी प्रकार यदि गोपालनकी महत्ताको स्वीकार कर उसके संरक्षण-संवर्धनके लिये कोई ठोस कदम उठाये तो इससे विज्ञानका विकास ही होगा और हमारे अभ्युदयका मार्ग भी प्रशस्त होगा।

१२-रूसके प्रसिद्ध वैज्ञानिक मि० जोरोस्लमने सिद्ध किया है कि हाईड्रोजन, एटम बमोंका प्रयोग हुआ तो एकमात्र गायका गोबर ही इन बमोंके प्रभावको निष्क्रिय कर सकता है।

१३-दूरदर्शन, आकाशवाणीपर उक्त सम्बन्धमें प्रभावोत्पादक कार्यक्रम चलाये जायँ और इन गुणोंसे समस्त विश्वको अवगत कराया जाय। क्योंकि समुद्रमें जल-समाधि लेनेवाले देशोंको बचानेके लिये कृषि-प्रधान भारतमें गोवंशका संरक्षण अति आवश्यक है, वह इसलिये कि जिन देशोंसे हमें पेट्रोलियम पदार्थ प्राप्त होते हैं, वहाँ ३० वर्षोंमें वे पदार्थ या तो समाप्त हो जायँगे या वहाँ निर्यातकी स्थिति नहीं रहेगी। इस स्थितिमें वे देश कभी भी पेट्रोलियम पदार्थ देना बंद कर सकते हैं, तब हमारा जीवन दुर्लभ होगा। ऐसी स्थितिमें भी हिंदुस्थानको गोवंश ही बचा सकता है।

एक बीजसे मनों अनाज

भगवान्‌की कृपा-शक्ति

('एक विदेशी साधक')

स्मरण रखिये कि उत्तम-से-उत्तम बीजको भी जबतक आप बोयेंगे नहीं, तबतक वह आपको कोई फल नहीं दे सकता। यदि आप बीजको हाथमें ही रखे रहेंगे तो वह उग नहीं सकता और न उसमें फल ही लग सकते हैं। इसके लिये आपको बीज प्रकृति माताको सौंपना होगा तथा उसकी चमत्कारी शक्ति एवं चतुराईपर विश्वास करना होगा, जिसके बलपर वह वस्तुओंका निर्माण करती है, जिसे आप नहीं कर सकते अथवा समझ तक नहीं सकते। आप खेतको जोत-जातकर तैयार कर सकते हैं, बीज बो सकते हैं तथा सिंचाई आदि कर सकते हैं, किंतु बीजको अंकुरित तथा धीरे-धीरे विकसित करनेवाले तो भगवान् ही हैं। यह सार्वभौमिक सिद्धान्त है।

हम अपनी मानुषिक शक्तिके सहारे अनेकों कार्य आरम्भ कर सकते हैं, किंतु हमें उस दैवी-शक्तिपर विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि सभी कार्य हमसे पूरे नहीं हो सकते। हम भोजन कर सकते हैं, किंतु हम यह नहीं जानते कि उस भोजनका रूपान्तर रक्त, हड्डी, बाल, स्नायु तथा नसोंमें किस प्रकार हो जाता है।

भगवान्‌की शक्तिको हम भलीभाँति समझते नहीं, अन्यथा उस श्रेष्ठ शक्तिकी सुरक्षामें अपने बीज, धन एवं सामाजिक तथा राजनीतिक मामलोंको भी समर्पित कर देनेमें एक विशेष चमत्कार है अर्थात् अपने सभी मामलोंको उनके ऊपर छोड़ देनेसे विलक्षण सफलता प्राप्त हो सकती है।

अधिकांश लोग इस बातको जानते हैं कि जो धन संग्रह करके तिजोरीमें रख दिया जाता है या गाड़ दिया जाता है तथा किसी भी कार्यमें जिसका उपयोग नहीं किया जाता, वह धन न तो बढ़ता ही है और न हमें कुछ सुख-सुविधा देता है, किंतु जो धन व्यय किया जाता है, वह बदलेमें हमें ऐसी वस्तुएँ प्रदान करता है जिनके उपयोगसे हम सुखी एवं प्रसन्न होते हैं।

कंजूसीके साथ वस्तुओंको रख छोड़नेसे वस्तुओंकी हमें सुख पहुँचानेवाली क्षमता सीमित हो जाती है। हमारे परिवारवाले तथा हमारे मित्र अपने पूर्ण सामर्थ्यभर हमारा हित तभी कर सकते हैं, जब हम अपने उत्पीड़क शासनसे उन्हें मुक्त कर दें। यदि हम उन्हें इस बातकी स्वतन्त्रता दे दें कि वे अपने स्वाभाविक ढंगसे भगवदाज्ञाका पालन करें तो वे और हम संसारसे अधिक लाभ उठा सकते हैं।

यद्यपि धरतीमें बीज फेंक देनेके लिये भी कुछ विश्वासकी आवश्यकता है, किंतु अपने मित्रोंको उनके निजी ढंगसे भगवदिच्छाके अनुरूप कार्य करनेके लिये स्वतन्त्रता प्रदान करनेमें अधिक विश्वासकी आवश्यकता है। कभी-कभी तो केवल अपनेको ही बुद्धिमान् समझकर व्यर्थ ही हमें यह भय हो जाता है कि यदि हम अमुक व्यक्तिको अक्षरश: नहीं बताते जायँगे तो वह कार्य पूरा न कर सकेगा।

बच्चोंके लिये यह आवश्यक है कि उन्हें अपने भयसे मुक्त कर दिया जाय और वे स्वतन्त्र भावनावाले बनें। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि वे उच्छृंखल होकर स्वच्छन्दतापूर्वक मनमानी करनेके लिये छोड़ दिये जायँ, हमारा तात्पर्य तो इतना ही है कि वे इस बातका अनुभव करें कि अपने ढंगपर अपनी बुद्धिका परिचय देनेके लिये किसी सीमातक वे स्वतन्त्र हैं। रचनात्मक एवं उपयोगी कार्य करनेमें उन्हें प्रोत्साहित करना चाहिये। प्रार्थना एवं अपने कार्योंके उदाहरणोंद्वारा उनका पथ-प्रदर्शन किया जा सकता है।

यदि आपमें प्रतिभा है तो उसे भय एवं संशयोंसे मुक्त कीजिये तथा अपनी क्षमताके अनुसार उसका परिचय दीजिये। अपनी प्रतिभाको भगवान्‌के चरणकमलोंमें समर्पित कर दीजिये। यह धरतीमें बीज बोनेके समान ही होगा। यदि आपकी प्रतिभा सच्ची है तो वह भगवान्‌की एक देन है और जब वह भय, संशयों तथा बाधाओंसे मुक्त होकर अपना मूल्य निर्धारित करानेके लिये विकासकी ओर जायगी, तब वह बढ़ेगी और उसका सुन्दर फल प्राप्त होगा।

दानसे वस्तु घटती नहीं, वरं बढ़ती है। यदि आपके पास कोई उत्तम वस्तु है तो आप उसे दूसरोंको भी दीजिये, इसके फलस्वरूप आपको वह वस्तु अधिक परिमाणमें मिलेगी। यदि आपके मनमें कोई अच्छा भाव है तो उसे भी लोगोंमें वितरित कीजिये, हाँ, बलपूर्वक किसीके गलेके नीचे उतारनेकी आवश्यकता नहीं, किंतु जो प्रसन्नतापूर्वक उस भावको ग्रहण करना चाहें, उन्हें बिना किसी मूल्यके अपने उत्तम भावका भागीदार बनाइये।

बहुधा प्रफुल्लता उत्पन्न करनेवाला एक शब्द, जो दूसरोंके लिये कहा गया हो, उनके तथा आपके भी जीवनको चमका सकता है। एक जलती हुई मोमबत्तीसे

आप हजारों मोमबत्तियाँ जला सकते हैं और फिर भी पहलीवाली ज्योति ज्यों-की-त्यों जलती रहेगी।

मनुष्योंके एक दलमें दैवी गुणोंका आना सचमुच वैसा ही है जैसा कि एक स्त्रीद्वारा थोड़ेसे खमीरको उससे तिगुने भोजनमें मिलाना, जो अपनी बढ़नेवाली शक्तिके कारण तबतक बढ़ता रहा, जबतक कि पूरे भोजनको उसने अपना-जैसा खमीर नहीं बना लिया। वह थोड़ा-सा खमीर उस भोजनमें स्वयं विलीन नहीं हो गया, किंतु उस भोजनमें प्रवेश करके उसने उसे भी उन्नत-अवस्थामें पहुँचा दिया और अपने रूपको कई गुना अधिक बढ़ा लिया। इसी प्रकार सत्यका वह एक शब्द चाहे उस व्यक्तिके द्वारा बोला गया हो या आचरणमें लाया गया हो, जो दूसरोंको प्रदान करनेमें पर्याप्त विश्वास रखता हो—बहुतोंमें दैवी गुणोंको ला देगा।

निःसंदेह मेरे कुछ पाठकोंने यह अनुभव किया है कि अपने जीवनमें आयी हुई कठिन समस्याको जब उन्होंने भगवान्‌पर छोड़ दिया है, तब उन्हें अच्छा फल मिला है। उस स्थितिमें जो कुछ भी अनुकूलता और अच्छाई थी, उसकी वृद्धि हुई एवं प्रतिकूलता तथा बुराई घटने लगी और शीघ्र ही विलीन हो गयी।

जो अपने समस्त धनको भगवान्‌को अर्पण कर देता है और दैवी आज्ञाके अनुकूल ही उसे व्यय करता है, उसका धन बढ़ता है तथा उसे अधिक सुख देनेवाला होता है। बहुतोंने यह अनुभव किया है कि अपनी आयका दशमांश भगवत्कार्यमें लगानेसे उन्हें बहुत अधिक आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हुई है।

बहुतोंकी सफलतामें निश्चयरूपसे यही बाधा आ पड़ती है कि वे कम हो जानेके डरसे अपनी प्राप्त वस्तुमेंसे किसीको कुछ देते ही नहीं। कहावत है—'*धरम किये धन ना घटे जो सहाय रघुबीर।*' ऐसी भी कहावत है कि '*सूमका धन शैतान खाय।*' कहनेका तात्पर्य यह कि धर्मके काममें धन लुटानेसे वह और बढ़ता है, किंतु जो कंजूसीके साथ उसका संग्रह कर रखता है, उसे सदा कमीका ही अनुभव होता है; किंतु खुले हाथ दान देनेका अर्थ मूर्खताके साथ धनका लुटाना कभी नहीं है। हम जो भी करें उसमें विश्वास, प्रेम और बुद्धिमानीका उपयोग अवश्य करें। ये तीनों गुण भगवान्‌के हैं, जो समस्त गुणोंके एकमात्र मूल कारण हैं।

जो भगवदाज्ञाके अनुकूल चलेगा, वह कभी असफल नहीं हो सकता। अपनी वस्तु, सहायता करनेकी क्षमता, दयालुता या जो भी हमारे पास देनेको है, उसे हम भयके कारण नहीं देते, अपने ही पास रख छोड़ते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि स्वयं हमारे हितके लिये भी इन वस्तुओंके बढ़नेका अवसर नहीं आता, कंजूसीकी भावनासे किसी वस्तुको अपने ही पास रख छोड़नेका एक सुन्दर दृष्टान्त मेरे मस्तिष्कमें आया, जिसका अनुभव मेरी समझसे और भी कई फूल उगानेवालोंने किया होगा।

एक बार मेरे पास एक पुष्पविशेषकी अनेक जातियाँ थीं। पुष्प-वृक्षके कई कुंजोंको मैंने वर्षोंतक उसी स्थानमें रखा। कुछ वर्षोंमें वे कुंज घने हो गये, किंतु वृक्षोंकी दशा ठीक नहीं थी। तब मैंने उनमेंसे कई पौधोंको उखाड़कर अपने मित्रोंको दे दिया। दूसरे वर्ष जिस कुंजसे मैंने पौधे उखाड़े थे, उसके पौधोंकी दशा बड़ी अच्छी हो गयी तथा पहलेकी अपेक्षा वे अधिक विकसित हुए एवं उनमें उत्तम फूल लगे, साथ ही मेरे मित्रोंके पौधे भी खूब बढ़े और फूले।

सफलताके पीछे जो दैवी सिद्धान्त काम करता है उसे यों कह सकते हैं, जितना अधिक आपको मिला हो उतना ही अधिक आप दीजिये। प्रत्येक अच्छी वस्तुका सम्भवतः जितना उपयोग हम कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक भगवान्‌ने हम सबको दिया है। हमें अधिक परिमाणमें सब वस्तुएँ मिली हैं, इसको सिद्ध करनेका सबसे उत्तम मार्ग भगवान्‌के प्रति कृतज्ञ होना तथा भगवान्‌के कार्यमें उन वस्तुओंका बुद्धिमानी तथा निर्भयताके साथ उपयोग करना है।

सबसे पहले हमें अपने अभावमय संकुचित विश्वाससे इन वस्तुओंको मुक्त करना होगा अर्थात् ऐसा सोचना छोड़ना होगा कि अपनी वस्तुओंका उपयोग कर डालेंगे तो ये कम हो जायँगी और फिर हम अभावमें पड़ जायँगे। भगवान्‌की असीमतापर विश्वास उत्पन्न करके ही हम ऐसा विचार ला सकते हैं। हमें विश्वास करना होगा कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक स्थानपर विद्यमान है। हमारे विश्वासके बलसे वह अच्छी वस्तु हमें प्राप्त हो जायगी, जिसे परम पिताने हमारे लिये बनाया है।

भगवान्‌ने हमें सभी वस्तुएँ दी हैं, किंतु हमें यह सीखना चाहिये कि अपने जीवनमें हम इनका किस प्रकार व्यवहार करें जिससे ये हमारे काम आने लायक हो जायँ। भगवान्‌के दिये हुए बीजको लेकर हम बो देते हैं, किंतु उस बीजकी वृद्धि भगवान् ही करते हैं और एक बीजके बदलेमें हमें मनों अनाजका ढेर दे देते हैं।
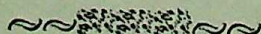
संतति-नियमन

(महात्मा गाँधी)

कृत्रिम साधनोंका कुपरिणाम

मुझे मालूम है कि गुप्त पापने पाठशालाके लड़के-लड़कियोंका कैसा भयंकर विनाश किया है। विज्ञानके नामपर कृत्रिम साधनोंके प्रचलित होने और समाजके प्रसिद्ध नेताओंकी उसपर मुहर लग जानेसे समस्या और भी बढ़ गयी है; और जो सुधारक सामाजिक जीवनकी शुद्धिका काम करते हैं, उनका कार्य आज असम्भव-सा हो गया है। मैं पाठकोंको यह सूचना देते हुए कोई विश्वासघात नहीं कर रहा हूँ कि ऐसी कुँवारी लड़कियाँ हैं, जिनपर आसानीसे किसी भी बातका प्रभाव पड़ सकता है और जो स्कूल-कॉलेजोंमें पढ़ती हैं तथा जो बड़ी उत्सुकतासे संतति-निग्रहके साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओंका अध्ययन करती हैं और जिनके पास उसके साधन भी मौजूद हैं। इन साधनोंके प्रयोगको विवाहित स्त्रियोंतक सीमित रखना असम्भव है। जब विवाहके उद्देश्य और उच्चतम उपयोगकी कल्पना ही पाशविक विकारकी तृप्ति हो और यह विचार तक न किया जाय कि इस प्रकारकी तृप्तिका कुदरती नतीजा क्या होगा, तब विवाहकी सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है।

मुझे इसमें जरा भी शक नहीं कि जो विद्वान् पुरुष और स्त्रियाँ सामुदायिक उत्साहके साथ कृत्रिम साधनोंके पक्षमें आन्दोलन कर रहे हैं, वे देशके युवकोंकी अपार हानि कर रहे हैं। उनका यह विश्वास झूठा है कि ऐसा करके वे उन गरीब स्त्रियोंको संकटसे बचा लेंगे, जिन्हें अपनी इच्छाके विरुद्ध मजबूरन् बच्चे पैदा करने पड़ते हैं। जिन्हें बच्चोंकी संख्या मर्यादित करनेकी जरूरत है, उनके पास तो इनकी आसानीसे पहुँच नहीं होगी। हमारी गरीब औरतोंके पास न तो वह ज्ञान होता है और न वह तालीम होती है, जो पश्चिमकी स्त्रियोंके पास होती है। अवश्य ही यह आन्दोलन मध्यम श्रेणीकी स्त्रियोंकी तरफसे नहीं किया जा रहा है; क्योंकि उन्हें इस ज्ञानकी उतनी जरूरत नहीं है जितनी निर्धन वर्गोंकी स्त्रियोंको है।

परंतु सबसे बड़ी हानि, जो यह आन्दोलन कर रहा है, वह यह है कि पुराना आदर्श छोड़कर यह उसके स्थानपर ऐसा आदर्श स्थापित कर रहा है, जिसपर अमल हुआ तो मानव-जातिका नैतिक और शारीरिक विनाश निश्चित है। वीर्यके व्यर्थ व्ययको प्राचीन साहित्यमें जितना भयंकर कृत्य माना गया है, वह कोई अज्ञानजन्य अंधविश्वास नहीं है। कोई किसान अपने पासका बढ़िया-से-बढ़िया बीज पथरीली जमीनमें बोये या कोई खेतका मालिक अपने बढ़िया खेतमें ऐसी परिस्थितियोंमें अच्छा बीज डाले जिनमें उसका उगना असम्भव हो तो उसके लिये क्या कहा जायगा? भगवान्ने पुरुषको ऊँची-से-ऊँची शक्तिवाला बीज प्रदान किया है और स्त्रीको ऐसा खेत दिया है, जिसके समान उपजाऊ धरती इस दुनियामें और कहीं नहीं है। अवश्य ही पुरुषकी यह भयंकर मूर्खता है कि वह अपनी इस सबसे कीमती सम्पत्तिको व्यर्थ जाने देता है। उसे अपने अत्यन्त मूल्यवान् जवाहरातसे भी अधिक सावधानीके साथ इसकी रक्षा करनी चाहिये। इसी तरह वह स्त्री भी अक्षम्य मूर्खता करती है, जो अपने जीवोत्पादक क्षेत्रमें बीजको नष्ट होने देनेके इरादेसे ही ग्रहण करती है। वे दोनों ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभाके दुरुपयोगके अपराधी माने जायँगे और जो चीज उन्हें दी गयी है, वह उनसे छीन जायगी। कामकी प्रेरणा एक सुन्दर और उदात्त वस्तु है। उसमें लज्जित होनेकी कोई बात नहीं है। परंतु वह संतानोत्पत्तिके लिये ही बनायी गयी है। उसका और कोई उपयोग करना ईश्वर और मानवता—इन दोनोंके प्रति पाप है। संतति-निग्रहके कृत्रिम साधन पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। परंतु पहले उन्हें काममें लेना पाप समझा जाता था। पापको पुण्य कहकर उसका गौरव बढ़ाना हमारी पीढ़ीके ही भाग्यमें बदा है। मेरे खयालसे कृत्रिम साधनोंके हिमायती, भारतके युवकोंकी सबसे बड़ी कुसेवा यह कर रहे हैं कि उनके दिमागमें वे गलत विचारधारा भर रहे हैं। भारतके युवा स्त्री-पुरुषोंको, जिनके हाथमें देशका भाग्य है, इस झूठे देवतासे सावधान रहना चाहिये। ईश्वरने उन्हें जो खजाना दिया है उसकी रक्षा करनी चाहिये और इच्छा हो तो उसका उसी काममें उपयोग करना चाहिये जिसके लिये वह बनाया गया है।

स्त्री-पुरुषकी जोड़ी विषय-सेवनके लिये नहीं

विषय-भोग करते हुए भी कृत्रिम उपायोंके द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकनेकी प्रथा पुरानी है। मगर पूर्वकालमें वह बहुत गुप्त-रूपसे चलती थी। आधुनिक सभ्यताके इस जमानेमें उसे ऊँचा स्थान मिल गया है और कृत्रिम उपायोंकी रचना भी व्यवस्थित तरीकेसे की गयी है। इस प्रथाको परमार्थका जामा पहनाया गया है। इन उपायोंके हिमायती कहते हैं कि 'भोगेच्छा स्वाभाविक वस्तु है, शायद उसे ईश्वरका वरदान भी कहा जा सकता है। उसे निकाल फेंकना अशक्य है। उसपर संयमका अंकुश रखना कठिन है। अगर संयमके सिवा दूसरा कोई उपाय न ढूँढ़ा जाय तो असंख्य स्त्रियोंके लिये प्रजोत्पत्ति बोझरूप हो जायगी और भोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रजा इतनी बढ़ जायगी कि मनुष्य-जातिके लिये पूरी खुराक ही न मिल सकेगी। इन दो आपत्तियोंको रोकनेके लिये कृत्रिम उपायोंकी योजना करना मनुष्यका धर्म हो जाता है।'

मुझपर इस दलीलका असर नहीं हुआ है। क्योंकि इन उपायोंके द्वारा मनुष्य अनेक दूसरी मुसीबतें मोल ले लेता है। मगर सबसे बड़ा नुकसान तो यह है कि कृत्रिम उपायोंके प्रचारसे संयम-धर्मका लोप हो जानेका भय पैदा होगा। इस रत्नको बेचकर चाहे जैसा तात्कालिक लाभ मिले, तो भी यह सौदा करने योग्य नहीं है।……कठिनाई आत्म-वंचनासे पैदा होती है। इसमें त्यागका आरम्भ विचार-शुद्धिसे नहीं होता, केवल बाह्याचारको रोकनेके निष्फल प्रयत्नसे होता है। विचारकी दृढ़ताके साथ आचारका संयम शुरू हो तो सफलता मिले बिना रह ही नहीं सकती। स्त्री-पुरुषकी जोड़ी विषय-सेवनके लिये हरगिज नहीं बनी है।

नैतिक पतन विनाशका हेतु

संततिके जन्मको मर्यादित करनेकी आवश्यकताके बारेमें दो मत हो ही नहीं सकते। परंतु इसका एकमात्र उपाय है आत्मसंयम या ब्रह्मचर्य, जो कि युगोंसे हमें प्राप्त है। यह रामबाण तथा सर्वोपरि उपाय है और जो इसका सेवन करते हैं, उन्हें लाभ-ही-लाभ होता है। डॉक्टर लोगोंका मानव-जातिपर बड़ा उपकार होगा यदि वे संतति-नियमनके लिये कृत्रिम साधनोंकी तजबीज करनेके बजाय आत्मसंयमके साधन-निर्माण करें।

कृत्रिम साधनोंकी सलाह देना मानो बुराईका हौसला बढ़ाना है। उससे पुरुष और स्त्री दोनों उच्छृंखल हो जाते हैं और इन कृत्रिम साधनोंको जो प्रतिष्ठा दी जा रही है, उससे उस संयमके ह्रासकी गति बढ़े बिना न रहेगी, जो कि लोकमतके कारण हमपर रहता है। कृत्रिम साधनोंके अवलंबनका कुफल होगा नपुंसकता और क्षीणवीर्यता। यह दवा रोगसे भी ज्यादा बदतर साबित हुए बिना न रहेगी।

अपने कर्मके फलको भोगनेसे दुम दबाना दोष है, अनीतिपूर्ण है। जो व्यक्ति जरूरतसे ज्यादा खा लेता है, उसके लिये यही अच्छा है कि उसके पेटमें दर्द हो और उसे लंघन करना पड़े। जबानको काबूमें न रखकर अनाप-शनाप खा लेना और फिर बलपूर्वक या दूसरी दवाइयाँ खाकर उसके नतीजेसे बचना बुरा है। पशुकी तरह विषय-भोगमें डूबे रहकर अपने इस कृत्यके फलसे बचना और भी बुरा है। प्रकृति बड़ी कठोर शासक है। वह अपने कानून-भंगका दण्ड अवश्य प्रदान करती है। केवल नैतिक संयमके द्वारा ही हमें नैतिक फल मिल सकता है। संयमके दूसरे तमाम साधन अपने हेतुके ही विनाशक सिद्ध होंगे।
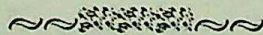
जो मन भज्यो चहै हरि-सुरतरु।
तौ तज बिषय-बिकार, सार भज, अजहूँ जो मैं कहौं सोइ करु॥
सम, संतोष, बिचार बिमल अति, सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु।
काम-क्रोध अरु लोभ-मोह-मद, राग-द्वेष निसेष करि परिहरु॥
श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा-समुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु॥
इहै भगति, बैराग्य-ग्यान यह, हरि-तोषन यह सुभ ब्रत आचरु।
तुलसिदास सिव-मत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥

[विनय-पत्रिका]
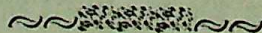
'मैं मंता मन मारि रे'

(डॉ० श्रीराकेशमणिजी त्रिपाठी)

संत कबीर साहबकी यह उक्ति कितनी सार्थक है? 'इस मतवाले मनको मारो। इसकी असत्प्रवृत्तियोंका दमन करो। मनमें निहित क्षुद्र वासनाओंके अणुओंको छोटे-छोटे टुकड़ोंमें बाँटकर पीस डालो। हे साधक! आत्मारूपी सुन्दरी सुहागिनको तभी पूर्ण शान्ति एवं संतोषका अनुभव होगा, जब उसे सहस्रारमें निहित ब्रह्मकी झलक मिलेगी'—

मैं मंता मन मारि रे नान्हा हरि-करि पीसि।
तब सुखु पावै सुन्दरी जब ब्रह्म झलक्कै सीसि॥

(कबीर-वाणी)

सत्य ही तो है। शास्त्रोंमें मनको ही मनुष्योंकी मुक्ति एवं बन्धनका परम हेतु बतलाया गया है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

(मैत्रायणी-उपनिषद्)

यह मन ही सारे संकल्पों-विकल्पोंका मूल है। सम्पूर्ण कामनाओं, इच्छाओं तथा आसक्तियोंका मूल उद्गम-स्थल भी यही है। यही प्राणीको शुभाशुभ कर्मोंके लिये प्रेरित करता है। अतएव इस मनपर नियन्त्रण रखना आत्मकल्याण एवं परमात्मप्राप्तिके लिये अत्यावश्यक है। जबतक मनपर हमारा पूर्ण अधिकार नहीं होगा, तबतक भगवत्प्राप्ति असम्भव है। इसीलिये संतोंने कहा है—

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत॥

सभी भक्ति-साधनाओंमें मनकी वृत्तियोंपर नियन्त्रण करनेकी बार-बार चर्चा आती है। योगदर्शनमें महर्षि पतंजलिने—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (सूत्र १)

—कहकर चित्तकी वृत्तियोंको निरुद्धकर उसे परमात्मतत्त्वमें लगानेकी क्रियाको योग कहा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने मनकी चञ्चलता एवं उसकी दुर्दमनीयताको उद्घाटित करते हुए अर्जुनसे कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

अर्थात् हे महाबाहो! इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह मन अत्यन्त ही चञ्चल एवं कठिनाईसे पकड़में आनेवाला है। इसे भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहणकर अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वशमें किया जा सकता है। अतएव इस चञ्चल मनसे सदैव अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है। जरा-सी भी चूकसे पतन अवश्यम्भावी है। मनकी लगाम जहाँ भी ढीली हुई वहीं शरीररूपी रथ इन्द्रियोंके पतनकारी विषयोंके मार्गकी तरफ तेजीके साथ अग्रसर होने लगता है। कठोपनिषद्में महाभाग यमराजने रथ-रूपकके माध्यमसे इस शाश्वत सत्यका सुन्दर उद्घाटन किया है—

आत्मानः रथिनं विद्धि शरीरः रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाःस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० १। ३। ३-४)

आत्मा रथी है, शरीर एक रथ है, बुद्धि उस रथका सारथी है और मन उसकी लगाम है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियोंके विषय वे मार्ग हैं जिनपर इन्द्रियरूपी घोड़े दौड़ते हैं। मनीषियोंने इन्द्रियों तथा मनसे युक्त आत्माके कार्यव्यापारके भोक्तारूपमें मनुष्यको निरूपित किया है। इस दुर्लभ आत्मतत्त्व एवं परमपदकी प्राप्ति सबके लिये सम्भव नहीं है।

जो दुराचारसे हटा नहीं है, जो मानसिक रूपसे अशान्त है, जो तर्क-वितर्कमें उलझा हुआ है, जो चञ्चल चित्तवाला है, वह इसको प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रज्ञानद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १। २। २४)

इसी प्रकार **'यस्तु विज्ञानवान् भवति'** (कठ० १। ३। ६) आदि वचनोंके अनुसार जिसकी बुद्धिमें विवेककी स्थिति बनी हुई है, जिसका मन पूर्णतया एकाग्र एवं समाहित है, उसकी इन्द्रियाँ उत्तम अश्वोंकी भाँति निरन्तर बुद्धिरूप सारथीके वशमें रहती हैं। परंतु जिसका मन निग्रहरहित है, जो अविवेकी है एवं जो सदा अपवित्र है, उसे अपने लक्ष्यकी प्राप्ति होना कठिन है। परिणामतः वह बार-बार कष्टमय जन्म-मरणरूप संसारमें निरन्तर भटकता

रहता है। अतएव इस मनको साधनेकी आवश्यकता है। जबतक मन प्रभुके प्रेममें पूरी तरह रँगा नहीं, तबतक वस्त्र रँगाने, जटाजूट बढ़ाने और बाह्याडम्बरोंका आश्रय ग्रहण करनेसे कोई लाभ सम्भव नहीं है—

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
कान फड़ाये, धुनी रमाये, जटा बढ़ाये जोगी हो गये बकरा॥

रीतिकालके बहुश्रुत एवं बहुज्ञ कवि बिहारी तो स्पष्ट उद्‌घोषणा कर डालते हैं कि इस कृष्ण-प्रेमके रंगमें रँगे हुए मेरे अनुरागी मनकी स्थिति कोई भी पूरी तरह समझ नहीं पाता। यह ज्यों-ज्यों कृष्णके प्रेमके रंगमें डूबता जाता है, त्यों-त्यों अत्यधिक उजला होता जाता है—

या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों डूबै श्याम रँग त्यों-त्यों उज्वलु होय॥

कैसा विरोधाभास है? श्याम-रंगमें किसी वस्तुके डूबनेपर उस वस्तुका उज्ज्वल हो जाना भगवत्प्रेमकी अलौकिकताका ज्वलन्त उदाहरण है। प्रभु-पदारविन्दोंमें लीन हो जानेके बाद लौकिक तर्क-वितर्कको स्थान कहाँ? लेकिन इस परमैश्वर्य-प्राप्तिके लिये मनकी अहंता, आसक्ति इत्यादि सम्पूर्ण विकारोंका पूर्णतया त्याग आवश्यक है। जबतक 'मैं'-रूप अहंकारकी सत्ता है, तबतक 'ईश्वर' की प्राप्ति असम्भव है—

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नांहि।
सब अँधियारा मिटि गया जब दीपक देखा माँहि॥

(कबीर-ग्रन्थावली)

साँईके रंगमें जब मन डूबकर सराबोर हो गया, तब उसे मुक्ति-सुखके विषयमें सोचनेका अवकाश कहाँ है? भगवत्प्राप्तिकी इस अद्‌भुत स्थितिमें सम्पूर्ण इच्छाएँ, सम्पूर्ण कामनाएँ, सारी आसक्ति, अहंता, माया सब कुछ निःशेष हो जाता है। सम्पूर्ण अस्तित्व अलौकिक आभासे प्रकाशित हो उठता है। प्रभु-प्रेमका यह रंग जीवनके शेष सारे रंगोंसे विलक्षण है। उसका प्रभाव भी अकथ है, उसका स्वाद भी निराला है—

सतगुरु को महाराज मोपै साई रंग डारा।
सबद की चोट लगी मेरे तन में बेध गया तन सारा॥

× × ×

साहब कबीर सरब रँग रँगिया सब रँगसे रँग न्यारा॥

भक्तके साथ भगवान्‌की यह आनन्दक्रीडा ही परम सुख है, परम ध्येयकी चरम सिद्धि है। इस अकथ कहानीका रहस्य वाणीसे उद्‌घाटित हो ही नहीं सकता। आत्मा-परमात्माकी इस आनन्द-लीलाको वही समझ सकता है, जिसका मन विशुद्ध एवं काम-क्रोध-मोहादि षड्‌विकारोंसे पूर्णतया मुक्त है। योग्य संतकी कृपा एवं उनके सदुपदेशसे जिसके ज्ञानचक्षु उद्‌घाटित हो चुके हैं, वह जितेन्द्रिय भक्त इसके अलौकिक रहस्यको हृदयंगम कर सकता है। वस्तुतः भगवान्‌के साथ यह आनन्दमय भावलीला हीं भक्तका परम काम्य है—वह लीला, जिसका कोई आदि, मध्य और अन्त नहीं है।

भक्तकी उत्कण्ठा

चाहता नहीं हूँ धन धाम धरा दासी दास,
चाहता नहीं हूँ रहूँ लीन विषयनमें।
चाहता नहीं हूँ यश, चाहता नहीं हूँ मान,
चाहता नहीं हूँ बैठूँ योगी बन वनमें॥
चाहता नहीं हूँ बन सुभट सुवीर धीर-
रिपुको दिखाऊँ नीचा जीवनके रनमें।
प्राणेश्वर! मेरी अब केवल है चाह यही,
प्रेमसे चढ़ा दूँ प्राण-पुष्प चरणनमें॥

—ईश्वरलाल 'रत्नाकर'

सुगमतासे भगवान्‌का निरन्तर स्मरण-चिन्तन कैसे हो?

(श्रीबनवारीलालजी गोयन्का)

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥

हम बड़ी सरलतासे भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन निरन्तर कर सकते हैं। कैसे? सबसे पहले तो यह बात खूब समझकर करें—भगवान्‌से किसी भी प्रकारका मीठा सम्बन्ध जोड़ लें, जैसे पिताका, पुत्रका, मित्रताका अथवा प्रियतमका।

एक बार मैंने वृन्दावनमें एक संतसे एक बात सुनी थी—उन्होंने कहा—आप लोग दूर-दूरसे यहाँ वृन्दावन आये हैं, यहाँ आकर एक बात अवश्य करें, यहाँके जो बिहारीजी हैं, उनसे अपना कोई एक मीठा-सा सम्बन्ध जोड़कर जायँ, फिर देखियेगा आप अपने देश-गाँव जाकर भले ही उनको भूल जायँ, पर बिहारीजी आपको नहीं भूलेंगे। वे किसी-न-किसी तरह आपको फिर अपने पास वृन्दावन बुला ही लेंगे, आप निहाल हो जायँगे।

एक माताके सात लड़की है। कोई बहुत अमीरके घरमें है, कोई बहुत दूर, बड़ी गरीबी हालतमें रहती है, पर यदि कोई विवाह आदिका अवसर आ जाय तो क्या माता अमीरके घर रहनेवाली लड़कीको बुला ले और बहुत दूर रहनेवाली गरीबको छोड़ दे। नहीं, वह सबको याद करके बुला ही लेती है। वैसे ही हम भगवान्‌रूपी माँकी बन जायँ, फिर हम कैसे भी गये-गुजरे हों एक दिन ऐसा आयेगा कि अपने प्यारे भगवान् हमें किसी-न-किसी बहाने अपने पास बुला ही लेंगे। हमने जब सम्बन्ध बना लिया तो हम चाहे भूल जायँ वे हमें नहीं भूलेंगे।

एक सूरदासजी वृन्दावन-बिहारीजीका दर्शन करने गये। लोगोंने कहा—महाराज, आप दोनों आँखोंसे अंधे हैं, आप यहाँ कैसे आये तो तुरंत सूरदासजीने कहा—आँखें फूटी हैं तो मेरी फूटी हैं, क्या उन बिहारीजीकी फूट गयीं क्या? उन्होंने तो मेरेको देख लिया, बस काम बन गया। असलमें तो उनका देखा हुआ ही काम आयेगा।

अब निरन्तर स्मरण-चिन्तन कैसे हो—इसके लिये हमें व्रजकी लीलाओंको अपने मानस-पटलपर अंकित करना होगा और फिर इस प्रकारकी भावना करनी होगी। यह मेरे कन्हैयाका महल है, जिसमें यशोदा और नन्दबाबाके पास कन्हैया रहता है। छोटे-छोटे ग्वाल-बाल कन्हैयाको वन जानेके लिये बुलाने आये हैं। फिर यशोदा मैया कन्हैयाको लेकर बाहर आ रही हैं और सब बालकोंसे कह रही हैं—यह मेरा लाला बड़ा अटपटा है, इसकी जंगलमें अच्छी तरह सँभाल रखना।

छोटी-छोटी गैयें छोटे-छोटे ग्वाल,
अटपट ह्यो म्हारो मदन गोपाल।

अब गायोंको आगे करके पीछे-पीछे ग्वाल-बालोंके बीच घुँघराले बालोंवाला कन्हैया वंशी बजाता हुआ, खूब मुस्कराता हुआ वनकी ओर जाता है—अब वन आ गया। यमुना मैयासहित वहाँके सभी पेड़-पौधे चिन्मय हैं। कन्हैया अब बैठकर यमुनाजीमें पैर धोता है, कन्हैयाके पैरोंका स्पर्श पाकर यमुना मैया अपनेको धन्य मानती हैं। अब कन्हैया एक कदम्ब-वृक्षके नीचे बने हुए गोल गड्ढेमें एक पैर नीचे लटकाकर और दूसरा पैर ऊपरकी ओर मोड़कर बैठ जाता है तथा ग्वाल-बाल चारों ओरसे घेरकर बैठ जाते हैं। अब कन्हैया अपनी मुरली निकालकर ओठोंपर लगाता है और इतनी मीठी वंशी बजाता है कि वहाँके पेड़-पौधे तथा उनपर बैठे हुए पशु-पक्षी—कोयल आदि सब वंशीकी आवाज सुनकर मुग्ध हो जाते हैं और इतना भाव-विभोर हो जाते हैं कि उनके अश्रुपात होने लगता है।

एक बार कन्हैया थका हुआ था, तब वह मित्रोंके कहनेपर एक वृक्षकी डालपर लेट गया। वह वृक्ष खूब घना था, जिसकी शाखाएँ बहुत मोटी-मोटी और चारों तरफ फैली हुई थीं।

इतनेमें दूसरे सखा आये, क्योंकि कन्हैया बिना उन्हें रस नहीं आता, तब वे पुकारते हैं—अरे लाला, ओ लाल, यहाँ आकर सो क्यों गया है? हम क्या तुम्हारे नौकर हैं जो धूपमें चरती हुई तुम्हारी गायोंकी देख-भाल करें! जल्दी उठो, नहीं तो हम अभी तुम्हारी गायोंको अलग करते हैं। इसी भावमें सूरदासजीने कहा है—

'न्यारी करो हरि आपनि गैया।'

इतनेमें कन्हैया मुस्कराता हुआ उठता है। सब ग्वाल-बालोंके बीच आकर खेलने लगता है। इस प्रकार हम एक-एक चीजोंका चिन्तन करें तो स्वाभाविक मन लग

जायगा। फिर भी यदि कन्हैया न दीखे तो यमुना-तटपर वृक्षके नीचे बैठकर पुनः ऐसी भावना करे—

कन्हैया बस आनेहीवाला है, देखो-देखो, सुनो वह धीमी वंशीकी ध्वनि सुनायी दे रही है, देखो-देखो, रास्तेकी गुलालरूपी धूलि उड़ रही है। कन्हैया जब चलता है तो रास्तेकी धूलि गुलाबी रंगकी गुलाल-जैसी बन जाती है। ऐसे—बैठे-बैठे बार-बार कन्हैयाके आनेकी बाट जोहे—यह बाट जोहना भी ध्यान-चिन्तन है। ऐसी व्रज-सम्बन्धी पेड़-पौधे, यमुना और धूलि-कणका भी चिन्तन करेंगे तो वह सारा श्रीकृष्ण-चिन्तनसे कम नहीं है। ऐसे बड़ी सुगमतासे श्रीकृष्णका चिन्तन हो सकता है। हम करके देखें पहले-पहल कुछ धुँधला-सा दीखेगा, हो सकता है पुराने संस्कार-वश मन इधर-उधर भागे भी, पर हम निश्चय पक्का करके चिन्तन-स्मरणकी भावना चालू रखें तो निश्चय मानिये एक-न-एक दिन कन्हैयाकी कृपासे सब आसानीसे दीखने लगेगा।

फिर आगे जाकर कन्हैया बिना रहा नहीं जायगा। अश्रुपात होने लगेगा। सारे शरीरमें कम्पन होने लगेगा—वियोगके मारे प्राण व्याकुल हो जायँगे, तब कन्हैया साक्षात् प्रकट होकर आपको अपने सखाओंमें भर्ती कर नित्य अपने पास रखेगा—हमारा मानव-जीवन धन्य हो जायगा।
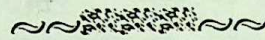
प्रतिशोध

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'बेटा, कल रातमें तुझे एक विषैला सर्प डस लेगा और उसके काटनेसे तेरी अकाल-मृत्यु हो जायगी। मौतके लिये तैयार हो जा।'

'ओह! मे··री मृ···त्यु! यौवनके प्रभातमें ही, मौत··· अकाल-मृत्यु····मैंने दुनियाका आनन्द भी नहीं लिया और मौतकी कुटिल छाया मँडराने लगी है। यह तो बड़ी बुरी खबर है! हाय, मैं क्या करूँ? मौतसे कैसे रक्षा हो?····पर मुझे डसनेवाला वह विकराल काल विषैला सर्प रहता कहाँ है ?'

'राजन्! वह तुम्हारी खोजमें है। तुम्हारे इस गगनचुम्बी राजमहलके सामने लगे उस पुराने नीमके वृक्षकी जड़में उसने अपनी बाँबी बना रखी है। रात्रिमें वह इधर-उधर निकलकर तुम्हें ढूँढ़ता फिरता है। अत्यन्त विषैला नाग है वह! सावधान!!'

'किंतु समझमें नहीं आता, आखिर मुझे मारनेपर वह क्यों तुला हुआ है?' क्या बिगाड़ा है मैंने उसका, आश्चर्यसे राजाने प्रश्न किया। उसका समग्र शरीर भयसे काँप रहा था। वह पसीनेसे लथपथ था।

'पूर्व जन्मकी शत्रुताका बदला लेनेके लिये····'। उत्तर मिला।

राजा सोते-सोते एकाएक डरकर जाग उठा।

ऊपर लिखा यह सब स्वप्न था। राजा उस भयानक स्वप्नके स्मरणमात्रसे बुरी तरह भयभीत हो उठे। उन्हें मालूम था कि प्रातःकालीन स्वप्न सत्य होते हैं। उनमें मनुष्यके भावी जीवनकी घटनाएँ प्रतिबिम्बित हो उठती हैं। इन सपनोंके दर्पणमें मनुष्य आनेवाला जीवन देख लेता है।

अब राजा उस प्रातःकालीन स्वप्नके नतीजोंपर विचार करने लगे—'तो क्या सचमुच ही मेरे भाग्यमें उस विषैले सर्पके काटनेसे मृत्यु लिखी है! क्या यों ही एकाएक इस स्वर्णिम जीवनका अन्त हो जायगा? क्या भावी विपत्तिसे बचनेका कुछ उपाय हो सकता है? क्या शत्रुताको जीतनेका कोई हथियार मानवके पास है?' अनेक प्रश्न उनके मस्तिष्कमें चक्कर काटते रहे। उन्हें अनेक निदान सूझे। नये-नये विचार और प्राचीन विचारकोंके गूढ़ हल उनके मानस-क्षितिजपर उदित होते रहे। वे लगातार आत्मनिरीक्षणमें डूबे हुए थे। पुरानी स्मृतियाँ निखर रही थीं। धर्मशास्त्रोंमें पढ़ा एक मन्त्र उन्हें स्मरण हो आया—

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥

(ऋग्वेद १। ११३। १६)

—'अब अज्ञानरूपी अन्धकार समाप्त हो रहा है, अतः नवजीवनके प्रकाशमें ऊपर उठनेका यत्न करो। देखो, तुम्हारे चारों ओर क्या हो रहा है। ज्ञानरूपी सूर्य तुम्हारे चारों ओर अपना दिव्य प्रकाश फैला रहा है। अब इस शुभ बेलामें हम भी अपनी प्रगतिका मार्ग प्रशस्त करें। हम अपनी उन्नति करें। अब हम धर्मानुष्ठान करेंगे और धर्ममार्गपर चलकर जीवनमें यश प्राप्त करेंगे।'

'कितने आशाप्रद विचार हैं। मुझे भी आशावान् होकर समस्याका विवेकपूर्ण समाधान ढूँढ़ना चाहिये। हमारे प्राचीन धर्मशास्त्रोंमें सब समस्याओंका निदान मिलता है। हे प्रभो! वह कौन-सा मार्ग है, जिसपर चलकर मैं मौतसे बच सकूँ।' राजा सोचता रहा। उसकी स्मृति सजग होने लगी।

फिर एकाएक विद्युत्‌की चमकके समान उसकी स्मृतिमें यह आर्षोपदेश कौंध उठा—

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान् नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥

(ऋग्वेद ४। ५७। ३)

—'दैनिक जीवनमें दूसरोंके साथ वैसा ही उत्तम व्यवहार करें, जैसी हम दूसरोंसे अपेक्षा करते हैं। उत्तम भावों, विचारों, व्यवहारों और पदार्थोंका विनिमय ही सच्ची नीति है। इस सद्व्यवहारमें ही सामाजिक जीवनकी सारी सफलता निहित है।'

राजा इस सूत्रपर विचार करते रहे—'बस, प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार ही मेरी नीति होनी चाहिये।' उन्होंने निर्णय कर लिया—'मुझे मधुर व्यवहारद्वारा ही शत्रुको जीतना चाहिये। सद्व्यवहार ही सब प्रकारकी शत्रुता, द्वेष और हिंसावृत्तिका अन्त कर सकता है।'

'मैं अपनी ओरसे मधुर व्यवहारद्वारा उस विषैले सर्पका हृदय परिवर्तन करूँगा।'—राजाने अपने इस संकल्पको कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने राजमहलके समीप स्थित उस वृक्षका निरीक्षण किया। जहाँ उस सर्पके रहनेकी बात स्वप्नमें कही गयी थी, वहाँ उन्हें साँपकी बाँबी दृष्टिगोचर हो गयी। अब उन्होंने वहाँसे राजमहलतकके मार्गको साफ करवाया, जिससे राजमहलतक पहुँचनेमें साँपका शरीर रगड़से छिल न जाय। फिर मार्गपर कोमल पुष्प बिछवाये। समीपकी दुर्गन्ध दूर करनेके लिये सुगन्धित जल छिड़कवाया, जिससे उसकी मदभरी सुगन्धसे विषैला सर्प अपनी ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा इत्यादि दुष्प्रवृत्तियोंको भूल जाय। उसके जलपानके लिये राजसी चाँदीके पात्रोंमें मधुर दूध भरवाकर मार्गमें रखवा दिये, जिससे वह अपनी क्षुधाका निवारण कर सके। ये सद्व्यवहारके प्रारम्भिक सोपान थे।

'कोई व्यक्ति आनेवाले सर्पको व्यर्थ ही परेशान न करे, उसे न छेड़े, न लाठी या पत्थरसे प्रहार ही करे।' राजाने अपने नौकरोंको आदेश दिया।

इस प्रकार अपने शत्रुको हर प्रकारका आराम, सुख, भोजन, दुग्धपान इत्यादिकी सुविधाएँ देकर राजा निश्चिन्त हो गये कि इस सद्व्यवहारका उसके मन, बुद्धि और व्यवहारपर अवश्य प्रभाव पड़ेगा—उसका हृदय अवश्य परिवर्तित होगा। जिस व्यक्तिका व्यवहार मधुर होता है, उसका कोई विरोध नहीं करता। शत्रु भी उसके मित्र हो जाते हैं। वह सबका प्रिय पात्र बन जाता है। व्यवहार-रूपी कारणसे ही शत्रु एवं मित्र-रूपी कार्यकी उत्पत्ति होती है—

कारणादेव जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।

(गरुडपुराण ११४। १)

मध्य-रात्रिकी शान्त, सुमधुर बेलामें प्रतिशोधकी अग्निमें जलता हुआ वह सर्प अपनी बाँबीसे फुफकारता हुआ बाहर निकला। राजासे अपने पुराने वैर-भावका बदला निकालनेका उसे यह अनुकूल अवसर जान पड़ा। उसने सोचा था कि इस समय राजा प्रगाढ़ निद्रामें निमग्न होकर सो रहा होगा, उसे चुपचाप डसकर समाप्त कर दूँगा। इस प्रकार अपनी पुरानी शत्रुताका बदला निकाल लूँगा।

किंतु बाहर आनेपर सुरभित वातावरणने उसकी हिंसक वृत्तियोंमें क्रमशः परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया। वह इधर-उधरकी स्वच्छता एवं सुख-सुविधाओंसे प्रभावित होता गया। इससे उसका हृदय परिवर्तित होने लगा। मार्गमें कुछ दूर और आगे जानेपर उसने चाँदीके राजसी पात्रमें मीठा दूध पिया। अब वह आरामसे पुष्पोंसे सुसज्जित, सुगन्धित मार्गपर फिसलने लगा। उसे फूलोंपर रेंगनेमें आनन्द आने लगा। वातावरणकी मदभरी सुगन्धिने उसे मस्त कर दिया।

कोमल फूलोंके बिछौनोंपर आनन्द लेता, मीठे दूधसे तृप्त होता, सुगन्धसे मस्त होकर वह धीरे-धीरे मानसिक दृष्टिसे बदलने लगा। वातावरणका प्रभाव मनपर तेजीसे पड़ता है। पवित्र वातावरणमें निवास कर दुष्ट भी अपने अवगुण त्यागने लगता है और उसके अंदर सोये हुए सद्गुण जागने लगते हैं। अपने स्वागतकी इस सुव्यवस्था और सद्व्यवहारकी इस दिव्य झलकसे सर्पका हिंसक स्वभाव बदलने लगा। ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा, प्रतिशोध जैसे दुष्ट भावोंका स्थान शान्ति, दया, प्रेम, संतोष और सहनशीलता आदि पवित्र भावनाओंने ग्रहण कर लिया। वह राजमहलकी ओर आगे बढ़ता हुआ, इस सज्जनोचित सत्कारकी व्यवस्थासे चमत्कृत होता गया। धीरे-धीरे उसके प्रतिशोधका तूफान शान्त हो गया, क्रोधके स्थानपर संतोष और प्रेम-भाव आ

गये। इतनेमें राजमहलका द्वार भी आ गया।

वहाँका दृश्य देखकर वह और भी प्रभावित हुआ। राजप्रहरी सशस्त्र तैयार खड़े थे। हर वस्तु यथास्थिति सज्जित थी। वह प्राय: साधारण व्यक्तिसे ही डर जाता था। द्वारपालोंद्वारा जानका भी डर रहता था।

किंतु यहाँ आज किसीने भी उस सर्पको न मारा, न पीटा, न दुत्कारा, न अपशब्द कहकर उसके आत्मसम्मानको ही ठेस पहुँचायी। सर्वत्र सबके द्वारा यहाँतक कि सुरक्षा-व्यवस्थाके लिये तैनात राजप्रहरियोंद्वारा भी सद्व्यवहार, शिष्टता, नम्रता और मृदुलताका यह सदाचरण देखकर वह सर्प इस निष्कर्षपर पहुँचा कि वास्तवमें राजा धर्मात्मा है। क्योंकि शिष्टाचार धर्मका एक अंग है। 'जहाँ धर्म है, वहीं जय है, विजय है, शान्ति है, सन्मति है।' अत: ऐसे साधु-स्वभाव राजाको डसकर मृत्युके मुँहमें पहुँचा देना उसके लिये असम्भव हो गया। जो सज्जनताका व्यवहार करे, उसके साथ हमें भी सज्जनताका ही व्यवहार करना उचित है। जिसके व्यवहार, क्रिया और सम्भाषणमें मधुरता होती है, उन्हें सभी प्यार करते हैं। संसारमें शुभ कर्म तथा उपकार वे ही करते हैं, जिनका स्वभाव मधुर होता है। जिस मनुष्यकी क्रियाएँ और आचार-व्यवहार शिष्ट होते हैं, उसका कोई विरोध नहीं करता। जो किसीसे द्वेष नहीं करता, उसे किसी प्रकारका भय नहीं होता। सद्व्यवहार करनेवालोंको सुरक्षा, संतोष और दूसरोंका सहज सहयोग अनायास ही मिलता रहता है।

सर्प उस राजाको अभीतक अपना शत्रु समझता आया था, पर शत्रुका ऐसा सद्व्यवहार देखकर वह असमंजसमें पड़ गया कि उसे काटूँ या न काटूँ? धर्मात्माके शरीरको हानि पहुँचाना पाप है। अब उसके मनमें यही द्वन्द्व चलता रहा कि राजाके दुष्कर्मका प्रतिशोध लूँ या न लूँ? अबतक सद्वृत्तियोंने सर्पको पूर्णरूपसे अपने वशमें कर लिया था। उसका बदला लेनेका हिंसात्मक निश्चय ढीला पड़ते-पड़ते लुप्तप्राय हो गया था। राजाके सद्व्यवहार-सद्भावने उसे अभिभूत कर लिया था। अब उसमें दया, प्रेम, करुणा आदि सद्वृत्तियाँ जग उठी थीं।

सर्प अब राजाके सम्मुख पहुँचा। वह बहुत देरसे उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। शुभ्र सात्त्विक सरस वातावरणमें भाव-विभोर होनेके कारण आनेमें उसे देर हो गयी थी। राजाने विनयशील मुद्रा और मधुर शिष्ट-स्वरमें सर्पका स्वागत किया।

'**अतिथिदेवो भव!**' आप हमारे लिये देवता हैं। सर्प-देवता! आपका स्वागत है। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?

सर्प मधुर वाणी और शिष्ट व्यवहारसे प्रेम-पुलकित हो उठा! उसकी मनोवृत्तियाँ अबतक बिलकुल बदल चुकी थीं।

वह राजासे बोला—'हे राजन्! मैं अपने पूर्वजन्मका बदला लेनेके लिये आपको डसकर आपका जीवन समाप्त करना चाहता था। आज आपके नश्वर जीवनका अन्तिम दिन था, किंतु·····।'

'पर आप कहते-कहते क्यों रुक गये सर्पदेवता!'

'आपके सौजन्य, शिष्टता और सद्व्यवहारने मुझे परास्त कर दिया है। राजन्! अब मैं बदला लेनेकी बात भूल गया हूँ और अन्तत: इस निर्णयपर पहुँचा हूँ कि जो सन्मार्गपर चले, सबका मङ्गल करे, धर्मपथपर चलकर लोकसेवा करे, वह किसी भी प्रकार मारे जाने योग्य नहीं है।'

'ओह! मैं धन्य हूँ, जो आप मेरे लिये ऐसा विचार मनमें रखते हैं। अब मेरे लिये क्या आज्ञा है?'

'समझदार पुरुषोंका यह कर्तव्य है कि वे स्वयं श्रेष्ठ व्यवहार और उत्तम कर्म करें और दूसरोंसे भी करायें। इस सज्जनोचित व्यवहारसे पुराने पाप छूटते हैं, दोषोंसे निवृत्ति होती है और आत्मबल, विवेक तथा आयुमें वृद्धि होती है। आपने इस जन्ममें उत्तम कार्योंद्वारा अपने समस्त पुराने पाप धो डाले हैं। देर-सबेर कभी भी धर्मपथपर चलनेवाला व्यक्ति पापमुक्त हो ही जाता है। अब मैं आपका मित्र हूँ···।'

'अहा! आप मेरे मित्र हैं।' प्रसन्न होकर राजाने कहा, 'यह तो मेरा सौभाग्य है। आप-जैसे मित्रसे मुझे सदा लाभ ही मिलता रहेगा। आपद्वारा सदैव मेरा उपकार होता रहेगा। मित्रताका प्रतीक कोई उपहार मुझे दीजिये सर्पराज!'

'मित्र, मैं तुम्हें एक बहुमूल्य मणि देता हूँ'—ऐसा कहकर सर्पने राजाको एक सुन्दर मणि दी—'इस मणिकी सहायतासे आप अपनी मनोवाञ्छा पूर्ण कर सकेंगे। यह आपके सद्व्यवहारका उपहार है। सद्व्यवहारके अचूक अस्त्रसे आपने मुझे परास्त कर दिया है।'

मणि राजाके पाँवोंके पास छोड़कर सर्प वापस लौट गया!

गीता-तत्त्व-चिन्तन

साधक-संजीवनी-परिशिष्ट

[सातवाँ अध्याय]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ६०७ से आगे]

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ ६॥

सर्वाणि=सम्पूर्ण
भूतानि=प्राणियोंके (उत्पन्न होनेमें)
एतद्योनीनि=अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियोंका संयोग ही कारण है—
इति=ऐसा
उपधारय=तुम समझो।
अहम्=मैं
कृत्स्नस्य=सम्पूर्ण
जगतः=जगत्का
प्रभवः=प्रभव
तथा=तथा
प्रलयः=प्रलय हूँ।

विशेष भाव—जो न खुदको जान सके और न दूसरेको जान सके, वह 'अपरा प्रकृति' है। जो खुदको भी जान सके और दूसरेको भी जान सके, वह 'परा प्रकृति' है। इन अपरा और परा—दोनोंके माने हुए संयोगसे ही सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणी पैदा होते हैं*।

मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ—इसका तात्पर्य है कि इस स्थावर-जंगमरूप जगत्को मैं ही उत्पन्न करनेवाला हूँ और मैं ही उत्पन्न होनेवाला हूँ; मैं ही नाश करनेवाला हूँ और मैं ही नष्ट होनेवाला हूँ; क्योंकि मेरे सिवाय संसारका दूसरा कोई भी कारण तथा कार्य नहीं है (गीता ७। ७) अर्थात् मैं ही इसका निमित्त तथा उपादान कारण हूँ। अतः जगत्-रूपसे मैं ही हूँ। नवें अध्यायके उन्नीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने कहा है—'**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**' अर्थात् 'अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।' श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
(११। २८। ६)

'जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। जो कुछ सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसके निमित्त कारण भी वे ही हैं और उपादान कारण भी वे ही हैं अर्थात् वे ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।'

तैत्तिरीयोपनिषद्में आया है कि अन्न भी मैं ही हूँ और अन्नको खानेवाला भी मैं ही हूँ—'**अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।**' (३। १०। ६)

तात्पर्य यह हुआ कि अपरा और परा प्रकृति तथा उनके संयोगसे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण प्राणी—ये सब-के-सब एक भगवान् ही हैं। कारण भी भगवान् हैं और कार्य भी!

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

इसलिये—

धनञ्जय=हे धनञ्जय!
मत्तः=मेरे
परतरम्=सिवाय (इस जगत्का)
अन्यत्=दूसरा कोई
किञ्चित्=किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य)
न=नहीं
अस्ति=है।
मणिगणाः=(जैसे सूतकी) मणियाँ
सूत्रे=सूतके धागेमें (पिरोयी हुई होती हैं,)
इव=ऐसे ही
इदम्=यह
सर्वम्=सम्पूर्ण जगत्
मयि=मेरेमें (ही)
प्रोतम्=ओतप्रोत है।

विशेष भाव—जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसे ही संसारमें भगवान्के सिवाय और कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मणिरूप अपरा प्रकृति और धागारूप परा प्रकृति—दोनोंमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं। मणियाँ बननेमें अपरा प्रकृतिकी मुख्यता है और धागा बननेमें परा प्रकृतिकी मुख्यता है।

अपरा और पराका भेद 'अपरा' प्रकृतिके कारण ही है;

---

* यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ (गीता १३। २६)

क्योंकि अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही जीव है (गीता ७। ५)। अतः अपरा प्रकृति जगत्में भी है और जीवमें भी। परंतु परमात्मामें न अपरा है, न परा है; न जगत् है, न जीव है। तात्पर्य है कि वास्तवमें न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न अपरा है, न परा है, प्रत्युत एक परमात्मा ही हैं। इसी बातका भगवान्ने आगे बारहवें श्लोकतक वर्णन किया है। इस श्लोकमें आये **'मत्तः'** पदसे आरम्भ करके बारहवें श्लोकके **'मत्त एव'** पदोंतक भगवान्ने यही बात बतायी है कि मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है। यहाँ **'मत्तः'** पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंका मालिक है।

कारण ही कार्यमें परिणत होता है; जैसे, रुई ही धागा बनती है, बीज ही वृक्ष बनता है। अतः सबके परम कारण भगवान् होनेसे सब रूपोंमें भगवान् ही हैं—**'वासुदेवः सर्वम्।'** अतः भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताको देखना भूल है।

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'—भगवान्से 'पर' भी कोई नहीं है, फिर 'परतर' कैसे होगा? उपनिषद्में आया है—

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठ० १। ३। ११)

'पुरुषसे पर कुछ भी नहीं है। वही सबकी परम अवधि और वही परम गति है।'

अर्जुनने भी कहा है—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।

(गीता ११। ४३)

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥८॥

कौन्तेय=हे कुन्तीनन्दन!
अप्सु=जलोंमें
रसः=रस
अहम्=मैं हूँ,
शशिसूर्ययोः=चन्द्रमा और सूर्यमें
प्रभा=प्रभा (प्रकाश)
अस्मि=मैं हूँ,
सर्ववेदेषु=सम्पूर्ण वेदोंमें
प्रणवः=प्रणव (ओंकार),
खे=आकाशमें
शब्दः=शब्द (और)
नृषु=मनुष्योंमें
पौरुषम्=पुरुषार्थ (मैं हूँ)।

विशेष भाव—छठे-सातवें श्लोकोंमें भगवान्ने अपनेको सम्पूर्ण जगत्का कारण बताया है। इसलिये अब भगवान् आठवें श्लोकसे बारहवें श्लोकतक 'कारण'-रूपसे अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हैं। यद्यपि कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है, पर स्वतन्त्र सत्ता कारणकी ही होती है अर्थात् कारणके बिना कार्यकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। जैसे, मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य है। घड़ेमें जल भरा जा सकता है, पर यह विशेषता मिट्टीमें नहीं है। परंतु मिट्टीके बिना घड़ेकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है। घड़ेकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक नहीं होते अर्थात् कारण (मिट्टी) और कार्य (घड़ा)-की तो एक सत्ता होती है, पर कर्ता (कुम्हार)-की अलग (स्वतन्त्र) सत्ता होती है। परंतु सृष्टिकी रचनामें कर्ता, कारण और कार्य—तीनों एक भगवान् ही होते हैं। अतः रस भी भगवान् हैं और जल भी भगवान् हैं। प्रभा भी भगवान् हैं और चन्द्र-सूर्य भी भगवान् हैं। ओंकार भी भगवान् हैं और वेद भी भगवान् हैं। शब्द भी भगवान् हैं और आकाश भी भगवान् हैं। पुरुषार्थ भी भगवान् हैं और मनुष्य भी भगवान् हैं।

[मिट्टी तो घड़ेके रूपमें परिणत होती है, पर परमात्मा संसारके रूपमें परिणत नहीं होते। कारण कि परिणत होनेवाली वस्तु विकारी होती है, जबकि परमात्मा निर्विकार हैं। अतः जैसे अँधेरेमें रस्सी ही साँपके रूपमें दीखती है अथवा साँप ही कुण्डली-रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा संसाररूपमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मामें कार्य-कारणका भेद नहीं है; क्योंकि उनके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। कार्य-कारणका भेद मनुष्योंकी दृष्टिमें ही है। इसलिये मनुष्योंको समझानेके लिये अन्य वस्तुकी कुछ-न-कुछ सत्ता मानकर ही परमात्माका वर्णन, विवेचन, विचार, चिन्तन, प्रश्नोत्तर आदि किया जाता है—**'नोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।'**]

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥९॥

पृथिव्याम्=पृथ्वीमें
पुण्यः=पवित्र
गन्धः=गन्ध
च=और
विभावसौ=अग्निमें
तेजः=तेज
अस्मि=मैं हूँ

च=तथा
सर्वभूतेषु=सम्पूर्ण प्राणियोंमें
जीवनम्=जीवनीशक्ति
च=और
तपस्विषु=तपस्वियोंमें
तपः=तपस्या
अस्मि=मैं हूँ।

विशेष भाव—सृष्टिकी रचनामें भगवान् ही कर्ता हैं, भगवान् ही कारण हैं और भगवान् ही कार्य हैं। अतः गन्ध और पृथ्वी, तेज और अग्नि, जीवनीशक्ति और प्राणी, तपस्या और तपस्वी—ये सब-के-सब (कारण तथा कार्य) एक भगवान् ही हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌की शक्ति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न हैं। अतः परा-अपराके संयोगसे पैदा होनेवाली सम्पूर्ण सृष्टि भगवत्स्वरूप ही है।

'पुण्यो गन्धः'—गन्ध-तन्मात्रा कारण है और पृथ्वी उसका कार्य है। गन्धको पवित्र कहनेका तात्पर्य है कि कारण (तन्मात्रा) सदा पवित्र ही होता है। अपवित्रता कार्यमें विकृति होनेसे ही आती है। अतः जैसे गन्ध-तन्मात्रा पवित्र है, ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप और रस-तन्मात्रा भी पवित्र समझनी चाहिये।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ १०॥

पार्थ=हे पृथानन्दन!
सर्वभूतानाम्=सम्पूर्ण प्राणियोंका
सनातनम्=अनादि
बीजम्=बीज
माम्=मुझे

विद्धि=जान।
बुद्धिमताम्=बुद्धिमानोंमें
बुद्धिः=बुद्धि (और)
तेजस्विनाम्=तेजस्वियोंमें
तेजः=तेज
अहम्=मैं
अस्मि=हूँ।

विशेष भाव—अपनेको सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज कहनेका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियोंके रूपमें मैं ही हूँ। सृष्टि अनन्त है। अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त जीव हैं। परंतु उन अनन्त जीवोंका बीज (परमात्मा) एक ही है। अनन्त सृष्टि पैदा होनेपर भी उस बीजमें कोई फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि वह अव्यय है—**'बीजमव्ययम्'** (गीता ९। १८)। उस एक ही बीजसे अनेक प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न होती है*। बीजको कितनी ही सूक्ष्म दृष्टिसे देखें, उसमें फल-फूल-पत्ते आदि नहीं दीखेंगे; क्योंकि वे उस बीजमें कारणरूपसे विद्यमान हैं। उस बीजसे पैदा होनेवाले वृक्षके दो पत्ते भी आपसमें नहीं मिलते—यह अनेकता भी उस एक बीजमें ही रहती है।

सृष्टिकी एक-एक वस्तुमें अनेक भेद हैं। विभिन्न देशोंमें मनुष्योंकी अनेक जातियाँ हैं। उनमें भी इतना भेद है कि दो मनुष्योंके अँगूठेकी रेखाएँ भी परस्पर नहीं मिलतीं। उनके रूप, स्वभाव, रुचि, प्रकृति, मान्यता, भाव आदि भी परस्पर नहीं मिलते। गाय, भैंस, भेड़, बकरी, घोड़ा, ऊँट, कुत्ता आदिकी अनेक जातियाँ हैं और उनकी एक-एक जातिमें भी अनेक भेद हैं। वृक्षोंमें भी एक-एक वृक्षकी अनेक जातियाँ होती हैं। एक-एक विद्याको देखें तो उसमें इतने भेद हैं कि उनका अन्त नहीं आता। मूल रंग तीन हैं, पर उनके मिश्रणसे अनेक रंग बन जाते हैं। उनमें भी एक-एक रंगमें इतने भेद हैं कि दो व्यक्तियोंको भी एक रंग समानरूपसे नहीं दीखता। इस प्रकार सृष्टिमें एक समान दीखनेवाली दो चीजें भी वास्तवमें समान नहीं होतीं। इतनी अनेकता होनेपर भी सृष्टिका बीज एक ही है। तात्पर्य है कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं और अनेक रूपोंमें प्रकट होनेपर भी एक ही रहते हैं।†

भगवान् देश, काल आदि सभी दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जब भगवान्‌की बनायी हुई सृष्टिका भी अन्त नहीं आ

---

* यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ (गीता १०। ३९)

† प्राणियोंमें अनेकता होनेपर भी उनमें परस्पर प्रेमकी एकता होनी चाहिये। जैसे काँटा पैरमें गड़ता है, पर आँसू नेत्रोंमें आते हैं, ऐसा ही भाव सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहना चाहिये— 'सर्वभूतहिते रताः' (गीता ५। २५, १२। ४)। एकमात्र प्रेम ही ऐसी चीज है, जिसमें कोई भेद नहीं रहता। प्रेमका भेद नहीं कर सकते। प्रेममें सब एक हो जाते हैं। ज्ञानमें तत्त्वभेद तो नहीं रहता, पर मतभेद रहता है। प्रेममें मतभेद भी नहीं रहता। अतः प्रेमसे आगे कुछ भी नहीं है। प्रेमसे त्रिलोकीनाथ भगवान् भी वशमें हो जाते हैं।

सकता, तो फिर भगवान्‌का अन्त आ ही कैसे सकता है? आजतक भगवान्‌के विषयमें जो कुछ सोचा गया है, जो कुछ कहा गया है, जो कुछ लिखा गया है, जो कुछ माना गया है, वह पूरा-का-पूरा मिलकर भी अधूरा है। इतना ही नहीं, भगवान् भी अपने विषयमें पूरी बात नहीं कह सकते, अगर कह दें तो अनन्त कैसे रहेंगे?

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ ११॥

भरतर्षभ=हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!
बलवताम्=बलवानोंमें
कामरागविवर्जितम्=काम और रागसे रहित
बलम्=बल
अहम्=मैं हूँ
च=और
भूतेषु=प्राणियोंमें
धर्माविरुद्धः=धर्मसे अविरुद्ध (धर्मयुक्त)
कामः=काम
अस्मि=मैं हूँ।

विशेष भाव—जंगम सृष्टि मात्र कामसे पैदा होती है। अतः जो काम धर्मसे विरुद्ध नहीं है, मर्यादाके अनुसार है, वह काम भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् पहले कह चुके हैं—'**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति**' (७। ७) और आगे भी कहेंगे—'**ये चैव सात्त्विका भावा०**' (७। १२), '**वासुदेवः सर्वम्**' (७। १९)। अतः जैसे धर्मयुक्त काम भगवान्‌का स्वरूप है, ऐसे ही धर्मविरुद्ध काम भी भगवान्‌से अलग नहीं है। जो धर्मविरुद्ध कामका आचरण करते हैं, उनको नरकरूपसे भगवान् मिलते हैं; क्योंकि नरक भी भगवान् ही हैं! परंतु गीताका उद्देश्य मनुष्यको नरकोंमें अथवा जन्म-मरणमें भेजना नहीं है, प्रत्युत उसका कल्याण करना है। उद्देश्य सदा कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दुःखका नहीं। दुःख कोई भी नहीं चाहता। अर्जुनने भी कल्याणकी बात पूछी है*। उदाहरणार्थ, शब्द अच्छे भी होते हैं और बुरे भी, पर व्याकरणमें अच्छे शब्दोंपर ही विचार किया जाता है; क्योंकि व्याकरण आदि भी मनुष्यके उद्धारके लिये हैं। [क्रमशः]

साधनोपयोगी पत्र

(१)

जनसेवा या स्वार्थसेवा

आपका कृपापत्र मिला। वास्तवमें आजकलके जगत्‌में स्वार्थपरता बहुत अधिक बढ़ गयी है। देशसेवा, समाजसेवा, धर्मसेवा, भगवत्सेवा और निष्काम प्रेम आदि किसी भी नामपर आजका मनुष्य प्रायः अपने व्यक्तिगत प्रयोजनको ही मुख्यरूपसे सामने रखता है। इसीलिये सत्यानुरागके बदले मिथ्यानुराग बढ़ चला है। अधिकारी हों या नेता, व्यापारी हों या मजदूर, जमींदार हों या किसान सभीकी अपनी ही ओर दृष्टि है। सभी लेना चाहते हैं, देना कोई नहीं चाहता। सुखपूर्वक देना वहीं सम्भव होता है, जहाँ प्रेम होता है। प्रेम ही नीच स्वार्थका नाश करता है। प्रेम वास्तवमें होता है प्रेमके लिये ही। प्रेमका प्रयत्न होनेपर भी जहाँ वस्तुतः व्यक्तिगत प्रयोजनकी प्रधानता होती है, वहाँ प्रेमका प्रकाश नहीं होता। आज प्रायः सभी जगह अभिनय है; सच्चा अनुराग नहीं है। इसीलिये जो कुछ होता है, दिखावेके लिये होता है, अन्तरात्मासे नहीं।

जो देशप्रेमी हैं, जिनका हृदय देशकी दुर्दशापर रोता है, वे जिस-किसी भी उपायसे देशका कल्याण चाहेंगे, वे यह क्यों चाहेंगे कि जनताको अपनी ओर खींचकर हम उसका नेतृत्व करें। सच्चा पुरुष किसी भी भय या प्रलोभनसे अपने सत्य-पथसे डिग नहीं सकता। परंतु जो प्रलोभनमें पड़कर ही किसी तरहका स्वाँग बनाते हैं, उनसे किसी भी क्षेत्रमें वास्तविक कल्याण-कार्य नहीं हो सकता। कभी-कभी श्मशान-वैराग्यकी भाँति मनमें सचमुच ही जनसेवाकी इच्छा हुआ करती है और उस समय जनसेवाके लिये व्यक्तिगत रूपसे भी कर्मक्षेत्रमें उतरना उत्तम है; परंतु केवल नेता बननेकी इच्छासे जनताको जिस-किसी मार्गमें ढकेल

*'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २। ७)। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ (गीता ३। २)। यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ (गीता ५। १)

देना नीच स्वार्थ ही नहीं है वरं पाप भी है। जो सच्चे जनसेवक होते हैं, वे न तो मिथ्या प्रचार करते हैं, न किसी भिन्न मत रखनेवालेके प्रति जहर उगलते हैं, न अनुचितरूपसे—भय या लोभ देकर—किसीका मुख बंद करना चाहते हैं, न दूसरेकी युक्तियोंको सुनने और उनपर विचार करनेमें आनाकानी करते हैं और न छल-प्रपञ्चका आश्रय लेकर अपने नेतापनके स्वाँगको ही बनाये रखना चाहते हैं। जो लोग ऐसा करते हैं, वे जनसेवक नहीं हैं, वे यथार्थमें स्वार्थके गुलाम हैं।

उद्देश्य कितना ही ऊँचा हो, पर मनुष्य जबतक स्वयं ऊँचा नहीं होता, तबतक उसके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिसके मनका जैसा भाव होता है, वैसा ही उसका स्वरूप होता है—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७। ३)

—और जैसा स्वरूप होता है, उसीके अनुसार क्रिया होती है। इसीलिये मनुष्य कई बार अपनेको महान् उद्देश्यका साधक मानकर अपने भावानुसार उद्देश्यके विपरीत कार्य कर बैठता है, और आप ही अपनेको धोखा देकर गिर जाता है। अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह पहले ही नेता, पथप्रदर्शक या गुरु आदि न बनकर अपनेको ऐसा बनावे, जिसमें उसके अंदर आदर्श सद्‌गुणोंका और महान् ऊँचे चरित्रका विकास हो। फिर यदि स्वाभाविक ही जनता उसको नेता मान ले और उसका पदानुसरण करने लगे तो हानि नहीं है। दोष यही है कि हम लोग दूसरोंको ऊँचा बनाने जाते हैं, पर स्वयं ऊँचा बनना नहीं चाहते। मनुष्यत्वका निर्माण करना चाहते हैं, पर अपनेमें मनुष्यत्वका विकास नहीं करते। इसीसे जिनको अपने पीछे चलाना चाहते हैं, अपनी दुर्गतिके साथ उनकी भी दुर्गति ही करते हैं। भगवान्‌से प्रार्थना करें कि वे हमें ऐसी आत्मशुद्धि और आत्मशक्ति प्रदान करें, जिससे हम सच्चे मनुष्यत्वको प्राप्त हों और क्षुद्र स्वार्थको छोड़कर, आसक्तिरहित होकर, स्वमतप्रतिष्ठाके लिये नहीं—परंतु प्रेमके आकर्षणसे केवल ईश्वरप्रीत्यर्थ ही कर्म करें। फिर चाहे हम किसी क्षेत्रमें हों, हमारे कर्म सत्यज्ञानके मूलस्रोतसे निकले हुए सत्यस्वरूप होंगे और उनसे हमारा और जनताका भी निश्चित कल्याण होगा।

(२)

दुष्ट पतिको पत्नी क्या समझे

सादर हरिस्मरण, आपका कृपापत्र मिला। अत्यन्त दुष्ट स्वभावके जो पुरुष अपनी सती-साध्वी निर्दोष पत्नीको मारते हैं, उसे छोड़ देनेकी तथा उसे ठीक करनेके लिये दूसरी स्त्री घरमें लाकर रखनेकी धमकी देते हैं, पर-स्त्रीके पास जानेसे रोकने तथा समझानेपर अत्यन्त अनुचित ढंगसे डाँटते-फटकारते एवं अपमानित करते हैं, वे मूर्ख पुरुष अपने ही हाथों अपने सिरपर प्रहार कर रहे हैं। अपने ही गिरकर जलनेके लिये भीषण नरकाग्नि प्रज्वलित कर रहे हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वे महापाप कर रहे हैं और उसका भयानक परिणाम, भगवत्कृपासे कोई प्रायश्चित्त नहीं हो गया तो, उन्हें अवश्य ही भोगना पड़ेगा; परंतु पतिव्रता पत्नी पतिको यह दुःखद परिणाम भोगते देखकर सुखी थोड़े ही होगी!

बहुत दिन पहलेकी बात है; किसी सज्जनने महात्मा गाँधीजीसे पूछा था कि 'निर्दोष सीताको वनमें अकेली छुड़वा देनेवाले रामको, साध्वी द्रौपदीको जुएके दाँवपर लगा देनेवाले युधिष्ठिरको और सती दमयन्तीको जंगलमें अर्धवस्त्रा सोयी छोड़कर चल देनेवाले नलको मनुष्य समझा जाय या राक्षस?' इसपर महात्माजीने उत्तर दिया था कि 'इसका निर्णय तो सीता, द्रौपदी और दमयन्ती ही कर सकती हैं और उन्होंने क्या निर्णय किया तथा अपने-अपने पतिको क्या समझा—यह उनके आचरणोंसे स्पष्ट है।'

ठीक स्मरण नहीं है, प्रश्नकर्ताके और महात्माजीके शब्द क्या थे। पर जहाँतक स्मरण है, भाव यही था। ऐसी स्थितिमें पत्नीके साथ अनवरत दुष्टताका व्यवहार करनेवाले पतिको क्या समझना चाहिये इसका यथार्थ निर्णय तो उसकी पत्नी ही कर सकेगी। परंतु यह निर्विवाद है कि उसका पति अपराधी है और दण्डका पात्र है।

प्रतिदिन असहाय होकर चुपचाप झिड़कियाँ, गालियाँ,

थप्पड़ और घूँसे सहकर पतिव्रता बने रहनेका उपदेश देना तो सहज है; परंतु ऐसी परिस्थितिमें कितनी और कैसी शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणा होती है तथा मनकी उस समय क्या दशा होती है—इसका अनुभव तो भुक्तभोगीको ही हो सकता है। कलम चलानेवाला कोई इसपर क्या लिखे; परंतु ऐसी स्त्रीको कम-से-कम इतना तो अवश्य करना चाहिये कि वह ऐसे पतिसे अलग अपने मायकेमें अथवा अन्य किसी सुरक्षित स्थानमें रहे और कानूनी कार्रवाई करके निर्वाहका खर्च पतिसे वसूल करे।

वस्तुत: हिंदू नारीकी शोभा और उसका गौरव तो इसमें है कि वह अपने पवित्र सतीत्वके तेजसे पतिके दुराचारी तथा अत्याचारी स्वभावको बदल दे और उसके जीवनको पवित्र बना दे। यमराजको जीतनेवाली पतिव्रता चाहें तो भगवत्कृपाके बलपर क्या नहीं कर सकतीं। ऐसा होना असम्भव नहीं है। कठिन तप:साध्य अवश्य है।

अब ऐसे पति महाशयोंसे यह कहना है कि वे अपनी इस दुर्नीतिको नहीं छोड़ेंगे तो अपना तथा हिंदू जातिका भी बड़ा अकल्याण करेंगे।

स्त्रियोंमें भी चेतन आत्मा है। उनको भी शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा होती है। वे पत्थरकी तो हैं ही नहीं जो आपकी डाँट-मारको सहती रहें और बदलेमें कुछ भी न करें। आप लोगोंको अपना जीवन पवित्र बनाना चाहिये और सती-साध्वी निर्दोष पत्नीको सतानेसे बाज आना चाहिये। इसीमें आपका कल्याण है।

(३)

बदला लेनेकी भावना बहुत बुरी है

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला। 'रोगको मारो, रोगीको नहीं', '**कल्याण**' में प्रकाशित इस सिद्धान्तपर आपने अपने विचार प्रकट किये तो आपने जिस दृष्टिसे अपने विचार लिखे हैं वे ठीक ही हैं। यह सत्य है कि स्वयं भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णने दुष्टोंको मारा है। शास्त्र और कानूनमें भी दण्डका विधान है। पर जरा खयाल कीजिये—भगवान्के द्वारा दुष्टोंको दण्ड देनेमें या शास्त्र तथा कानूनके दण्ड-विधानमें दुष्टोंके प्रति बदला लेनेकी भावना है या उन्हें अपराधशून्य विशुद्ध बना देनेकी? बदला लेनेकी भावना बहुत ही बुरी है! इस भावनामें विवेक नहीं रहता और विवेकरहित दण्ड-विधान विशुद्ध नहीं होता। उसमें जिसको दण्ड दिया जाता है, उसके अनिष्टकी कामना रहती है। यह मन रहता है कि इसे जितना कष्ट मिले, उतना ही अच्छा। यहाँ भी कष्ट भोगे, नरकोंकी अग्निमें भी जले। कभी सुख पावे ही नहीं। इसीसे उसे कष्ट भोगते देखकर प्रसन्नता होती है। भगवान्की मार तो उस माँकी मारके समान होती है जो भलेके लिये ही मारती है और मारकर स्वयं ही पुचकारती भी है। शास्त्र और न्यायकी भी यही मंशा है कि अपराधीकी अपराधवृत्ति नष्ट हो जाय, वह विशुद्ध होकर शुद्ध जीवन बितावे, जिसमें उसको और उसके द्वारा समाजको भी सुखकी प्राप्ति हो। इसमें भी वस्तुत: रोग-नाशकी भावना है, रोगीके नाशकी नहीं। हाँ, रोगके अनुसार ही दवाकी व्यवस्था होती है। कहीं मीठी दवासे काम चल जाता है तो कहीं बहुत कड़वी दवा भी देनी पड़ती है और कोई-कोई विशेषज्ञ तो 'काया-कल्प' ही करवा देते हैं। पर ऐसे बहुत थोड़े होते हैं। अल्पज्ञ लोग काया-कल्प कराने लगें तो कायाका ही विनाश कर दें। यह सिद्धान्त है।

शेष आपका लिखना ठीक है। कृपा बनाये रखें। विशेष भगवत्कृपा।

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

प्रेमरूपी अञ्जन जिन भक्तिरूपी नेत्रोंमें लगा हुआ है, उन नेत्रोंसे भक्तजन सदा अपने हृदयमें भगवान्के दर्शन करते हैं। उन अचिन्त्य गुणोंके प्रकाशक आदिपुरुष गोविन्द श्यामसुन्दरको मैं भजता हूँ।

अमृत-बिन्दु

'दूसरे सुखी हो जायँ'—यह भाव रहेगा तो सभी सुखी हो जायँगे और खुद भी सुखी हो जायगा। 'मैं सुखी हो जाऊँ'—यह भाव रहेगा तो सभी दुःखी हो जायँगे और खुद भी दुःखी हो जायगा।

× × ×

परिस्थितिको बदलनेका उद्योग निष्फल होता है और उसके सदुपयोगका उद्योग सफल होता है।

× × ×

'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं है, प्रत्युत अहंग्रह-उपासना है। इसलिये तत्त्वज्ञानीको 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह अनुभव नहीं होता।

× × ×

यह संसार मेंहदीके पत्तेकी तरह ऊपरसे हरा दीखता है, पर इसके भीतर परमात्मरूप लाली परिपूर्ण है।

× × ×

सांसारिक उन्नति वर्तमानकी वस्तु नहीं है और पारमार्थिक उन्नति भविष्यकी वस्तु नहीं है।

× × ×

जैसे भीतर अग्नि कमजोर हो तो भोजन पचता नहीं, ऐसे ही भीतर लगन न हो तो सत्संगकी बातें पचती नहीं।

× × ×

चाहे साधु बनो, चाहे गृहस्थ बनो, जबतक कामना (कुछ पानेकी इच्छा) रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिल सकती।

× × ×

सांसारिक सुख क्यों नहीं टिकता? क्योंकि वह हमारा और हमारे लिये है ही नहीं।

× × ×

संसार अधूरा है, इसलिये अधूरा ही मिलता है और परमात्मा पूरे हैं, इसलिये पूरे ही मिलते हैं।

× × ×

भला बननेके लिये हमें कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। केवल बुराई सर्वथा छोड़ दें तो हम भले हो जायँगे।

× × ×

भगवान् मनुष्यको कभी चेला नहीं बनाते, प्रत्युत सखा ही बनाते हैं।

× × ×

'मेरेको मिल जाय'—यह भोग है, और 'दूसरोंको मिल जाय'—यह योग है।

× × ×

साधक वह होता है, जो चौबीसों घंटे साधन करता है।

× × ×

अपनी निर्बलताका दुःख हो और भगवान्की कृपापर विश्वास हो तो जिस दुर्गुणको हटाना चाहते हैं, वह हट जायगा और जिस सद्गुणको लाना चाहते हैं, वह आ जायगा।

× × ×

मनुष्य जितनी अधिक आवश्यकता पैदा करता है, उतना ही वह पराधीन हो जाता है।

× × ×

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परमात्माकी दी हुई चीज तो अच्छी लगती है, पर परमात्मा अच्छे नहीं लगते!

× × ×

एक परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य होनेपर कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं होता।

× × ×

सुख अच्छा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। दुःख बुरा लगता है, पर उसका परिणाम अच्छा होता है।

बाल-कल्याण

(१)

दयालु विद्यार्थी बालक

कलकत्तेके एक स्कूलमें दो भले विद्यार्थी पढ़ते थे। प्रत्येक परीक्षामें उनका पहला और दूसरा नंबर आता था। परीक्षाके पहले उनमेंसे एककी माँ बीमार पड़ी, इससे वह लड़का दो महीनेतक स्कूल नहीं गया। माँके मरनेके बाद वह स्कूलमें पढ़ने गया। उस वर्षकी परीक्षामें सबको विश्वास था कि इस बार इसका पहला नंबर नहीं आयेगा और जिसका दूसरा नंबर आता था, वह पहला आयेगा; परंतु जब परीक्षाफल निकला, तब मालूम हुआ कि वही लड़का, जिसकी माँ मर गयी थी तथा जिसकी पढ़ाईमें अड़चन आयी थी, पहला आया है और जो दूसरा आता था, वह दूसरा आया है। यह देखकर शिक्षकको बहुत अचरज लगा। उसने दोनों लड़कोंकी उत्तर-पुस्तिका फिरसे ध्यानपूर्वक देखी तो पता चला कि दूसरे विद्यार्थीने हर एक प्रश्नके उत्तरमें थोड़ा-थोड़ा जवाब बाकी छोड़ दिया है; परंतु वे सवाल इतने सरल थे कि उसको न आते हों, ऐसी बात न थी। इसलिये शिक्षकने उस विद्यार्थीको एकान्तमें बुलाकर पूछा तो उसने बतलाया कि 'वह लड़का मेरी अपेक्षा कहीं अधिक होशियार है। उसकी माँ बीमार पड़ी और मर गयी, इससे उसकी पढ़ाईमें विघ्न पड़ा और मुझको पहला नंबर मिलनेकी बारी आ गयी, पर मुझे यह ठीक न लगा। इस बार भी वही पहला आये, इस इरादेसे मैंने जान-बूझकर अधूरा जवाब लिखा। मेरी तो माँ है, इस बेचारेकी माँ नहीं। आप कृपया इस बातको अपनेतक ही रखें।'

शिक्षकको उस विद्यार्थीकी दया और उदारताको देखकर बहुत ही संतोष हुआ और उसने कहा—'सबसे बड़ी परीक्षा, जो महत्त्वकी परीक्षा है, उसमें तुम्हारा सबसे पहला नंबर आया है। इस परीक्षाके सामने स्कूलकी परीक्षाकी कोई बिसात ही नहीं है।'

(२)

एक बूढ़े आदमीकी मदद करनेवाली लड़की

एक बूढ़ा रास्तेमें बड़ी मुश्किलसे चला जा रहा था। उस समय हवा बड़े जोरोंसे चल रही थी। अचानक उस बूढ़ेकी टोपी हवासे उड़ गयी। उसके पाससे होकर दो लड़के स्कूल जा रहे थे। उनसे बूढ़ेने कहा—'मेरी टोपी उड़ गयी है, उसे पकड़ो। नहीं तो, मैं बिना टोपीका हो जाऊँगा।' वे लड़के उसकी बातपर ध्यान न देकर टोपीके उड़नेका मजा लेते हुए हँसने लगे। इतनेमें लीला नामकी एक लड़की, जो स्कूलमें पढ़ती थी, उसी रास्तेपर आ पहुँची। उसने तुरंत ही दौड़कर वह टोपी पकड़ ली और अपने कपड़ेसे साफ करके उस बूढ़ेको दे दी। उसके बाद वे सब लड़के स्कूल गये। गुरुजीने यह टोपीवाली घटना स्कूलकी खिड़कीसे देखी थी। इसलिये पढ़ा लेनेके बाद उन्होंने सब विद्यार्थियोंके सामने वह टोपीवाली बात कही और लीलाके कामकी तारीफ की तथा उन दोनों लड़कोंके कामपर उन्हें बहुत धिक्कारा।

इसके बाद गुरुजीने अपने पाससे एक सुन्दर चित्रोंकी पुस्तक उस छोटी लड़कीको भेंट दी और उसपर इस प्रकार लिख दिया—

'लीला बहिनको उनके अच्छे कामके लिये गुरुजीकी ओरसे यह पुस्तक भेंट की गयी है।'

जो लड़के गरीब बूढ़ेकी टोपी उड़ती देखकर हँसे थे, वे इस घटनाको देखकर बहुत ही शर्माये और दुखी हुए।

(३)

शिष्टाचार

एक व्यक्ति दूसरेके साथ जो सभ्यतापूर्ण व्यवहार करता है, उसे 'शिष्टाचार' कहते हैं। यह व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि अपने रहन-सहन तथा वचनोंसे दूसरोंको कष्ट या असुविधा न हो। शिष्टाचार दिखावटी नहीं होना चाहिये,

वह सच्चा होना चाहिये। शिष्टाचार सदाचारका एक अङ्ग है। प्रत्येक देश एवं समाजके शिष्टाचारके नियम कुछ पृथक्-पृथक् होते हैं। बचपनमें ही इन नियमोंको जान लेना चाहिये और इनके पालनका स्वभाव बना लेना चाहिये।

शिष्टाचारके दो मुख्य भाग हैं—एक अपने शरीर, वस्त्र, चलने-फिरने, खाने-पीने, उठने-बैठने आदिसे सम्बन्धित और दूसरा, दूसरे व्यक्तियोंसे व्यवहार, बातचीत आदिसे सम्बन्धित। जैसे ही बच्चा कुछ समझने योग्य होता है, उसे इन नियमोंके पालनका अभ्यस्त बनाना चाहिये।

बड़ोंका अभिवादन

१-बड़ोंको कभी 'तुम' मत कहो, उन्हें 'आप' कहो और अपने लिये 'हम' का प्रयोग मत करो, 'मैं' कहो।

२-जो गुरुजन घरमें हैं, उन्हें सबेरे उठते ही प्रणाम करो। अपनेसे बड़े लोग जब पहले मिलें, जब उनसे भेंट हो, प्रणाम करना चाहिये।

३-जहाँ दीपक जलानेपर या मन्दिरमें आरती होनेपर सायंकाल प्रणाम करनेकी प्रथा हो, वहाँ उस समय भी प्रणाम करना चाहिये।

४-जब किसी नवीन व्यक्तिसे परिचय कराया जाय, तब उन्हें प्रणाम करना चाहिये। पान-इलायची या पुरस्कार जब कोई दे, तब उस समय भी उसे प्रणाम करना चाहिये।

५-गुरुजनोंको पत्र-व्यवहारमें भी प्रणाम लिखना चाहिये।

६-प्रणाम करते समय हाथमें कोई वस्तु हो तो उसे बगलमें दबाकर या एक ओर रखकर प्रणाम करना चाहिये।

७-चिल्लाकर या पीछेसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। सामने जाकर शान्तिसे प्रणाम करना चाहिये।

८-प्रणामकी उत्तम रीति दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना है। जिस समाजमें प्रणामके समय जो कहनेकी प्रथा हो, उसी शब्दका व्यवहार करना चाहिये। महात्माओं तथा साधु-संतोंके चरण छूनेकी प्राचीन प्रथा है।

९-जब कोई भोजन कर रहा हो, स्नान कर रहा हो, बाल बनवा रहा हो, शौच जाकर हाथ न धोये हो तो उस समय उसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। उसे इन कार्योंसे निवृत्त होनेपर प्रणाम करना चाहिये।

बड़ोंका अनुगमन

१-अपनेसे बड़ा कोई पुकारे तो 'क्या', 'ऐं', 'हाँ' नहीं कहना चाहिये। 'जी हाँ', 'जी' अथवा 'आज्ञा' कहकर बोलो।

२-लोगोंको बुलाने, पत्र लिखने या उनकी चर्चा करनेमें उनके नामके आगे 'श्री' और अन्तमें 'जी' अवश्य लगाओ। इसके अतिरिक्त यदि 'पण्डित', 'सेठ', 'बाबू', 'लाला' आदि उपाधि हो तो उसे भी लगाओ।

३-अपनेसे बड़ोंकी ओर पीठ करके मत बैठो। उनके सामने पैर फैलाकर भी मत बैठो। उनकी ओर पैर करके मत सोओ।

४-मार्गमें जब गुरुजनोंके साथ चलना हो तो उनके आगे या बराबर मत चलो। उनके पीछे चलो। उनके पास कुछ सामान हो तो आग्रह करके उसे स्वयं ले लो। कहीं दरवाजेमेंसे जाना हो तो पहले बड़ोंको जाने दो। द्वार बंद हो तो आगे बढ़कर खोल दो और आवश्यकता हो तो भीतर प्रकाश कर दो। यदि द्वारपर पर्दा हो तो उसे तबतक उठाये रहो, जबतक वे अंदर न चले जायँ।

५-सवारीपर बैठते समय बड़ोंको पहले बैठने देना चाहिये। कहीं भी बड़ोंके आनेपर बैठे हो तो खड़े हो जाओ और उनके बैठ जानेपर बैठो। उनसे ऊँचे आसनपर तो बैठो ही मत। बराबर भी मत बैठो। नीचे बैठनेके लिये जगह हो तो नीचे बैठो। स्वयं सवारीपर हो या ऊँचे चबूतरे आदि स्थानपर और बड़ोंसे बात करना हो तो नीचे उतर कर बात करो। वे खड़े हों तो उनसे बैठे-बैठे बात मत करो, खड़े होकर बात करो। चारपाई आदिपर बड़ोंको तथा अतिथियोंको सिरहानेकी ओर बैठाना चाहिये। मोटर-घोड़ागाड़ी आदि सवारियोंमें बराबर बैठना ही हो तो बड़ोंकी बायीं ओर बैठना चाहिये।

६-जब कोई आदरणीय व्यक्ति अपने यहाँ आवें, तब कुछ दूर आगे बढ़कर उनका स्वागत करना चाहिये और जब वे जाने लगें, तब सवारीतक या द्वारतक उन्हें पहुँचाना चाहिये।

७-गुरु, स्वामी आदिके आसनपर उनकी अनुपस्थितिमें भी नहीं बैठना चाहिये।

८-यदि मार्गमें चलते समय छाता एक ही हो तो उसे अपने हाथमें ले लो और इस प्रकार उन्हें लगाये रहो कि उसकी ताड़ियाँ उन्हें न लगें।

९-कोई सम्मानित व्यक्ति अपने यहाँ आवें तो 'आइये' नहीं कहना चाहिये। उनसे 'पधारिये' कहना चाहिये।

छोटोंके प्रति

१-बच्चोंको, नौकरोंको अथवा किसीको भी 'तू' मत कहो। 'तुम' या 'आप' कहकर बोलो।

२-जब कोई तुम्हें प्रणाम करे, तब उसके प्रणामका उत्तर प्रणाम करके, आशीर्वाद देकर, या जैसे उचित हो, अवश्य दो।

३-बच्चोंको चूमो मत। यह स्वास्थ्यके लिये भी हानिकारक है। भारतकी, मस्तक सूँघकर स्नेह प्रकट करनेकी पुरानी रीति है और यही उत्तम रीति है।

४-नौकरको भी भोजन तथा विश्रामके लिये उचित समय दो। बीमारी आदिमें उसकी सुविधाका ध्यान रखो। वह भोजन, स्नानमें लगा हो तो पुकारो मत। किसीको भी कभी नीच मत समझो।

५-तुम्हारे जानेसे, तुमसे जो छोटे हैं, उन्हें असुविधा न हो—यह ध्यान रखना चाहिये। छोटोंके आग्रह करनेपर भी उनसे अपनी सेवाका काम कम-से-कम लेना चाहिये।

स्त्रियोंके प्रति

१-अपनेसे बड़ी स्त्रियोंको माता, बराबरवालीको बहिन तथा छोटीको कन्या समझो।

२-बिना जान-पहचानकी स्त्रीसे कभी बात करनी ही पड़े तो दृष्टि नीचे करके बात करनी चाहिये। स्त्रियोंको घूरना, उनसे हँसी करना, उनके प्रति इशारे करना या उनको छूना असभ्यता है, पाप भी है।

३-घरके जिस भागमें स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ बिना सूचना दिये नहीं जाना चाहिये। जिस मार्गसे स्त्रियाँ ही जाती हों, उधरसे नहीं जाना चाहिये। जहाँ स्त्रियाँ स्नान करती हों, वहाँ नहीं जाना चाहिये। जिस कमरेमें कोई स्त्री अकेली हो, सोयी हो, कपड़े पहिन रही हो, अपरिचित हो, भोजन कर रही हो, परदा करनेवाली हो, उसमें भी नहीं जाना चाहिये।

४-गाड़ी, नाव आदिमें स्त्रियोंको बैठाकर तब बैठना चाहिये। कहीं सवारीमें या अन्यत्र स्थानकी कमी हो और कोई स्त्री आ जाय तो उठकर उसके बैठनेके लिये स्थान खाली कर देना चाहिये।

५-नंगी स्त्रियोंको या उनके चित्रको देखना बहुत बुरा है। न तो स्त्रियोंके सामने अपर्याप्त वस्त्रोंमें स्नान करना चाहिये और न उनसे स्त्री-पुरुषके गुप्त रोगोंकी चर्चा करनी चाहिये।

यही बातें स्त्रियोंके लिये भी हैं। विशेषत: उन्हें खिड़कियों या दरवाजोंमें खड़े होकर झाँकते नहीं रहना चाहिये और न गहने पहनकर या इस प्रकार सज-धज कर निकलना चाहिये कि लोगोंका ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो।

सर्वसाधारणके प्रति

१-यदि किसीके अङ्ग ठीक नहीं—कोई काना, कुबड़ा, लँगड़ा या कुरूप है अथवा किसीमें तुतलाने आदिका कोई स्वभाव है तो उसे चिढ़ाओ मत। उसकी नकल मत करो। कोई स्वयं गिर पड़े या उसकी कोई वस्तु गिर जाय, किसीसे कोई भूल हो जाय, तो हँसकर उसे दुखी मत करो। यदि कोई दूसरे प्रान्तका तुम्हारे रहन-सहनमें, बोलनेके ढंगमें भूल करता है तो उसकी हँसी मत उड़ाओ।

२-कोई रास्ता पूछे तो उसे समझाकर बताओ और सम्भव हो तो कुछ दूरतक जाकर मार्ग दिखा आओ। कोई चिट्ठी या तार पढ़वाये तो रुककर पढ़ दो। किसीका भार उससे न उठता हो तो उसके बिना कहे ही उठवा दो। कोई गिर पड़े तो उसे सहायता देकर उठा दो। जिसकी जैसी भी सहायता कर सकते हो, अवश्य करो। किसीकी उपेक्षा मत करो।

३-अंधोंको अंधा कहनेके बदले 'सूरदास' कहना चाहिये। इसी प्रकार किसीमें कोई अङ्ग-दोष हो तो उसे चिढ़ाना नहीं चाहिये। उसे इस प्रकार बुलाना या पुकारना चाहिये कि उसको बुरा न लगे।

४-किसी भी देश या जातिके झंडे, राष्ट्रिय गान, धर्मग्रन्थ अथवा सम्मान्य महापुरुषोंका अपमान कभी मत करो। उनके प्रति आदर प्रकट करो। किसी धर्मपर आक्षेप मत करो।

५-सोये हुए व्यक्तिको जगाना हो तो बहुत धीरेसे जगाना चाहिये।

६-किसीसे झगड़ा मत करो। कोई बहसमें अपने मतपर हठ करे तो उसकी बातें तुम्हें ठीक न लगें तब भी उसका खण्डन करनेका हठ मत करो।

७-मित्रों, पड़ोसियों, परिचितोंको 'भाई', 'चाचा' आदि उचित सम्बोधनोंसे पुकारो।

८-दो व्यक्ति झगड़ रहे हों तो उनके झगड़ेको बढ़ानेका प्रयत्न मत करो। दो व्यक्ति परस्पर बातें कर रहे हों तो वहाँ

मत जाओ और न छिपकर उनकी बात सुननेका प्रयत्न करो। दो आदमी बैठे या खड़े बात करते हों तो उनके बीचमेंसे मत जाओ।

९-'आपने हमें पहचाना?' ऐसे प्रश्न करके दूसरोंकी परीक्षा मत करो। आवश्यकता न हो तो किसीका नाम-गाँव-परिचय मत पूछो और कोई कहीं जा रहा हो तो 'कहाँ जाते हो?' यह भी मत पूछो।

१०-किसीका पत्र मत पढ़ो और न किसीकी कोई गुप्त बात जाननेका प्रयत्न करो।

११-किसीकी निन्दा या चुगली मत करो। दूसरोंका कोई दोष तुम्हें ज्ञात भी हो जाय तो उसे किसीसे कहो मत। किसीने तुमसे दूसरेकी निन्दा की हो तो निन्दकका नाम मत बतलाओ।

१२-बिना आवश्यकताके किसीकी जाति, आमदनी, वेतन मत पूछो।

१३-कोई अपना परिचित बीमार हो जाय तो उसके पास कई बार जाना चाहिये। वहाँ उतनी ही देर ठहरना चाहिये, जिसमें उसे या उसके आस-पासके लोगोंको कष्ट न हो। उसके रोगकी गम्भीरताकी चर्चा वहाँ नहीं करनी चाहिये और न बिना पूछे औषध बताने लगना चाहिये।

१४-अपने यहाँ कोई मृत्यु या दुर्घटना हो जाय तो बहुत चिल्लाकर शोक नहीं प्रकट करना चाहिये। किसी परिचित या पड़ोसीके यहाँ मृत्यु या दुर्घटना हो जाय तो वहाँ अवश्य जाकर आश्वासन देना चाहिये।

१५-किसीके घर जाओ तो उसकी वस्तुओंको मत छुओ। वहाँ प्रतीक्षा करनी पड़े तो धैर्य रखो। कोई तुम्हारे यहाँ आवे और उसे प्रतीक्षा करनी पड़े तो समय काटनेके लिये कुछ पुस्तक, समाचार-पत्र आदि दे दो।

१६-बातचीतमें कम बोलो। किसीसे अपनी ही बात मत कहते रहो। दूसरोंकी बात धैर्यपूर्वक सुनो। कोई तुम्हारे पास आकर कुछ अधिक देर भी बैठे तो ऐसा भाव मत प्रकट करो कि तुम ऊब गये हो।

१७-किसीसे मिलो तो उसका कम-से-कम समय लो। केवल आवश्यक बातें ही करो। वहाँसे आना हो तो उसको नम्रतापूर्वक सूचित कर दो। वह अनुरोध करे तो यदि बहुत असुविधा न हो तो कुछ देर वहाँ रुको।

अपने प्रति

१-अपने नामके साथ स्वयं 'पण्डित', 'बाबू' आदि मत लगाओ।

२-कोई तुम्हें पत्र लिखे तो उसका उत्तर अवश्य दो। कोई कुछ पूछे तो नम्रतापूर्वक उसे उत्तर दो।

३-कोई कुछ दे तो बायें हाथसे मत लो, दाहिने हाथसे लो और दूसरेको कुछ देना हो तो भी दाहिने हाथसे दो।

४-दूसरोंकी सेवा करो, पर दूसरोंसे सेवा मत लो। किसीका भी उपकार मत लो।

५-किसीकी वस्तु तुम्हारे देखते, जानते गिरे या खो जाय तो उसे दे दो। तुम्हारी गिरी वस्तु कोई उठाकर दे तो उसे धन्यवाद दो। तुम्हें कोई धन्यवाद दे तो नम्रता प्रकट करो।

६-किसीको तुम्हारा पैर या धक्का लग जाय तो उससे क्षमा माँगो। कोई तुमसे क्षमा माँगे तो कहो—'इसमें आपसे कोई भूल नहीं हुई। क्षमा माँगनेकी कोई बात नहीं।'

७-अपने रोग, अपने कष्ट, अपनी विपत्ति तथा अपने गुण, अपनी वीरता, अपनी सफलताकी चर्चा अकारण ही दूसरोंसे मत करो।

८-झूठ मत बोलो, पर शपथ मत खाओ और न प्रतिज्ञा करनेका स्वभाव बनाओ।

९-किसीको गाली मत दो। अपशब्द मुखसे मत निकालो।

१०-यदि किसीके यहाँ अतिथि बनो तो उस घरके लोगोंको तुम्हारे लिये कोई विशेष प्रबन्ध न करना पड़े ऐसा ध्यान रखो। उनके यहाँ जो भोजनादि मिले, उसकी प्रशंसा करके खाओ। वहाँ जो स्थान तुम्हारे रहनेको नियत हो, वहीं रहो। भोजनके समय उनको तुम्हारी प्रतीक्षा न करनी पड़े। तुम्हारे उठने-बैठने आदिसे वहाँके लोगोंको असुविधा न हो। तुम्हें जो फल, कार्ड, लिफाफे आदि आवश्यक हों, वह स्वयं खरीद लाओ।

११-किसीसे कोई वस्तु लो तो उसे सुरक्षित रखो और काम करके तुरंत लौटा दो। जिस दिन कोई वस्तु लौटानेको कही गयी हो तो उससे पहले ही उसे लौटा देना उत्तम होता है।

१२-किसीके घर जाते या आते समय द्वार बंद करना मत भूलो। किसीकी कोई वस्तु उठाओ तो उसे फिर यथास्थान रख देना चाहिये।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदारी

बात १७ नवम्बर १९४८ की है। उस समय पंडितजी आर्म्स पुलिस लाइनमें मन्दिरके पुजारी थे। किशोरावस्था थी। पुलिस-लाइनका डमी खड़गसिंह नामक एक हवलदार ८४८२ रुपये लेकर राशन लानेके लिये राशनकी दुकानपर जा रहा था। रुपया एक बैगमें था। हवलदार साहबको गाँजा पीनेकी आदत थी। उस समय वे गाँजा पिये हुए थे। थोड़ी देर पहले एक शौचालयके पास बैठकर गाँजा पिये थे, वहीं रुपयेका वह बैग छूट गया। हवलदार साहब तो नशेमें चूर थे, उनको रुपये गिरनेका आभास भी नहीं हुआ। जब वे दुकानपर पहुँचे तथा राशन लेनेके बाद दुकानदारको रुपये देनेकी बात हुई, तब उनका ध्यान बैगपर गया, लेकिन बैग तो नदारद, अब उनका नशा समाप्त हो गया था। इधर पंडितजी पूजोपरान्त लघुशंका करने गये तो उनको वह बैग वहींपर गिरा हुआ मिला। देखा बैग रुपयोंसे भरा है। उसको उठा लिये। बड़े ऊहापोहमें पड़े। लोभ कहता था कि रख लो, चोरी थोड़े ही है। यह तो ईश्वरने दिया है। विवेक कहता था कि इसके स्वामीकी आह लगेगी। उसके बाल-बच्चे दुःख पायेंगे। पता नहीं किस कार्यके लिये इतने रुपये लेकर जा रहा था। इस समय वह बहुत परेशान होगा। इसलिये उसका पता लगाकर शीघ्र ही ये रुपये उसके पास पहुँचा देने चाहिये। यही सोचते-सोचते अन्तमें विवेककी विजय हुई।

पंडितजीने उस धनराशिको पुलिस-लाइनके सूबेदार साहबको सुपुर्द कर दिया। साहबने पूछा—'कितना है?' उन्होंने कहा कि मैंने गिना नहीं, आप गिन लें। गिननेपर पता लगा कि ८४८२ रुपये हैं। सूबेदार साहबने अपने प्रधान अधिकारीको सूचित किया। उस अधिकारीने कहा कि दो बजेके बाद इस रुपयेकी घोषणा की जायगी। रुपये देनेके बाद पंडितजी हवलदार साहबके क्वार्टरके बगलसे निकल रहे थे। देखा हवलदारजी बदहवाश होकर बकस आदि उलट-पुलटकर कुछ ढूँढ़ रहे हैं। दो-चार लोग उन्हें सान्त्वना दे रहे थे और साथ ही वे ढूँढ़नेमें उनकी सहायता भी कर रहे थे। पंडितजीने पूछा—क्या बात है? लोगोंने बताया कि हवलदार साहब ८४८२ रुपये एक बैगमें रखकर राशन लेने जा रहे थे। बैग कहीं गिर गया। पंडितजीने बताया कि रुपयोंसहित बैग सूबेदार साहब तथा लाइन-अधिकारीके पास मैंने रख दिया है। वह बैग मुझे शौचालयके पास प्राप्त हुआ था। पंडितजीके साथ हवलदार साहब जाकर अपने रुपये ले आये। अधिकारीगण तथा हवलदार साहब पंडितजीको २०० रुपये पुरस्कार दे रहे थे, लेकिन पंडितजीने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि जब ८४८२ रुपया नहीं लिया तो २०० रुपया क्या लें, यह तो हमारा फर्ज था। किशोर-वय उस पंडितजीके ईमानदारी एवं कर्तव्यनिष्ठासे पुलिस-लाइनके सभी अधिकारी बहुत प्रभावित हुए। बादमें बालिग होनेपर पंडितजीको सिपाही-पदपर अधिकारियोंने भर्ती भी कर लिया और कहा कि हमें देश-सेवाके लिये ऐसे ही नौजवानोंकी आवश्यकता है।

[प्रेषक—श्रीसूर्यनारायणसिंहजी]

(२)

मैं भगवान्‌की दयासे अकाल-मृत्युसे कैसे बचा

बात सन् १९३९ की है। उन दिनों मैं लखनऊ-विश्वविद्यालयमें रिसर्च करता था। अगस्तका महीना और गोधूलिकी बेला थी। मैं अपने कमरेमें, जिसमें तीन दरवाजे थे, दिनभरके परिश्रमके पश्चात् विश्राम कर रहा था। मैंने कमरेके तीनों दरवाजे अंदरसे बंद कर लिये थे। मैं अकेला ही था और रेडियोके द्वारा जो समीप ही रखा था, गायनका आनन्द ले रहा था। रेडियो और बिजलीके मेन्स (Mains)-में काफी अन्तर था और रेडियोमें लगे हुए तार वहाँतक नहीं पहुँच पाते थे। इसलिये मैंने एक दूसरा तार लिया जिसके दोनों सिरोंपर प्लग्ज् (Plugs) लगे थे। एक प्लग तो मैंने ए० सी० मेन्स (A. C. Mains)-में लगा दिया और दूसरा प्लग एक एडाप्टर (Adapter)-द्वारा रेडियोके प्लगमें लगा दिया। मेन्सका स्विच खोलनेपर रेडियो बजने लगा।

हमारे एक मित्र, जिनका नाम 'श्रीनरायनजी' है, थोड़ी दूरपर दूसरे कमरेमें काम कर रहे थे। जब घर जानेका समय हुआ, तब वे मेरे कमरेके पास आकर दरवाजा थपथपाने लगे। मैं भी घर चलनेकी तैयारी करने लगा। रेडियो बंद करनेके लिये मैंने मेन्स बंद करनेके पूर्व ही रेडियोमें लगे हुए प्लगको एडाप्टरसे हटा लिया और

एडाप्टरको भी दूर कर दिया। इतनेमें कनेक्शनवाले तारके सिरमें लगे हुए प्लगके पीतलके टुकड़ोंसे मेरा हाथ छू गया और मेरा हाथ उससे चिपक गया। कहना नहीं होगा कि उस तारके दूसरे सिरवाला प्लग मेन्समें लगा था, अतएव दूसरे प्लगमें भी बिजलीका प्रवाह बराबर हो रहा था।

बिजली ए०सी० (A. C.) थी और उसने हाथको जोरसे पकड़ लिया। कमरा अंदरसे बंद था। अब तो मेरे होश ही गुम हो गये। पूरी बाँहमें बराबर, एकके बाद एक तीव्र झटके (Shock) लगते रहे। मैं लचीले तारको पकड़कर प्लगको हाथसे छुड़ानेका निष्फल प्रयास करता रहा। वेदना भयानक थी, मैं लगभग चेतनाशून्य होकर स्टूलके नीचे गिर पड़ा और पृथ्वीपर चित लेट गया। झटके बराबर लग रहे थे। उस अवस्थामें मुझे याद है, मेरे मुखसे 'श्रीनरायन', 'श्रीनरायन'-की करुण पुकार धीमे स्वरमें हो रही थी। ये शब्द मेरे मित्र श्रीनरायनने, जो दरवाजेके बाहर खड़े थे, सुन लिये। उनके मनमें शंका उत्पन्न हो गयी और वे उस लाचारीकी अवस्थामें दरवाजा और भी जोरसे ढकेलने लगे। पर मुझे क्या, मैं तो उस समय भगवान्से यह मना रहा था कि जल्दी मेरी मृत्यु हो जाय जिससे मैं इस घोर यन्त्रणासे छुटकारा पाऊँ। मैं यह सोचकर कि शरीर कुछ ही सेकंडोंमें त्यागना पड़ेगा, जगदम्बा रेणुकाका ध्यान करने लगा। मुझे यह बात ज्ञात थी कि ए० सी० (A. C.) बिजली जब एक बार पकड़ लेती है तो वह मनुष्यकी मृत्युके बाद ही छोड़ती है। मैं हाथ-पैर बराबर पटकता था और कभी-कभी तार पकड़कर खींच लिया करता था। मुँहसे बराबर 'श्रीनरायन', 'श्रीनरायन' की आर्त आहें निकल रही थीं।

इतनेमें एक आश्चर्यजनक घटना हुई। जगज्जननी अम्बा और जगन्नाथ प्रभुकी कृपा हुई। पैर पटकते-पटकते मैं एक स्टूलपर जा गिरा, यह कैसे हुआ, भगवान् ही जानें, तार खिंचनेपर प्लग हाथसे अलग हो गया। जान बच गयी। मैं शक्तिहीन हो गया, लड़खड़ाता हुआ उठा और किसी तरह दरवाजा खोला। मेरे मित्र श्रीनरायन अंदर आये, मैं उनसे गले मिलकर रोने लगा। शरीरका वर्ण पीला हो गया था।

यह है भगवान्की अनुकम्पा और महती कृपाशक्तिका प्रत्यक्ष अनुभव। यह है भगवन्नामका प्रभाव। अन्त समयमें मतलबसे ही सही, भगवन्नामका उच्चार हुआ और विपत्ति-हारक भगवान् विपत्ति हरण करने दौड़ आये। धन्य हैं वे जगन्नियन्ता प्रभु।

—श्रीजनार्दन रावजी सराफ

(३)

नशेसे सावधान

सन् १९७३ के अप्रैल माहकी घटना है। मैंने एक पुरानी ट्रक खरीदी थी, जिसका कुछ रुपया तो एडवांसमें दे दिया था, लेकिन ७० हजार रुपया देना बाकी रह गया था। कुछ समय बीतनेके बाद वह ७० हजार रुपया देनेके लिये मैं ट्रक-मालिकके पास गया तो पता चला कि वे अपने परिवारके साथ अपने एक मित्रके यहाँ बुरला गये हैं। मैंने सोचा कि ट्रकका बकाया रुपया दे देना चाहिये, किसी-किसी तरह इतना रुपया एकत्र कर पाया हूँ। यदि इसमेंसे कुछ भी खर्च हो गया तो मेरे लिये व्यवस्था करना कठिन हो जायगा। इसलिये मैं मोटर-साइकिलसे बुरलाके लिये चल पड़ा। सूटकेशमें रखा ७१ हजार रुपया मैंने पीछे कैरियरमें बाँध रखा था, लेकिन सच्ची बात तो यह है कि मैंने थोड़ी शराब पी ली थी। अतः इसपर विशेष ध्यान ही नहीं गया कि सूटकेश ठीक बँधा है या नहीं। खुशी-खुशी मैं बुरला चला गया। जब मैंने मोटर-साइकिल उनके दोस्तके घरके सामने स्टैंडपर खड़ी की तो पैरोंके नीचेसे जमीन खिसक गयी। कैरियरमें बाँधी हुई अटैची कहीं गिर गयी थी, उसमें आजतकके बचाकर रखे हुए ७१ हजार रुपये थे, जो मेरे लिये बहुत बड़ी रकम थी। आँखोंके सामने अँधेरा छाने लगा। सारा नशा उड़ गया। बदहवासकी-सी स्थितिमें मैं अभी खड़ा ही था कि मोटर-साइकिलकी आवाज सुनकर उनके वे दोस्त बाहर आये और पूछनेपर उन्होंने बताया कि अभी-अभी पंद्रह मिनट हुए वे लोग चले गये हैं। मैं उस सड़कपर जितनी तेजीसे भाग सकता था भाग रहा था, भागते-भागते यह भी देखता जा रहा था कि यदि अटैची कहीं रास्तेमें गिरी पड़ी हो तो मिल जाय। आधा रास्ता तय कर लेनेपर एक सरकारी पुलके ऊपर एक सज्जन लुंगी पहने खड़े मुझे मेरी अटैची बार-बार हिलाकर दिखा-दिखाकर मुझे रुकनेका संकेत दे रहे थे, मगर मोटर-साइकिलकी भारी आवाज, तेज रफ्तार तथा घबराहटके मारे सोचने-समझनेकी जैसे शक्ति ही समाप्त हो गयी थी, मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था, इस कारण उस सज्जनके पाससे गुजरनेपर भी उनकी आवाजको नहीं सुन सका। संयोगवश पीछे मुड़कर देखा तो वही लुंगीवाले भाई रुकनेका संकेत अटैची दिखाकर कर रहे थे।

अब मुझे कुछ संदेह हुआ। मैंने तुरंत गाड़ी मोड़ दी, लेकिन गाड़ी बहुत तेज रफ्तारमें होने और अत्यन्त घबराहटके कारण मैं अपना संतुलन खो बैठा, फलस्वरूप गिर गया। कपड़े फट गये, कई जगहसे चमड़ी छिल गयी, खून बहने लगा। मैं भागकर उस सज्जनके पास जाते ही बोला कि यह अटैची मेरी है, आपको कैसे मिली। वे बोले कि यहीं सड़कपर गिर गयी थी। मैंने उसे उठा लिया। यह अटैची आपके मोटर-साइकिलसे गिरी थी, अत: मैंने आपको बहुत पुकारा, लेकिन जब आप नहीं सुने तो इसे थानेमें जमा करने जा रहा था। थोड़ी देर हम दोनों एक-दूसरेको देखते रहे, फिर उन्होंने ही पूछा—इस अटैचीमें क्या है? मैंने घबराते हुए कहा कि कागज-पत्र हैं। यह सुनकर वे डाँटते हुए बोले—तब तो यह अटैची तुम्हारी हो ही नहीं सकती। सम्भवत: मोटर-साइकिलसे गिरनेपर अटैची खुल गयी होगी और उसमें रुपये होनेका उन्हें पता लग गया होगा। मैंने जोर देकर कहा कि मेरी ही है। तब वे बोले कि सच-सच बताओ, इसमें कौन-कौनसे कागजात हैं। मैं घबराया, रुपयेका मामला था। आखिर मैंने सच-सच बता दिया कि इसमें पूरे ७१ हजार रुपये हैं। मैंने एक ट्रक खरीदी है, उसीका बकाया रुपया देनेके लिये ले जा रहा था। संयोगवश रस्सी टूट जानेके कारण यह अटैची कहीं गिर गयी। नशेमें मुझे इसका पता भी नहीं चला। मैं बहुत शर्मिंदा हूँ, मुझे क्षमा करें। वे हँसे, हँसनेके बाद बोले कि झूठ बोलकर कागजात होनेका बहाना क्यों बना रहे हो, मुझे पता है, यह अटैची नोटोंसे भरी है। मैंने उनको सारी-की-सारी जानकारी सच-सच बतायी। डाँट-डपट देनेके बाद वे बोले कि लो अपनी यह अमानत सँभालो और ठीकसे गिनकर तसल्ली कर लो, घबरानेकी कोई बात नहीं है। मैंने अटैची लेकर ताला ठीक करते हुए उनके बेटेको जो करीब ३-४ सालका था, उसे ५ हजार रुपया देना चाहा। वे बोले कि इतने रुपये बच्चेको क्यों दे रहे हो। मैंने कहा कि मिठाई खानेके लिये। यह सुनकर वे बड़े क्रोधावेशमें बोले—'मिठाई खानेके लिये दे रहे हो या रिश्वत दे रहे हो। अगर इतने पैसेकी मिठाई हम लोग यों ही खाने लगें तब तो मिठाईका चस्का लगनेपर फिर किसीकी अमानत नहीं लौटा पायेंगे। अच्छा हो कि आप अपने घर जायँ और हम अपने घर। मैंने उनसे उनका पता-ठिकाना पूछा तो कहने लगे कि मैं एक साधारण ब्राह्मण हूँ, बाहरसे आया हुआ हूँ। बहुत आग्रह करनेपर बोले कि भारतीय हूँ और एक मानवताके नाते अपने फर्जका निर्वाह मात्र किया है, कोई एहसान आपपर नहीं किया है। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि जीवनके किसी मोड़पर यदि आपको भी ऐसी कोई अमानत मिले तो अधिकारी व्यक्तिको उसकी अमानत अवश्य लौटा देना और एक बातका विशेष ध्यान रखो कि तुम बाल-बच्चेदार आदमी हो अत: होशमें रहा करो तथा मेरे समक्ष यह संकल्प करो कि कभी भी कोई भी नशा नहीं करोगे। मेरी घिग्घी बँध गयी। उन्होंने मुझे गलेसे लगा लिया। भीड़ इकट्ठी होने लगी थी तो उन्होंने ही बात सम्हाली। बोले कि हम लोग गहरे दोस्त हैं, बहुत सालोंके बाद मिलनेसे ऐसी स्थिति हो गयी है। अन्तत: उन्होंने अपना पता-ठिकाना नहीं दिया। मेरे मनमें पश्चात्ताप हो रहा था। अब मेरा नशा हमेशा-हमेशाके लिये छूट गया था।

—भोलाराम श्रीवास्तव

(४)

भूलकर भी दूसरोंकी बुराई नहीं सोचनी चाहिये

दस रुपया मासिक वेतन पानेवाला गाँवका चौकीदार एक बसपर चढ़कर किसी कार्यवश कचहरी जा रहा था। पैसेके लिये बसके मालिकसे कुछ विवाद हो गया। विवाद होते-होते बात मार-पीटतक पहुँच गयी। फलस्वरूप बसवालोंने चौकीदारको खूब मारा-पीटा। इसके बाद चौकीदारने थानेकी शरण ली; लेकिन वह मारनेवालोंका नाम नहीं जानता था। इधर उस थानेके थानेदारसे बसवालोंका झगड़ा था। दारोगाजीने अपने मनसे उन्हींमेंसे पाँच व्यक्तियोंके नाम, जिन्हें चौकीदार नहीं जानता था, अपनी रिपोर्टमें लिख डाले और कचहरीमें चार्जशीट पेश कर दी। जब मजिस्ट्रेट साहबके यहाँ मुकदमेकी कार्यवाही शुरू हुई तो चौकीदारने केवल दो आदमियोंको मारनेवालोंमेंसे पहचाना और बाकी तीनको वह नहीं पहचान सका। मुकदमेमें पाँचोंकी रिहाई हुई, क्योंकि बेचारा चौकीदार तीनको तो पहचानता ही नहीं था और दोका तो नाम भी नहीं जानता था। तो फिर थानेमें लिखाया किसने? मुझे ऐसा लगा कि 'चौकीदार झूठ बोलता है और इसने जान-बूझकर मुकदमा ख़राब करनेके लिये ऐसा बयान दिया है।' मेरे विचारमें उस समय यह नहीं आया कि दारोगाजीने ही बसवालोंसे अपना वैर निकालनेके लिये अपने मनसे झूठे नाम लिखकर मुकदमा चलाया था। मैंने तुरंत कलम उठायी

और उस गरीब चौकीदारको नौकरीसे हटानेके लिये जोरदार शब्दोंमें कप्तान साहब बहादुरके यहाँ लिख डाला।

एक मास भी नहीं बीतने पाया कि मेरा एक पुलिस जमादारसे झगड़ा हो गया और मैंने एस० डी० ओ० साहबके यहाँ उसपर मुकदमा दायर कर दिया। एस० डी० ओ० साहबको अपनी कलम तथा ईमानदारीका बड़ा गर्व था, परंतु अपने जनोंके गर्वके घड़ेको फोड़नेवाले भगवान्ने एस० डी० ओ० साहबकी बुद्धि बदल दी और पुलिसके डरसे एस० डी० ओ० साहबने अपना हुकुम रद करके बदल दिया, जिसकी सूचना बिजलीकी भाँति शहरमें फैल गयी। अब मैंने एस० डी० ओ० साहबकी बुराई सोचना आरम्भ किया कि मेरी बुलाहट कप्तान साहबके यहाँसे आयी और भगवान्की कृपासे कप्तान साहबने पुलिस जमादार तथा मेरे बीच मेल-मिलाप तो करा दिया, परंतु चूँकि मैंने चौकीदारको हटानेके लिये सोचा था कि एकाएक मुझे मालूम हुआ कि एस० डी० ओ० साहबने मुझसे रंज होकर कि क्यों मैंने उनकी शिकायत दूसरे स्थानोंमें की और क्यों उनके विरुद्ध शब्द निकालनेका साहस किया, मुझे हटानेके लिये जिलाधीश महोदयको पत्र लिखा है।

मैंने गम्भीररूपसे इसपर विचार किया और मुझे यही मालूम हुआ कि मैंने उस गरीब निर्दोष चौकीदारको नौकरीसे हटानेके लिये अनधिकार चेष्टा की थी और उसकी बुराई सोची थी, उसीका परिणाम आज मुझे भगवान्ने दिया है। आजसे मैंने सीख लिया कि कभी भी किसीकी बुराई नहीं सोचूँगा और सोच रहा हूँ कि कप्तान साहबसे जाकर मिलूँ और स्पष्ट शब्दोंमें प्रार्थना करूँ कि उस गरीब चौकीदारको वे क्षमा कर दें तथा नौकरीसे बाहर न करें। वह निर्दोष है। तभी मेरा कल्याण होगा और एस० डी० ओ० साहबके बुराई सोचनेसे मेरी बुराई कदापि नहीं होगी, क्योंकि मेरा मार्ग सही है मुझे भगवान्का भरोसा है। आज इस सच्ची कहानीसे मुझे यह शिक्षा मिली कि *'कर भला तो हो भला।'* और दीनबन्धु भक्तवत्सल कृपासिन्धु किसी भी आदमीका अभिमान नहीं रखते, किंतु अपने भक्तोंकी रक्षा सदैव करते रहते हैं। भगवान्का भजन महान् बल है। दु:खमें, सुखमें सभी बातोंमें भगवान्की कृपाका अनुभव करना चाहिये और भूलकर भी किसीकी बुराई नहीं सोचनी चाहिये।

—एक भुक्तभोगी

मनन करने योग्य

ईश्वर-विश्वासका फल

कई वर्ष हुए मेरी पुत्री डोरोथी, जब वह कॉलेजमें उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही थी, अचानक एक भयंकर रोगसे पीड़ित हो गयी। उसकी इस रुग्णावस्थाके सिलसिलेमें मुझे विश्वासके सम्बन्धमें एक नवीन अनुभव हुआ, जो मेरे जीवनका सबसे बड़ा अनुभव है।

डोरोथीपर शिशिरकालमें इन्फ्लुएंजाका आक्रमण हुआ और उसका प्रभाव ग्रीष्मकालके आगमनतक वैसा ही बना रहा, शान्त नहीं हुआ। वह उस समय भी बहुत बीमार थी। यद्यपि उसकी चिकित्साका भार योग्य डॉक्टरोंके हाथोंमें था; परंतु फिर भी उसकी अवस्थामें कुछ विशेष सुधार न हो सका और अन्तमें डॉक्टरोंने उसे उत्तरी कारोनिला पर्वतपर ले जानेका परामर्श दिया।

यात्राके लिये तैयारियाँ की गयीं और परिवारवालोंके भयकी आशंका करनेपर भी मैं तुरंत रवाना हो गयी। डोरोथीके साथ मैं अकेली थी, किंतु मैं अपनेको 'एकाकी' नहीं समझती थी; क्योंकि मैं जानती थी कि ईश्वर मेरे साथ है। मैं उसके इन वचनोंपर विश्वास कर सकती थी—'मैं तुमसे कभी पृथक् नहीं होऊँगा, न तुम्हें कभी छोड़ूँगा'—भगवान्के ये वचन उस समय मेरे लिये बहुत महत्त्वके थे और मैं अनुभव करती थी कि ईश्वर मेरा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

डोरोथीने यात्राके भारको आशातीत रूपसे सहन किया। आशाविल्ला पहुँचनेपर हम डॉक्टरके पास गये। उसने परीक्षा करके डोरोथीको 'सेनीटोरियम'में यह कहकर भेज दिया कि डोरोथीके शरीरमें कोई अवयव-सम्बन्धी खराबी प्रतीत नहीं हो सकी है, उसे केवल स्वास्थ्य-सुधारकी आवश्यकता है और उसमें कई मास लगेंगे।

सेनीटोरियम आशाविल्लासे पाँच मीलकी दूरीपर था। मैं शहरकी एक धर्मशालाके एक कमरेमें रहने लगी और

प्रतिदिन सबेरे अपनी लड़कीको देखनेके लिये सेनीटोरियम जाती रही। पहाड़ी प्रदेश होनेके कारण तीन मील सवारीपर जानेके बाद दो मील पहाड़पर चढ़ना पड़ता था। दोपहरमें मैं अपने ग्रामकी एक सहेली मैरीपैटनको, जो दूसरे सेनीटोरियममें थी, देखने जाती थी।

समय बीतता गया। एक-एक दिन करके महीनों व्यतीत हो गये; पर डोरोथीकी अवस्थामें कुछ भी सुधार नहीं हुआ। अब मैं दोहरी चिन्तामें पड़ गयी—एक ओर लड़कीकी ऐसी अवस्था, दूसरी ओर पैसेका अभाव। खर्च कम करनेके लिये मैंने अपना स्थान परिवर्तन कर दिया और धर्मशालामें ही एक छोटे कमरेमें चली गयी।

यह कमरा अभी खाली हुआ था। उसे झाड़-पोंछकर मेरे लिये तैयार नहीं किया गया था। जानेवाले सज्जन उसमें बहुत-सी छोटी-मोटी चीजें छोड़ गये थे। मेजपर एक पत्रिका पड़ी हुई थी। मैंने उसे देखा। उसके प्रथम पेजपर छपे हुए लेखने मुझे बहुत प्रभावित किया। उसमें बताया गया था कि 'दृढ़ विश्वास होनेपर किस प्रकार ईश्वर हमें प्रार्थनाका उत्तर देते हैं।' लेखको पढ़नेसे मुझे दयामय प्रभुके ये शब्द स्मरण हो आये कि 'तुम्हारे पुकारनेके पूर्व मैं उत्तर देता हूँ, तुम्हारे बोलनेके पूर्व मैं उसे सुन लेता हूँ।' बस, इसीकी मुझे आवश्यकता थी।

मैं अपने बिस्तरके पास घुटनोंके बल बैठ गयी और तन्मयताके साथ ईश्वरसे प्रार्थना करने लगी कि वह मुझसे बातें करे, मुझे बताये कि क्या करना चाहिये—ठीक उसी प्रकार जैसे कि उसने पुराने समयमें अपने भक्तोंके साथ किया है। कुछ देरमें मैं उसके सांनिध्यका अनुभव करने लगी और अपने समस्त हृद्गत भावोंको शब्दोंके रूपमें व्यक्त नहीं कर सकी। मैं घुटनोंके बल बैठी हुई प्रतीक्षा करने लगी। अचानक ये शब्द सुनायी दिये, 'घर लौट जाओ।'

मैंने झट उठकर कमरेका एक फाटक खोला और बरामदेमें जाकर चारों ओर ध्यानसे देखने लगी कि कोई आस-पास है तो नहीं! क्योंकि आवाज इतनी स्पष्ट हुई थी कि मैंने अनुभव किया, कि किसी समीपस्थ व्यक्तिने ही इन शब्दोंका उच्चारण किया है, पर बरामदेमें कोई दिखायी नहीं दिया।

मैं कमरेमें लौट आयी और पुनः घुटनोंके बल बैठकर ईश्वरसे प्रार्थना करने लगी कि 'वह बताये, मुझे अपनी लड़कीके लिये क्या करना चाहिये।' कुछ देरके बाद पुनः वे ही शब्द हुए। इस बार मुझे निश्चय हो गया कि हालमेंसे किसी व्यक्तिने ये शब्द उच्चारण किये हैं। मैंने फाटक खोला और हालमें इधर-उधर झाँककर देखा; किंतु वहाँ भी कोई नहीं था।

मैंने कमरेमें आकर एक बार पुनः प्रार्थना की। अब मुझे अनुभव होने लगा कि मेरी प्रार्थनाका उत्तर दिया जा रहा है और ईश्वर मुझे अपने कर्तव्यका निर्देश कर रहे हैं। क्या मैंने उनकी इस प्रतिज्ञापर कि 'मैं प्रार्थना सुनता हूँ और उसका उत्तर देता हूँ' संदेह किया?

इतनेमें ही दरवाजेपर खट-खटकी आवाज हुई। मैंने उठकर देखा, चपरासी मुझे सूचना देने आया है—'आपकी लड़की टेलीफोनपर आपसे बात करना चाहती है।' मैं दौड़कर टेलीफोनके पास गयी और रिसीवरको हाथमें उठाया! पर इसके पहले कि मैं कुछ बोल सकूँ, डोरोथीने आतुरताभरे शब्दोंमें कहा—'माँ! मैं घर जा रही हूँ। मैं ईश्वरसे प्रार्थना कर रही हूँ। अतः मुझे विश्वास है, मेरे लिये यही हितकर है। क्या तुम ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकती कि मैं सेनीटोरियमको आज मध्याह्नमें छोड़ सकूँ?'

मैं कमरेमें लौट आयी और ईश्वरको उसके पथ-प्रदर्शनके लिये दीनभावसे धन्यवाद देकर पुनः प्रार्थना करने लगी। इतनेमें ही मेरी सहेलीका फोन आया। उसने अभिनन्दन करते हुए कहा—'मैं घर जा रही हूँ। क्या आप और डोरोथी मेरे साथ नहीं चल सकतीं?'

अब मैं ईश्वरके पथ-प्रदर्शनमें कैसे अविश्वास कर सकती थी? अब तो मुझे उसका स्पष्ट प्रमाण मिल गया। मुझे शब्द सुनायी दिये, केवल इतनी ही बात अब नहीं थी, प्रत्युत डोरोथी और मैरी—ये दोनों ही यह अनुभव कर रही थीं कि ईश्वर उन्हें घर जानेकी प्रेरणा दे रहा है।

हम सब आनन्दके साथ घर लौटे। आशाविल्लामें हुए अनुभवके कारण डोरोथीका तथा मेरा विश्वास इतना दृढ़ हो गया था कि अब डॉक्टर या चिकित्सकको बुलानेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। हम दोनों बार-बार—'पुकारनेके पूर्व मैं उत्तर दूँगा, और बोलनेसे पूर्व मैं उसे सुन लूँगा'—इन दैवी शब्दोंका जप करने लगीं। देखते-देखते ही कुछ दिनोंमें डोरोथी बिलकुल स्वस्थ हो गयी और पुनः सुखपूर्वक कॉलेजमें अध्ययन करने लगी।

—श्रीमती सुइ-स्टुअर्ट ब्रमे कैलिफोर्निया

॥ श्रीहरिः ॥

नवीन प्रकाशन

दशावतार—(कोड-नं० 779) भगवान्‌के अवतारका उद्देश्य कोटि-कोटि मानवोंपर कृपाकर उनके उद्धारका मार्ग प्रशस्त करना है। परमात्माके लीला-रहस्यका ज्ञान, बालकोंके लिये धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक उत्थानका महामन्त्र है। पूर्व-सूचित 'दशावतार' का प्रकाशन हो चुका है, जिसमें सरल भाषामें भगवान्‌के मत्स्य, कच्छप, वामन, वराह, नृसिंह, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि-अवतारकी कथाका मनोहर चित्रण है। पुस्तकमें कथाके साथ भगवान्‌के प्रत्येक अवतारके मनोहर चित्र हैं। मूल्य रु० ६ मात्र, डाकखर्च रु० २

हिन्दी बालपोथी—[भाग-४] (कोड-नं० 764) 'गीताप्रेस'का यह सदैव प्रयास रहा है कि बालकोंके मानसिक तथा बौद्धिक विकासके लिये उपयोगी पाठ्य पुस्तकें तथा सत्साहित्य कम-से-कम मूल्यपर जन-सामान्यको उपलब्ध हो सके। इसी सत्प्रयासके अन्तर्गत विद्वान् शिक्षाविदोंके योग्य निर्देशनमें तैयार करायी गयी हिन्दी बालपोथी (भाग—१,२,३)-का प्रकाशन किया गया था। जनताने इसे अपनाकर इसका हृदयसे स्वागत किया। इसी परम्परामें प्रकाशित हिन्दी बालपोथी (भाग-४) भी प्रकाशनमें उपलब्ध है। आप सबको उससे लाभ उठाना चाहिये। पृष्ठ संख्या ९६, मूल्य रु० ४, डाकखर्च रु० १

हिन्दी बालपोथी—[भाग-५] (कोड-नं० 765) हिन्दी बाल पोथी (भाग-४)-के साथ ही (भाग-५)-का भी प्रकाशन किया गया है, जिसके विषय अत्यन्त ही सरल तथा रोचक भाषामें लिखे गये हैं। विद्यार्थियोंके सुविधानुसार इसका प्रयोग करना चाहिये। पृष्ठ संख्या ९६, मूल्य रु० ४, डाकखर्च रु० १

शीघ्र प्रकाश्य

श्रीरामचरितमानस [गुजराती अनुवादसहित, ग्रन्थाकार]—(कोड-नं० 799)

विश्ववन्द्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजकी अलौकिक कृति '**श्रीरामचरितमानस**' का अधिक-से-अधिक पठन-पाठन कलि-संतापका निवारण तथा मानव-कल्याणका सर्वोत्तम साधन है। इस दिव्य ग्रन्थके पावन विचारोंसे जन-जनको लाभान्वित करानेके उद्देश्यसे इसके मूल एवं अनुवादका गुजराती भाषा, मझले-आकारमें प्रकाशन किया गया है। गुजराती भक्तोंके विशेष माँगपर इसके मूलसहित अनुवादका गुजरातीमें ही ग्रन्थाकारमें शीघ्र प्रकाशनकी योजना है। आकर्षक लेमिनेटेड आवरण, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ संख्या ९३६, मूल्य रु० ८५, डाकखर्च रु० १८ (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

मानस-रहस्य—(कोड-नं० 103) वैकुण्ठवासी श्रीजयरामदासजी 'दीन' द्वारा 'कल्याण'में पूर्व प्रकाशित मानस-सम्बन्धी ३५ लेखोंका अभूतपूर्व संग्रह। इस पुस्तकमें रामावतारका रहस्य, कलियुगका पुनीत प्रताप, सीता-तत्त्व, मानसमें अद्वैतवाद, श्रीभरत-यश-चन्द्र आदि मानसके गूढ़ विषयोंपर बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। यह पुस्तक बहुत दिनोंसे अप्राप्त थी। इस पुस्तकको शीघ्र प्रकाशित करनेकी योजना है। सजिल्द, पृष्ठ संख्या ४००, मूल्य रु० २४, डाकखर्च रु० १४ (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

रामाज्ञा-प्रश्न—(कोड-नं० 109) प्रस्तुत पुस्तक गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने सात सर्गोंमें लिखी है। प्रत्येक सर्गमें सात सप्तक हैं और प्रत्येक सप्तकमें सात दोहे हैं। इसमें श्रीरामचरितमानसमें वर्णित कथाका संक्षिप्त वर्णन है। सप्तम सर्गमें स्फुट दोहे तथा शकुन देखनेकी विधि है। यह पुस्तक बहुत दिनोंसे अप्राप्त थी। इसके शीघ्र प्रकाशनकी योजना है। पृष्ठ संख्या ९६, मूल्य रु० ४, डाकखर्च रु० १

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

प्र० ति० २०-६-९७

LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण' का वर्तमान विशेषाङ्क 'कूर्मपुराणाङ्क'

[इच्छुक सज्जन कृपया शीघ्र मँगायें]

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा है। इनके श्रवण, पठन और पारायणसे स्वाभाविक ही पुण्य-लाभ, अन्तः-करणकी शुद्धि, भगवान्‌में रति और विषयोंमें विरति होती है। **'कल्याण'** ने इस वर्ष (जनवरी १९९७ ई०)-के विशेषाङ्करूपमें **'कूर्मपुराणाङ्क'** प्रकाशित किया है। इसमें भगवान् नारायणके कूर्मावतारकी कथासहित भगवती महालक्ष्मीका प्रादुर्भाव एवं उनका माहात्म्य, वर्णाश्रम-धर्म, गृहस्थोंके कर्तव्य-वर्णन, भगवान् सदाशिवकी उपासना तथा शंकर-पार्वतीका चरित्र एवं महिमा आदिका वर्णन है। अनेक बहुरंगे, सादे चित्रों एवं आकर्षक रंगीन चित्रावरणसे सज्जित यह एक ऐसा दुर्लभ पौराणिक दिग्दर्शन है, जो संयोगसे कभी-कभी ही उपलब्ध होता है। इसकी अब सीमित प्रतियाँ ही बची हैं। वार्षिक शुल्क रु० ८० (सजिल्द विशेषाङ्कका रु० ९०) है। दसवर्षीय ग्राहक-शुल्क रु० ५०० (सजिल्द विशेषाङ्कका रु० ६००) है। इच्छुक महानुभावोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

स्वयं ग्राहक बननेके साथ-साथ जिज्ञासु-प्रेमी सज्जनोंको अपने इष्ट-मित्रों और परिचितोंको भी अधिकाधिक ग्राहक बनाकर 'कल्याण'-प्रचारके पुनीत कार्यमें सहयोग प्रदान करना चाहिये।

व्यवस्थापक—**'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

विशिष्ट प्रकाशन

गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका—(कोड-नं० 701) [लेखक—गोपीनाथ अग्रवाल] अपने ही लहूसे निर्मित, दाम्पत्य जीवनके प्रतीक अपनी संतानकी गर्भपातद्वारा हत्या ब्रह्महत्यासे भी घिनौना पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। प्रस्तुत पुस्तकमें विद्वान् लेखकने गर्भपातमें हत्या अनिवार्य, गर्भस्थ बच्चेकी हत्याका आँखों-देखा विवरण आदि लेखोंद्वारा इस भयानक कुकृत्यका ऐसा लोमहर्षक चित्र उपस्थित किया है, जिसे पढ़कर पाठकके मनमें इस अक्षम्य, घिनौने अपराधसे सदाके लिये घृणा हो जाती है। वर्तमान समयमें यह पुस्तक हिन्दीके अतिरिक्त तेलगू, बँगला, तमिल तथा अंग्रेजी भाषामें उपलब्ध है। अबतक विविध भाषाओंमें इसकी १,९५,००० प्रतियाँ प्रकाशित हो जाना इसके विशेष लोकप्रियताका परिचय है। शीघ्र ही मराठी भाषामें भी इसके प्रकाशनकी योजना है।

एक आवश्यक निवेदन

'गीताप्रेस'द्वारा लोकहितकारी धार्मिक-आध्यात्मिक साहित्यके प्रणयन-प्रकाशन और प्रचारकी एक सुदीर्घ परम्परा है। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजीके अतिरिक्त दक्षिण भारतीय भाषाओंसमेत अन्यान्य भारतीय भाषाओंमें अबतक यहाँसे शताधिक ग्रन्थ एवं पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं।

इसी क्रममें गुजराती-भाषी धर्मप्राण जनताकी आवश्यकताओंको देखते हुए 'गीताप्रेस'से प्रकाशित साहित्यको गुजराती भाषामें प्रकाशित करनेकी विस्तृत योजना है। इस कार्यके लिये हमें ऐसे सुधी सुयोग्य विद्वानोंकी आवश्यकता है, जिन्हें हिन्दी, संस्कृत तथा गुजराती आदि भाषाओंका सम्यक् ज्ञान हो तथा जो 'गीताप्रेस'में रहकर अनुवाद एवं प्रूफ-परिशोधनका कार्य कर सकते हों। साथ ही गुजराती भाषाके टाइपिस्ट, फोटो टाइप सेटरकी भी आवश्यकता है। सेवाके इच्छुक महानुभावोंको अनुभव, योग्यता तथा अपेक्षित सुविधाओंका उल्लेख करते हुए निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, अगस्त १९९७ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

यशोदाकी गोदमें कन्हैयाका निद्रोन्मीलित-स्वरूप

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

वर्ष ७१ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, अगस्त १९९७ ई० { संख्या ८ / पूर्ण संख्या ८४९

धनि यह घोष-पुरी

जो सुख ब्रज मैं एक घरी।
सो सुख तीनि लोक मैं नाहीं धनि यह घोष-पुरी॥
अष्टसिद्धि नवनिधि कर जोरे, द्वारैं रहतिं खरी।
सिव-सनकादि-सुकादि अगोचर, ते अवतरे हरी॥
धन्य धन्य बड़भागिनि जसुमति, निगमनि सही परी।
ऐसैं सूरदास के प्रभु कौं, लीन्हौ अंक भरी॥
(सूरसागर)

कल्याण

याद रखो—जो पुरुष भगवान्‌का होकर कामना और अपेक्षाके बन्धनसे मुक्त हो गया है, वही सदा सुखी है। उसकी शान्तिको भंग करे, ऐसा जगत्‌में कोई कारण नहीं है।

याद रखो—जिसको भगवान्‌की कृपापर भरोसा है और उनके न्यायपर विश्वास है, उसको संसारकी कोई भी स्थिति विचलित नहीं कर सकती।

याद रखो—जो सांसारिक पदार्थोंकी कोई परवा न करके केवल भगवान्‌से ही प्रेम करता है, जगत्‌की सारी वस्तुएँ और सारी परिस्थितियाँ स्वाभाविक ही उसके कल्याणमें लग जाती हैं।

याद रखो—जो भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेकर निश्चिन्त हो रहा है, उसको अपने योग-क्षेमकी चिन्ता कभी नहीं सताती। उसके लिये जो कुछ उचित, हितकर और आवश्यक होता है, भगवान् स्वयं ही उसकी रक्षा और पूर्तिकी व्यवस्था कर देते हैं।

याद रखो—जिसकी आवश्यकताका पता भी सर्वज्ञ भगवान् लगाते हैं और उसकी ठीक समयपर पूरी मात्रामें पूर्तिकी व्यवस्था भी सर्वशक्तिमान् और परम सुहृद् भगवान् ही करते हैं, उसकी यथार्थ आवश्यकताकी पूर्ति हुए बिना कभी रहती नहीं और अनावश्यक आवश्यकताका बोध उसे कभी सताता नहीं।

याद रखो—जिसके योग-क्षेमका भार भगवान्‌ने उठा लिया है, उसकी कभी किसी प्रकारसे हानि होगी—यह तो मानना ही मूर्खता है। उसकी कभी कोई हानि होती दिखायी देगी तो वह किसीकी उस गंदी और तुच्छ-सी झोंपड़ीको ढहाने-जैसी ही होगी, जो विशाल सुन्दर महल बनानेके लिये ढहायी जाती है।

याद रखो—जिसकी दृष्टि बहुत ही छोटी-सी सीमामें बँधी रहती है, उसीको प्रत्यक्षवादी कहते हैं और वही भविष्यके सुन्दर परिणामको न जाननेके कारण वर्तमानमें दीखनेवाली कल्पित हानिसे भयभीत होकर शोकमें डूब जाता है। दूरदर्शी पुरुष भविष्यको देखते हैं और भविष्यके सुन्दर परिणामके लिये वर्तमानके कष्टोंको सहर्ष स्वीकार करते हैं एवं उन्हें तपस्या समझकर सुखका अनुभव करते हैं।

याद रखो—जो भगवान्‌की कृपामें विश्वास करते हैं और भगवान्‌के ऊपर अपनेको छोड़ देते हैं, वे इस बातकी ओर ध्यान ही नहीं देते कि हमारी बड़ी हानि हो रही है। वे जानते हैं कि किसी परम लाभके लिये ही यह हानि हो रही है; क्योंकि मङ्गलमय भगवान्‌के विधानमें अमङ्गलके लिये गुंजाइश ही नहीं है।

याद रखो—जो भगवान्‌में यथार्थ विश्वास रखते हैं, उनका बीमा भगवान्‌के यहाँ बिक जाता है। यहाँकी बीमा-कम्पनियाँ तो फेल भी हो सकती हैं, पर वह बीमा लेनेवाला ऐसा पूर्ण है कि सब कुछ देनेपर भी उसका फंड उतना-का-उतना ही—अपार रहता है। वह जिसका बीमा ले लेता है, उसको सर्वत्र, सर्वथा और सर्वदाके लिये अभय कर देता है और यह बीमा हर साल बार-बार नहीं बेचना पड़ता। जो एक बार सच्चे हृदयसे श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अपना समर्पण कर उनकी शरण ले लेता है, उसका उसी क्षण सदाके लिये कभी Lapse (नष्ट) न होनेवाला अखण्ड बीमा बिक जाता है।

याद रखो—जो भगवच्चरणोंके शरणागत हो गया है, उसीका मानव-जन्म और मानव-जीवन सफल हुआ है। भोगोंके आश्रयमें पड़ा हुआ मनुष्य तो—जीवनकी सफलता तो दूर—उल्टे नरकोंमें तथा आसुरी योनियोंमें जानेकी तैयारी कर रहा है। उसका जीवन व्यर्थ ही नहीं, बल्कि आनेवाले भयानक दुःखोंका महान् कारण बन जाता है।

याद रखो—जिसने भगवच्चरणोंका आश्रय ग्रहण कर लिया है, वह स्वयं ही अपार दुःखसागरसे नहीं तरता, बल्कि उसके साथ बातचीत करनेवाले, मिलनेवाले, उससे प्रेम करनेवाले, उसके सांनिध्यमें रहनेवाले, उसके मित्र-बान्धव-कुटुम्बी और सेवक तक भी तर जाते हैं अर्थात् वह स्वयं सबके तरनेका साधन बन जाता है। बस, ऐसा ही पुरुष जगत्‌में धन्य है। उसीके माता-पिता धन्य हैं और वह भूमि भी धन्य है, जिसमें ऐसा भगवच्चरणारविन्द-चञ्चरीक प्रेमी भक्त पुरुष प्रकट हुआ। —'**शिव**'
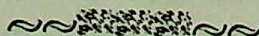
आदिदेव कल्याणकारी शिव

(श्रीयोगेशचन्द्रजी शर्मा)

शिव आदिदेव हैं। वे महादेव हैं, सभी देवताओंमें सर्वोच्च और महत्तम हैं। विश्वके आदिग्रन्थ ऋग्वेदमें उन्हें रुद्रके नामसे जाना गया, मोहनजोदड़ोकी सभ्यतामें उन्हें 'पशुपति' के रूपमें पहचाना गया और पुराणोंमें उन्हें महादेव या शंकरके रूपमें माना गया। श्वेताश्वतरोपनिषद्के अनुसार 'सृष्टिके आदिकालमें जब अन्धकार-ही-अन्धकार था, न दिन था, न रात थी, न सत् था, न असत् था, तब केवल एक निर्विकार शिव (रुद्र) ही थे।' इसी तथ्यको शिवपुराणकी वायवीय संहितामें इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया—

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन।
संसृज्य विश्वभुवनं गोप्तान्ते संचुकोच यः॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुतायं विश्वतोमुखः।
तथैव विश्वतो बाहुर्विश्वतः पादसंयुतः॥

(६। १४-१५)

अर्थात् 'सृष्टिके आरम्भमें एक ही रुद्रदेव विद्यमान रहते हैं, दूसरा कोई नहीं होता। वे ही इस जगत्की सृष्टि करते हैं, इसकी रक्षा करते हैं और अन्तमें सबका संहार कर डालते हैं। उनके सब ओर मुख हैं, सब ओर नेत्र हैं, सब ओर भुजाएँ हैं और सब ओर चरण हैं। स्वर्ग और पृथ्वीको उत्पन्न करनेवाले वे ही एक महेश्वर देव हैं।'

शिव कल्याणकारी हैं। उनके नामके अर्थमें भी यही ध्वनि है। कल्याण करनेवाले और आनन्द देनेवाले देवताको कौन नहीं चाहेगा? इसलिये शिवका सब पूजन करते हैं—मनुष्य और देवता ही नहीं, अपितु राक्षस और असुर भी। रावण, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, अन्धक, भस्मासुर, गजासुर और बाणासुर आदि सभीके शिव उपास्य देव हैं। रामायणके सभी पात्र शिवकी आराधना करते हैं। पद्मपुराणमें श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई शत्रुघ्नसे कहते हैं—'मैं शिवकी चरणरजको धारण करता हूँ' (४। २५०)। लंकापर आक्रमण करनेसे पहले श्रीरामचन्द्रजी शिव-पूजन करते हैं और उनका आशीर्वाद लेते हैं। महाभारतमें श्रीकृष्णद्वारा प्रत्येक युगमें शिव-पूजन किये जानेकी चर्चा है (अनु० १४। १३)। यजुर्वेदमें शिव, शम्भु, शंकर और रुद्र आदि नामोंसे शिव-पूजनके ६६ मन्त्र उपलब्ध हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण शिवके प्रति अपनी श्रद्धा इन शब्दोंमें अभिव्यक्त करते हैं—

महादेव महादेव महादेवेति वादिनः॥
पश्चाद्यामि महात्रस्तो नामश्रवणलोभतः।

(१। ६। ४८-४९)

अर्थात् जो महादेवका नाम लेता है, मैं उसके पीछे नाम-श्रवण-प्रलोभसे चलता रहता हूँ। शिवपुराणकी वायवीय संहिताके अनुसार ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त जो भी चराचर प्राणी हैं, वे सब भगवान् शिवके पशु हैं। इसीलिये पशुरूपी जीवमात्रके पति होनेके कारण उन्हें 'पशुपति' कहा गया है।

सृष्टिका कल्याण करनेके लिये शिवकी सत्ता सर्वव्यापी है। प्रत्येक व्यक्तिमें शिवका निवास है—

अहं शिवः शिवश्चायं त्वं चापि शिव एव हि।
सर्वं शिवमयं ब्रह्म शिवात्परं न किंचन॥

अर्थात् मैं शिव हूँ, यह शिव है और तुम भी शिव ही हो, सब कुछ शिवमय है, शिवसे परे कुछ नहीं है। इसीलिये कहा गया है—

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवं सर्वमिदं जगत्।

शिव ही दाता है, शिव ही भोक्ता है, शिव ही यज्ञकर्ता है और शिव ही यज्ञ है तथा जो शिव है वही मैं हूँ। तात्पर्य यह कि सारा जगत् ही शिवमय है, इसमें संदेह नहीं। इसी तथ्यको दृष्टिगत रखते हुए श्रीमच्छंकराचार्यने इन शब्दोंमें शिव-वन्दना की—

त्वत्तो जगद् भवति देव भव स्मरारे
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश
लिंगात्मकं हर चराचर विश्वरूपिन्॥

अर्थात् हे देव, हे शंकर, हे कन्दर्पदलन, हे शिव, हे विश्वनाथ, हे ईश्वर, हे हर, हे चराचर-जगद्रूप प्रभो! यह लिंगस्वरूप समस्त जगत् तुम्हींसे उत्पन्न होता है, तुम्हींमें स्थित रहता है और तुम्हींमें इसका लय भी हो जाता है।

सामान्यत: ब्रह्माको सृष्टिका जन्मदाता, विष्णुको पालनकर्ता और शिवको संहारकर्ता माना जाता है। परंतु मूलत: यह शक्ति एक ही है, जो तीन अलग-अलग रूपोंमें अलग-अलग कार्य करती है। वह मूल शक्ति शिव ही है। इसीलिये स्कन्दपुराणमें कहा गया है—'ब्रह्मा, विष्णु, शंकर (त्रिमूर्ति)-की उत्पत्ति माहेश्वर-अंशसे ही होती है। उसीकी शक्तिसे पितामह स्रष्टा, विष्णु त्राता और रुद्र संहर्ता हैं। तीनों एक हैं। तीनों माहेश्वरके अंश हैं और माहेश्वरकी मायासे सृष्टि, पालन और संहार करते हैं।'

संहारकर्ताके रूपमें भी शिवका महत्त्व कम नहीं। सृष्टिके कल्याण-हेतु जीर्ण-शीर्ण वस्तुओंका विनाश आवश्यक है। इस विनाशमें ही निर्माणके बीज छिपे हुए हैं। अत: शिव संहारकर्ताके रूपमें ही निर्माण और नव-जीवनके प्रेरक भी हैं। इस दृष्टिसे शिवको प्राचीन कालसे ही श्मशान-देवताके रूपमें भी पूजा जाता रहा है।

शिव भोले-भंडारी हैं और जगत्त्राता भी। सृष्टिपर कभी भी कोई संकट पड़ा तो उसके समाधानके लिये वे सबसे आगे रहे। प्रत्येक कठिन कार्यके समय देवताओंने भी शिवको ही स्मरण किया और शिवने उनकी कामना पूरी की। समुद्र-मंथनमें देवता और राक्षस दोनों ही लगे हुए थे। वे अनेकानेक रत्नोंको प्राप्त करनेकी आशा लगाये हुए थे। रत्न मिले भी, परंतु बादमें सर्वप्रथम तो हलाहल विष निकला, जिसकी गर्मीसे सब व्याकुल हो उठे। प्राणिमात्रके समक्ष प्राण-रक्षाकी ज्वलन्त समस्या उत्पन्न हो गयी, देवता और राक्षस भी अत्यन्त भयाक्रान्त हो उठे। विषका क्या किया जाय, कुछ भी तय नहीं हो पाया? कौन ग्रहण कर सकता था विषको? तुरंत ही 'शिव' को स्मरण किया गया और वे वहाँ उपस्थित हो गये। समस्याको समझे और बिना किसी हिचकिचाहटके उस सम्पूर्ण हलाहल विषको पी गये। परंतु उसे रखा केवल कण्ठमें ही। विषके प्रभावसे कण्ठ नीला हो गया। देवता और राक्षसोंने मिलकर नीलकण्ठकी जय-जयकार की। समुद्र-मंथनसे निकलनेवाले रत्नोंकी प्रतीक्षा या उनपर अपना अधिकार जमानेकी किसी भी प्रकारकी भावनासे दूर रहते हुए शिव निर्लिप्त-भावसे वहाँसे लौट गये। इसी प्रकार राजा भगीरथके प्रयत्नोंसे गङ्गाने पृथ्वीपर आनेकी बात स्वीकार कर ली। परंतु पृथ्वी उसके प्रचण्ड दबाव और प्रवाहको कैसे सहन कर पाती? अतएव शिव अपनी जटाएँ खोलकर खड़े हो गये और सृष्टिके कल्याणके लिये गङ्गाको अपनी जटाओंमें अवरुद्ध कर लिया।

एक और घटना लें। शिवकी पत्नी सतीकी मृत्यु हो चुकी थी और शिव कैलास पर्वतपर अपनी लम्बी समाधिमें थे। इसी समय तारकासुरने स्वर्गपर अधिकार कर लिया और देवताओंको विभिन्न प्रकारसे कष्ट देना शुरू कर दिया। देवता परेशान हो उठे। तारकासुरको ब्रह्माजीका वरदान प्राप्त था कि केवल शिवका पुत्र ही उसे मार सकेगा। परंतु सतीसे तो शिवको कोई पुत्र प्राप्त ही नहीं हुआ था और दक्ष-यज्ञमें सतीकी मृत्यु हो चुकी थी, तब शिवका पुत्र कहाँसे आये? सतीके वियोगसे पीड़ित शिव पुन: विवाहके लिये इच्छुक भी नहीं थे। पार्वती उन्हें पति-रूपमें प्राप्त करनेके लिये अवश्य ही घोर तपस्या कर रही थीं। लेकिन शिव तो स्वयं समाधिस्थ थे। उन्हें जाग्रत्-अवस्थामें लाकर विवाहके लिये मनानेका दु:साहस कौन करता? किसी तरह कामदेवको तैयार किया गया। वह अपनी सम्पूर्ण उद्दीपक शक्तियों और अप्सराओंको लेकर पहुँच गया। समाधिस्थ शिवके सामने खींच ली अपनी प्रत्यञ्चा। सम्पूर्ण वातावरण अत्यन्त मादक हो उठा। समाधिस्थ शिवको कुछ बेचैनी-सी महसूस हुई। उन्होंने क्रुद्ध होकर अपना तीसरा नेत्र खोल दिया। बेचारा कामदेव उसे सहन न कर सका। तत्काल भस्म हो गया। देवताओंमें हाहाकार मच गया। वे **'त्राहि माम् त्राहि माम्'** करते हुए शिवके सामने आये। कामदेवकी निरपराध पत्नी रति भी करुण विलाप कर रही थी। आशुतोष शिव द्रवित हो गये। अनंगके रूपमें कामदेवको पुनर्जीवन मिला। पार्वतीसे विवाह करनेके लिये शिवने अपनी सहमति दे दी। विवाह हुआ और उनके पुत्र कार्तिकेयने तारकासुरका वध किया।

शिव आशुतोष (शीघ्र प्रसन्न होनेवाले) हैं, इसलिये अपने भक्तोंपर शीघ्र ही प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दे देते हैं। एक बार तो भस्मासुरको वरदान देकर स्वयं संकटमें फँस गये थे। बड़ी कठिनाईसे विष्णुने अपने

बुद्धि-चातुर्यसे उन्हें उबारा।

शिव शक्तिके भी स्वामी हैं। वे पिनाकपाणि हैं। देवताओंके अनेक शत्रुओंका वध उनके हाथों हुआ है। महाभारतमें अर्जुनको पाशुपत-अस्त्र भी उन्होंने ही प्रदान किया, जिससे अर्जुनकी शक्ति और भी बढ़ गयी।

शिव सारी विद्याओं तथा सम्पूर्ण कलाओंके भी प्रथम आचार्य हैं। उनका नटराजस्वरूप विश्व-विख्यात है। संगीत उनके डमरूकी देन है। शिवने १०८ मुद्राओंमें नृत्य किया था, जिन्हें दक्षिण भारतके चिदंबरम् नटराज-मन्दिरकी दीवारोंपर अंकित भी किया गया है। भारतके नाट्यशास्त्रमें नृत्यकी यही १०८ मुद्राएँ स्वीकार भी की गयी हैं।

शिव समन्वयके प्रतीक हैं। उनके लिये अच्छा-बुरा सब समान है। कोई भी वस्तु उनके लिये घृणित नहीं। श्मशान और राजमहलोंका निवास उनके लिये समान है। चन्दन और श्मशानके भस्म दोनोंको ही वे सहज रूपमें स्वीकारते हैं। उन्हें आक, धतूरा भी उतने ही प्रिय हैं, जितने सुगंधित पुष्प। जहाँ उनके मस्तकपर शीतल चन्द्रमा सुशोभित है, वहीं गलेमें मुण्डमाल और फुफकारते हुए विषैले सर्प हैं। पियूषमयी गङ्गाको वे अपने सिरपर धारण किये हुए हैं, किंतु उनके कण्ठमें हलाहल विषका स्थायी कोष है। वे शीघ्र प्रसन्न होनेवाले 'आशुतोष' हैं, परंतु दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये वे 'पिनाकपाणि' और 'त्रिशूलधारी' भी हैं। वे सहज कृपालु हैं, परंतु उनमें अटूट दृढ़ता भी है। रामकी परीक्षामात्रके आरोपमें ही वे अपनी प्रिय पत्नी सतीको त्यागनेमें भी सक्षम हैं। वे कामदेवको भस्म करनेवाले हैं, किंतु दाम्पत्य-जीवनके आदर्श हैं। शिव परम योगी हैं, किंतु पार्वतीको अपने आधे शरीरमें स्थान देनेवाले अर्धनारीश्वर भी हैं। वे प्रलयंकर हैं, परंतु शान्तिके अग्रदूत भी हैं। उन्होंने ताण्डवको जन्म दिया है और उसके साथ ही लास्य (नृत्य-वाद्य)-को भी। उनका एक पुत्र परम शूरवीर और देवताओंका सेनापति है तो दूसरा पुत्र गणेश बुद्धि और मङ्गलका प्रतीक है, ऋद्धि-सिद्धि-दाता है तथा सभी देवताओंमें अग्रगण्य और प्रथम पूज्य है। सचमुच शिव ही केवल शिव हैं। वे असाधारण हैं, अद्वितीय हैं।

भगवान् शिवके पूजनकी विधि भी अत्यन्त सरल है। यूँ शिवरात्रिको रात्रिके प्रत्येक प्रहरमें अलग-अलग पूजनकी व्यवस्था है। सम्पूर्ण रात्रि अबाध-रूपमें जागते रहने और संकीर्तन करनेका भी विधान है। लेकिन ऐसा नहीं कि शिवको प्रसन्न करनेके लिये यह सब अपरिहार्य हो। एक लोटा जल और कुछ बिल्वपत्र ही उन्हें संतुष्ट करनेके लिये पर्याप्त है। ये पत्र-पुष्पादि न मिलें तो भी कोई चिन्ता नहीं। किसी भी बहाने उन्हें स्मरण कर लेना पर्याप्त है। गुणनिधि नामका दुराचारी और जुवारी ब्राह्मण तो चोरीके लिये शिवालयमें गया था। रात्रिके गहन अन्धकारमें प्रकाशके लिये उसने इधर-उधरसे कुछ कपड़ा एकत्रकर जला दिया। शिव इस कार्यको अपने लिये प्रकाशकी व्यवस्था समझे और बस, प्रसन्न हो गये। ऐसे ही एक भील वृक्षपर चढ़नेके लिये शिवजीकी प्रतिमापर चढ़ गया। भगवान् शिवने समझा कि इस भक्तने स्वयं अपने शरीरको ही मुझपर भेंट कर दिया है और बस, वे प्रसन्न हो गये।

महादेव शिवकी वन्दना करते हुए शिवमहिम्न:स्तोत्रमें कहा गया है—

महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।
अघोरान्नापरो मन्त्रो—।

महेश्वरसे बढ़कर कोई देव नहीं है, महिम्न:स्तोत्रसे बढ़कर अन्य कोई स्तुति नहीं है। प्रणव-मन्त्र (ॐ)-से बढ़कर दूसरा कोई मन्त्र नहीं है।

प्रेमी सर्वत्र प्रेममय भगवान्‌को ही देखता है, सब कुछ भगवान्‌में ही देखता है, ऐसी दृष्टि रखनेवालेकी नजरसे भगवान् अलग नहीं हो सकते तथा वह भी भगवान्‌से अलग नहीं हो सकता।

परोपकार

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

१-लोक-सेवा खूब करनी चाहिये। कोई-कोई सेवा भजनसे भी बढ़ जाती है। समयपर की हुई सेवा विशेष लाभप्रद होती है।

२-निष्कामभावसे लोक-सेवा करनेसे भी पापोंका नाश होकर भगवान्‌में प्रेम हो सकता है।

३-निष्कामभावसे सब भाइयोंकी सेवा करनेसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि होकर बहुत ही शीघ्र श्रीभगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। मनसे सबका हित चाहना ही सेवा है और सबको श्रीभगवान्‌की भक्तिमें लगानेकी चेष्टा करना तो परम सेवा है। इन बातोंसे भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं।

४-संसारकी परम सेवा करनेवालोंके उद्धारमें तो संशय ही नहीं है। केवल ऐसा भाव रखनेवालोंका भी उद्धार हो सकता है।

५-गङ्गा-किनारे प्याऊ लगा दे तो यह ठीक नहीं। प्याऊ लगाना हो तो मरुभूमिमें लगावे, यह देश इसका पात्र है।

६-वर्तमान समयमें अकाल आदि जो-जो आपत्तियाँ पड़ी हुई हैं, वहाँ अन्न आदिकी सहायता देना सात्त्विक दान है।

७-जो अपना तन, मन, धन, सर्वस्व संसारके मनुष्योंको भगवद्भक्तिमें लगानेके लिये ही अर्पित समझता है, उसे अर्पण करना नहीं पड़ता, उसके लिये सर्वस्व भगवान्‌का है और वह उसीके काममें लग रहा है। लोगोंको भगवद्भक्तिमें लगानेके लिये, वह अपने शरीरकी खाल खिंचवानेमें भी संकोच नहीं करता। उसका जीवन लोगोंके उद्धारके लिये ही है। वह भक्तिके प्रचारके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणोंतककी आहुति दे डालता है।

८-परम सेवा वास्तवमें उसीको कहते हैं जिस सेवाके करनेके पश्चात् कुछ भी कार्य शेष न रहे, अर्थात् संसारी मनुष्योंको भगवत्प्रेममें लगाकर उन्हें भगवान्‌के परम धाममें पहुँचा देनेका नाम ही वास्तवमें परम सेवा है।

९-अपना पेट तो पशु भी भरते ही हैं, उत्तम उसीको समझना चाहिये कि जो दूसरेके हितके लिये अपने प्राण भी देनेके लिये तैयार है।

१०-दूसरोंको जो फायदा पहुँचाता है वह अपने-आपको ही फायदा पहुँचाता है, जैसे अपने हाथकी अंगुलियोंमेंसे किसी अंगुलीका फायदा अपना ही फायदा है। वास्तविक दृष्टिमें तो एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं फिर किसका फायदा किसका नुकसान। किसीको नुकसान हुआ हो तो फायदा हो। किंतु व्यावहारिक दृष्टिमें भी दूसरोंको जो फायदा होता है वह अपना ही होता है। यह बात समझमें नहीं आये तो इस प्रकार समझना चाहिये कि निष्कामभावसे दूसरोंको जो फायदा पहुँचाया जाय वह आपको भगवत्प्राप्तिके नजदीक पहुँचानेवाला है।

११-किसी भाईका कोई रोजगार लगा देता है तो मुझे इतनी प्रसन्नता होती है कि मेरे सगे भाईको कामपर लगा दिया।

१२-जिन आचरणोंके द्वारा जीवोंको परम सुख मिले वही परम सेवा है।

१३-यावन्मात्र जीवोंकी सेवा करनी चाहिये और उनको सुख पहुँचाना चाहिये।

१४-बीमारीसे बहुत शिक्षा मिलती है। मन्दाग्निकी बीमारी साधकके लिये बहुत अच्छी है, क्योंकि धीरे-धीरे आदमीके सारे शरीरको कमजोर करके सावधान करती रहती है तथा अन्तकालतक चेत रहता है।

१५-विश्वके समस्त जीवोंको सुख-सुविधा पहुँचाना और उनके हितकी व्यवस्था करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है, इसीमें उसकी धार्मिकता है।

१६-संसारकी सुव्यवस्था करने, सबको सुख पहुँचाने और ऐसा करते-करते परमात्माको प्राप्त कर लेनेके लिये ही मनुष्यकी रचना की गयी है।

१७-परमात्माकी सृष्टिमें जड-चेतन सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार परस्पर सबका उपकार साधन कर रहे हैं। इसलिये सबकी यथायोग्य उन्नतिमें ही अपनी उन्नति है और विनाशमें ही अपना विनाश है।

१८-जो पुरुष प्रत्येक जीवको अपना प्रिय भाई मानकर सबका हित चाहता हुआ सबके साथ यथायोग्य सद्व्यवहार

करता है, परमपिता परमेश्वर स्वाभाविक ही उसपर प्रसन्न होते हैं और सारे भाई भी उससे प्यार करते हैं।

१९-ये सब चराचर प्राणी हमारे भाई ही नहीं हैं, अपितु इनके हृदयमें हमारे परम पूजनीय इष्टदेव परमेश्वर विराजमान हैं। वे ही इनके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। इस नातेसे इन्हें सुख पहुँचाना परमेश्वरको सुख पहुँचाना है और इन्हें दुःख देना परमेश्वरको दुःख देना है।

२०-मनुष्यकी तो रचना ही की गयी है सब जीवोंके यथायोग्य पालन और संरक्षणके लिये। वही यदि इन्हें मारनेपर उतारू हो जायगा तो फिर इनको कौन पालेगा और ये कैसे जी सकेंगे।

२१-मनुष्यमात्रका यह परम कर्तव्य है कि वह प्राणपणसे ऐसी ही चेष्टा करे जिसमें सब चराचर जीवोंका परम हित हो।

२२-किसी हालतमें किसीका किसी प्रकारसे अहित करना ही ईश्वरके कानूनके विरुद्ध कार्य करना है।

२३-दूसरोंको कष्ट पहुँचाना अपने ही आत्माको कष्ट पहुँचाना है, क्योंकि अपने आत्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

२४-मनुष्य यदि किसीको दुःख दे रहा है तो वह वस्तुतः प्रकारान्तरसे अपनेको ही दे रहा है, और यदि किसीको सुख पहुँचा रहा है तो वह भी अपनेको ही पहुँचा रहा है।

२५-जो मनुष्य दूसरोंसे घृणा, द्वेष और वैर करता है अथवा उनके अनिष्टकी इच्छा करता है वह मनुष्यत्वसे तो गिरा हुआ है ही, सच पूछिये तो पशुओंसे भी गया-गुज़रा है।

२६-मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणिमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा करें।

२७-सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो प्राणिमात्रकी सेवा कर सकता है।

२८-किसीके साथ जो प्रेम करना है वह भगवान्के साथ ही प्रेम करना है। इस प्रकारके प्रेमपूर्ण व्यवहारके प्रभावसे हम भगवान्के परम प्रिय बन जायँगे।

२९-प्रेम करनेवालेको प्रेम मिलता है और द्वेष करनेवालेको द्वेष।

३०-सबसे प्रेम बढ़ाइये। मेरे द्वारा दूसरेका हित कैसे हो, निरन्तर यही बात सोचते रहना चाहिये।

३१-चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, सबको उसकी सेवा करनी चाहिये, उसकी सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, संसारको सुख पहुँचाना ही परमात्माको सुख पहुँचाना है।

३२-परमात्मा समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी हैं, इसलिये सबकी सेवा भगवान्की ही सेवा है।

३३-यह नियम ले लें कि शरीरसे वही कार्य निष्कामभावके साथ किया जायगा जिससे दूसरेका उपकार हो। इसके समान कोई भी धर्म नहीं है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

—इस नियमको धारण कर लेनेसे भी संसारसे मुक्ति हो जाती है।

३४-दूसरोंका उपकार करनेकी आदत डालनी चाहिये, यह बड़े महत्त्वकी बात है कि अपनेसे किसीका उपकार बन जाय, किंतु वह उपकार होना चाहिये उदारता और दयाबुद्धिसे।

३५-सबसे बढ़िया बात क्या है? अपने साथ जो बुराई करे उसके साथ भी भलाई करे।

३६-धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन' कहलाता है। इस साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

३७-प्यासेको पानी, नंगोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदि सेवाके साधन हैं।

३८-सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती

है—सब एक ईश्वरकी ही संतान होनेके कारण सबको अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्मदृष्टिसे सबको अपना 'स्वरूप' समझते हुए और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित है इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन तीन भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है।

३९-ममता, आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर नि:स्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधिक मूल्यवान् होती है।

४०-उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है।

४१-सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है।

४२-अपनेसे जो बड़े हैं, पूज्य हैं, दु:खी हैं, लाचार हैं, उनकी सेवाका और भी अधिक महत्त्व है।

४३-कोई भी मिल जाय, उसे देखकर प्रसन्न होना चाहिये। सबसे मीठा वचन बोलना चाहिये। प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। अपनी दृष्टिसे सबको भगवान्का स्वरूप समझना चाहिये। सेवा भी इसी भावसे करनी चाहिये।

४४-सेवाका इतना भारी प्रभाव है कि उससे भगवान् अपने-आप मिल सकते हैं। इसलिये तन-मन-धनसे दीन-दुखियोंकी, माता-पिता आदि सभी गुरुजनोंकी सेवा करनी चाहिये।

४५-हमें भगवान्ने रुपये, भोग-पदार्थ, ऐश्वर्य आदि जो कुछ भी दिया है, वह यदि किसी प्रकार भी दूसरोंकी सेवामें लगे तो अपना अहोभाग्य समझना चाहिये।

४६-कहीं भी सेवाका अवसर मिल जाय तो समझना चाहिये कि असली धन मिल गया।

४७-सेवाके दो साधन—दाम और काम—बड़े महत्त्वके हैं। एकमें ऐश्वर्यका त्याग है, दूसरेमें शारीरिक परिश्रम है।

४८-सेवाका काम मिल गया तो ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिये मानो राम मिल गये।

४९-सेवाके कई स्वरूप हैं। दूसरोंको मान-बड़ाई देना भी सेवा ही है। सेवा रत्नोंकी ढेरी है। उसे लूटनेकी चीज समझकर खूब लूटना चाहिये।

५०-कोई भी नीचा काम—जैसे पैर धुलाना, हाथ धुलाना, पत्तल उठाना आदि मिल जाय तो समझना चाहिये कि भगवान्की विशेष दया है।

५१-यदि किसी बीमारकी टट्टी-पेशाब उठानेको मिल जाय तब तो भगवान्की पूर्ण दया समझनी चाहिये।

५२-सेवा-कार्यमें जितना उच्च भाव रखा जा सके रखना चाहिये। यदि सेवा-कार्यको साक्षात् परमात्माकी सेवा समझी जाय तब तो कहना ही क्या है? उससे परमात्मा बहुत जल्दी मिल सकते हैं।

५३-सेवाको नारायणकी सेवा बनाना सेवकके हाथकी बात है।

५४-किसीकी सेवा या किसीका उपकार करके उसे कहना नहीं चाहिये, क्योंकि अपने उपकारोंको प्रकट करनेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमानको कोई भी सहन नहीं कर सकता।

५५-सेवक होकर यदि अपने सेवाकार्यको गिना दे, उसका अहसान कर दे तो उस सेवाकी कीमत वहीं घट जाती है—निष्कामभावमें कलंक लग जाता है।

५६-जरा-सी खटाई पड़ जानेपर जिस प्रकार दूध एकदम फट जाता है, उसी प्रकार उत्तम सेवारूप दूधमें अहंकारपूर्ण वचनकी खटाईके पड़ जानेपर वह सारी सेवा व्यर्थ हो जाती है।

५७-अपने उत्तम कर्मोंको गिना देनेसे वे कर्म सर्वथा व्यर्थ हो जाते हैं।

५८-हमें भजन, ध्यान, सेवा, पूजा और परोपकारादि उत्तम कर्म करना चाहिये, तथा उनका बखान अपने मुँहसे कभी नहीं करना चाहिये।

५९-कहते हैं, किसी दानीके दानकी प्रशंसा की गयी तो वह रोने लगा। उससे रोनेका कारण पूछा गया तो वह बोला—'धन उसका, देनेवाला वह, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। लोग मुझे दानी कहते हैं, भला मैं प्रभुके सामने क्या मुँह दिखाऊँगा?'

६०-जो सच्चे दानी होते हैं, उन्हें तो दान देनेका कोई अभिमान ही नहीं होता।

भारतीय संस्कृतिका ह्रास

(श्रीकृष्णकान्तजी मिश्र, बी० ए०)

यदि सच पूछा जाय तो भारतीय संस्कृतिका मूल स्रोत वैदिक ऋषि-महर्षियोंसे ही निकला, किंतु मतभेद होनेके कारण यह कहना असम्भव है कि वह पवित्र काल कौन-सा था जिसमें रामराज्य-जैसे आदर्श शासनकी नींव पड़ी थी। जो कुछ भी हो, रामायण, महाभारत और पुराण हम लोगोंकी प्राचीन संस्कृतिको बतलाते हैं।

उस समयकी बात जब सोचते हैं तो हृदय गद्गद हो जाता है। सम्पूर्ण शरीर रोमाञ्चमय हो जाता है। क्या धार्मिक, क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक—सभी क्षेत्रोंमें भारतीय सभ्यताकी एक अपूर्व छाप पड़ी हुई थी। सभी वस्तुओंमें अलौकिकता ही दृष्टिगोचर होती थी। इतिहासकारोंका कथन है कि भारतवर्ष उस समय सारी सभ्यताओंका भण्डार था और इसके अध्ययनके लिये सुदूरवर्ती देशोंसे विद्याप्रेमी प्रत्येक वर्ष अगणित संख्यामें एकत्र होते थे।

देश-देशान्तरमें भारतीय संस्कृतिका इतना मान होते हुए भी पिछले कुछ वर्षोंमें देखा गया है कि क्रमशः भारतीय संस्कृतिका ह्रास होता जा रहा है।

अब बड़े-बड़े महात्माओंकी तथा सिद्ध महापुरुषोंकी कहीं भी चर्चा सुननेमें नहीं आती है। पता नहीं प्राचीन समयके ऋषि-मुनि कहाँ चले गये। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन समयके गृहस्थ धार्मिक उपदेशोंके अतिरिक्त घरकी दैनिक समस्याओंपर भी ऋषियोंका विचार पूछने जाते थे। पुराणोंमें इसकी चर्चा भी आती है। एक गृहस्थ अपनी कन्याके विवाहके प्रसंगमें किसी मुनिके पास गया। कितनी देरके तर्क-वितर्कके अनन्तर मुनिने विवाहकी अनुमति प्रदान की थी। किंतु महात्माओं और साधुओंसे पूछनेकी बात तो दूर, आजके आधुनिक युवक तो अपने विवाहके सम्बन्धमें अपने जन्मदाताका भी विचार जानना या परामर्श लेना उचित नहीं समझते। कितने दुःखकी बात है? पिता, जिसने पुत्रको जन्म दिया, बाल्यकालमें स्नेहपूर्ण वात्सल्य-रसके अभिषिञ्चनसे पुष्पित-पल्लवित किया, वही पिता एक शास्त्रविहित बातपर अपना मत देनेसे भी वंचित है! आजकलके युवक धार्मिक सिद्धान्तोंको ढोंगका चोला समझते हैं। भगवान्‌के अस्तित्वको नगण्य समझते हैं। **'अहिंसा परमो धर्मः'**।—इस मन्त्रका असली स्वरूप कहाँ चला गया, यह नहीं कहा जा सकता। अरे, कम-से-कम कोई जरा-सा भी धर्मका डर तो रखता। धर्म ही सबका मूल कारण है। बिना धर्मके जाने हुए कोई भी सात्त्विकताका रूप नहीं जान सकता। धर्म ही इस संसारकी स्थितिका कारण है। यही मनुष्यको विवेक देता है। भगवान् श्रीकृष्णने इसीलिये स्वधर्मनिरत रहनेपर इतना जोर दिया है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३। ३५)

किंतु अब यह सब कौन मानता है? अब तो धर्मका दो कौड़ीका भी मूल्य नहीं है! क्या भारतीयोंको यह विदित नहीं है कि राजा युधिष्ठिर, राजा जनक एवं राजा दशरथ आदि अनेक राजर्षि केवल धर्मके लिये अपना सर्वस्व तक त्याग देनेमें नहीं हिचके। दशरथने कैकेयीको वचन दे दिया था, अतएव राम-वनवासके दुराग्रहको टाल न सके। धर्मराजने स्वतः युधिष्ठिरकी परीक्षा ली। ये सब दृष्टान्त भारतीयोंके सामनेसे न जाने कहाँ लुप्त हो गये!!

सत्य और न्याय तो मानो सदाके लिये भारतीयोंके हृदयसे चले गये। अब दोनोंने कहीं दूसरा वासस्थान ढूँढ़ रखा है। न्यायके मूर्ति राजा शिबि और विक्रमादित्यने इस देशमें जन्म लेकर सत्य और न्यायका ज्वलन्त आदर्श दिखलाया था। अरे सत्यके अन्वेषण करनेवाले विदेशी यात्री! अब भारतमें वह संस्कृतिका भण्डार नहीं है। क्यों बेकारमें यहाँ सत्यकी भूख लेकर भटकते हो। कहीं और इसका पता लगाओ। अब तो चोरी और घूसखोरीका ही भारतमें राज्य है। राम-युधिष्ठिर-सरीखे शासक, व्यास-भीष्म-सरीखे सर्वतत्त्वविद् और महावीर, बुद्ध, चैतन्य आदि-सरीखे महापुरुष अब कहीं नहीं दिखलायी पड़ सकते हैं।

कर्म करनेसे लोग डरते हैं। घर बैठे पहले ही फलका अवलोकन करना चाहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

किंतु प्राकृतिक नियमोंको तोड़ना ही तो आज भारतीयोंका काम शेष रह गया है। उद्यम तो कठिन चीज है न! पहले फल ले लेंगे। यह है अब भारतीय संस्कृतिका नमूना।

अतः भारतीय संस्कृतिके ह्रासका ही यह परिणाम हुआ कि दिन-पर-दिन भारतीयोंकी शक्ति क्षीण होती चली जा रही है। वह बल, शौर्य, पराक्रम जो कि भारतीयोंके रग-रगमें दौड़ता था, सब भस्मीभूत हो चला। सब उत्साह जाता रहा। ऊपरसे चाहे जो कुछ डील-डौल दिखावें, किंतु असलियत तो कसौटीपर चढ़ चुकी है। वही एक भारतीय हिंदू जो केवल अपने बलसे बर्बर जातियोंके आक्रमण रोक लेता था, आज जत्थे-के-जत्थे, उनके आक्रमणको रोकनेमें असमर्थ हैं। आज प्रताप और शिवाजी-जैसा कोई वीर भी तो देखनेमें नहीं आता।

इतना ही नहीं, नारी-जगत् भी संकटमें है। अब स्त्रियोंमें अपने पातिव्रत-धर्मके बचानेका साहस नहीं रहा है। वे ही भारतवर्षकी स्त्रियाँ जो अपनी आस्तिक बुद्धिसे अपनी संतानोंकी रक्षा एक करुण आह्वानसे कर लेती थीं, वे आज भगवतीकी मूर्तिपर करुण-क्रन्दनसे आँचल भिगो लेती हैं, किंतु तब भी कोई सुनवायी नहीं होती है। आज उनकी वह प्रिय भगवती कहाँ गयीं? अब नारी-मण्डलमें मिथिलापुत्री सीता-जैसी स्त्रियाँ कहाँ, जो अपने पातिव्रत-धर्मके बलसे रावण-जैसे महान् शक्तिमान् राक्षसको दूरसे फटकार देवें। बात तो असलमें यह है कि वह प्राचीनतम भारतीय संस्कृति लुप्त हो गयी, जो कि क्षण-क्षण भारतीयोंके अन्तःकरणमें नवीन-नवीन भावनाओंका संचार करती थी, जिससे प्रेरित होकर वे अपने आदर्शको ऊँचा बनाये रखते थे।

इसके कारण तो अनेक हैं और सभी अपना-अपना महत्तम स्थान रखते हैं। पाश्चात्त्य-शिक्षाके प्रभावसे हम लोग अपने कुल-धर्मको और कुल-संस्कृतिको भूल गये। दूसरोंका अनुकरण करनेमें लग गये। इससे आलस्य और प्रमादने हम लोगोंको क्षीण बना दिया। अपने 'धन' को छोड़ परायेके 'धन' पर निर्वाह करने लगे!

घरकी बातोंको भूलनेसे यही हुआ कि आज गो-माताकी सेवा भी नहीं हो पाती। हमारे पूर्वजोंने यही सबसे बड़ी चीज धरोहरके रूपमें हम लोगोंको दी थी। लेकिन स्वर्गमें बैठे-बैठे उन्होंने अपने धन और व्याजकी ओर जब देखा, तो उन्हें बहुत दुःख हुआ, तभीसे हम लोगोंकी संस्कृति लुप्त हो चली है। शंकराचार्य-जैसे धुरन्धर विद्वान्, कुमारिल-जैसे दार्शनिक अब कहीं नहीं हैं। यही कारण है कि अब हमें सतत निर्दिष्ट मार्गपर लानेवाला उपर्युक्त विद्वानों-जैसा कोई नहीं है, जिससे कि हमारी संस्कृति पुनः वैसी हो जाय।

भारतीय संस्कृतिका ह्रास देखकर हृदय दग्ध हो जाता है। इस सत्यमें भी विश्वास नहीं होता कि प्राचीन समयमें दूर-दूरके विदेशी यात्री भारतवासियोंके दरवाजोंपर नारे लगाते चले जाते थे कि—

'भारत! तेरी संस्कृति महान् है! तुम्हीं विश्वके आध्यात्मिक गुरु हो!'

विवशतावश नामोच्चारणसे भी परमपदकी प्राप्ति

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भा० ३। ९। १५)

[ब्रह्माजी कहते हैं—] 'जो लोग प्राण जाते समय आपके अवतार, गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाले देवकीनन्दन, भक्तवत्सल, गोवर्धनधारी आदि नामोंका विवश होकर भी उच्चारण करते हैं, वे अनेक जन्मार्जित पापोंसे तत्काल छूटकर मायादिके आवरणसे रहित ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं। मैं आप अजन्माकी शरण लेता हूँ।'

त्यागका स्वरूप और साधन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

शास्त्रोंकी ऐसी घोषणा है और सभी विचारशील पुरुष इस बातको स्वीकार करते हैं कि मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। संसारमें बहुतसे लोग इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये यत्किंचित् चेष्टा भी करते हैं, परंतु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष बहुत थोड़े होते हैं, जो शीघ्र ही लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हों। शास्त्रकारोंने और अनुभवी संतोंने भगवत्प्राप्तिके मार्गमें कई विघ्न ऐसे बतलाये हैं, जिनको पार किये बिना भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गपर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। उन विघ्नोंमें प्रधान विघ्न हैं—अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति। अज्ञान या मोह तो इन सबका मूल कारण है ही। अज्ञानके नाशसे इन सबका नाश अपने-आप हो जाता है। अज्ञान कहते हैं न जाननेको और न जाननेका मतलब है भगवान्‌के स्वरूपको न जानना। जिनको भगवान्‌के स्वरूपकी जानकारी हो जाती है, वे इन सारे विघ्नोंको सहज ही पार कर जाते हैं। बल्कि उनके लिये इन विघ्नोंका सर्वथा नाश ही हो जाता है। परंतु जबतक अज्ञानका नाश न हो, जबतक भगवान्‌के तत्त्व-स्वरूपकी जानकारी न हो, तबतक क्या हाथ-पर-हाथ धरे यों ही बैठे रहना चाहिये? नहीं, आसक्ति, कामना, ममता और अहंकारका प्रयोग बुद्धिमानीपूर्वक भगवान्‌में करना चाहिये। आदर्श ऐसा होना चाहिये कि एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही आसक्ति हो, एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही पानेकी अनन्य कामना हो, एकमात्र श्रीभगवच्चरणोंमें ही अहैतुकी ममता हो और एकमात्र श्रीभगवान्‌के दासत्वका ही भक्तहृदयमें शान्ति-सुधा बरसानेवाला आदरणीय अहंकार हो। इस प्रकार इन चारोंके दिशा-परिवर्तनका अभ्यास करनेसे क्रमशः इनका दूषित रूप नष्ट होता जायगा। तब ये मोहके पोषक न होकर उसका नाश करनेमें सहायता देंगे और ज्यों-ज्यों मोहका नाश होगा, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌के स्वरूपकी जानकारी होगी और ज्यों-ज्यों भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान होगा, त्यों-ही-त्यों एकमात्र उन्हींके साथ इन चारोंका सम्बन्ध बढ़ जायगा। फिर तो इनका नाम भी बदल जायगा और इन्हें विशुद्ध अव्यभिचारिणी भक्तिके रूपमें पाकर भक्त कृतार्थ होगा। उस भक्तिके द्वारा भगवान्‌की यथार्थ जानकारी—भगवत्तत्त्वका सम्यक् ज्ञान होगा और उस ज्ञानका प्रादुर्भाव होते ही भक्त अपने भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगा।

विषयोंके दुःख-दोषभरे भयंकर स्वरूपका और भगवान्‌के चिदानन्दमय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यका—भगवान्‌के स्वरूपका, स्वभावका हमें ज्ञान नहीं है, इसीसे हमारी चित्तवृत्तियोंकी प्रवृत्ति भगवान्‌की ओर न होकर विषयोंकी ओर हो रही है। यदि श्रीभगवान्‌की परमानन्दरूपता और विषयोंकी भयानकतापर वस्तुतः विश्वास हो जाय तो मनुष्यका मन विषयोंकी ओर कभी नहीं जा सकता। आज यदि किसीसे कहा जाय कि तुम्हें सौ रुपये दिये जायँगे, तुम एक तोला अफीम या थोड़ा-सा संखिया खा लो, तो कोई भी खानेको तैयार नहीं होगा। क्योंकि अफीम और संखिया खानेसे मृत्यु हो जायगी, इस बातपर उसका शंकारहित निश्चित विश्वास है। भगवान्‌ने कहा है—'यह लोक अनित्य और असुख (सुखरहित) है। अथवा यह जन्म अनित्य और दुःखालय है, इसे पाकर तुम मुझको ही भजो।' यदि भगवान्‌के इस कथनपर शंकारहित निश्चित विश्वास होता और यदि इन वचनोंके अनुसार जगत्‌के विषय हमें यथार्थमें दुःखरूप तथा अनित्य जान पड़ते तो हम उनमें क्यों रमते? और यदि भगवान्‌के अखिल आनन्द-सुधासिन्धु-स्वरूपपर जरा भी विश्वास होता तो हम क्यों उसकी उपेक्षा करते? परंतु ऐसा करते हैं, इसलिये यही सिद्ध होता है कि हम पढ़ते-सुनते और कहते तो हैं, परंतु यथार्थमें हमें इन बातोंपर पूरा विश्वास नहीं है। इसीसे हम इन बातोंकी परवा न करके विषयोंकी ओर दौड़ रहे हैं और जैसे दीपककी ज्योतिके रूप-मोहमें फँसकर उसकी ओर जानेवाला पतंग जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार हम भी भस्म हो जाते हैं।

हमारी वृत्तियाँ सदा ही बहिर्मुखी रहती हैं, विषयोंमें—कार्यजगत्‌में ही लगी रहती हैं। इसमें जहाँ-जहाँ हमें इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले पदार्थ दीख-सुन पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ ही हमारा चित्त जाता है। हम उन्हींमें सुख खोजते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि दिनके साथ रातकी भाँति इस सुखका सहचर दुःख सदा इसके साथ रहता है। हम सुख चाहते हैं और दुःखसे बचना चाहते हैं, इसीलिये हमें दुःख भोगना पड़ता है, यदि वास्तवमें हमें दुःखसे बचना है तो सुखकी स्पृहा भी छोड़ देनी पड़ेगी। हम उस परम सुखको तो चाहते नहीं जो सदा रहता है, जो कभी घटता-बढ़ता नहीं, जो असीम और अनन्त है। हम तो चाहते हैं

क्षणिक इन्द्रिय-सुख, जो वास्तवमें है नहीं, केवल भ्रमसे भासता है और बिजलीकी तरह एक बार चमककर तुरंत ही नष्ट हो जाता है। परंतु हम अबोध इस बातको जानते नहीं, इसीसे उसके पीछे पड़े रहते हैं और एक दुःखके गड्ढेसे निकलकर तुरंत ही दूसरा गहरा गड्ढा खोदने लगते हैं।

इस इन्द्रियसुखके प्रधान साधन माने गये हैं दो पदार्थ—एक 'स्त्री' और दूसरा 'धन'। इसीलिये शास्त्रोंने बड़े जोरोंसे इनकी बुराइयोंकी घोषणा करके कामिनी-काञ्चनके त्यागका बार-बार उपदेश किया है। बात यह है कि विषयासक्त मनुष्यकी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंकी ओर दौड़ती हैं। कामिनी-काञ्चनमें रमणीयता प्रसिद्ध है। इनकी ओर लगनेके लिये किसीको उपदेश नहीं करना पड़ता। अपने-आप ही इन्द्रियाँ मनको इनकी ओर खींच ले जाती हैं। जगत्के इतिहासको देखनेसे पता लगता है कि संसारके महायुद्धोंमें—भीषण नरसंहारमें 'कामिनी और काञ्चन' ही प्रधानतया कारण हुए हैं। यहाँ इतनी बात और याद रखनी चाहिये कि पुरुषके लिये जैसे स्त्री आकर्षक है, वैसे ही स्त्रीके लिये पुरुष है। 'कामिनी' शब्दसे यहाँ केवल स्त्री न समझकर यौनसुख प्रदान करनेवाला व्यक्ति समझना चाहिये। स्त्रीके लिये पुरुष—और पुरुषके लिये स्त्री। जैसे पुरुषका चित्त कामिनी-काञ्चनके लिये छटपटाया करता है, उसी प्रकार स्त्रीका चित्त भी पुरुष और धनके लिये ललचता रहता है।

परिणाम नहीं जानते इसलिये पुरुष नारीके सौन्दर्यपर और नारी पुरुषके सौन्दर्यपर मोहित होती है। और इसीलिये विलासिताका सामान एकत्र करनेकी अभिलाषासे नर-नारी धनकी ओर आकर्षित होते हैं। जैसे स्त्री या पुरुषके अधिक भोगसे धन, धर्म और जीवनी-शक्तिका नाश होता है, वैसे ही धनके लोभमें भी स्वास्थ्य, धर्म-कर्म और जीवनकी बलि देनी पड़ती है। एक बार इनकी प्राप्ति या संयोगमें कुछ सुख-सा दिखायी देता है, परंतु परिणाममें भयानक दुःख और अशान्तिकी प्राप्ति अनिवार्य होती है। जबतक इनका वास्तविक त्याग नहीं हो जाता, तबतक कभी शान्ति नहीं मिलती। शान्तिकी प्राप्ति तो इनके सर्वतोभावेन त्यागसे ही होती है।

परंतु क्या मनुष्यके लिये इनका त्याग सम्भव है? है तो फिर उस त्यागका स्वरूप क्या है और वह त्याग कैसे हो सकता है? संसारमें पुरुष या स्त्री कोई भी ऐसा नहीं है जो स्त्री-पुरुषके संसर्गसे शून्य हो। माता-पिताके रज-वीर्यसे ही शरीर बनता है। पालन-पोषण भी माता-पिता या बहन-भाई आदिके द्वारा ही होता है। इसी प्रकार सर्व-त्यागी संन्यासीको भी कौपीन, फटे कंथे और भिक्षाकी तो आवश्यकता होती ही है, जो अर्थसाध्य है। ऐसी हालतमें कोई भी स्त्री या धनका सर्वथा त्याग कैसे कर सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि पहले त्यागके अर्थको समझना चाहिये। किसी वस्तुका ग्रहण या व्यवहार न करना बाहरी त्याग है। और उस वस्तुमें आसक्तिहीन रहना भीतरी त्याग है। अब विचार कीजिये, हम एक चीजका त्याग कर देते हैं, परंतु मन-ही-मन उसकी आवश्यकता समझते हैं, उसका अभाव हमारे मनमें खटकता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। ऐसी हालतमें उस वस्तुका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। त्याग तो असली वही है जिससे उस वस्तुमें आसक्ति ही न रहे। जिस त्यागमें वस्तुका चिन्तन और आस्वाद मन-ही-मन होता है, वह त्याग वास्तविक नहीं है। अवश्य ही भोगमय जीवनकी अपेक्षा आन्तर-त्यागके साधनरूपमें बाह्य त्याग सराहनीय है और आवश्यक भी है, जिससे आन्तर-त्यागमें सहायता मिलती है और त्यागकी वृत्ति स्वाभाविक होती है, परंतु असली त्याग तो आसक्तिका त्याग ही है। आसक्तिके त्यागसे द्वेष, भय, हर्ष, शोक आदिका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। फिर आगे चलकर तो त्यागके अभिमान और त्यागकी स्मृतिका भी त्याग करना पड़ता है। यही त्यागका स्वरूप है, और इस त्यागकी प्राप्ति आसक्तिके दोष और भगवान्के यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होती है। यह सत्य है कि स्वरूपसे स्त्री और धनका त्याग सभी अंशोंमें होना कठिन है। तथापि शास्त्र इसीलिये इनके त्यागपर इतना जोर देते हैं कि सर्वथा त्यागकी बात कहनेसे ही मनुष्य कहीं उचित रूपमें इनका व्यवहाररूपमें ग्रहण करेंगे। मनसे तो त्याग होना ही चाहिये। बाह्य त्यागमें पुरुषको चाहिये कि स्त्री-जातिमें देवीकी भावना करे—'**स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु**' और भगवती जानकर उन्हें मातृभावसे नमस्कार करे। स्त्रियोंको चाहिये कि पुरुषोंको पिता, भाई या पुत्रके रूपमें देखें। जहाँतक हो सके, किसी भी रूपमें स्त्री-पुरुषका परस्पर ज्यादा मिलना-जुलना लाभदायक नहीं है, परंतु जहाँ आवश्यक हो, वहाँ उपर्युक्त भावसे मिले। इसी प्रकार न्याय-मार्गसे उतना ही धन उपार्जन करनेकी चेष्टा करे जिससे गृहस्थका कार्य सीधे-सादेरूपमें

चल जाय। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये और शरीरके आरामके लिये परमेश्वरको भूलकर, न्यायपथको त्यागकर, दूसरेको धोखा देकर, दूसरेका हक मारकर और असत्यका आश्रय लेकर धनोपार्जन करनेकी चेष्टा कभी न करे।

अवश्य ही भगवान्‌की सृष्टिमें स्त्री और धनकी भी सार्थकता है, उसकी भी आवश्यकता है, परंतु वह होनी चाहिये परमार्थमें सहायकके रूपमें। यह भी नहीं समझना चाहिये कि परस्त्रीका त्याग करना चाहिये, पराये धनके त्यागकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जैसे नीच कामवृत्तिका गुलाम होनेसे मनुष्य पशुसे भी अधम, नीच या असुर हो जाता है, वैसे ही अपनेको विलासिता और मौज-शौकके प्रवाहमें बहा देनेवाला अर्थलोभी मनुष्य भी राक्षस हो जाता है। वह अपने शरीरको आराम पहुँचानेके लिये क्या नहीं करता? गरीबोंके—दीन-दुखियोंके तप्त अश्रुओंसे अपने भोग-विलासकी प्यास बुझानेवाला और शरीरको आराममें रखनेवाला मनुष्य राक्षस नहीं तो और क्या है? अपने शरीरकी रक्षाके लिये जितना आवश्यक होता है, उतने ही अर्थपर वस्तुतः हमारा अधिकार है। अपने आराम या भोगके लिये उससे अधिक खर्च करना तो भगवान्‌की सम्पत्तिका बेईमानीसे दुरुपयोग करना है। उस धनसे तो गरीब-दुखियोंकी सेवा करनी चाहिये। परंतु इस सेवामें भी अहंकार नहीं आना चाहिये। यही मानना चाहिये कि भगवान्‌की प्रेरणासे प्रेरित होकर भगवान्‌की चीजसे भगवान्‌की सेवा की जाती है। याद रखना चाहिये कि त्याग करना है भोगोंका और आसक्तिका, निष्काम प्रेम तथा सेवाका नहीं। वास्तविक प्रेम तथा सेवा त्याग होनेपर ही होती है और यही सेवा भगवत्सेवा कहलाती है। अस्तु।

वास्तवमें कामिनी-काञ्चनकी क्षणभंगुरता, निःसारता और दुःखरूपताका निश्चय हो जानेपर तो इनमें मन रहेगा ही नहीं। फिर तो इनके त्यागमें एक विलक्षण आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी और जिस त्यागमें आनन्द एवं शान्ति मिलती है, वही यथार्थ त्याग है।

इनसे भी बढ़कर त्याग करने योग्य एक वस्तु और है— वह है कीर्तिकी इच्छा। 'किसी प्रकारसे भी हमारी कीर्ति हो, लोग हमें उत्तम समझें, आज कोई चाहे न जाने, परंतु इतिहासमें हमारा नाम उज्ज्वल रहे। हमारा नाम न सही, हमारे वंशका, हमारी जाति या हमारे देशका नाम रहे (यद्यपि ऐसी इच्छा व्यक्तिगत कीर्तिकी इच्छासे उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ त्याग है) और इस सुकीर्तिके लिये स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्राण आदि किसी भी वस्तुका त्याग क्यों न करना पड़े।' इस प्रकारकी कीर्ति-कामनाका त्याग होना बहुत ही कठिन है। किंतु जबतक इसका त्याग नहीं होता, तबतक बड़े-से-बड़े अनुष्ठान, पुण्यकर्म, साधन और तप इसके प्रवाहमें सहज ही बह जाते हैं। मनुष्य अपने जीवनभरका किया-कराया सब कुछ इस कीर्ति-पिशाचीके चक्रमें पड़कर नष्ट करता रहता है। वह प्रत्येक काम करनेके पहले ही यह सोचता है कि इसमें मेरी कीर्ति होगी या नहीं, इसलिये उसे अकीर्तिकर कल्याणमय कर्मसे वञ्चित रहना पड़ता है; और आगे चलकर ऐसा कीर्तिकामी पुरुष दम्भाचरणका आश्रय लेकर साधनके पथसे पतित हो जाता है। भगवान्‌की स्मृति छूट जाती है। भगवान्‌के स्थानपर हृदयमें बाहरसे बहुत ही सुन्दर सजी हुई कीर्तिकी कराल मूर्ति आ विराजती है और येन-केन-प्रकारेण उसीकी सेवामें मनुष्यका बहुमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। इन सब प्रतिबन्धकोंका मूल है मोहरूप विघ्न, और उसके सहायक हैं उसीसे पैदा हुए पूर्वोक्त अहंकार, ममता, कामना तथा आसक्तिरूप दोष। इनका अपने पुरुषार्थसे सहसा त्याग होना बड़ा कठिन है। भगवत्कृपाके बलसे तो सब कुछ हो सकता है। भगवत्कृपा सबपर होते हुए भी उसका अनुभव विश्वासी और नामाश्रयी पुरुषोंको ही होता है। अतएव भगवान्‌का नाम लेते हुए भगवान्‌की कृपापर विश्वास करना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे इन चारोंका मुँह विषयोंकी ओरसे घूमकर भगवान्‌की ओर हो जायगा! भगवान् अपनेमें ही सबका प्रयोग करा लेंगे। फिर तो गोपियोंकी भाँति हम भी कह सकेंगे—

स्याम सरबस तुम हमारे।
तुम्हींसे अभिमानिनी हम, नित सुहागिनि प्राणप्यारे॥
तुम्हींको चाहैं सदा हम, तुम्हींमें मन हैं हमारे।
तुम्हींमें रमतीं निरन्तर, तुम्हींसे सुख सब हमारे॥
तुम्हींसे जीवन हमारा, तुम्हीं रक्षक हो हमारे।
तुम्हीं तन-मनमें भरे हो, तुम्हीं हो जीवन हमारे॥
प्राण तुम, प्राणेश तुम, हो प्राणके आधार प्यारे।
ध्यान तुम, ध्याता तुम्हीं हो, ध्येय तुम ही हो हमारे॥
तुम्हीं माता पिता स्वामी बंधु सुत बित तुम हमारे।
तुम्हीं हम हैं, हमीं तुम हो, खेल हैं ये भेद सारे॥

कर्मकी प्रधानता

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

घोर विषमता

हम घोर विषमता देखते हैं कि कोई शिशु निराश्रित पगलीकी कोखसे विकलाङ्ग और रुग्ण होकर उत्पन्न होता है तथा दूसरा शिशु शुचि श्रीसम्पन्न महिलाकी कोखसे सर्वाङ्गपूर्ण एवं स्वस्थ उत्पन्न होता है। इन दोनों शिशुओंमें बहुत अधिक विषमता है। पहले शिशुको न रहनेका ठिकाना है, न पहननेका, न खानेका। चलने-फिरनेमें भी बेचारा लाचार है। न देख सकता है, न सुन सकता है। बेचारा माताकी ममतासे भी वंचित है। जो पगली है, जिसे अपनी ही सुध नहीं है, वह बच्चेकी क्या सुध लेगी? उसे क्या प्यार देगी? इसके विपरीत दूसरे शिशुके लिये सारी सुख-सुविधाएँ सुलभ हैं। इस तरह हम देखते हैं कि एक नन्हे-मुन्नेके लिये तो जीवनभर दु:ख-ही-दु:ख है और दूसरे बच्चेके लिये सुख-ही-सुख है।

है न यह दिल दहलानेवाली विषमता!

हृदयको अधिक चोट तब पहुँचती है, जब हम देखते हैं कि कोई प्राणी तो सर्वविध ज्ञानकी योग्यतासे सम्पन्न मनुष्यकी योनिमें उत्पन्न हो रहा है, कोई केवल इन्द्रिय-ज्ञानसे युक्त पशु-पक्षी-योनिमें, कोई बाहरी ज्ञानसे शून्य केवल अन्त:संज्ञ वृक्ष आदि उद्भिज्ज योनिमें और कोई बाहरी तथा भीतरी दोनों ज्ञानोंसे शून्य पत्थरकी योनिमें।

इनमें एकमात्र मानव आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों उन्नतियाँ कर सकता है। मानवके अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी इन तीनोंमेंसे एक भी उन्नति नहीं कर सकता है। मानवकी अपेक्षा सभी योनियोंको कितना विवश बना दिया गया है? इनकी यह विवशता क्या हृदयको कम सालती है? आजका मानव आधिभौतिक शक्तिको जाग्रत् कर रेल, तार, वायुयान और अन्तरिक्षयान बना चुका है। क्या गुल्म-लताएँ इन आविष्कारोंको कर सकती हैं, या कीट-पतंग कर सकते हैं, क्या कोई पक्षी कर सकता है या गाय कर सकती है? चौरासी लाख योनियोंमें केवल एक योनिको इतना समर्थ बनाना और शेषको इतना असमर्थ बनाना, क्या हृदयको कम आघात पहुँचाता है?

इसी तरह मनुष्य आधिदैविक शक्तिको अपनाकर चन्द्र, सूर्य, इन्द्र और ब्रह्मातक बना सकता है और आध्यात्मिक शक्तिको उद्रिक्त कर ब्रह्म भी बन सकता है। किंतु स्रष्टाने पृथ्वीके किसी अन्य प्राणीको यह क्षमता दी है क्या? बस, सबको विवश बनाकर छोड़ा!

है न यह घोर विषमता?

घोर क्रूरता

इस विषमताके साथ-साथ एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। वह प्रश्न है—क्रूरताका। उस भिखारिनकी कोखमें अपाहिज शिशुको डालनेवाला स्रष्टा क्या कम क्रूर होगा? क्योंकि उस शिशुको जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त दु:ख-ही-दु:ख झेलते बीतेगा। उस बेचारेको दु:खके अथाह सागरमें डालकर उसपर न पसीजनेवाला क्रूर नहीं तो और क्या होगा? यह क्रूरता इतना निकृष्ट दोष है कि दुष्ट लोग भी इससे घृणा करते हैं—

खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वम्।

(ब्रह्म० सू० शा० भा० २। १। ३४)

इस तरह सृष्टिकर्तापर विषमता और क्रूरता दो भयानक दोष आ उपस्थित होते हैं।

उस 'क्रूर' की खोज

विषमता और क्रूरताका यह प्रश्न पहले भी उठता रहा है। उन दिनों कुछ ईश्वरवादी इन दो प्रश्नोंसे तो इतना दहल गये कि ईश्वरको स्रष्टा माननेसे भी इनकार कर बैठे। ईश्वरके विषयमें उनकी धारणा बहुत ही पवित्र और ऊँची थी, जो वास्तविक ही थी। ये मानते थे कि ईश्वर माता और पितासे बढ़कर दयालु है, इसलिये वह परम माता, परम पिता और परमगति है—'**पतिं पतीनाम्**' (श्वे० उ० ६। ७)।

कोई माता सोच भी नहीं सकती कि उसका कोई बच्चा लूला, लँगड़ा, अंधा एवं बौड़म (पागल) उत्पन्न हो। ऐसी स्थितिमें परम माता परमेश्वर कैसे संकल्प कर सकता है कि

उसका कोई बच्चा पगली भिखमंगिनकी कोखसे अपाहिज होकर उत्पन्न हो? इसलिये उन विचारकोंके मनमें आया कि 'इस तरह विषम सृष्टिका स्रष्टा ईश्वर नहीं हो सकता है। क्योंकि ईश्वरमें कोई दोष नहीं होता। वेदमें स्पष्ट कहा है कि **'निरवद्यं निरञ्जनम्'** अर्थात् ईश्वर अवद्य (दोष)-से रहित होता है। विषमता और क्रूरता—ये दोनों दोष तो बहुत बड़े हैं, जो सृष्टिके कण-कणमें अनुस्यूत हैं, फिर इस सृष्टिका कर्ता ईश्वर कैसे हो सकता है?

वे उस क्रूरको खोज न सके

यह विचार उन लोगोंका है जो विषमता और क्रूरताके सही कारणको ढूँढ़ न सके थे। अतः वे बेचारे भटक गये और ईश्वरको जगत्का स्रष्टा माननेसे मुकर गये। जिस वेदने ईश्वरको 'निरवद्य' कहा है, उसी वेदने उसे 'सृष्टिकर्ता' भी तो माना है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** (तै० उ० ३। १)। इसलिये कोई वेदको माननेवाला यह नहीं कह सकता कि ईश्वर जगत्का स्रष्टा नहीं है।

वह क्रूर है—कर्म

महर्षि वेदव्यासने इन विचारकोंके इस भटकावको समझा और उसे पूर्व-पक्षके रूपमें रखकर सिद्धान्त रूपमें बताया कि विषमता और क्रूरताका कारण वस्तुतः ईश्वर है ही नहीं। अतः ईश्वरपर कोई दोष नहीं आता। इन दोनोंका कारण तो स्वयं जीवके द्वारा किया हुआ उसका ही कर्म है—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति।

(ब्रह्म० सू० २। १। ३४)

अर्थात् ईश्वरपर विषमता और क्रूरता-ये दोनों दोष कदापि नहीं आरोपित हो सकते; क्योंकि ईश्वर जीवोंके द्वारा किये गये कर्मोंको निमित्त बनाकर ही वह फल प्रदान करता है—**'धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः'** (शा० भा०)। कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वर जिस प्राणीको जन्म देने जा रहा है, उसके किये हुए कर्मोंकी जाँच-पड़ताल करता है। देखता है कि किस प्राणीने कौन-कौन धर्म किये हैं और कौन-कौन अधर्म? उसके इन कर्मोंको ही कारण बनाकर उन्हींके अनुसार किसीको या तो भिखमंगिनकी कोखमें या शुचि-श्रीमान् महिलाकी कोखमें डालते हैं।

इस प्रकार ईश्वर इन दोषोंसे मुक्त हो जाते हैं—

सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। (ब्रह्म० सू० शा० भा० २। १। ३४)

यदि ईश्वर प्राणीके द्वारा किये गये कर्मोंकी अपेक्षा न करते और अपनी इच्छासे किसीको भिखमंगिनकी कोखमें, किसीको सम्पन्न महिलाकी कोखमें डालते तो ये दोनों दोष उनपर थोपे जा सकते थे।

ईश्वरको कारण क्यों माना जाय?

प्रश्न उठता है कि जब कर्म ही किसी प्राणीके जन्म, आयु और भोगका कारण है, तब इसीको जगत्का कर्ता मान लिया जाय? 'अन्यथासिद्ध' ईश्वरको जगत्का स्रष्टा क्यों माना जाय?

ईश्वरको साधारण कारण मानना ही पड़ेगा

यह प्रश्न कारणके प्रकारोंकी जानकारी न रहनेसे उठता है। कारण कई प्रकारके होते हैं। उनमें साधारण कारण और असाधारण कारण—इन दो प्रकारोंकी जानकारी यहाँ अपेक्षित है।

खेतोंमें कई प्रकारके बीज डाल दिये गये हैं। यदि इन्हें जल न मिले तो इनका उगना असम्भव है। उग आनेके बाद भी समय-समयपर यदि इन्हें जल न मिले तो न तो ये बढ़ सकेंगे, न पुष्ट ही हो सकेंगे और न फल ही दे पायेंगे। बीचमें ही सूख जायँगे। इसलिये जौ, धान, गेहूँ, नीबू, इमली, मिरचा, तथा ईख आदिकी उत्पत्ति और स्थितिके लिये जलको कारण मानना ही पड़ता है।

असाधारण कारण

जिज्ञासा होती है कि कारणके गुण कार्यमें आते हैं, यह सिद्धान्त है। सूत यदि लाल होता है, तो उससे बुना कपड़ा भी लाल ही होता है, न कि नीला-पीला। ऐसी स्थितिमें 'कारण' जलमें न तो खट्टापन होता है, न तीतापन और न मीठापन। फिर उसके 'कार्य' नीबू और इमलीमें खट्टापन, मिरचेमें तीतापन और ईखमें मीठापन कहाँसे आ गये? जल तो समरूपसे सबको जीवन देता है, फिर ये भिन्न-भिन्न विषमताएँ कहाँसे आ गयीं?

जिज्ञासा यथार्थ है। यही जिज्ञासा जलसे भिन्न किसी दूसरे कारणकी खोजकी प्रेरणा देती है। सचमुच इन विषमताओंका कारण जल नहीं है। दूसरा कोई कारण होना

चाहिये, जो एक रस—जलको खट्टा, तीता और मीठा बना डालता है। इसी तरह जिस एक रस—जलको पीकर गाय मीठा दूध देती है, उसी जलको साँप विष बना डालता है। इस विषमताका कोई दूसरा कारण होना ही चाहिये। भगवान् शंकराचार्यने बताया है कि वह कारण इन बीजोंमें स्थित विशेष सामर्थ्यके कारणसे है—**'व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवाऽसाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति'**—(ब्रह्म सू० शा० भा० २। १। ३४)।

इस दूसरे कारणका नाम असाधारण कारण है। इसी सामर्थ्यरूप असाधारण कारणके द्वारा मिरचा जलसे जीवन पाकर तीता बन जाता है। इमली और नीबू खट्टा तथा ईख मीठा बन जाता है। इस तरह सारी विषमताओंका कारण बीजगत सामर्थ्य है, जिसे असाधारण कारण कहते हैं।

जगत्का साधारण कारण 'ब्रह्म' और असाधारण कारण 'कर्म' है।

उपर्युक्त दृष्टान्त देकर भगवान् शंकराचार्यने समझाया है कि जिस तरह जल बीजोंकी उत्पत्ति और स्थितिका साधारण कारण है एवं सभीके लिये 'सम' है, उसी तरह ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति-स्थिति आदिका साधारण कारण है और सभीके लिये 'सम' है। जैसे बीजगत सामर्थ्य सारी विषमताओंका कारण है वैसे 'कर्म' जगत्की सारी विषमताओंका कारण है। जिस तरह बीजगत सामर्थ्य बीजोंकी उत्पत्ति-स्थितिका कारण नहीं है, उसी तरह 'कर्म' भी जगत्की उत्पत्ति-स्थितिका कारण नहीं है; क्योंकि 'कर्म' जड़ है। इसलिये जगत्की उत्पत्ति-स्थिति आदिके लिये चेतन ईश्वरको कारण मानना ही पड़ेगा।

इस तरह ईश्वरमें वैषम्य और नैर्घृण्य (क्रूरता) दोनों ही दोष नहीं आते हैं।

विषमता और क्रूरताका कारण—'कर्म'

उस भिखमंगिनकी कोखसे जो अपाहिज बच्चा उत्पन्न हुआ है, उसका एकमात्र कारण उस बच्चेका पूर्व जन्मका 'कर्म' है, जिसे 'प्रारब्ध' कहते हैं। इसी तरह कोई प्राणी जो पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष आदि योनिमें उत्पन्न हो रहा है या मानव-योनिमें उत्पन्न हो रहा है, इसमें कारण उसका किया हुआ 'कर्म' ही है। ईश्वर तो केवल व्यवस्था मात्र कर देता है, नहीं तो 'कर्म' जड़ है। चेतनाधिष्ठित होकर वह कोई कार्य नहीं कर सकता है। ईश्वरसे गति पाकर ही वह कुछ कर्म कर सकता है। ऐसा सिद्धान्त महर्षि श्रीवेदव्यासजीने स्थिर किया। यह सिद्धान्त वेदसे सम्मत है, यह बात समझानेके लिये इसी सूत्रमें वे आगे लिखते हैं—**'तथाहि दर्शयति'** अर्थात् मैंने उपर्युक्त जो सिद्धान्त स्थिर किया है, उसको वेद आदि शास्त्र भी बताते हैं। अब जिज्ञासा होती है कि इस तथ्यको किस श्रुतिमें और किस स्मृतिमें दिखाया गया है? इस जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये भगवान् शंकराचार्यने कुछ श्रुतियों एवं स्मृतियोंके वचन उपस्थापित किये हैं, उनमें एक श्रुति यह है—

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

(बृ० उ० ३। २। १३)

अर्थात् शुभ कर्मसे जीव मनुष्य-शरीर पाता है और अशुभ कर्मसे अशुभ-शरीर[१]।

इस तरह सारी विषमताओंका कारण 'कर्म' को मानना ही चाहिये।
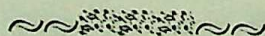
जनार्दनं भूतपतिं जगद्गुरुं स्मरन् मनुष्यः सततं महामुने।
दुःखानि सर्वाण्यपहन्ति साधयत्यशेषकार्याणि च यान्यभीप्सते॥

'निखिलभूतपति, जगद्गुरु भगवान् श्रीहरिका श्रद्धा और प्रेमसे निरन्तर स्मरण करते हुए मनुष्य अपने सब दुःखोंको दूरकर जिस-जिस कार्यको सिद्ध करना चाहता है, उसे सिद्ध कर लेता है।'
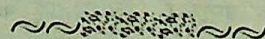
१-पुण्यका अर्थ 'पुण्य-शरीरयुक्त' होता है, इसका संकेत कर दिया है—

देहोत्कर्षापकर्षौ तु पुण्याऽपुण्यविभेदतः॥ (बृहदारण्यक, वार्तिकसार ४७)

अर्थात् मनुष्य आदि उत्कृष्ट शरीरकी प्राप्ति पुण्य-कर्मसे होती है और पशु आदि निकृष्ट शरीरकी प्राप्ति अपुण्य-कर्मसे होती है।

साधकोंके प्रति—

प्रतिकूलतामें विशेष भगवत्कृपा

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्य अनुकूलताको तो चाहता है, पर प्रतिकूलताको नहीं चाहता—यह उसकी कायरता है। अनुकूलताको चाहना ही खास बन्धन है। इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है। इस चाहनाको मिटानेके लिये ही भगवान् बहुत प्यारसे उसके हितके लिये प्रतिकूलता भेजते हैं। प्रतिकूलतामें विजातीय वस्तु (संसार)-से हमारा सम्बन्ध छूटता है। यदि जीवनमें प्रतिकूलता आये तो समझना चाहिये कि मेरे ऊपर भगवान्‌की बहुत अधिक, दुनियासे निराली कृपा हो गयी है। प्रतिकूलतामें कितना आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता है, क्या बताऊँ? प्रतिकूलताकी प्राप्ति मानो साक्षात् परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति है। भगवान्‌ने कहा है—'**नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**' (गीता १३। ९)। प्रतिकूलता आनेपर प्रसन्न रहना—यह समताकी जननी है। गीतामें इस समताकी बहुत प्रशंसा की गयी है।

भगवान् विष्णु सर्वदेवोंमें श्रेष्ठ तभी हुए, जब भृगुजीके द्वारा छातीपर लात मारनेपर भी वे नाराज नहीं हुए। वे तो भृगुजीके चरण दबाने लगे और बोले कि 'भृगुजी! मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण बहुत कोमल हैं; आपके चरणोंमें चोट आयी होगी!' उन्हीं भगवान्‌के हम अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७)। उनके अंश होकर भी हम इस प्रकार छातीपर लात मारनेवालेका हृदयसे आदर नहीं कर सकते तो हम क्या भगवान्‌के भक्त हैं? प्रतिकूलताकी प्राप्तिको स्वर्णिम अवसर मानना चाहिये और नृत्य करना चाहिये कि अहो! भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा हो गयी। ऐसा कहनेमें संकोच होता है कि इस स्वर्णिम अवसरको प्रत्येक आदमी पहचानता नहीं। यदि किसीको कहें कि 'तुम पहचानते नहीं हो' तो उसका निरादर होता है। अगर ऐसा अवसर मिल जाय और उसकी पहचान हो जाय कि इसमें भगवान्‌की बहुत विशेष कृपा है तो यह बड़े भारी लाभकी बात है।

गीतामें आया है कि जिसका अन्तःकरण अपने वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है और प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है तथा उसकी बुद्धि बहुत जल्दी परमात्मामें स्थिर हो जाती है (२। ६४-६५)। जो प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थितिमें प्रसन्न रहे, उसकी बुद्धि परमात्मामें बहुत जल्दी स्थिर होगी। कारण कि प्रतिकूलतामें होनेवाली प्रसन्नता समताकी माता (जननी) है। अगर यह प्रसन्नता मिल जाय तो समझना चाहिये कि समताकी तो माँ मिल गयी और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी दादी मिल गयी। दादी कह दो या नानी कह दो।

प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें भगवान्‌की बड़ी विचित्र कृपा है, मुख्य कृपा है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि आप प्रतिकूलताकी चाहना करें। चाहना तो अनुकूलता और प्रतिकूलता—दोनोंकी ही नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत भगवान् जो परिस्थिति भेजें, उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। हमारा सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ है, परिस्थितिके साथ नहीं। यदि भगवान् प्रतिकूलता भेजें तो समझना चाहिये कि उनकी बहुत कृपा है।

उन्होंने अनुकूलताका राग मिटानेके लिये प्रतिकूलता भेजी है। वाल्मीकिरामायणके अरण्यकाण्डमें आया है—

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

(३७। २)

संसारमें प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष तो बहुत मिलेंगे, पर जो अप्रिय होनेपर भी हितकारी हो, ऐसी बात कहने और सुननेवाले दुर्लभ हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—'***सती देवे, संतोषी पावे। जाकी वासना तीन लोकमें जावे॥***' भिक्षा देनेवाली सती-साध्वी स्त्री हो और भिक्षा लेनेवाला संतोषी हो तो उसकी सुगन्ध तीनों लोकोंमें फैलती है। ऐसे ही

देनेवाले भगवान् हों और लेनेवाला भक्त हो अर्थात् भगवान् विशेष कृपा करके प्रतिकूलता भेजें और भक्त उस प्रतिकूलताको स्वीकार करके मस्त हो जाय तो इसका असर संसारमात्रपर पड़ता है।

दुःखके समान उपकारी कोई नहीं है; किंतु मुश्किल यह है कि दुःखका प्रत्युपकार कोई कर नहीं सकता। उसके तो हम ऋणी ही बने रहेंगे; क्योंकि दुःख बेचारेकी अमरता नहीं है। वह बेचारा सदा नहीं रहता, हमारा उपकार करके मर जाता है। उसका तर्पण नहीं कर सकते, श्राद्ध नहीं कर सकते। उसके तो ऋणी ही रहेंगे। इसलिये दुःख आनेपर भगवान्‌की बड़ी कृपा माननी चाहिये। छोटा-बड़ा जो दुःख आये, उस समय नृत्य करना चाहिये कि बहुत ठीक हुआ। इस तत्त्वको समझनेवाले मनुष्य इतिहासमें बहुत कम हुए हैं। माता कुन्ती इसे समझती थीं, इसलिये वे भगवान्‌से वरदान माँगती हैं—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० १। ८। २५)

'हे जगद्गुरो! हमारे जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें, जिससे हमें पुनः संसारकी प्राप्ति न करानेवाले आपके दुर्लभ दर्शन मिलते रहें।' माता कुन्ती विपत्तिको अपना प्यारा सम्बन्धी समझती हैं; क्योंकि इससे भगवान्‌के दर्शन मिलते हैं। अतः विपत्ति भगवद्दर्शनकी माता हुई कि नहीं? इसलिये दुःख आना मनुष्यके लिये बहुत आनन्दकी बात है। दुःखमें प्रसन्न होना बहुत ऊँचा साधन है। इसके समान कोई साधन नहीं है।

यदि साधक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहे तो वह सुख-दुःखसे ऊँचा उठ जाय—'**सुखदुःखे समे कृत्वा**' (गीता २। ३८)। सुखकी चाहना करते हैं, पर सुख मिलता नहीं और दुःखकी चाहना नहीं करते, पर दुःख मिल जाता है। अतः दुःखकी चाहना करनेसे दुःख नहीं मिलता, यह तो कृपासे ही मिलता है। सुखमें तो हमारी सम्मति रहती है, पर दुःखमें हमारी सम्मति नहीं रहती। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि रहती है, वह चीज अशुद्ध हो जाती है। जिसमें हमारी सम्मति, रुचि नहीं है, वह चीज केवल भगवान्‌की शुद्ध कृपासे मिलती है। जो हमारे साथ द्वेष रखता है, हमें दुःख देता है, उसका उपकार हम कर नहीं सकते। हमारा उपकार वह स्वीकार नहीं करेगा। वह तो हमें दुःखी करके प्रसन्न हो जाता है। हमारे द्वारा बिना कोई चेष्टा किये दूसरा प्रसन्न हो जाय तो कितने आनन्दकी बात है। अतः आगेसे मनमें पक्का विचार कर लेना चाहिये कि हमें हर हालतमें प्रसन्न रहना है। चाहे अनुकूलता आये, चाहे प्रतिकूलता आये, उसमें हमें प्रसन्न रहना है; क्योंकि वह भगवान्‌का भेजा हुआ कृपापूर्ण प्रसाद है।

रावरो कहावौं, गुनु गावौं राम! रावरोइ,
रोटी द्वै हौं पावौं राम! रावरी हीं कानि हौं।
जानत जहानु, मन मेरेहूँ गुमानु बड़ो,
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं॥
पाँचकी प्रतीति न भरोसो मोहि आपनोई,
तुम्ह अपनायो हौं तबै हीं परि जानिहौं।
गढ़ि-गुढ़ि छोलि-छालि कुंदकी-सी भाईं बातें,
जैसी मुख कहौं, तैसी जीयँ जब आनिहौं॥

(कवितावली)

मानसके मूक पात्र

(एक मानस-विद्यार्थी)

श्रीरामचरितामृत-सिन्धु मानसके सभी पात्र व्यक्तित्वकी विशेषता रखते हैं। भरत, लक्ष्मण और हनुमान् तीनों ही दास्य-भावकी भक्तिमें आमग्न हैं, पर सबकी दुनिया अलग-अलग है। भरतकी भक्ति भरतहीकी है। लक्ष्मण अपनी दिशामें बेजोड़ हैं और हनुमान्के लिये *'अपने बस करि राखे रामू'* से बढ़कर भक्तिका दूसरा प्रमाण-पत्र क्या?

शत्रुघ्न रामके उन अनन्य भक्तोंकी श्रेणीमें आते हैं, जिन्होंने भगवान्की अपेक्षा भक्तको ही जीवनका चरम उपास्य माना। समूचे मानसमें भरतसे पृथक् शत्रुघ्नका कोई व्यक्तित्व नहीं। सर्वत्र वे भरतके अनुगामी हैं। मानसकारने भूमिकामें ही स्पष्ट कहा है—

रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥

राम माता-पिताकी आज्ञासे जंगल जाते हैं। लक्ष्मणको भी मातासे आज्ञा माँगनी पड़ती है। भरत माताका तिरस्कार करते हुए उसके आदेशको ठुकरा देते हैं; किंतु शत्रुघ्नको इन सब गोरखधंधोंसे जैसे कुछ सरोकार ही नहीं। सम्भवत: वे भरतके सिवा और किसीको नहीं जानते। हाँ, जानते हैं उस मायावपुधारी निखिल सृष्टिके अव्यक्त सूत्रधारको, जो उनके उपास्यका उपास्य है।

शत्रुघ्न भरत-भावके प्रतीक हैं। भरत प्राण हैं, शत्रुघ्न शरीर। भरत ज्ञान हैं, शत्रुघ्न कर्म। भरत मन हैं, शत्रुघ्न इन्द्रिय। भरत मूल हैं, शत्रुघ्न शाखा। भरत स्वामी हैं, शत्रुघ्न सेवक। भाव प्रतीकका उद्बोधक है। प्राण शरीरका संचालक है, ज्ञान कर्मका अनुशासक है। मनका इन्द्रियोंपर आधिपत्य है। मूल शाखाका आधार है और स्वामीकी इच्छा सेवकका कर्तव्य है। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि शत्रुघ्नकी चेष्टा भरतकी भावनाका व्यक्त स्वरूप है।

लक्ष्मण रामके अनन्योपासक हैं, पर हैं मुखर! शत्रुघ्न भी भरतके अनन्योपासक हैं, पर हैं मूकवत्। एक आवश्यकतासे अधिक बोल जाते हैं, एकको जैसे बोलनेकी आवश्यकता ही नहीं। दोनोंकी अवस्थाओंपर विचार करनेसे ऐसा लगता है, मानो सुमित्राके पेटसे सम्पूर्ण वाक्शक्ति लेकर लक्ष्मण पहले ही भाग निकले हों। भरत मध्यवर्ती संतुलन हैं और बीचके व्यवधान भी। इसीलिये न दोनोंमें संघर्ष है और न एक दूसरेके निकट पहुँच पाते हैं।

शत्रुघ्नकी मूकता ही उनकी विशेषता है। यही वह परिधि है जिसके भीतर उनकी अविकल वाहिनी भक्ति गङ्गा प्रवाहित रहती है। इसके अन्तर्नादमें विश्वका सारा प्रपञ्च विलीन है। अयोध्याकी उत्सव-योजनासे करुण-क्रन्दनतक सभी अवस्थाओंमें वे सागरकी तरह गम्भीर और शान्त दीख पड़ते हैं।

शृंगारकी भाँति भक्ति-रस भी उभय-भेदात्मक है। लक्ष्मण संयोग-पक्षके प्रधान आश्रय हैं। भरत संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओंके भुक्तभोगी हैं। शत्रुघ्न दोनोंसे परे हैं। उनमें न संयोगका मलार है न वियोगका दीपक! लक्ष्मण रामसेवक हैं और शत्रुघ्न रामसेवकके सेवक! रामकी सेवामें उन्मत्त लक्ष्मण प्रेमके स्वाभाविक आवेशमें प्रियतम रामके अनिष्टकी आशंकासे व्यथित होकर वस्तुस्थितिको भूल जाते हैं और भरतको एक गुणाभिमानी जीव मानकर कहने लगते हैं—

बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई॥
भरतु नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राम पदु पाई। चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
करि कुमंत्रु मन साजि समाजू। आए करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दोउ भाई॥

× × ×

भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंकु अब जीवन हानी॥

इसी सिलसिलेमें वे यहाँतक बोल जाते हैं—

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू॥

लक्ष्मणके हृदयमें भरतके प्रति मानो कोई पहलेकी रिस है, जिसे आज वे निकालना चाहते हैं। लक्ष्मणकी इन उक्तियोंसे ऐसा प्रतीत होता है मानो लक्ष्मणके हृदयमें राम-

सेवाकी उज्ज्वल यश-कामना भी पनप उठी है। इस प्रेमजनित सहज दर्पोक्तिसे तो ऐसा भासित होने लगता है जैसे लक्ष्मण जीवकी उस जाग्रदवस्थाको प्राप्त ही न कर सके हों, जिसकी परिभाषा उन्होंने स्वयं की है—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

लक्ष्मणकी मुखरतासे ही उनपर ऐसी आशंका हो सकती है; पर शत्रुघ्नमें ऐसी यशोलिप्साकी आशंका कहीं खोजे भी नहीं मिलेगी। उनके कार्यमें कहीं भी फलकी आकांक्षा या अपेक्षाका दर्शन नहीं होता। वे उस कर्मयोगके शाश्वत संन्यासी हैं जिसके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

यह कहना ठीक नहीं होगा कि भरतकी सेवामें निरत रहनेसे शत्रुघ्न राम-सेवासे दूर रहे। ऐसा समझना भक्ति और भक्तके रहस्यको लांछित करना है। किसी भक्तकी ही उक्ति है—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु नाम चारि बपु एक।

स्वयं गोस्वामीजीने ही भरत और रामके स्नेह-सम्बन्धको अगम बतलाया है—

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

भक्तिकी दुनियामें भक्त भगवान्से एक कदम आगे रहता है। भरतको भक्तवर भरद्वाजसे यही महत्त्व मिला है—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

इसी प्रकार जंगलमें जाते हुए भरतका दर्शन प्राप्त करनेपर वन्य जीवोंके प्रति कविकी उक्ति है—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

भक्त वह जो भक्तको पहचाने। इस दृष्टिविन्दुपर कसनेसे शत्रुघ्नका महत्त्व पूरे निखारपर आ जाता है। उन्होंने भरतको न सिर्फ पहचाना अपितु उपास्य मान अपना समग्र जीवन उनके चरणोंपर चढ़ा दिया। शत्रुघ्नकी दृष्टिमें राम ही भरत और भरत ही राम हैं।

शत्रुघ्नकी भक्ताभक्तके पहचानकी पटुताका एक जीवन्त उदाहरण वहाँ मिलता है जहाँ भरतके साथ वे रामवन-गमन-वृत्तान्त कैकेयीके मुखसे जलते-भुनते सुन रहे हैं। तत्क्षण मन्थरा वहाँ स्त्रियोचित शृंगारसे सज-धजकर आती है और शत्रुघ्न उसे उसकी कुटिलताका पुरस्कार प्रदान करते हैं—

तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुह भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
आह दइअ मैं काह नसावा। करत नीक फलु अनइस पावा॥
सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥

ध्यान देनेकी बात तो यह है कि अन्य स्थलोंमें शत्रुघ्नको भरतानुज कहा गया है, किंतु यहाँ कविने *'भरत लघु भाई'* न कहकर *'लखन लघु भाई'* कहा है। ऐसा गुणाश्रित कर्म लक्ष्मणसे ही बन सकता है, भरतसे नहीं, अस्तु, शत्रुघ्नकी यहाँ भरतापेक्षा लक्ष्मणसे ही गुणानुरूप्य-सापेक्षता है। इस सापेक्ष-सम्बन्धसे *'लखन लघु भाई'* पद ही अधिक युक्तिसंगत है।

शत्रुघ्नका मौनावलम्बन उनकी वाक्शक्ति-हीनताका परिचायक नहीं, अपितु अद्भुत भावगाम्भीर्य एवं सतत कार्य-संलग्नताका द्योतक है। वे जीवनकी अतल गहराईमें डूबकर बाह्य जगत्का सारा कोलाहल एक-बारगी पी गये हैं। लोकाचारने भी उन्हें इसी आसनपर बैठाया है। वे भाइयोंमें सबसे छोटे हैं। सबकी आज्ञाओंका पालन करना ही उनका कर्तव्य है। कर्तव्य-पथके पथिकको इतना अवकाश कहाँ कि 'करनी' से 'कथनी' पर जाय। जिसने भक्त और भगवान्के अगम स्नेहको पहचाना, उसने भक्ति-स्रोतका उद्गम पा लिया। अब उसे कहने-सुननेको शेष क्या रहा? शेष तो अपूर्णताका लक्षण है। अपूर्ण जहाँ पूर्ण हुआ, वहीं शेषकी संज्ञा अशेष हुई। विन्दुका सिन्धुमें विलय हुआ। फिर तो—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

क्या संतान आवश्यक है?

(श्रीभूपेन्द्रप्रसादजी शुक्ल, बी० ए०)

गृहस्थ जीवनमें पुत्र अथवा संतानकी आवश्यकता अनिवार्य तथा उसका अभाव असहनीय प्रतीत होता है। पुत्र गर्भावस्थासे ही आशाका स्रोत हो जाता है। वह बचपनमें अभिभावकोंका खिलौना तथा पिता-माताकी सबसे प्रिय वस्तु, युवावस्थामें सहायक और बुढ़ापेमें पिता-माताका अवलम्ब होता है। पुत्रसे कहाँतक आशा की जाती है, इसका तो कुछ अन्त ही नहीं है और विवाहके मुख्य उद्देश्योंमें संतानोत्पत्तिको मुख्य स्थान दिया जाता है। जबतक पुत्रका जन्म नहीं होता, मनुष्य तथा उनके अभिभावक ही दुःखी नहीं रहते, वरं पितर भी अपना भविष्य अन्धकारपूर्ण जानकर दुःखी रहते हैं। पितृ-ऋण बिना पुत्रके चुकाया नहीं जा सकता तथा 'पुम्' नामक नरकसे उद्धारका पुत्रके अतिरिक्त अन्य कोई सरल मार्ग मनुष्य नहीं समझता। प्रत्येक व्यक्तिकी यह इच्छा होती है कि उसके परिश्रमोंके फलका उपभोग करनेवाला उत्तराधिकारी उसका पुत्र ही हो तथा उसका वंश लुप्त न होने पाये। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि शारीरिक, सांसारिक तथा पारलौकिक आवश्यकताओंके लिये मनुष्य पुत्रको अनिवार्य समझता है तथा उसकी कमीके कष्टको असहनीय समझता है। महाराज दशरथ-जैसे राजाओंको भी इसके लिये व्यग्र होते बताया गया है तथा बहुत-से पुराणोंमें इस बातका विशेष रूपसे प्रतिपादन किया गया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि उपर्युक्त विचार ही एकमात्र सत्य मार्ग है अथवा सत्य पदार्थ कुछ दूसरा भी है। सत्य पदार्थसे आशय यहाँ यह है कि क्या यथार्थ सुख या शान्ति संतानमें ही है? क्योंकि यदि संतान ही सर्वस्व है तो केवल इसीके लिये यत्न किया जाय तथा यदि संतानवाले लोग दुःखी या अशान्त हों तो उन्हें अज्ञानी या मूर्ख कहा जाय! केवल आशासे ही फलकी प्राप्ति नहीं हो जाती। हम लोगोंको देखना चाहिये कि जितनी बातोंकी लोग संतानसे आशा करते हैं, वह फलके रूपमें उन्हें प्राप्त होती है या नहीं। क्या एक भी उदाहरण किसी व्यक्तिका हम लोगोंको पुस्तकोंमें अथवा अनुभवमें ऐसा मिलता है, जिसे हम अपना आदर्श बना सकें ताकि हम उपर्युक्त सब तरहके सुखोंकी आशा एकमात्र पुत्रसे कर सकें तथा किसी तरहके कष्टकी सम्भावना ही नहीं रहे? यदि ऐसा एक भी उदाहरण निर्दोष नहीं मिलता तो हम लोगोंको मानना होगा कि संतानसे सुखका भाव एक ऐसी मृगमरीचिका है, जिससे मनुष्यको सुखकी अपेक्षा कहीं अधिक कष्ट मिलता है और जैसे प्रायः लोग कल्याणकारी मार्गकी अपेक्षा हानिकारक बातोंके लिये अधिक लालायित रहते हैं, वैसे ही पुत्रसे बिना विचारे आशा करते हैं। कुत्ता सूखी हड्डी चबानेमें अपने रक्तको ही बहाता है और कष्ट पाता है, पर वह इसे समझ नहीं पाता। मनुष्य भी प्रायः उन्हीं कामोंमें लिप्त रहता है, जिससे उसे कष्ट होता है तथा जिसका अन्तिम परिणाम भी उसके लिये अमङ्गलकारी ही होता है।

यथार्थ तथा स्थायी सुख और शान्ति संसारकी सारी सम्पदा भी नहीं दे सकती है। यह तो हृदयकी वस्तु है जो हृदयमें ही केवल वैराग्य और ज्ञानसे प्राप्त हो सकती है, न कि संतान अथवा किसी दूसरे पदार्थसे। अब यह विचार करना चाहिये कि इसके अतिरिक्त शारीरिक, सांसारिक तथा पारलौकिक साधनोंकी प्राप्तिमें पुत्रसे कहाँतक सहायता मिलती है अथवा पुत्र इनमें कितना हानिकारक या बाधक सिद्ध होता है। गर्भाधानके बादसे ही मनुष्य आशा तो करता है, पर सतत गर्भस्थित संतानके कल्याणकी चिन्तासे दुःख पाता है। बाल्यावस्थामें परिस्थिति और भी गहन रहती है, रोग-निवारणके लिये चिन्ता, उद्योग तथा सफल नहीं होनेपर कष्ट! पुत्रकी शारीरिक एवं मानसिक उन्नति तथा विकासके लिये मनुष्य अपने सुखोंको भूलकर किसी भी कष्टको सहन करता है। यह परिस्थिति उस समयतक रहती है, जबतक पुत्र युवावस्थाको प्राप्त नहीं हो जाता। युवावस्थाके बाद प्रायः पुत्र अपने पिताकी आशाओंके प्रतिकूल ही कर्म करता है और ऐसी स्थितिमें मनुष्य निःसहायकी भाँति अपने कृतघ्न पुत्रसे कष्ट पानेपर भी दुःखदायी आशाको नहीं छोड़ता। यहाँतक कि मनुष्यके दुर्लभ शरीरका ईश-चिन्तनकी जगह पुत्र-चिन्तनमें अन्त हो

जाता है; जिससे उसके पारलौकिक सुधारकी आशाका भी अन्त हो जाता है।

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य सांसारिक साधनोंकी प्राप्ति करना नहीं है; क्योंकि संसारकी समूची विभूतियाँ भी प्राणिमात्रके परम लक्ष्य आत्यन्तिक सुख या स्थायी शान्तिको प्रदान नहीं कर सकती हैं। सांसारिक पदार्थ तो यथार्थत: मायाके जाल हैं जो मनुष्यको सच्चे उद्देश्यसे विचलित करनेके साधनमात्र कहे जा सकते हैं। इसी तरह पुत्र भी बहुधा मनुष्यके कल्याणकी जगह उसके पतनका कारण ही होता है। हमारे धर्ममें 'मुक्ति' अथवा 'भगवत्प्राप्ति' को ही सर्वोत्तम आदर्श माना गया है और सांसारिक पदार्थोंसे जितनी ही अधिक निवृत्ति होती है, उतनी ही अधिक सम्भावना इस आदर्शकी प्राप्तिकी मानी गयी है तथा आसक्तिके जितने भी साधन हैं, वे बन्धनके कारण माने गये हैं और बन्धनसे सुख-शान्तिका मिलना असम्भव है।

रामायण, महाभारत तथा भगवद्गीताका धर्मग्रन्थोंमें उच्च स्थान है। इन ग्रन्थोंके मननसे भी एकमात्र निर्णय यही हो सकता है कि पुत्रसे ही न तो सांसारिक सुखकी प्राप्ति हो सकती है और न पारलौकिक सुखकी ही। न तो रामायणके लेखकोंकी जीवनीसे और न रामायणमें प्रतिपादित जीवन-चरित्रोंसे ही इस बातकी पुष्टि होती है कि पुत्रकी अनिवार्य आवश्यकता है। ऋषि वाल्मीकि तथा तुलसीदासजीको पारिवारिक जीवन कष्टंकर प्रतीत हुआ। इसीसे उन लोगोंने उसका त्याग किया। उन लोगोंकी जीवनीसे कहीं इस बातका आभास भी नहीं मिलता कि पुत्रके अभावमें उन लोगोंको किसी तरहका कष्ट हुआ था—वरं उंन लोगोंका जीवन अधिक सुखमय तथा शान्त था। कहींसे इस बातका भी आभास नहीं मिलता कि पुत्रके अभावसे उन लोगोंके पारलौकिक कार्योंमें कोई बाधा हुई हो—वरं पुत्रादिके बन्धनोंसे मुक्त होनेके कारण ही वे लोग एकाग्रचित्त हो भगवद्भजनकर उच्चकोटिके महात्मा बन सके तथा दुर्लभ आनन्द और शान्तिका अनुभव कर पाये।

श्रवणकुमार अपने माता-पिताके अद्वितीय भक्त थे—पर उन्हींके कारण उनके पिता-माताको घोर संताप तथा उनकी मृत्यु हुई और क्रोध होनेपर महाराज दशरथको शाप हुआ। महाराज दशरथने पुत्र-प्राप्तिके लिये बहुत व्यग्र होकर यज्ञ किया और उन्हें चार पुत्रोंकी प्राप्ति हुई। भगवान्‌का अवतार था, यह बड़ा ही मङ्गलमय था; परंतु व्यवहारत: परिणाम क्या हुआ! वृद्धावस्थामें जब उन्हें विश्रामकी आशा तथा आवश्यकता थी, पुत्रोंके कारण उनके यहाँ घोर गृहकलह तथा जीवनका सबसे बड़ा कष्ट हुआ। यहाँतक कि पुत्र-शोकके कारण ही उनका प्राणान्त भी हुआ। जितना भी पारिवारिक जीवन रामायणमें चित्रित हुआ है, उसमें एक भी ऐसा नहीं है जो पुत्रादिको वाञ्छनीय भी साबित कर सके—वरं उन्हीं लोगोंको सुखी तथा शान्त दिखाया गया है, जिन्होंने पारिवारिक बन्धनसे मुक्त होकर ज्ञान अथवा वैराग्यको ही आधार बना रखा था तथा मुक्ति भी उन्हें ही प्राप्त हो सकी थी।

महाभारतके लेखक व्यासजीके उच्च स्थानकी प्राप्तिसे अथवा उनके आनन्दमय जीवनसे कोई सम्बन्ध पुत्र अथवा पारिवारिक जीवनका नहीं पाया जाता है। यदि वे पारिवारिक जीवनमें रहे होते तो उन्हें कदापि पर्याप्त अवसर आत्मचिन्तनका अथवा आत्मोन्नतिका नहीं मिलता और न वह संसारके लिये इतने कल्याणकारी ही हो पाते।

महाराज धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंसे कितनी आशा की थी, पर एक सौ पुत्र होनेपर भी उन्हें आजीवन सुख-शान्ति नहीं मिल सकी। उनके पुत्र कौरवगण उनके आज्ञाकारी नहीं हुए तथा केवल अन्याय और अनुचित मार्गपर आरूढ़ रहे। फलत: राजा धृतराष्ट्रको अपनी इच्छाके विरुद्ध भी उन लोगोंका साथ देना पड़ा तथा अन्तमें कौरवोंके संहारसे घोर कष्ट तथा संताप सहन करना पड़ा। राजा कंस अपने पिताको कष्ट ही नहीं देते रहे वरं उन्हें बंदी बना दिया तथा उनके पिता पुत्रस्नेहके कारण विरोध कर अपनी रक्षा तक नहीं कर सके। यदि यह कहा जाय कि महाभारतकी प्रतिपादित जीवनियोंमें एक भी ऐसी नहीं है जिससे इस बातकी पुष्टि न हो कि मनुष्यको पुत्रादिसे कष्ट तथा इनके अभावमें ही स्थायी सुख तथा शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है तो अनुचित नहीं होगा।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

श्रीमद्भगवद्गीतामें आसक्तिको कहीं प्रश्रय नहीं दिया गया है और न संतानको ही लौकिक या पारलौकिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये आवश्यक बताया गया है। निष्काम कर्मयोगकी महत्ता बतायी गयी है तथा उपर्युक्त श्लोकसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृत्युके समयका भाव ही मनुष्यके परलोकका निर्णय करता है। अब इससे भी यह प्रमाणित होता है कि संतानवालेको मृत्युके समय भी ईश्वरकी अपेक्षा संतानके भविष्यकी चिन्ता होनी अधिक सम्भव है जो कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती। महाराज भरतकी श्रीभागवतकी कथा भी विचारणीय है। कोयलेकी खानमें रहकर यह समझना कि मुझे स्याही नहीं लगेगी, उसी प्रकार संतानके साथ रहते मनुष्यको कष्ट नहीं होगा यह आशामात्र हो सकती है। सदैव मिथ्या वातावरणमें रहते-रहते मनुष्य असत्यको भी सत्य पदार्थ मान लेता है और यही कारण है कि वह संतानादिको महत्त्वपूर्ण समझने लगता है।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह अपना है और वह पराया है—यह विचार क्षुद्र मनुष्योंका है। पर महात्माओंके लिये तो समग्र संसार ही अपना कुटुम्ब है—इस सिद्धान्तसे भी संतानादि मनुष्यकी आत्मोन्नतिके कितने बाधक हैं तथा संतानादिके रहते मनुष्य किस हदतक परमार्थी हो सकता है—यह तो सामान्य विचारसे भी निर्णय हो सकता है। यह कहा जाता है कि संतानादिसे युक्त मनुष्य सुखी होता है, पर क्या कोई भी ऐसा मनुष्य इसका पूरा समर्थन कर सकता है? संतानादिसे जितने समय सुख मिलता है, वह तो व्यतीत होनेपर पता भी नहीं लगता। पर इनसे जो कष्ट होता है, वह मार्मिक तथा स्थायी रहता है। किसी ऐसे व्यक्तिसे पूछिये जिसके संतानको कष्ट हो, मृत्युशय्यापर पड़ा हो अथवा जिसकी मृत्यु हो गयी हो, तब जान पड़ेगा कि संतानसे हर तरहसे सुखकी अपेक्षा कष्ट ही अधिक है। क्योंकि मनुष्यको अपनी यातनाओंकी जितनी व्यथा नहीं होती, उससे अधिक व्यथा संतानके दुःखसे होती है। यदि केवल सामाजिक विचारसे भी देखा जाय तो संतानवाले स्वार्थी मनुष्यकी अपेक्षा जो इस बन्धनसे मुक्त हैं तथा सबको अपना समझते हैं, वे समाजके लिये अधिक प्रिय तथा हितकर होते हैं। मनुष्यका लक्ष्य बन्धनमुक्ति है। पर संतानके होते ही उसपर संतानका कठिन बन्धन भी आ जाता है और इस तरह एक बन्धनकी जगह दो-दो बन्धनोंसे मुक्त होना असम्भव हो जाता है।

यह सब ईश्वरकी माया है जो दुरत्यय है और जिससे बचना उनकी कृपासे ही होता है। अतएव सब भाँतिसे ईश्वरको आधार, रक्षक तथा सब कुछ मानकर उनकी शरणमें रहना ही कल्याणकारी हो सकता है।

मैं बलि जाउँ स्याम-मुख छबि पर।
बलि-बलि जाउँ कुटिल कच बिथुरे, बलि भृकुटी लिलाट पर॥
बलि-बलि जाउँ चारु अवलोकनि, बलि-बलि कुंडल-रबि की।
बलि-बलि जाउँ नासिका सुललित, बलिहारी वा छबि की॥
बलि-बलि जाउँ अरुन अधरनि की, बिद्रुम-बिंब लजावन।
मैं बलि जाउँ दसन चमकनि की, बारौं तड़ितनि सावन॥
मैं बलि जाउँ ललित ठोड़ी पर, बलि मोतिनि की माल।
सूर निरखि तन-मन बलिहारौं, बलि-बलि जसुमति-लाल॥

(सूरसागर)

बड़ी सुगमतासे भगवान् कैसे मिलें

(श्रीबनवारीलालजी गोयन्का)

विषय-चिन्तनसे बढ़कर कोई हानि नहीं है तथा भगवान्‌के चिन्तनसे बढ़कर और कोई लाभ नहीं है, इसलिये भगवच्चिन्तन निरन्तर करते रहना चाहिये। संतोंका कहना है—**'कोटिं त्यक्त्वा हरिं भजेत्'**—अर्थात् करोड़ों काम छोड़कर पहले भगवान्‌के भजनमें लग जाओ।

यों तो संसारी कार्य चलते ही रहेंगे, पर प्रथम कार्य है भगवान्‌का भजन। अतः निरन्तर अबाध-गतिसे भगवन्नामका जप करते रहना चाहिये। इस विषयमें श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

सपनेहूँ बरराय कै जा मुख निकसत राम।
ताकें पगकी पगतरी मेरे तनको चाम॥

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार लिखते हैं कि यदि श्रीकृष्णको पाना हो तो राधाका नाम जपो। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

राधासे भी लगता मुझको मधुर प्रिय राधा नाम।
राधा शब्द कान पड़ते ही खिल उठती हिय कली तमाम॥
मूल्य नित्य निश्चित है मेरा, प्रेम प्रपूरित राधा नाम।
चाहे सो खरीद ले ऐसा, मुझे सुनाकर राधा नाम॥

कितना सुगम मार्ग बता दिया भगवान्‌ने स्वयंकी प्राप्तिके लिये। राधाका नाम हो या कोई भी नाम हो, जो भगवान्‌को प्रिय हो, उसे सुनकर वे बहुत आनन्दित होते हैं।

अब आप स्वयं नाम-जप-भजनके महत्त्वका सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। जितनी आतुरतासे भगवान् अपना प्रिय नाम-भजन सुननेके लिये लालायित रहते हैं, यदि उतनी ही आतुरता और तत्परतासे हम भी उनका भजन करने लगें तो वे हमसे दूर कैसे रह सकते हैं? इस भगवच्चिन्तनसे सम्बन्धित एक दृष्टान्तसे हम प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं—

एक माँ और बेटा थे। दोनों निरन्तर नाम-जप करते रहते थे। एक दिन बेटेने कहा—'माँ, रोटी ठंडी करके दिया करो, जिससे जल्दीसे खा लूँ और नाम-जपमें व्यवधान भी कम हो।' उसकी माँ वैसा ही करने लगी। फिर कुछ दिनके बाद बेटेने कहा—'माँ, रोटी खानेमें बहुत समय लगता है, इसलिये अब केवल खिचड़ी बनाकर दे दिया करो तो नाम-जपमें व्यवधान और कम होगा।' पुनः एक दिन कहा—'माँ, खिचड़ी खाकर भी जप करनेमें व्यवधान होता है, अतः तुम दहीकी राबड़ी बना लिया करो और ठंडी करके दे दिया करो।' फिर माँ वैसा ही करने लगी। अब माँ और बेटा जल्दीसे राबड़ी पी लेते और नाम-जपमें लग जाते। इसी प्रकार हम लोगोंकी—साधक कहलानेवालोंकी निरन्तर नाम-जपमें लगन होनी चाहिये।

गोस्वामीजी नाम-जपके प्रभाव-वर्णनमें कहते हैं—

जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥

निरन्तर अपने प्रिया-प्रियतम श्यामा-श्यामकी मीठी-मीठी स्मृति चलती रहे। यदि किसीसे वार्तालाप आदि करना आवश्यक ही हो तो उसमें भगवद्बुद्धि करके सारगर्भित शब्दोंमें बात करनी चाहिये। उसे भगवान् मानकर मनसे प्रणाम करना चाहिये। प्रतिपल ऐसा करते रहनेसे जब प्रेम प्रकट हो जायगा, तब तो उनकी मीठी स्मृति छूटेगी ही नहीं। इसीलिये किसीने कहा है कि—

प्रियतम मीठी नित याद तुम्हारी आती।
मैं पल भर तुमको कभी बिसार न पाती॥

—इस प्रकार भगवन्नामका मधुर-मधुर चिन्तन निरन्तर चलता रहेगा तो भगवान् बड़ी आसानीसे मिल जायँगे। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमद्भगवद्गीतामें घोषणा की है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

अतः प्राणिमात्रको अनन्यचेता होकर निरन्तर भगवान्‌का भजन करते हुए सुगमतासे प्राप्त होनेवाले उस भगवान्‌को अवश्य प्राप्त करनेका सत्प्रयास करते रहना चाहिये।
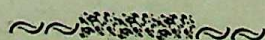
प्रसादसे भगवत्प्राप्ति

(श्री जय जय बाबा)

प्रसादका तात्पर्य है मनकी प्रसन्नता, अन्तःकरणकी स्वस्थता। श्रीमद्भगवद्गीता (२। ६५)-में कहा गया है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

प्रसन्नता प्राप्त होनेपर इस (आत्मवशी) यतिके आध्यात्मिकादि तीनों प्रकारके समस्त दुःखोंका नाश हो जाता है, क्योंकि उस प्रसन्न-चित्तवालेकी अर्थात् स्वस्थ अन्तःकरणवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे आकाशकी भाँति स्थिर हो जाती है।

इस प्रसाद अर्थात् मनकी प्रसन्नताको प्राप्त करनेका उपाय भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार बताया है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

आसक्ति और द्वेषको राग-द्वेष कहते हैं। इन दोनोंको लेकर ही इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हुआ करती है। परंतु जो मुमुक्षु होता है, वह स्वाधीन अन्तःकरणवाला अर्थात् जिसका अन्तःकरण इच्छानुसार वशमें है, ऐसा पुरुष राग-द्वेषसे रहित और अपने वशमें की हुई श्रोत्रादि इन्द्रियों-द्वारा अपरिहार्य विषयोंको ग्रहण करता हुआ प्रसादको प्राप्त होता है।

प्रसन्नता और स्वस्थताको प्रसाद कहते हैं। विवेकचूडामणिमें कहा गया है—

बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता
मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम्।
तस्मिन् सुदृष्टे भवबन्धनाशो
बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः॥

(श्लोक ३३६)

बाह्य पदार्थोंका निषेध कर देनेपर मनमें आनन्द होता है, मनमें आनन्दका उद्रेक होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता है और उनका संम्यक् साक्षात्कार होनेपर संसार-बन्धनका नाश हो जाता है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओंका निषेध ही मुक्तिका मार्ग है। मनको बाह्य विषय-वस्तुओंकी ओरसे हटानेके लिये उपाय बताते हुए योगशास्त्रमें यह बताया गया है कि अभ्यास और वैराग्यसे ही उसका क्रमशः निरोध किया जा सकता है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।'

परमेश्वरने हमारी इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है अर्थात् उनको बाहरसे पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करने योग्य बनाया है, जो जीवनकी सुरक्षाके लिये अत्यन्त आवश्यक है, परंतु परमात्माका ज्ञान तो इन इन्द्रियोंकी बहिर्मुखी प्रवृत्तिपर रोक लगाकर अपने भीतर देखनेसे ही हो सकता है।

उपनिषद् कहते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद् २। १। १)

स्वयम्भू परमेश्वरने समस्त इन्द्रियोंको बाहरकी ओर जानेवाली ही बनाया है, इसलिये मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा बाहरके पदार्थोंको ही देखता है। अन्तरात्माको नहीं देखता। किसी भाग्यशाली और धीर पुरुषने ही अमरपद पानेकी इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे लौटाकर अन्तरात्माको देखा है।

सांख्यशास्त्रियोंकी दृष्टिसे ये सब बाह्य पदार्थ जड और अनित्य हैं, अतः ये हमको सुख-दुःख नहीं दे सकते। वेदान्तकी दृष्टिसे बाह्य पदार्थोंकी कोई सत्ता ही नहीं है—इनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, अतः ये हमको सुख-दुःख नहीं दे सकते। फिर हमको ये सुख-दुःख कहाँसे प्राप्त होते हैं?

हमारी इन्द्रियाँ ही मोहके कारण इन असत् बाह्य पदार्थोंमें राग-द्वेष करके हमको सुख-दुःख पहुँचाती हैं और हमारे स्वाभाविक प्रसादको—आनन्दको नष्ट कर देती हैं। हमने आँख, कान और तत्तद् इन्द्रियोंके द्वारा अपने

भीतरके सहज और स्वाभाविक सुखको बाहर फेंक दिया है और अब 'हाय सुख', 'हाय सुख' करके रो रहे हैं।

भगवान् सनत्सुजात राजा धृतराष्ट्रसे कहते हैं—

तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगेष्वगतिर्हि नित्या।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात्॥

(महाभारत, सनत्सुजातीयपर्व १। १०)

रागसे वशीभूत इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर जो प्रवाह होता है, यही महामोह है। जिस व्यक्तिकी विषयोंके प्रति अवास्तविक बुद्धि होती है, उसकी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर नहीं भागतीं। ऐसे व्यक्तिकी विषयोंकी ओर प्रवृत्तिके अभावसे प्रत्यगात्माकी ओर प्रवृत्ति होनेसे उसका मोह निवृत्त हो जाता है, लेकिन जिसकी विषयोंके प्रति वास्तविक बुद्धि होती है अर्थात् इन सांसारिक विषय-भोगोंको ही यथार्थ-सत्य समझता है, वह परमात्माको नहीं जान सकता।

हमारी इन्द्रियोंका यह साधारण मोह नहीं है, अपितु महामोह है। दृष्ट द्वैतका आत्यन्तिक अभाव होनेपर भी ये इन्द्रियाँ उधर ही भाग रही हैं, मन और बुद्धिको गलत रिपोर्ट दे रही हैं, झूठी सूचना दे रही हैं और हमारा मन इस सूचनाको सत्य मानकर नाना प्रकारके इस संसारकी रचना कर लेता है। यह सारा संसार अविद्याग्रस्त मनका ही दृश्य है और यही हमारे बन्धनका, हमारे दुःखका कारण है। जैसा कि कहा गया है—

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः।
तस्मिन् विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन् सकलं विजृम्भते॥
सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किंचित् सकलं प्रसिद्धेः।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति॥

(विवेकचूडामणि, श्लोक १७१, १७३)

'मनसे अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही भवबन्धनकी हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट होनेपर सब नष्ट हो जाता है और उसीके जाग्रत् होनेपर सब कुछ प्रतीत होने लगता है।' 'सुषुप्तिकालमें मनके लीन हो जानेपर कुछ भी नहीं रहता, यह बात सब जानते हैं, अतः इस पुरुष (जीव)-का यह संसार मनकी कल्पनामात्र है, वस्तुतः तो यह है ही नहीं।'

बाह्य विषयोंके भोगसे जो क्षणिक सुखका आभास होता है, वह सुख नहीं है, विवेकी पुरुषके लिये तो वह दुःख ही है। इस सुखाभासको कभी भी प्रसाद अर्थात् मनकी प्रसन्नता नहीं समझना चाहिये। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योगदर्शन २। १५)

बाह्य विषयोंके भोगका परिणाम दुःखमय होता है। इसीलिये कहा गया है-'**परिणामे विषमिव**'। तथा उनके भोगके संस्कार भी दुःख देनेवाले होते हैं। तीनों गुणोंमें नित्य परस्पर विरोध होते रहनेसे भी दुःख उत्पन्न होता है, अतः विवेकी पुरुषके लिये तो यह सब दुःख-ही-दुःख है। यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि बाह्य विषयोंसे वैराग्यद्वारा उपरति हो जानेपर जो प्रसाद अर्थात् मनकी प्रसन्नता प्राप्त होती है वह भोग-सुख नहीं, बल्कि शम-सुख है।

इस अनन्त शम-सुखका वर्णन करते हुए राजा भर्तृहरि कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयान्
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

चिरकालतक भोग करनेपर भी अन्तमें ये विषय अवश्य ही जानेवाले हैं। यदि मनुष्य इनसे विरक्त होकर स्वयं इनका त्याग कर देता है तो उसे अनन्त शम-सुख, अनन्त शान्ति मिलती है। इसके विपरीत यदि मनुष्य स्वयं इनको न छोड़कर इनसे चिपका रहता है तो जिस समय ये विषय उसके

इच्छाके विरुद्ध जबरदस्ती उसे छोड़कर चले जाते हैं, उस समय उसके मनमें असह्य दुःख होता है।

भगवत्प्राप्तिके लिये आपको कोई विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। आपको तो केवल असत्‌को असत् जानकर उसका त्याग कर देना है, उसे छोड़ देना है। असत्‌का त्याग करनेमें किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं। एक बार यदि समझमें आ गया कि मृगतृष्णाके जलका कोई अस्तित्व ही नहीं है तो फिर आप घड़ा लेकर उसमें पानी भरने नहीं जायँगे। असत्‌को असत् समझ लेनेपर अपने-आप ही उसका त्याग हो जाता है।

यह नाम-रूपात्मक जगत् असत् है और तीनों कालोंमें भी इसकी कभी सत्ता नहीं रही है। निर्विकल्प-समाधिके व्यतिरेक-ज्ञानद्वारा यदि आपको जगत्‌के अत्यन्ताभावकी निःसंदिग्ध अनुभूति हो जाय तो फिर कभी भी इस असत् संसारकी ओर आपकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी, बल्कि आपको प्रसादकी उपलब्धि होकर भगवत्प्राप्ति हो जायगी। ये कोरे शब्द नहीं हैं, अनुभवकी बात है।

महर्षि रमणने कहा है—

विद्यात्मनोऽतिसुलभा हृदये सर्वस्य नित्यसिद्धस्य।
नश्यति यदि निःशेषो देहे लोके च सत्यता धिषणा॥

(श्रीगुरुरमण-वचनमाला, श्लोक ४)

यदि अपने शरीर और संसारमें सत्यत्व-बुद्धिका पूर्णरूपसे नाश हो जाय तो आत्मज्ञान अथवा भगवत्प्राप्ति प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें नित्य और स्वयंसिद्ध होनेके कारण अत्यन्त सरल और सुलभ है।

भागवतकार कहते हैं—'**इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो॰**' (१। ५। २०) जिस नाम-रूपात्मक जगत्‌को आप देख रहे हैं, वह अन्य प्रकारसे भगवान् ही दीख रहे हैं। यदि आप नाम-रूपका परदा हटाकर इस विश्वको देखेंगे तो यह अन्यथा दिखायी देनेवाला विश्व भगवान् ही है, उनसे अन्य कुछ भी नहीं है—ऐसा ही दीखेगा और अनुभव भी होगा।

जिस समय आपके सामनेसे यह नाम-रूपका परदा हटकर आपको भगवत्प्राप्ति होगी, उस समय आपको महान् आश्चर्य होगा और आप विचार करेंगे कि जिस आत्मज्ञानके लिये मनुष्य जन्म-जन्मान्तरोंतक प्रयास करता आ रहा है, क्या वह आत्मज्ञान इतनी आसानी और सरलतासे प्राप्त होनेवाला है? क्या वह हमारे इतना समीप ही था कि मनकी प्रसन्नता होते ही तत्काल प्राप्त हो गया?

साधकका जीवन-दर्शन

(श्रीसुधांशुजी)

साधकका साधन-
साधकका जीवन-दर्शन,
मनको प्रतिबिम्बित
करता है मनका दर्पण।

मन जब होता शान्त-
वही आत्मा कहलाता
यदि अशान्त है आत्मा
तो वह मन बन जाता।

मनकी सीमाओंसे
ऊपर जाना होगा,
क्रमशः जीवनमें,
परिवर्तन लाना होगा।

निम्नगामिनी कुवृत्तियोंका
शमन करें हम,
ऊर्ध्वगामिनी सुवृत्तियोंका
सृजन करें हम।

हृदय-गुहामें निहित
नियन्ता झाँक रहा है,
मूल्य हमारी चेष्टाओं-
का आँक रहा है।

सहज भावसे हो बस
अविनाशीका चिन्तन,
स्वतः टूट जायेंगे
जग-जीवनके बन्धन।

संत-महिमा

(श्रीराजकुमारजी दीक्षित)

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

संतोंका चरित्र कपासके चरित्र (जीवन)-के समान शुभ है, जिसका फल नीरस, विशद और गुणमय होता है।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग॥

(रा० च० मा० १। २)

जो मनुष्य संत-समाजरूपी तीर्थमें गोते लगाते हैं, वे इस शरीरके रहते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों फलोंको प्राप्त कर लेते हैं। यह सत्संग वह महान् क्षण है, जिसमें स्नानकर कौवे कोयल बन जाते और बगुले हंस बन जाते हैं।

काक होहिं पिक बकउ मराला॥

(रा० च० मा० १। ३। १)

संतोंके दर्शन एवं सत्संगको ही भगवान्ने पहली भक्ति बताया है। इस सत्संगके द्वारा दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति भी सुधर जाते हैं। तुलसीदासजीने तो यहाँतक लिखा है—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥
संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु॥

(रा० च० मा० १। ३ क, ख)

संतोंके सत्संगमें संतरूपी हंस दोषरूपी जलको छोड़कर गुणरूपी दूधको ग्रहण करते हैं और बुरे-से-बुरे कामको बड़ी आसानीसे अच्छा करके दिखा देते हैं। जैसे—

साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥

संतकी पढ़ाईसे तोता राम-नाम जप कर अपना उद्धार कर लेता है।

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

(रा० च० मा० १। १९। ४)

जिसकी महिमा गणेशजी जानते हैं। जो इस राम-नामके प्रभावसे पहले पूजे जाते हैं। नाम-महिमासे बढ़कर दूसरा कोई साधन ही नहीं।

राम-नामकी महिमा एवं सरल संत-हृदयकी महिमाका एक दृष्टान्त देखिये—

एक बार एक संतजी अपनी कुटियासे कहीं बाहर चले गये थे। कुटीपर अकेले उनका शिष्य था। संतजीके पास एक रोगी आया करता था। अबकी बार आया तो संतजी नहीं मिले, तब उसने उनके शिष्यसे पूछा कि संतजी कहाँ हैं? शिष्यने उत्तर दिया—वे हैं तो नहीं, कहिये मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ? वह बोला—बीमारीके कारण मुझे बार-बार संतजीके पास आना पड़ता है। आज तो महात्माजी हैं नहीं, आप ही कोई उपाय बताइये, जिससे मेरा रोग ठीक हो जाय और मैं सुखी हो जाऊँ। महात्माजीके उस शिष्यने एक कागजके टुकड़ेपर तीन बार रामका नाम लिखकर पुड़िया बनाया और देते हुए कहा—'आप इसे अपनी बाँहमें बाँध लें, आप निश्चित ही ठीक हो जायँगे।' उस रोगीने वैसा ही किया और वह ठीक हो गया। बादमें जब वह संतजीके पास आया तब बोला—'स्वामीजी, अब मैं बिलकुल ठीक हूँ। आपके शिष्यने मुझे दवाई दी, उससे मैं ठीक हो गया।' संतने शिष्यको बुलाया और पूछा—'बेटा! तुमने इनको कौन-सी दवाई दी थी।' उसने उत्तर दिया कि स्वामीजी, मैंने 'राम'का नाम तीन बार लिखकर बाँहमें बँधवा दिया था, बस। संतकी आँखोंमें आँसू आ गये, वे बोले—'बेटा! केवल एक बार रामका नाम लेनेसे मानवका उद्धार हो जाता है, तुमने तो तीन बार लिखकर रोगको काटा। राम-नामकी महिमासे कितने ही ऋषियों-मुनियोंका उद्धार हो गया।

संतोंका हृदय बड़ा सरल, कोमल तथा दयालु होता है, उनको दया बहुत ज़ल्दी आती है। जैसे—

नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥

(रा० च० मा० ३। २। १)

भगवान्ने संतोंको बहुत ऊँचा दर्जा प्रदान किया है, इसीलिये तो उन्होंने यहाँतक कह दिया कि—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥

(रा० च० मा० ३। १६। ९)

जिसका संतोंके चरणोंमें प्रेम होता है, वह मन, वचन और कर्मसे नियमपूर्वक जप कर मुझे प्राप्त कर सकता है, लेकिन संन्यासी अगर कहीं डिग जाता है तो उसकी कहानी ही बदल जाती है। रावण यतीका वेष बनाकर पंचवटीमें सीताजीके पास चोरीकी दृष्टिसे पहुँचा तो उसकी कहानी ही बदल गयी। तुलसीदासजीने तो यहाँतक लिख दिया कि—

सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥

(रा० च० मा० ३। २८। ९)

संन्यासीकी जगह वह कुत्ता लिख दिया गया। भगवान्ने अपनी भक्तिमें संतोंको दो बार साधक बनाया है और कहा है कि—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

(रा० च० मा० ३। ३५। ८)

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

(रा० च० मा० ३। ३६। ३)

संतोंको मुझसे भी अधिक मानना चाहिये। क्योंकि संतोंके कहे हुए वाक्य कभी निष्फल नहीं होते हैं।

भगवान्ने अपने सारे जीवन-कालमें संतों और मुनियोंको ही साधक-सहायक बनाया है। निम्न बिन्दुओंमें आपको इसका सम्यक् समाधान मिल जायगा—

१-भगवान्ने अपने भाइयोंसहित विश्वामित्रसे ही विद्या ग्रहण किया तथा भाइयोंसहित उनके विवाह भी विश्वामित्रके द्वारा ही सम्पन्न हुए।

२-भगवान्का वनवास भी वनके दुःखी ऋषियों-मुनियोंद्वारा सरस्वती मैयाको अभिप्रेरित कर मन्थराको निमित्त बनाकर हुआ।

३-भगवान्की पहली भेंट इलाहाबाद (प्रयाग)-में भरद्वाज ऋषिसे हुई और उनके द्वारा वनमें जानेका मार्ग पूछा गया।

४-आगे जब भगवान् वाल्मीकिके आश्रममें पहुँचे तो महर्षिद्वारा उनको रहनेका स्थान बतलाया गया।

५-पुनः भगवान्का मिलन जहाँ अत्रि एवं अनसूयासे हुआ, वहाँपर अनसूया माँने सीताजीको कुछ गहने भी दिये। उसके बाद भगवान् सुतीक्ष्ण और अगस्त्य ऋषिके पास पहुँचे, जहाँ अगस्त्यजीके द्वारा समुद्रपर पुल बाँधनेका तथा पार जानेका रास्ता बतलाया गया। आगे चलकर भगवान्ने अगस्त्यजीसे कुछ संतोंके लक्षण बतलाये जो निम्न प्रकार हैं—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥

(रा० च० मा० ३। ४५। ६—८)

सीताजीकी खोजके समय ब्राह्मण-वेशधारी हनुमान्जीसे साधकके रूपमें सहायता ली गयी। रावणके वधमें विभीषणको हेतु बनाया गया।

—इतना सब कुछ होनेपर ये सब बातें क्या भगवान्को नहीं मालूम थीं, अर्थात् सब कुछ मालूम था और सब कुछ वे स्वयं कर भी सकते थे; क्योंकि वे तो सर्वसमर्थ हैं ही, लेकिन संतोंकी महिमाको बढ़ानेके लिये उन्होंने अपने सारे कार्योंमें संतोंको ही साधक माना अर्थात् सभी कार्योंकी सिद्धिका श्रेय उन संतोंको ही प्रदान किया।

संत-महिमाका बखान करते हुए भगवान् शिवजी कहते हैं—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। रामु भजें हित नाथ तुम्हारा॥

(रा० च० मा० ५। ४१। ७-८)

अतः जब सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ प्रभुने अपने समस्त कार्योंमें संतोंकी संगतिको प्रमुखता प्रदान की, सर्वत्र उनकी महिमाको ही प्रमुखता प्रदान की तो हमें संतोंकी संगति क्यों नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सत्संगति तो सभी कार्योंकी सिद्धिका मूल है—वह कुछ भी करनेमें पूर्णतः समर्थ है—

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।

शाकाहारका औचित्य

(श्रीपन्नालालजी मुन्धड़ा)

अमेरिका, इंगलैंड, जापान तथा विश्वके अन्य अनेक उन्नत देशोंमें शाकाहारियोंकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है। बुद्धिजीवी व्यक्ति शाकाहारी जीवन-प्रणालीको अत्याधुनिक, प्रगतिशील और वैज्ञानिक मानने लगे हैं एवं अपने-आपको शाकाहारी कहनेमें गर्वका अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ संसारके महान् बुद्धिजीवी—अरस्तू, प्लेटो, शेक्सपियर, इमर्सन, आइन्सटीन, जार्ज बर्नार्ड शॉ, एच० जी० वेल्स, लियोटालस्टाय और रूसो आदि सभी शाकाहारी थे। परंतु दुर्भाग्यकी बात है कि भारत देश जो परम्परागत-रूपसे अहिंसाका पुजारी और शाकाहारका पोषक रहा है, ऐसे देशके लोग दिन-प्रति-दिन अपने भोजनमें अंडे एवं मांसका समावेश अधिकाधिक मात्रामें करने लगे हैं। यदि यह कहा जाय कि मांसाहारी भोजन इन लोगोंके उच्च जीवन-स्तरका मानक बन गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी।

यह विचारणीय है कि शाकाहार केवल आहार ही नहीं, बल्कि एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। शाकाहार वनस्पतिजन्य वस्तुओंकी एक निष्प्राण थाली ही नहीं है, बल्कि मानव-जीवनका प्रतिनिधित्व करनेवाली श्रेष्ठ जीवन-शैली भी है। यह शोषण-हिंसा और विनाशकी पद्धतिसे मुक्त होकर जीनेकी एक बहुमूल्य कला है। कभी यह हमारे राष्ट्रिय जीवनका एक अभिन्न अङ्ग था, किंतु पश्चिमके संसर्गके कारण—अंधानुकरणकी भौतिकवादी प्रवृत्तिके कारण हम आज उसे भुला बैठे हैं और उसकी जगह हमने एक हिंसक क्रूर और आमिषमूलक जीवन-पद्धतिको अपना लिया है। आज हम इस भ्रमजालमें फँस गये हैं कि क्रूरतापर टिकी जो जिंदगी हम जी रहे हैं, वह अत्याधुनिक है, सुविकसित है और एक गौरवशाली स्तरका प्रतीक है।

आहारशास्त्रियोंने जो खोज-बीन की है, उससे यह स्पष्ट हुआ है कि जो भोजन हम करते हैं, उससे हमारे शरीरका पोषण, गठन और संवर्धन तो होता ही है, साथ ही उससे हमारे मन और मस्तिष्क भी प्रभावित होते हैं। इससे हमारी शिक्षा, हमारा साहित्य, हमारी कला, शिल्प, इतिहास, भूगोल, धर्मदर्शन और यहाँतक कि हमारी संस्कृति भी प्रभावित होती है। अतः यदि किसी देशको अहिंसा, सत्य, सुख, समृद्धि, शान्ति और शालीनताकी दिशामें जाना है तो सबसे पहले उसे सावधानीपूर्वक आहार-शुद्धिकी जाँच करनी होगी।

हमारी भारतीय संस्कृति एवं लोकतन्त्रका जो मुख्य निहितार्थ है, वह शाकाहारसे ही प्रकट होता है। लोकतन्त्रका केवल इतना ही सीमित अर्थ नहीं लेना चाहिये कि हम अपने देशवासियोंकी आजादीकी रक्षा करते हुए अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनताको अटूट—निरापद बनाये रखें, बल्कि उसका सही अर्थ यह है कि पूरी धरतीपर जहाँ-कहीं भी कोई जीवन हो हम उसका सम्मान करें और उसे किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचायें।

एक और बात है—वास्तवमें हमें यह तय करना चाहिये कि हम 'खानेके लिये जी रहे हैं' या 'जीनेके लिये खा रहे हैं' अथवा हमने कोई ऐसा फार्मूला निश्चित कर लिया है जो इन दोनोंका मिला-जुला रूप है। जहाँतक सम्भव हो हमें जीनेके लिये खाना चाहिये और एक सुखद, संतुलित, स्वस्थ और निरापद जीवनके लिये अपने आहारको निर्धारित करना चाहिये।

बीमारियोंको जान-बूझकर न्योता देना और फिर डॉक्टरोंके द्वार खटखटाना या दूरदर्शिताको ताकपर रखकर अपने जीवनके अन्तिम क्षणोंमें चीखते-कराहते दम तोड़ना बुद्धिमानी नहीं है। सूझ-बूझ तो इसमें है कि हम प्रकृतिके अनुरूप आहार चुनें, प्रकृतिसे तालमेल बनायें और एक सुखी जीवन जीनेका प्रयत्न करें—एक ऐसे जीवनके लिये जो प्रकृतिको प्राकृतिक बना रहने दे और हमारी मौलिकताओंको बरकरार रखे।

जिन नागरिकोंने शाकाहारका मर्म समझ लिया है, वे अनेक रोगोंसे बिना दवा—उपचारके संघर्ष कर लेते हैं और मुस्कराते रहते हैं। सदैव सभी कार्योंमें सफल भी होते हैं, पापोंसे भी बचे रहते हैं। सत्य तो यह है कि हमें हिंसा और पापाचारके उन्मूलन-हेतु शाकाहार अपनाना ही है, साथ ही रोगोंसे बचे रहनेके लिये भी उसे स्वीकारना है, उसके संतुलन-रहस्यको समझना है।

शाकाहार प्राकृतिक भोजन है, वह प्रकृति-प्रदत्त है। मानव-शरीर भी प्रकृति-प्रदत्त होनेसे प्राकृतिक ही है। अतः हमारे शरीर और शाकाहारका नैसर्गिक सामंजस्य है। इसलिये इस सामंजस्यको बनाये रखनेवाला व्यक्ति सदैव स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है, साथ ही सभ्यता एवं संस्कृतिका संरक्षक और राष्ट्र-सेवा, समाज-सेवाके प्रति समर्पित-बुद्धिवाला होता है। यही तो शाकाहारका परम औचित्य है।

गीता-तत्त्व-चिन्तन
साधक-संजीवनी-परिशिष्ट
[सातवाँ अध्याय]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ६६० से आगे]

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥

और तो क्या कहूँ—

ये=जितने
एव=भी
सात्त्विकाः=सात्त्विक
भावाः=भाव हैं (और)
ये=जितने
च=भी
राजसाः=राजस
च=तथा
तामसाः=तामस (भाव हैं, वे सब)
मत्तः=मुझसे
एव=ही होते हैं—
इति=ऐसा
तान्=उनको
विद्धि=समझो।
तु=परंतु
अहम्=मैं
तेषु=उनमें (और)
ते=वे
मयि=मुझमें
न=नहीं हैं।

विशेष भाव—**'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'** (७। ७)-का विस्तार करते हुए भगवान्ने पिछले चार श्लोकोंमें जो बात कही है और जो बात नहीं कही है, वह सब-की-सब बात उपसंहाररूपसे भगवान्ने इस श्लोकमें कह दी है। भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही उत्पन्न होते हैं, मेरेसे ही सत्ता-स्फूर्ति पाते हैं, तथापि मैं इनमें नहीं हूँ और ये मेरेमें नहीं हैं अर्थात् सब कुछ मैं-ही-मैं हूँ। अतः मेरी प्राप्ति चाहनेवाले साधककी दृष्टि इन भावोंकी तरफ न जाकर मेरी तरफ ही जानी चाहिये। अगर वह उन भावोंमें ही उलझ जायगा तो कभी मुक्त अथवा भक्त नहीं हो सकेगा।

देखने, सुनने, समझने आदिमें जो भी भाव आते हैं और जो नहीं आते, वे सब-के-सब **'ये'** पदके अन्तर्गत समझने चाहिये।

भगवान्से उत्पन्न होनेके कारण यहाँ सात्त्विक, राजस और तामस गुणोंको 'भाव' नामसे कहा गया है। तात्पर्य है कि भगवान् भाव (सत्ता)-रूप हैं*; अतः उनसे भाव ही उत्पन्न होगा, अभाव कैसे उत्पन्न होगा? भगवान्से उत्पन्न होनेके कारण सब भाव भगवान्के ही स्वरूप हैं—**'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः'** (गीता १०। ५)। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो भी सात्त्विक, राजस और तामस भाव, क्रिया, पदार्थ आदि ग्रहण किये जाते हैं, वे सब भगवान् ही हैं†। मनकी स्फुरणामात्र चाहे अच्छी हो या बुरी, भगवान् ही हैं। संसारमें अच्छा-बुरा, शुद्ध-अशुद्ध, शत्रु-मित्र, दुष्ट-सज्जन, पापात्मा-पुण्यात्मा आदि जो कुछ भी देखने, सुनने, कहने, सोचने, समझने आदिमें आता है, वह सब केवल भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवाय कहीं कुछ भी नहीं है।

अपना कुछ स्वार्थ रखें, लेनेकी इच्छा रखें, तभी सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद होते हैं। यदि अपना कुछ स्वार्थ न रखें और दूसरेके हितकी दृष्टि रखें तो ये भगवान्के ही स्वरूप हैं। इनको अपने लिये मानना, इनसे सुख लेना ही पतनका कारण है‡।

'तीनों गुण मेरेसे ही प्रकट होते हैं'—ऐसा कहकर

*'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' (गीता २। १६); 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' (गीता १४। १९); 'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।' (गीता १८। २०)

†मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ (श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

‡काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि साधककी दृष्टि इन गुणोंकी तरफ न जाकर मुझ गुणातीतकी तरफ ही जानी चाहिये अर्थात् मेरी सत्ता और महत्ता मानकर मेरे ही साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, जिससे मेरी प्राप्ति हो जाय और सदाके लिये दु:ख मिटकर महान् आनन्दका अनुभव हो जाय। 'मैं उनमें नहीं हूँ और वे मेरेमें नहीं हैं'—ऐसा कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि अगर कोई मनुष्य मेरेको सत्ता और महत्ता न देकर सात्त्विक, राजस और तामस गुण, पदार्थ तथा क्रियाको सत्ता और महत्ता देकर उनके साथ सम्बन्ध जोड़ेगा तो वह मेरेको प्राप्त न होकर जन्म-मरणमें चला जायगा—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

'**मत्त एव**' पदोंका प्रयोग करके भगवान् मानो यह कहते हैं कि तीनों गुण मेरेसे ही होते हैं, फिर तुम मेरी तरफ न आकर गुणोंमें क्यों फँसते हो? जो गुणोंमें फँस जाते हैं, वे मेरा भजन नहीं कर सकते (गीता ७। १३)। परंतु जो गुणोंमें नहीं फँसते, वे भक्त मेरा भजन करते हैं (गीता ७। १६)*। ये गुण टिकनेवाले नहीं हैं; क्योंकि कारण टिकता है, कार्य नहीं टिकता। जैसे सोना टिकता है, गहने नहीं टिकते; मिट्टी टिकती है, घड़ा नहीं टिकता, ऐसे ही भगवान् टिकते हैं, गुण नहीं टिकते। गुण तो परिवर्तनशील और मिटनेवाले हैं, पर भगवान् नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों रहनेवाले हैं। उनका न परिवर्तन होता है, न नाश। इसलिये भगवान्की प्राप्ति गुणोंसे नहीं होती, प्रत्युत गुणोंके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अत: तमोगुणको रजोगुणसे और रजोगुणको सत्त्वगुणसे जीतकर गुणोंसे अतीत होना है।

यहाँ एक विशेष बात समझने योग्य है कि सगुण-साकार भगवान् भी वास्तवमें निर्गुण ही हैं; क्योंकि वे सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त नहीं हैं, प्रत्युत ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त हैं। इसलिये सगुण-साकार भगवान्की भक्तिको भी निर्गुण (सत्त्वादि गुणोंसे रहित) बताया गया है; जैसे—'**मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्**', '**मन्निकेतं तु निर्गुणम्**', '**निर्गुणो मदपाश्रय:**', '**मत्सेवायां तु निर्गुणा**' (श्रीमद्भा० ११। २५। २४—२७)।

प्रश्न—जब सब कुछ भगवान् ही हैं, तो फिर सात्त्विक-राजस-तामस भाव त्याज्य क्यों हैं?

उत्तर—जैसे जमीनमें जल सब जगह रहता है, पर उसका प्राप्ति-स्थान कुआँ है, ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं, पर उनका प्राप्ति-स्थान यज्ञ (कर्तव्य-कर्म) है—'**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**' (गीता ३। १५)। परंतु सात्त्विक-राजस-तामस भाव भगवान्के प्राप्ति-स्थान नहीं हैं अर्थात् इनके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती (गीता ७। १३)। अत: ये साधकके लिये कामके नहीं हैं। इसलिये भगवान्ने कहा है कि ये भाव मेरेसे होनेपर भी मैं इनमें और ये मेरेमें नहीं हैं।

जैसे, बाजरीकी खेतीमें बाजरी ही मुख्य होती है, पत्ती-डंठल नहीं। किसानका लक्ष्य केवल बाजरीको प्राप्त करनेका ही होता है। बाजरीको प्राप्त करनेके लिये वह खेतीको जल, खाद आदिसे पुष्ट करता है, जिससे बढ़िया बाजरी प्राप्त हो सके। ऐसे ही साधकका लक्ष्य भी केवल भगवान्का होना चाहिये, संसारका नहीं। भगवान्को प्राप्त करनेके लिये साधकको संसारकी सेवा करनी चाहिये। सेवाके सिवाय संसारसे अपना कोई मतलब नहीं रखना चाहिये। महत्त्व बाजरी (दाने)-का है, पत्ती-डंठलका नहीं; क्योंकि आरम्भमें भी बाजरी रहती है और अन्तमें भी बाजरी ही रहती है। बाजरी प्राप्त करनेके बाद जो शेष बचता है, वह (पत्ती-डंठल) बाजरीसे अलग न होनेपर भी अपने लिये किसी कामकी चीज नहीं है, प्रत्युत पशुओंके खानेकी चीज है। ऐसे ही सात्त्विक-राजस-तामस भाव मूढ़ (अविवेकी) मनुष्योंके लिये हैं। ये तीनों ही भाव मनुष्यको बाँधनेवाले हैं†। इसलिये ये भाव भगवान्के रूप होते हुए भी स्वयंके लिये नहीं हैं, प्रत्युत विवेकपूर्वक सांसारिक व्यवहारके लिये हैं। जैसे, जहर भी भगवान्का रूप है, पर वह खानेके लिये नहीं है!

जैसे बाजरी (बीज)-से पत्ती-डंठल पैदा होनेपर भी पत्ती-डंठलमें बाजरी नहीं है और बाजरीमें पत्ती-डंठल नहीं है, ऐसे ही भगवान्से पैदा होनेपर भी सात्त्विक-राजस-तामस भावोंमें भगवान् नहीं हैं और भगवान्में सात्त्विक-राजस-तामस भाव नहीं हैं। [क्रमश:]

---

*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:॥ (गीता १०। ८)

†सत्त्वं रजस्तम इति गुणा: प्रकृतिसम्भवा:। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

साधनोपयोगी पत्र

(१)

आत्महत्या पाप है

सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला; धन्यवाद। सच्चे संतको सच्चा संत ही पहचान सकता है। सत्स्वरूप आत्मा अथवा परमात्माका साक्षात्कार ही संतका प्रधान लक्षण है; परंतु यह लक्षण केवल स्वानुभवगम्य है। अत: संत अपनेको स्वयं ही पहचान सकता है। बाहरकी दुनिया उसके बाह्य व्यवहारोंको ही देखकर अपना मत स्थिर करती है; किंतु बाह्य व्यवहारोंके सुधारमात्रसे ही सच्चे संतका परिचय नहीं मिलता। बहुधा दम्भी मनुष्य भी मान-प्रतिष्ठाके लिये अपने बाह्य व्यवहार सज्जनोचित बना लेते हैं; पर उनके भीतर स्वार्थपरायणता, दम्भ, पाखंड, वञ्चकता आदिका निवास होता है। अत: व्यवहारमात्रकी ओर दृष्टि रखकर ही संतके सम्बन्धमें कोई निर्णय कर लेना उचित नहीं है। संतका वास्तविक रूप अन्तर्जगत्में प्रकट होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अहंता, ममता, राग, द्वेष, दम्भ और दर्प आदि दुर्गुणोंसे शून्य स्वाभाविक शम, दम, शान्ति, प्रसाद आदि सद्‌गुणोंसे अलंकृत वासनारहित निर्मल अन्त:करण ही सच्चे संतका परिचय देता है; किंतु उसे स्वयं संतके सिवा और कौन देख सकता है? इसलिये सच्चे संत गुफाओंमें भी रह सकते हैं तथा राजर्षि जनककी भाँति संसारमें भी '**मामनुस्मर युध्य च**' के आदर्शको अपनाकर निर्लिप्त जीवन बिता सकते हैं। फिर भी उन्हें उनके सिवा दूसरा कोई परख नहीं सकता, दूसरोंके पास उनकी परखका कोई साधन ही नहीं है। राजर्षि जनक और शुक संतोंद्वारा ही पहचाने गये। सुदीर्घकालतक संतोंका संग, सेवन और अनुसरण करनेवाले सच्चे भक्त भी संतोंको उनकी ही दयासे पहचान पाते हैं। वे स्वयं जिन-जिनके सामने अपनेको प्रकट कर दें, वे ही उनको जान सकते हैं। गुफामें रहनेवाले संत बड़े हैं या संसारके कर्मक्षेत्रमें? यह विचार भी वे ही लोग करते हैं, जिन्हें संतोंकी महिमाका बिलकुल ज्ञान नहीं है। संत, यदि वास्तवमें संत हैं तो वे किसी भी देश, वेश अथवा परिस्थितिमें हों, हमारे लिये वे वन्दनीय हैं; महान् हैं। उनमें तारतम्य स्थापित करना अपने अज्ञानका परिचय देना है। समुद्रमें मिली हुई कौन-सी बूँद बड़ी और कौन-सी छोटी है? यह प्रश्न किसी समझदार व्यक्तिके मनमें नहीं उठ सकता। संत तो परमात्मासे अभिन्न हैं; उनमें तारतम्य कैसा?

साधक भी यदि सत्यके खोजी हैं तो वे गुफामें रहकर साधना करें या कर्मक्षेत्रमें, सर्वथा आदरके पात्र हैं। वास्तवमें सबका स्वभाव पृथक्-पृथक् होता है। सब एक ही पथसे चलनेके अधिकारी नहीं हैं। किसीमें प्रवृत्तिमार्गकी ओर जानेकी रुचि होती है, किसीमें निवृत्तिमार्गकी ओर। कोई कर्मक्षेत्रमें साधना कर सकते हैं, कोई गुफामें। यदि उनका लक्ष्य सत्स्वरूप परमात्माकी ओर है, तब वे किसी भी मार्गसे चलनेवाले साधक क्यों न हों, उन्हें साधु ही मानना चाहिये।

आपका प्रश्न है—'आत्महत्या पाप क्यों?' आप लिखते हैं—'मैं पुनर्जन्ममें विश्वास नहीं रखता.........मेरे मतमें मृत्यु मोक्ष देनेवाली है, चाहे पापीकी हो या पुण्यात्माकी। ....जीवन अन्धकारमय प्रदेशकी एक यात्राका नाम है, जिसका पथ भयानक अन्धकारसे होकर गुजरता है।'

—इन पंक्तियोंमें जो धारणा प्रकट की गयी है, इससे तो अज्ञानका ही परिचय मिलता है। ऐसी निराशा नास्तिकोंके जीवनमें ही अपना अन्धकार फैलाती है। जीवन दु:खरूप है, भारभूत है; यह सब बाह्यदृष्टिकी कल्पना है। अन्तर्दृष्टिमें जहाँ जीवनके आधारस्तम्भ मङ्गलमय परमात्मा—सुखरूप भगवान् हैं, वहाँ उसे त्यागनेकी भावना ही क्यों उठे? जो जीवन भगवान्‌की भावनासे शून्य है, वही अनित्य और असुख है; अत: आवश्यकता इस बातकी है कि उसे प्राप्तकर भगवान्‌का भजन और चिन्तन किया जाय। ऐसा करते ही यह भगवन्मय हो जायगा। फिर यहाँ दु:ख और अन्धकारका प्रवेश नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌का यह आदेश है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

जहाँ आपको पग-पगपर कीचड़ दिखायी देता है, वहीं अमृतकी अमन्द मन्दाकिनी भी बहती है। जहाँ आप मरुकी उत्तप्त बालुकाके सिवा और कुछ नहीं देखते, उसी जगह

अनन्त अगाध शीतल सलिलका अपार पारावार भी लहरा रहा है। जहाँ चप्पे-चप्पेपर आपकी दृष्टिमें केवल कंटक-वृक्ष और झाड़ियाँ ही हैं, वहीं दूसरे लोग मनोहर मधुवनका भी दर्शन करते हैं; क्या आपकी ही दृष्टि सत्य है? दूसरोंकी नहीं? आप क्या कह सकते हैं, जो लोग यहाँ दु:ख-ही-दु:ख देखते हैं, वे अपने जीवनका अन्त कर दें तो क्या हर्ज? परंतु यह भी एक भ्रम ही है। सूर्य डूबनेके बाद जब सारे जगत्पर अन्धकार छा जाता है, उस समय क्या कोई भी व्यक्ति इसलिये अपने जीवनका अन्त कर डाले कि संसारमें अन्धकार-ही-अन्धकार है। नहीं, उसे पुन: प्रकाश प्राप्त होगा, ऐसा समझकर उस अन्धकारके कष्टको सहन करना चाहिये। यही बात रोगके सम्बन्धमें भी है। रोग और दु:ख सभी आगमापायी हैं। आते हैं और चले जाते हैं। अत: आनेपर उनके निवारणका उपाय करना ही कर्तव्य है; रोगीके जीवनका अन्त कर डालना नहीं। कीचड़ पड़ जानेपर कपड़ेको धोया जाता है, फेंका नहीं जाता; उसी प्रकार पापपंकमें फँसे हुए तन, मन, जीवनको पुण्यके पावन सलिलसे धोकर स्वच्छ बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये, त्यागनेकी नहीं। कपड़ा तो हम स्वयं बनाते और पहनते हैं; अत: स्वेच्छासे उसे त्याग भी सकते हैं; परंतु यह तन और जीवन हमें किसी दूसरी शक्तिसे प्राप्त हुए हैं। जिसने दिया है, वही इसे ले सकता है। हमारा काम है इसका सदुपयोग करना। इसको नष्ट करना हमारी अनधिकार चेष्टा है; इसके लिये हमें दण्ड मिलना चाहिये।

मकान पुराना हो जाय अथवा गिरने लगे तो उसे छोड़नेमें जैसे मकान-मालिकको कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार यह शरीर गिर जाय अथवा वृद्ध हो जाय तो मोहवश इसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। इतना ही दृष्टान्त लिया जा सकता है। मकान गिर ही जायगा या उसमें खतरा है—इस दृष्टिसे अपनी ही इच्छासे उसको मालिक छोड़ देता है, इसी प्रकार शरीर एक-न-एक दिन नष्ट होगा ही, उसमें रोगका आक्रमण हो चुका है, इसलिये स्वेच्छासे उसको गोली मार दी जाय अथवा अन्य उपायोंसे नष्ट कर दिया जाय, ऐसी सलाह देना पागलपन है। मकान तो आप स्वयं बनाते या बनवाते हैं। एक आदमी कई मकान बनवाकर सबमें बारी-बारीसे रहता है। एक छोड़कर दूसरेमें जाता है फिर उसको छोड़कर पहलेमें ही आ जाता है, यह स्वतन्त्रता शरीरके सम्बन्धमें नहीं है। यह शरीर हमें प्राप्त हुआ है, हमने बनाया नहीं है, अत: हम स्वेच्छासे इसका त्याग नहीं कर सकते। यह ठीक है कि अपने ही कर्मोंके परिणामस्वरूप यह शरीर मिला है तथापि हम इसके स्रष्टा नहीं हैं। हमें विवश होकर इस शरीरको ग्रहण करना पड़ता है और विवश होकर ही इसे छोड़नेको उद्यत होना पड़ता है। मकानका एक भाग तोड़कर हम उसे अपनी इच्छाके अनुसार बना सकते हैं; परंतु शरीरके एक अवयवमें भी हमें स्वेच्छानुसार परिवर्तन करनेका अधिकार नहीं है; अत: शरीर हमें एक धरोहरके रूपमें मिला है। इसकी रक्षा और इसका सदुपयोग—इतना ही हमारा कर्तव्य है। इसको नष्ट करना महान् अपराध है। आधुनिक कानूनकी दृष्टिसे भी आत्मघातकी चेष्टा महान् अपराध है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर और स्वामी श्रीरामतीर्थके वचनोंसे आत्मघातका समर्थन नहीं होता। उनके कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि परमात्माके अस्तित्वपर संदेह करना आत्मघातसे भी अधिक भयंकर है। मृत्यु अनिवार्य है, इसलिये जब चाहे तब क्षणिक कष्टको सहन न करके जीवनको नष्ट कर डालना त्याग नहीं, अविवेक है। बच्चा पैदा होते समय प्रत्येक गर्भवतीको बड़ा कष्ट होता है, कई मर भी जाती हैं; अत: सभी गर्भिणी स्त्रियोंको गोली मार देनी चाहिये; ऐसी बातें भी कही जा सकती हैं; किंतु क्या आप इसका अनुमोदन करेंगे? जीवनमें दु:ख और कष्टके अनेक अवसर आते हैं; इसलिये उनसे बचनेकी इच्छासे क्या नवजात शिशुको मार डालना उचित होगा? यदि ऐसी ही व्यवस्था दे दी जाय तो सारे जगत्का प्रलय हो जाय। युद्धमें बहुत कष्ट होता है, प्राण तक देने पड़ते हैं; अत: उनसे बचनेके लिये कायरोंकी तरह मुँह छिपाकर घरमें बैठा रहा जाय, यह सलाह कोई कायर ही दे सकता है। कोई भी ऐसी युक्ति नहीं है जो आत्मघातकी नैतिकता सिद्ध कर सके। जैनधर्ममें भी आत्मघातकी आज्ञा नहीं दी गयी है। उनके यहाँ एक व्रत है, जिसमें धीरे-धीरे तपस्यासे अपनेको मुक्तिके पथपर अग्रसर कराया जाता है। उसे आत्मघातका प्रयत्न कहना,

उसकी निन्दा करना है।

उपनिषदोंमें आत्मघातीको नरकको प्राप्ति बतायी गयी है। यह पापका ही दण्ड है। पाप और पुण्यका निर्णय शास्त्रसे ही होता है। शास्त्रोंने आत्मघातको पाप बताया है। अतः वह पाप ही है। कोई भी युक्ति उस पापसे छुटकारा नहीं दिला सकती। हमारा जीवन अनादि कालसे आ रहा है, यदि मुक्त नहीं हुआ तो अनन्त कालतक चलता रहेगा। जन्म और मृत्यु तो उस जीवन-नाटकके एक दृश्यके आरम्भ और पटाक्षेपमात्र हैं। आज जगत्में कोई सुखी और कोई दुखी क्यों है? यह पूर्वजन्मके कर्मोंका ही परिणाम है। इससे पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध हो जाता है। नित्य सुखकी प्राप्तिका उपाय आत्मघात नहीं, भगवान्का भजन है। शेष भगवान्की ही कृपा।

(२)

पत्नीको मारना महापाप है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि 'मैं कभी-कभी गुस्सेमें आकर अपनी पत्नीको कटु वचन कह बैठता हूँ। इसपर कभी तो वह चुप रह जाती है और कभी कुछ सामने बोल देती है। जब बोल देती है तब मेरा गुस्सा और बढ़ जाता है और मैं उसे मार बैठता हूँ। मुझे इसके लिये कभी-कभी पीछेसे पश्चात्ताप भी होता है। अब आप बताइये कि मुझे क्या करना चाहिये।'

मेरी समझसे अपनी पत्नीपर पतिका हाथ उठाना बहुत बड़ा पाप है। क्योंकि वह असहाय है, पतिके ही आश्रित है, बदलेमें वह सिवा दुखी होने, रोने अथवा कड़े मिजाजकी हो तो कुछ कटु वचन कहनेके और कोई प्रतिकार नहीं कर सकती। क्रोध तो किसीपर भी नहीं होना चाहिये। वह तो महाशत्रु है। जिसके मनमें आता है उसको पहले जलाता है और जिसके प्रति आता है उसको पीछे (वाणी आदिके द्वारा) प्रकट होनेपर जलाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषोंको अपने हितके लिये उसका सर्वथा त्याग ही करना चाहिये। परंतु यदि आवे ही तो समान शक्तिवालेपर आनेसे उसका कुछ औचित्य भी कहा जा सकता है। लेकिन जो अपनेसे हीनबल हो, प्रतिकार करनेकी शक्ति न रखता हो, चुपचाप रोने और दुखी होनेके सिवा कुछ भी न कर सकता हो, उसपर क्रोध करना तो वस्तुतः बड़ी ही नीचता और कायरता है। परंतु होता है प्रायः यही। दुर्बलपर ही गुस्सा आया करता है। फिर पत्नी तो सहधर्मिणी है। उसका समान दर्जा है, उसकी अकारण अवज्ञा करना भी पाप है, मारना तो महापाप है। स्त्री वशमें हो सकती है सच्चे प्रेमसे, सद्व्यवहारसे और हितकर मधुर वचनोंसे। उसके हितके लिये बिना गुस्सेके उसे कभी कटु शब्द कहे जायँ तो वह दोषकी बात नहीं है; परंतु साथ-ही-साथ आत्मपरीक्षा भी करनी चाहिये। धर्मका सार यह बताया गया है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'जो-जो बातें अपनेको प्रतिकूल मालूम होती हों, दूसरेके प्रति उनको कभी न करे।' आपको कोई कड़वी जबान कहे, गाली दे, मारे, तो क्या आपको वह भला मालूम होगा। यदि नहीं तो, फिर आपको क्या अधिकार है कि आप दूसरोंको बुरी जबान कहें, उन्हें गाली दें और मारें।

अतएव मैं आपसे प्रेमपूर्वक निवेदन करता हूँ कि पत्नीको मारनेकी आदत आप सर्वथा छोड़ ही दें। इसके लिये तो शपथ कर लें। आपको कभी-कभी इसके लिये पश्चात्ताप भी होता है, इससे पता लगता है कि आप इसको बुरा मानते हैं। अतएव आपके लिये इसे छोड़ना बहुत कठिन नहीं होगा। 'कटु' शब्द भी यथासाध्य न बोलें। क्योंकि कटुका प्रतिकार भी प्रायः कटु ही होता है और उससे कटुताके और भी बढ़नेकी आशंका रहती है।

साथ ही मेरा आपकी पत्नीसे भी यह अनुरोध है कि वे भी वाणीका संयम करें। आपके कटु शब्दोंके बदलेमें या तो चुप रहें या यदि आपका गुस्सा बढ़नेकी सम्भावना न हो तो ठीक समय देखकर बहुत नम्र तथा मीठे शब्दोंमें आपको समझा दें। ऐसा होगा तो फिर मार-पीटका प्रसंग कभी आयेगा ही नहीं।

विशेष भगवत्कृपा।

बाल-कल्याण

(१)

चार बातें

(डॉ० श्रीअमरनाथजी झा, एम्० ए०, डी० लिट्०)

(१) जीवनकी यात्रामें कई वस्तुओंकी आवश्यकता है। सबसे पहले तो शरीरको स्वस्थ रखना है। बिना स्वस्थ शरीरके कोई प्रसन्न नहीं रह सकता। इसलिये बालकोंको व्यायाम करना चाहिये, जिससे उनके शरीरका अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़ हो जाय। उनको सामूहिक खेल-कूदमें भाग लेना चाहिये, जिससे वे दूसरोंके साथ और अपने दलके हितके लिये काम करना सीखें।

(२) दूसरा काम है विद्याध्ययन। विद्या अनेक प्रकारकी है। सब विद्याओंका ज्ञान कोई एक व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, परंतु जिस किसी भी विषयका अध्ययन करना हो, उसमें यथासाध्य परिश्रम करना चाहिये। अपने विषयविशेषमें जहाँसे भी हो, जिस किसीसे भी हो, ज्ञान-लाभ करना चाहिये। जिस सुलभतासे युवावस्थामें ज्ञान मस्तिष्कमें प्रवेश करता है और वहाँ चिरस्थायी होकर रहता है, उतना आगे चलकर सम्भव नहीं हो पाता।

(३) तीसरा काम है अपनेको समाजसेवाके योग्य बनाना। मुनि जंगलमें अकेले तपस्या करते हुए समाजकी उपेक्षा कर सकता है, परंतु साधारण मनुष्यको तो समाजमें रहना है। सबके साथ रहना, सबके सुख-दुःखमें भाग लेना, चिकित्सा करना, धनोपार्जन करना और उसका उचित व्यय करना, भूमिसे अन्न उत्पन्न करना, माता-पिता और गुरुजनोंकी शुश्रूषा, बच्चों और पीड़ितोंकी सहायता करना, परोपकार करना—यह सब समाजमें रहकर ही करना है और इन सबकी योग्यता अध्ययनावस्थामें ही प्राप्त हो सकती है।

(४) मनुष्यकी अन्य प्राणियोंसे एक अलग विशेषता यह है कि उसको अपने आत्माका ज्ञान है। यह आत्मा अजर है, अमर है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता। इस आत्मासे ही मनुष्यका ईश्वरसे सम्बन्ध स्थापित होता है। ईश्वरकी उपासनासे चित्तको शान्ति मिलती है। नीच प्रवृत्तिसे मनुष्य बचता है। सन्मार्गकी ओर आकृष्ट होता है।

इन चार बातोंका यदि बालक ध्यान रखें तो उनका अपना और विश्वका कल्याण सम्भव है।

(२)

कामवासनारहित गर्भाधानसे उत्तम संतानकी प्राप्ति

(शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

संसारकी प्रत्येक वस्तु जिस रूपमें उत्पन्न होती है, वह उसी रूपमें काममें आने योग्य नहीं होती, किंतु दोष-परिमार्जन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति—इन त्रिविध संस्कारोंद्वारा संस्कृत हो जानेपर ही वह कार्योपयोगी बन पाती है। खेतमें उत्पन्न हुए जौ, गेहूँ और धान आदिको, प्रथम संस्कारसे भूसी-छिलका आदि दूर करके, दूसरेसे पीस-कूटकर आटा बनाकर और तीसरेसे घृत, नमक आदि सम्मिलित करके भोजनोपयोगी बनाया जाता है। कपासका बिनौला निकालकर धुनने-कातने और बुननेपर वस्त्र बनता है, उसे रंग, गोटा, किनारीसे सजाकर पहनने योग्य बनाया जाता है। खानसे निकले सोनेके अनपेक्षित मलिन अंशको फूँक-जलाकर, काट-छाँटकर, कूट-छेदकर भूषण बनाया जाता है, फिर उसमें मोती-हीरे आदिको जड़कर पहनने लायक बनाते हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्यमें भी मातृ-पितृ-दोषजन्य अनेक कमियाँ स्वभावतः होती हैं, उनकी निवृत्तिके लिये और अनेक शिक्षाओंद्वारा उसे सुशिक्षित करके विवाहद्वारा अर्धाङ्गकी पूर्ति करके ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्तिके योग्य बनाया जाता है। इन्हीं सब क्रियाओंका पारिभाषिक नाम भारतीय संस्कृतिमें 'संस्कार' है।

जगद्गुरु भारतने न केवल लोहा-लक्कड़ आदि जड़ पदार्थोंके ठीक-ठाक करनेमात्रके कारखाने खोलनेमें ही अपनी कर्तव्यपरायणता समझी थी, बल्कि जहाँ वह मनोवेगसे चलनेवाले महामहिम पुष्पक-जैसे विमान बनानेमें, शतयोजन-विस्तीर्ण समुद्रोंपर सेतु बाँध डालनेमें और वीर्य-कीटाणुओंको गर्भकी भाँति सुरक्षित रखकर सौ कौरवों, साठ हजार सगर-पुत्रोंको जन्म दे सकनेके योग्य 'घृत-कुम्भ' नामक महायन्त्रोंको बनानेमें सिद्धहस्त था, वहीं 'नर' को 'नारायण' बनाने योग्य 'संस्कार' नामक तत्तद् धर्मानुष्ठानोंसे भी लाभान्वित होता था।

आज पाश्चात्त्य देशोंको अपने कल-कारखानोंपर गर्व हो सकता है, एटम बम और हाईड्रोजन बमोंपर अभिमान हो सकता है, परंतु ये सब आविष्कार जिन अनुसंधायकोंके मस्तिष्कोंने किये हैं, उन मस्तिष्कोंके निर्माणकर्ता नारायणके सारूप्यको प्राप्त हो जाने योग्य मानवोंको बनानेकी—आध्यात्मिक विज्ञानशालाएँ यदि किसी देशमें खुलीं तो वह देश एकमात्र भारतवर्ष है। हमें गर्व है कि भारतमें आज भी तादृश नर-निर्माणके अमोघ रचनात्मक प्रयोग विद्यमान हैं जिनसे कि ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, जुझावर, जोरावर और हकीकतराय-जैसे बालक उत्पन्न किये जा सकते हैं।

हिंदूजातिका यह सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सिद्धान्त है कि हमारा दाम्पत्य-सम्बन्ध विषयवासना-पूर्तिके लिये नहीं, अपितु पदे-पदे कटु अनुभव-प्राप्तिके क्षेत्रभूत गृहस्थमें सहैतुक निर्वेदद्वारा विषय-वैराग्य उत्पन्न करके उसे 'कञ्चन-कामिनी'-रूप दोनों घाटियोंको लाँघनेमें समर्थ बनाकर उसके समक्ष सायुज्यका निष्कण्टक मार्ग प्रस्तुत करनेके लिये है। 'पुं' नामक नरकसे 'त्र'=त्राण करनेमें सक्षम होनेके कारण ही पुत्र-उत्पादन भी उक्त साधनाका ही अन्यतम अङ्ग है। आज भले ही विषयासक्त माता-पिताओंको स्वप्नमें भी यह ध्यान नहीं होता कि हम क्या करने चले हैं, केवल विषयानन्दकी सीमातक ही उनका यह प्रयास होता है, ऐसी स्थितिमें यदि इच्छा न रहते भी अतर्कित संतान बीचमें कूद पड़ती है तो यह केवल विधि-विधान ही कहा जा सकता है। जैसे इधरसे मोटर, उधरसे ताँगा न चाहते हुए भी टकरा गये। इधर-उधर घूमता-फिरता एक कुत्तेका पिल्ला भी इस संघटमें अचानक आ पहुँचा और जान बचाकर पें-पें करता भाग निकला। ठीक इसी प्रकार आजका सहवास भी उद्देश्यशून्य है और उससे समुत्पन्न संतान भी आजकी भाषामें 'ऐक्सिडैंटल' (आकस्मिक) संतान ही कही जा सकती है।

व्यापारी अपनी रोकड़में बड़ी सावधानीसे जमा-खर्च लिखते हैं, यदि कोई रकम रह जाय और सौ बार स्मरण करनेपर भी याद न आये तो उसे बट्टे-खातेमें लिखते हैं। ठीक इसी प्रकार आजकी संतान भी माता-पिता दोनोंको जिसका स्मरण नहीं होता, बट्टे-खातेकी रकमके बराबर ही है। ऐसी संतानसे माता-पिता, जाति या देशका कुछ भला हो सकेगा—यह आशा रखना व्यर्थ है। इसीलिये हमारे यहाँ योग्य संतान-निर्माणके लिये माता-पिताको संयमी रहकर तत्तद्धर्मानुष्ठान करनेका आदेश है।

पुराणोंमें एक कथा आती है कि जब सत्यभामाने 'प्रद्युम्न'-जैसी संतान उत्पन्न होनेकी अपनी अभिलाषा भगवान् श्रीकृष्णके सामने प्रकट की तो भगवान्ने कहा कि प्रद्युम्नके निमित्त मुझे और रुक्मिणीजीको द्वादश वर्षपर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यपूर्वक अमुक-अमुक धर्मानुष्ठान करने पड़े हैं। अत: यदि तुम भी ऐसा करो तो वैसे पुत्रकी माता बन सकती हो। वैसा किया गया तभी 'साम्ब' की उत्पत्ति हुई।

हिंदूशास्त्रोंमें 'गर्भाधान' संस्कारका विधान इसी उद्देश्यसे किया गया है कि माता-पिता दोनों सावधान होकर धर्मानुष्ठानपूर्वक गुरुजनोंकी अनुमतिसे योग्य संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ हों। यह बात प्राय: सिद्ध हो चुकी है कि गर्भाधानके समय पति-पत्नीके हृदयमें जिस प्रकारके विचार होते हैं—उनके हृदय और अन्तश्चक्षुके सम्मुख जो चित्र होता है, भावी शिशु उन्हीं सबके प्रतिबिम्बको लेकर जन्म लेता है। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि जब एक अमेरिकन दम्पतिसे हब्शी संतान उत्पन्न हुई तो पतिको पत्नीके चरित्रपर शंका हुई। तलाकके मुकदमेके दौरान दोनोंका रक्त जाँच करके जब प्रसूत बालकके रक्तसे मिलाया गया तो वह हब्शी-शकलका बालक उक्त दम्पतिद्वारा प्रसूत ही निश्चित हुआ। वैज्ञानिक बहुत विचारमें पड़े। अन्तमें बहुत अनुसंधान करनेके बाद मालूम हुआ कि उक्त दम्पति जिस कमरेमें सोते हैं, उसमें सामने ही एक रेड-इंडियन नस्लके हब्शीका चित्र लटका है। यह महिला उसे

बड़े मनोयोगसे अक्सर देखा करती थी। निश्चित हुआ कि इसीका परिणाम यह विरूप बालक है।

गर्भाधानविषयक मन्त्रोंकी विशद व्याख्या करनेका इस लघुकाय लेखमें अवकाश नहीं है, परंतु यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि गर्भाधानसे लेकर समावर्तन-संस्कारपर्यन्तकी सब क्रियाएँ बालकके मातृ-पितृ-रजोवीर्य-दोष-परिमार्जनमें तथा गुणाधानमें उपयुक्त होती हैं, इसके बादमें होनेवाली अन्त्येष्टिपर्यन्त समस्त क्रियाएँ हीनाङ्गपूर्तिकारिणी मानी जाती हैं। क्या हम आशा करें कि भारतीय जनता अपने विलुप्तप्राय संस्कारोंका पुनरुद्धार करके पुनरपि संस्कारी बालक उत्पन्न करनेका मार्ग परिष्कृत करनेको समुद्यत होगी?

(३)

बालक—भगवान्‌का रूप

(पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

बालक भगवान्‌के जीते-जागते खिलौने हैं। बालकोंमें भगवान्‌का दर्शन जितनी जल्दी हो सकता है, उतना शायद ही किसीमें हो। मनुष्य कितना ही पण्डित और ज्ञानी हो लेकिन जबतक उसमें बालोचित सरलता और निष्पापता नहीं आ जाती, तबतक उसका पाण्डित्य और ज्ञान सफल नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको अपने जीवनकी परिणत-अवस्थामें बालक हो जाना पड़ता है। यह अवस्था भगवान्‌की समीपताकी अवस्था है।

बालक भगवान्‌के ही तो अंश या रूप हैं। यदि हम यह समझ लें कि हमारे घरका बालक क्या है, भगवान्‌का ही बाल्यरूप है, तो हम दशरथ-कौसल्या या वसुदेव-देवकी अथवा नन्द-यशोदाकी तरह कितने भाग्यवान् अपनेको मानेंगे?

सच तो यह है कि सारा जगत् ही भगवान्‌का प्रतिरूप है। भगवान्‌ने जगत्‌के रूपमें ही आकार धारण किया है। जगत् भगवान्‌का अवतार ही है। लेकिन यह तो ज्ञानकी परिपूर्ण अवस्था हुई। बालकमें भगवान्‌के दर्शन करना भागवत-जीवनकी प्रथमावस्था है। परिणत-अवस्थामें मनुष्यको स्वयं बालक बन जाना पड़ता है। बालककी अभेद-दशाको पहुँच जाना होता है। इस तरह प्रारम्भ और अन्त दोनोंमें बालक हमारा साथी और सहारा है। जिस घरमें बालक नहीं, जिसके जीवनमें बालक नहीं, जो स्वयं जीवनमें बालक नहीं, वह अभागा है, भगवान्‌की कृपासे वंचित है।

अत: भगवान्‌की कृपा सदैव हमपर बनी रहे, इसके लिये आवश्यक है कि हम स्वयं बालक बने रहें, बालपना हमारेमें सदैव भरी रहे। बालपनासे तात्पर्य है, उस निश्छल भावनासे जिसके प्रकाशमें लेशमात्र भी कहीं ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, अपना-परायाका बोध नहीं होता, भावना नहीं होती। प्राणिमात्रके प्रति समान भावना बनी रहती है, तब सहज ही हम सबमें भगवान्‌का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाते हैं—उनकी दयाके भागी बन जाते हैं, फिर तो हमारा कल्याण ही हो गया।

(४)

शिष्टाचार

[पिछले अङ्कमें पृष्ठ ६६७ पर 'शिष्टाचार' शीर्षकसे एक लेख प्रकाशित किया गया है, उसीका शेषांश यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। बालकोंके लिये उपयोगी और आवश्यक सामग्री होनेके कारण विशेष रुचिपूर्वक उन्हें पढ़ना चाहिये और अपने व्यवहारमें लाना चाहिये।—[सम्पादक]

मार्गमें

१-रास्तेमें या सार्वजनिक स्थलोंपर न तो थूको, न लघुशंकादि करो और न वहाँ फलोंके छिलके या कागज आदि डालो। लघुशंकादि करनेके नियत स्थानोंपर ही करो। 'इसी प्रकार फलोंके छिलके, रद्दी कागज आदि भी एक किनारे या उनके लिये बनाये गये स्थलोंपर डालो।

२-मार्गमें काँटे, काँचके टुकड़े या कंकड़ पड़े हों तो उन्हें हटा दो।

३-सीधे-शान्त चलो। पैर घसीटते, सीटी बजाते, गाते, हँसी-मजाक करते चलना असभ्यता है। छड़ी या छाता

आदि घुमाते हुए भी नहीं चलना चाहिये।

४-रेलमें चलते समय, नौका आदिसे चढ़ते-उतरते समय, टिकट लेते समय धक्का मत दो। क्रमसे खड़े हो और शान्तिसे काम करो। रेलसे उतरनेवालोंको उतर लेने दो, तब चढ़ो। डिब्बेमें बैठे हो तो दूसरोंको चढ़नेसे रोको मत। अपने बैठनेसे अधिक स्थान मत घेरो।

५-रेलके डिब्बेमें या धर्मशालामें वहाँकी किसी वस्तु या स्थानको गंदा मत करो। वहाँके नियमोंका पूरा पालन करो।

६-रेलके डिब्बेमें जल मत गिराओ। थूको मत, नाक मत छिनको, फलोंके छिलके न गिराओ, सबको बाहर डालो, जलको बाहर फेंकना हो तो हाथ नीचे करके जल फेंको, जिससे दूसरोंपर छींटे न पड़ें।

७-रेलमें या किसी भी सार्वजनिक स्थानपर या वैसे भी धूम्रपान कदापि न करो।

८-बाजारमें खड़े-खड़े या मार्गमें चलते समय कुछ खाने लगना बहुत बुरा स्वभाव है। एक प्रकारकी पशुता है।

९-जहाँ जाने या रोकनेके लिये तार लगे हों, दीवार बनी हो, काँटे डाले गये हों, उधरसे मत जाओ।

१०-एक दूसरेके कंधेपर हाथ रखकर मार्गमें मत चलो।

११-जिस ओरसे चलना उचित हो, मार्गके उसी किनारेसे चलो। मार्गमें खड़े होकर बातें मत करो। बात करना हो तो एक किनारे हो जाओ।

१२-रास्ता चलते इधर-उधर मत देखो। झूमते या अकड़ते मत चलो। अकारण मत दौड़ो। सवारीपर हो तो दूसरी सवारीसे होड़ मत करो।

तीर्थ तथा सभास्थलमें

१-कहीं जलमें कुल्ला मत करो और न थूको। अलग पानी लेकर जलाशयसे कुछ दूर शौचके हाथ धोओ तथा कुल्ला करो और वहाँसे दूर जाकर मल-मूत्रका त्याग करो।

२-तीर्थ-स्नानके स्थानपर साबुन मत लगाओ। वहाँ किसी प्रकारकी गंदगी मत करो। नदीके किनारे टट्टी-पेशाब मत करो।

३-देव-मन्दिरमें देवताके सामने पैर फैलाकर या पैरपर पैर चढ़ाकर मत बैठो और न वहाँ सोओ। वहाँ शोर-गुल भी मत करो।

४-सभामें या कथामें परस्पर बातचीत मत करो। वहाँ कोई पुस्तक या अखबार भी मत पढ़ो। जो कुछ हो रहा है, उसे शान्तिसे सुनो।

५-किसी दूसरेके सामने या सार्वजनिक स्थलपर खाँसना, छींकना, जम्हाई लेना पड़ जाय तो मुखके आगे कोई वस्त्र कर लो। बार-बार छींक या खाँसी आती हो या अपानवायु छोड़ना हो तो वहाँसे उठकर अलग चले जाना चाहिये।

६-कोई दूसरा अपानवायु छोड़े, खाँसे या छींके तो शान्त रहो। हँसो मत और न घृणा प्रकट करो।

७-यदि तुम पीछे पहुँचे हो तो भीड़में घुसकर आगे बैठनेका प्रयत्न मत करो। पीछे बैठो। यदि तुम आगे या बीचमें बैठे हो तो सभा समाप्त होनेतक बैठे रहो। बीचमें मत उठो। बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ऐसे धीरेसे उठो कि किसीको बाधा न पड़े।

८-सभा-स्थलमें या कथामें नींद आने लगे तो वहीं झोंके मत लो। धीरेसे उठकर पीछे चले जाओ और खड़े रहो।

९-सभा-स्थलमें, कथामें बीचमें बोलो मत। कुछ पूछना, कहना हो तो लिखकर प्रबन्धकोंको दे दो। क्रोध या उत्साह आनेपर भी शान्त रहो।

१०-किसी सभा-स्थलमें किसीकी कहीं टोपी, रूमाल आदि रखी हो तो उसे हटाकर वहाँ मत बैठो।

११-सभा-स्थलके प्रबन्धकोंके आदेश एवं वहाँके नियमोंका पालन करो।

१२-किसीसे मिलने या किसी सार्वजनिक स्थानपर प्याज, लहसुन अथवा कोई ऐसी वस्तु खाकर मत जाओ जिससे तुम्हारे मुखसे गन्ध आवे। ऐसा कोई पदार्थ खाया हो तो इलायची, सौंफ आदि खाकर जाना चाहिये।

१३-सभामें जूते बीचमें न खोलकर एक ओर किनारेपर खोलो। नये जूते हों तो एक-एक जूता अलग-अलग छिपाकर रख दो।

विशेष सावधानी

१-चुंगी, टैक्स, किराया आदि तुरंत दे दो। इनको चुरानेका प्रयत्न कभी मत करो।

२-किसी कुली, मजदूर, ताँगेवालेसे किरायेके लिये झगड़ो मत। पहले तय करके काम कराओ। इसी प्रकार शाक, फल आदि बेंचनेवालोंसे बहुत झिकझिक मत करो।

३-किसीसे कुछ उधार लो तो ठीक समयपर उसे स्वयं दे दो। मकानके किराये आदि भी समयपर दे देना चाहिये।

४-यदि कोई कहीं पान, इलायची आदि भेंट करे तो उसमेंसे एक दो ही उठाना चाहिये।

५-वस्तुओंको रखने-उठानेमें बहुत शब्द न हो ऐसा ध्यान रखना चाहिये। द्वार भी धीरेसे खोलना, बंद करना चाहिये। जब दरवाजा खोलो तब उनके अटकने लगाना तथा बंद करते समय चिटकनी लगाना मत भूलो। सब वस्तुएँ ध्यानके साथ उनके अपने-अपने ठिकानेपर ही रखो, जिससे जरूरत होनेपर ढूँढ़ना न पड़े।

६-कोई पुस्तक या समाचारपत्र पढ़ता हो तो पीछेसे या बगलसे झुककर मत पढ़ो। वह पढ़ ले, तब नम्रतासे माँग सकते हो।

७-कोई तुम्हारा समाचारपत्र पढ़ना चाहे तो उसे पहले पढ़ लेने दो।

८-जहाँ कई व्यक्ति पढ़नेमें लगे हों, वहाँ बातें मत करो, जोरसे मत पढ़ो और न कोई खटपटका शब्द करो।

९-जहाँतक बने किसीसे माँगकर कोई चीज मत लाओ, बहुत आवश्यक हो तो लाओ, पर उसे सुरक्षित रखो और अपना काम हो जानेपर सुरक्षित-रूपसे तुरंत वापस लौटा दो। बर्तन आदि हों तो भलीभाँति मँजवाकर तथा कपड़ा, चादर अथवा चाँदनी आदि हो तो धुलवाकर वापस करो।

बातचीत

१-सुनो अधिक, बोलो बहुत कम। बोलो तो सत्य, हितकारी, प्रिय और मधुर वचन बोलो।

२-बात करते समय किसीके पास एकदम सटो मत और न उसके मुखके पास मुख ले जाओ।

३-किसीकी ओर अँगुली उठाकर मत दिखाओ। किसीका नाम पूछना हो तो 'आपका शुभ नाम क्या है?'— इस प्रकार पूछो। किसीका परिचय पूछना हो तो ऐसे पूछो—'आपका परिचय?'

४-किसीको यह मत कहो कि 'आप भूल करते हैं।' कहो कि 'आपकी बात मैं ठीक नहीं समझ सका।'

५-दो व्यक्ति बात करते हों तो बीचमें मत बोलो। किसीकी बात समाप्त हुए बिना बीचमें मत बोलो।

६-जहाँ कई व्यक्ति हों, वहाँ कानाफूसी कम करो। किसी सांकेतिक या ऐसी भाषामें भी मत बोलो जो तुम्हारे बोलचालकी सामान्य भाषा नहीं और जिसे वे लोग नहीं समझते। रोगीके पास तो एकदम कानाफूसी मत करो, चाहे तुम्हारी बातका रोगीसे कोई सम्बन्ध हो या न हो।

७-'जो है सो' आदि आवृत्ति-वाक्य (सखुनतकिया)-का स्वभाव मत डालो।

८-बिना पूछे राय मत दो।

९-बहुत-से शब्दोंका सीधा प्रयोग भद्दा माना जाता है। मूत्र-त्यागके लिये लघुशंका, मल-त्यागके लिये शौच, मृत्युके लिये परलोकवास, विधवाके दुःख पड़ना आदि शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये।

१०-बहसमें भी शान्त-स्वरमें बोलो। चिल्लाने मत लगो। दूर बैठे व्यक्तिके पास जाकर बात करो, चिल्लाओ मत।

११-पीठ-पीछे किसीकी निन्दा मत करो और न सुनो। किसीपर व्यंग्य मत करो।

१२-हँसना हो तो भी बहुत ठठाकर मत हँसो। अकारण मत हँसो।

अपनेसे सम्बन्धित

१-नित्य मंजन या दातौन करके दाँतोंको स्वच्छ रखो। दाँतोंपर मैल न रहे और मुखसे दुर्गन्धि न आवे। मिस्सी, तंबाकू या ऐसी कोई वस्तु न खाओ या लगाओ, जिससे दाँत काले या लाल दीखें।

२-नित्य स्नान करो। शरीरपर मैल न चढ़ा रहे। हाथ-पैर स्वच्छ रहें। काले या स्याही आदिसे रँगे हाथ असभ्यताके चिह्न हैं।

३-वस्त्र मैले-कुचैले नहीं होने चाहिये। उनमें स्याही, हल्दी, रंग आदिके धब्बे न लगे हों। जो भी वस्त्र हों, स्वच्छ हों।

४-बहुत भड़कीले वस्त्र अशिष्टतासूचक होते हैं। वस्त्र सादे होने चाहिये। स्थानके तथा ऋतुके उपयुक्त वस्त्र होना चाहिये। मन्दिरमें, सत्संगमें धोती पहनकर जाना उत्तम है। वहाँ पतलून, कोट पहनकर जाना अच्छा नहीं। इसी प्रकार ऑफिसोंमें नंगे शरीर नहीं जाना चाहिये। गरमियोंमें गरम कोट या अधिक वस्त्र लादे रहना तथा सर्दियोंमें पतले वस्त्र पहनना भी अच्छा नहीं।

५-केश अस्त-व्यस्त और मैले नहीं रखने चाहिये और न उनमें इतना तेल लगाना चाहिये जो अधिक दीखे।

६-हाथ-पैरके नख कटवाते रहना चाहिये। बढ़े, मैल-भरे नख मत रखो।

७-मुखमें अँगुली, पेंसिल, चाकू, पिन, सूई, चाबी या वस्त्रका छोर देना, कानमें तिनका, नाकमें अँगुली डालना, हाथसे या दाँतसे तिनके नोचते रहना, दाँतसे नख काटना, भौंहोंके केशोंको नोचते रहना—गंदी आदतें हैं। इन्हें शीघ्र छोड़ देना चाहिये।

८-मुखमें अँगुली लगाकर पुस्तकोंके पृष्ठ मत उलटो। थूक लगाकर टिकिट या लिफाफे मत चिपकाओ।

९-स्थिर बैठो और स्थिर खड़े रहो। हाथ-पैरसे भूमि कुरेदना, तिनके तोड़ना, बार-बार सिरपर हाथ फेरना, बटन टटोलते रहना, वस्त्रके छोर उमेठते रहना, झूमना, अँगुलियाँ चटखाते रहना—बुरे स्वभावके चिह्न है।

१०-लिखनेमें स्याही मत छिड़को। काट-कूट मत करो। स्याही गिरे नहीं, ऐसी सावधानी रखो। अक्षर साफ तथा सुन्दर लिखो।

११-स्नान करते समय दूसरोंपर छींटे न पड़ें, यह ध्यान रखो। हाथ धोओ तो पोंछ लो, छिड़ककर छींटे मत उछालो। भोजन करके कुल्ले करो। हाथ-पैर धोकर भोजन करो। जूठा हाथ कहीं मत लगाओ।

१२-व्यर्थ पानी मत गिराओ। पानीका नल और बिजलीकी रोशनी अनावश्यक मत खुला रहने दो।

१३-चाकूसे मेज मत खरोंचो। पेंसिलसे इधर-उधर चिह्न मत करो। दीवालपर मत लिखो।

१४-पुस्तक खुली छोड़कर मत जाओ। पुस्तकोंपर पैर मत रखो और न उनसे तकियेका काम लो।

१५-पीनेके पानी या दूध आदिमें अँगुली मत डुबाओ।

इस प्रकार जिस प्रदेशमें भोजन करनेके लिये बैठने, भोजन करने, स्नान करने, वस्त्र पहनने आदिके जो लोकाचार मान्य हों, उनका पालन करना चाहिये।

कैसे यह पतन रुकेगा ?

जबसे बना हमारे जीवनका उद्देश्य-'अर्थ', 'अधिकार'।
तबसे उठा पवित्र त्याग, आध्यात्मिक बलका शुचि आधार॥

आयी अस्तव्यस्तता, छाया सभी ओर व्यापक व्यामोह।
मिटी सभी कर्तव्य-भावना, छाया नीच स्वार्थ मद-मोह॥
हटा हृदयसे प्रेम, द्वेष-हिंसाने छीन लिया वह स्थान।
बुद्धि तामसी हुई, मिट गया धर्माधर्म-हिताहित-ज्ञान॥
तोड़-फोड़कर, आग लगाकर, हत्या कर—करते अभिमान।
दुर्बलको दुख देते, करते गुरुजनका सगर्व अपमान॥

छाया भ्रष्टाचार चतुर्दिक् अनाचार, अति अत्याचार।
हुआ विनाश सत्यका, हुआ प्रवर्तित मिथ्यामय व्यापार॥
राजनीतिने कर ली वेश्यावृत्ति सहर्ष आज स्वीकार।
जहाँ 'अर्थ' वहाँ चली वरण कर, छोड़ सभी सिद्धान्त-विचार॥
कैसे यह बहुमुखी रुकेगा पतन, पुनः होगा उत्थान?
सबको दें सद्बुद्धि पतितपावन करुणाकर श्रीभगवान॥

जी हाँ, हम स्वस्थ रह सकते हैं

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

आजके युगमें अनेक प्रकारकी बीमारियों एवं चिकित्सालयोंकी संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। डॉक्टरोंकी अधिकाधिक संख्या होनेपर भी क्या कारण है कि अधिकांश व्यक्ति अच्छे स्वास्थ्यका अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें इस लेखका शीर्षक कि 'जी हाँ, हम स्वस्थ रह सकते हैं,' अवश्य ही चौंकानेवाला है। परंतु अपने अनुभवके आधारपर मैं यह कह सकता हूँ कि हममेंसे शत-प्रतिशत लोग अच्छे स्वास्थ्यका लाभ बहुत अधिक समयतक उठा सकते हैं। प्रस्तुत लेखमें कुछ ऐसी ही व्यावहारिक एवं सरल बातोंका विवेचन किया गया है, जिनके पालन करनेसे हम सदैव स्वस्थ रह सकते हैं।

स्वास्थ्यकी महत्ता

ईश्वरकी कृतियोंमें सबसे अधिक उपयोगी कोई जीव है तो वह है मानव-शरीर। मानव-शरीरकी इतनी अद्भुत रचना ईश्वरने की है, जिसके द्वारा हम इस लोकमें भी अपनी उन्नति कर सकते हैं और परलोकको भी सुधार सकते हैं। जब हम स्वास्थ्यकी चर्चा करते हैं तो उसका तात्पर्य शारीरिक, मानसिक अथवा भावनात्मक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्यसे होता है। इन तीनोंके उचित सामञ्जस्यसे ही व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है। अत: शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सामञ्जस्यके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने-आपको पूर्णत: स्वस्थ रखें।

विचारोंका प्रभाव

यह निर्विवाद सत्य है कि हमारे शारीरिक स्वास्थ्यपर हमारे सकारात्मक एवं नकारात्मक विचारोंका अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि हम शारीरिक दृष्टिसे पूर्ण पुष्ट हों, फिर भी यदि हमारे विचार नकारात्मक हों तो हम पूर्णरूपसे अच्छे स्वास्थ्यका आनन्द नहीं ले सकते। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने विचार सकारात्मक रखें और ऐसे नकारात्मक विचार मनमें कदापि न आने दें, जिनसे क्रोधादि उद्वेग उत्पन्न होते हों या जिनके कारण ईर्ष्यादि विकार उत्पन्न होते हों। वैज्ञानिक दृष्टिसे यह सिद्ध हो चुका है कि भोजनादिके समय जब हम क्रोध, ईर्ष्या या इसी प्रकारके नकारात्मक भाव अपने मनमें रखते हैं तो उसका कुप्रभाव हमारे शारीरिक स्वास्थ्यपर एवं हमारी पाचन-शक्तिपर अवश्य पड़ता है। इसलिये अपने स्वयंके स्वास्थ्यके लिये चाहिये कि हम अपने मनमें ऐसे विचार न लायें। दैविक कारणोंसे या बाहरी कारणोंसे कभी स्वास्थ्य खराब हो जाय तब तो बात समझमें आती है, लेकिन अधिकांशत: हम अपने विकृत स्वास्थ्यके लिये स्वयं ही जिम्मेदार हैं और अच्छे स्वास्थ्यके लिये भी हम स्वयं ही जिम्मेदार हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (६।५)-में भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात् हम अपनी आत्माका भला स्वयं ही कर सकते हैं, हम ही अपने सबसे अच्छे मित्र हैं और हम ही स्वयंके सबसे बड़े शत्रु भी हैं। इसलिये हे अर्जुन! तुम अपने शत्रु मत बनो बल्कि अपने मित्र ही बनो।

इस उक्तिके अनुसार यदि हम अच्छे स्वास्थ्यके इच्छुक हैं तो हमें चाहिये कि हम यह निश्चय करें कि अनावश्यक क्रोध और ईर्ष्या आदि बिलकुल नहीं करेंगे।

मेरी समझसे सभी व्यक्तियोंके प्रति जो भाव हम रखते हैं उन्हें चार भागोंमें बाँट सकते हैं—(१) मुदित-भाव, (२) प्रेम-भाव, (३) करुणाभाव और (४) उपेक्षा-भाव। अपनेसे बड़ोंकी उन्नति देखकर या अपने ही मित्रोंकी अधिक उन्नति देखकर हमें प्रसन्न या मुदित होना चाहिये। अपने समान स्तरके मित्रोंकी उन्नति या उनकी खुशहाली देखकर अपने मनमें प्रेमभाव उत्पन्न होना चाहिये। उनसे कभी भी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। अपनेसे कमजोर वर्गके मित्रों और सहयोगियोंके प्रति या कर्मचारियोंके प्रति हमें करुणा या दयाभाव रखना चाहिये। और जो व्यक्ति दुष्ट हों, उनके प्रति घृणा या उपेक्षा-भाव रखना चाहिये। ऐसे विचार मनमें रहनेसे हमारे स्वास्थ्यपर प्रतिकूल असर नहीं पड़ेगा। विद्वज्जनोंका ऐसा मानना है कि हम केवल शरीर ही नहीं बल्कि स्वयं मन और आत्मा भी हैं। जहाँ हमारी प्रसन्नतामें

शारीरिक स्वास्थ्यका १० प्रतिशत महत्त्व है तो वहीं मनको प्रसन्न रखनेका ३० प्रतिशत और आत्माको प्रसन्न रखनेका तो ६० प्रतिशत तकका महत्त्व है। इसलिये उदात्त विचारोंसे हम अपनी आत्माको प्रसन्न रखें और ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदि नकारात्मक विचारोंसे सदैव दूर ही रहें।

हमारे हाथमें हमारा स्वास्थ्य

हमारा शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक स्वास्थ्य हमारे ही ऊपर निर्भर करता है और इसके लिये जो मूल बिन्दु हैं, उन्हें हम व्यावहारिक दृष्टिसे ३ भागोंमें विभाजित कर सकते हैं, जैसे—

(१) उचित आहार-विहार, (२) उचित व्यायाम तथा (३) उचित आराम और विश्राम।

उचित आहार-विहार

आजके व्यावहारिक जीवनमें यह तो सम्भव नहीं है कि हम पूर्णरूपसे ऐसे खान-पानकी प्रणालीका पालन करें, जिसमें नमक-मिर्च, शक्कर आदिका पूर्णतया निषेध हो और केवल उबली सब्जी या कच्ची सब्जी आदि ही खानेके लिये मिले। फिर भी जहाँतक सम्भव हो प्रौढ़ और बड़ी आयुके व्यक्तियोंको साधारणत: एक दिनमें दो बारसे अधिक अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिये। यदि किसीके लिये तीन समय भोजन आवश्यक हो जाय तो कम-से-कम अन्न ग्रहण करना चाहिये। दो मुख्य आहारोंके बीच ४ घंटेका अन्तर अवश्य होना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो प्रौढ़ और अधिक आयुके व्यक्तियोंको अच्छे स्वास्थ्यकी दृष्टिसे अपने नाश्तेमें केवल फल या अंकुरित अन्न तथा दही या दूध आदिका ही प्रयोग करना चाहिये। इतनेसे ही हमें पर्याप्त प्रोटीन एवं विटामिन मिल जाता है। हमें शान्त वातावरणमें खूब चबा-चबाकर भोजन करना चाहिये। जब हम भोजन करने बैठें तो क्रोध, ईर्ष्या आदि नकारात्मक विचारोंको अपने मनमें न आने दें। व्यापार अथवा व्यवसाय आदिकी चिन्ताओं या परिवार अथवा सामाजिक चिन्ताओंका भी उस समय विवेचन न करें। 'शाकाहारी' भोजन ही स्वास्थ्य-विज्ञानकी दृष्टिसे उत्तम आहार है। वैज्ञानिक दृष्टिसे यह सिद्ध हो चुका है कि शाकाहारी भोजनके द्वारा पर्याप्त प्रोटीन एवं कार्बोहाईड्रेट, विटामिन्स और खनिज पदार्थ मनुष्यको प्राप्त हो जाते हैं। विश्वके महान् शाकाहारी पहलवानों जैसे—गामा, गुरु हनुमान और कई अन्य विश्वविख्यात शाकाहारी खिलाड़ियोंने यह सिद्ध कर दिया है कि अच्छे स्वास्थ्यके लिये 'मांसाहार' बिलकुल आवश्यक नहीं है। फिर इसके साथ ही मदिरापान और धूम्रपान आदि व्यसनोंका त्याग भी अति आवश्यक है; क्योंकि सारे विश्वमें यह सिद्ध हो चुका है कि धूम्रपानसे कई प्रकारके रोग, विशेषकर हृदय-रोग, लीवर, फेफड़ों और कैंसर आदिके रोग लग जाते हैं। सामाजिक स्तरपर भी धूम्रपान करनेवालोंको हेय दृष्टिसे देखा जाता है। परंतु यह दुर्भाग्य है कि फैशनकी दुनियामें अनेक व्यक्ति देखा-देखी मदिरापानकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। मदिरापान एक प्रकारका व्यसन है जो मनुष्यके शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्यपर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

यही नहीं, अच्छे स्वास्थ्यके प्रेमियोंको चाय, कॉफी तथा अन्य कृत्रिम पेय भी नहीं ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि यदि चाय, कॉफी आदि व्यसनोंकी आदत पड़ गयी तो जल्दी छूटना मुश्किल हो जाता है। बहुधा कई व्यक्तियोंसे यह सुननेको मिलता भी है कि 'यह आदत तो अब छूटती ही नहीं।' इस बारेमें यहाँ एक बहुत प्रसिद्ध कहानीका उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा।

एक बार श्रीरामकृष्ण परमहंसके एक प्रिय शिष्यसे बहुत प्रयत्न करनेके बावजूद भी चायकी आदत नहीं छूटी। तब श्रीरामकृष्ण परमहंसने उसे एक दिन सबेरे आनेके लिये कहा। जब दूसरे दिन उनका शिष्य आया तो उसने देखा कि रामकृष्ण परमहंस एक खम्भेसे चिपके हुए थे और जोर-जोरसे चिल्ला रहे थे—'मुझे नीचे उतारो। इस खम्भेने मुझे अपने-आपसे चिपका रखा है।' शिष्य घबराया और उसने रामकृष्ण परमहंसको खम्भेसे हटानेकी कोशिश की। फिर थोड़ी देर बाद वह बोला—'आप इस खम्भेसे अपने हाथ हटा लीजिये तो आप तुरंत ही खम्भेसे अलग हट जायँगे।' फिर श्रीरामकृष्ण परमहंसने खम्भेसे हाथ हटाया और उससे अलग होते हुए अपने शिष्यसे कहा—'शायद अब तुम समझ गये होगे कि चाय किस तरह छोड़ी जा सकती है। जैसे खम्भेने मुझे नहीं चिपका रखा था बल्कि

मैं ही खम्भेसे चिपका था। ज्यों ही मैंने खम्भेका त्याग किया कि मैं अपने-आप खम्भेसे छूट गया। ठीक इसी प्रकार तुम्हें चायने नहीं चिपका रखा है, बल्कि तुम स्वयं चायसे चिपके हुए हो। तुम चाहो तो अपने-आपको चायसे अलग कर सकते हो। जैसे मैंने इस खम्भेसे अपने-आपको अलग किया।' इतना सुनना था कि शिष्यको सारी बात समझमें आ गयी और उसने हमेशाके लिये चाय छोड़ दी। इसी प्रकार यदि हम दृढ़ निश्चय कर लें तो चाय, कॉफी आदिकी आदतसे मुक्ति हो सकती है। इसके बदलेमें हम नीबू-पानी, फलोंका रस, कच्ची हरी सब्जियोंका रस, तुलसीकी पत्तियोंका काढ़ा और अन्यान्य प्राकृतिक पेय पदार्थोंको अपनी रुचिके अनुसार ले सकते हैं और अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। जिन व्यक्तियोंको गैस आदिकी शिकायत रहती है, वे यदि भोजनके पश्चात् १० मिनट 'वज्रासन' में बैठ जायँ तो इससे पाचन-क्रियामें भी सहायता मिलती है और गैस आदिसे भी मुक्ति होती है।

भोजनमें एक और बातका हम ध्यान रखें कि जहाँतक हो भोजनको इतना नहीं पकाया जाय कि उसके सारे तत्त्व ही नष्ट हो जायँ। इसी प्रकार मिर्च-मसाले, नमक आदि उचित मात्रामें ही लें। आजकल यह आम रिवाज हो गया है कि फ्रिज आदिमें बासी भोजनको २-३ दिन रखनेके बाद खाते हैं। जहाँतक सम्भव हो हम बासी भोजन न करें; क्योंकि इससे तामसी वृत्तिकी वृद्धि और अनेक व्याधियोंके उत्पन्न होनेका खतरा बना रहता है।

उचित व्यायाम

शारीरिक स्वास्थ्यके लिये व्यायामका महत्त्व भी कम नहीं। यदि व्यायाम करनेके लिये आजके व्यस्त जीवनमें अधिक समय न हो तो भी जो व्यायाम बहुत आसानीसे और हर परिस्थितिमें किया जा सकता है, उसे तो अवश्य ही करना चाहिये, जैसे—प्रातःकाल घूमना-टहलना। और जहाँतक सम्भव हो, सायंकालको भी खुली हवामें घूमना-टहलना स्वास्थ्यप्रद होता है। यदि बाहर जाना सम्भव न हो तो अपने बगीचेमें ही या अपनी बालकनी या मकानमें ही थोड़ा-बहुत अवश्य टहलना चाहिये और यदि सम्भव हो तो योगासन तथा प्राणायाम भी अवश्य करना चाहिये। कई व्यक्ति आजकल 'हेल्थ क्लब' आदिके सदस्य बनते हैं। कुछ व्यक्ति गर्मियोंकी ऋतुमें तैरनेका व्यायाम करते हैं। व्यायाम किसी भी प्रकारका हो, लेकिन शरीरके लिये व्यायामकी महत्ताको नकारा नहीं जा सकता। स्वस्थ रहनेके लिये यह अति आवश्यक है।

उचित आराम एवं विश्राम

जितना शरीरके लिये भोजन या व्यायाम आवश्यक है, उतना ही आराम और विश्राम भी आवश्यक है। जहाँतक सम्भव हो २-३ घंटे काम करनेके बाद ५-७ मिनट हमें विश्राम अवश्य करना चाहिये। कार्यालयोंमें बड़ी सुगमताके साथ व्यक्ति 'ताड़ासन' आदि कर सकते हैं। इसी प्रकार रात्रिके समय चिन्तामुक्त होकर ईश्वरके स्मरणपूर्वक हम गहरी नींद लेनेका अभ्यास कर सकते हैं, जो स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रात्रिका भोजन सोनेसे लगभग तीन घंटे पूर्व करना चाहिये। उचित नींद लेनेसे हमारी भोजन-क्रिया भी ठीक रहेगी और हमारे विचार भी ठीक रहेंगे। यदि हम उचित व्यायाम करेंगे और व्यसनोंमें नहीं घिरे रहेंगे तो कोई कारण नहीं कि हमें गहरी नींद न मिले, फिर बिना नींदकी गोलियाँ लिये ही हम अच्छी नींद ले सकते हैं और सदैव स्वस्थ रह सकते हैं।

आध्यात्मिक स्वास्थ्य

उपर्युक्त बातोंका पालन करनेसे हमारा शारीरिक स्वास्थ्य तो ठीक हो ही जायगा और मानसिक दृष्टिसे भी हम ठीक हो जायँगे, परंतु आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी उतना ही आवश्यक है। जब भी हमें समय मिले हम अपने प्रभु या इष्टदेवताका सदैव भक्तिपूर्वक स्मरण करें तथा समय-समयपर जप, ध्यान करते रहें और उसकी कृपाको न भूलें। प्राणिमात्रके प्रति हम यह भावना रखें कि सभी व्यक्ति एक 'प्रभु' या 'ब्रह्म'के ही अंश हैं—यही भावना आध्यात्मिक स्वास्थ्यका द्योतक है। ऐसी भावना करनेसे और उपर्युक्त विविध सुझावों तथा बातोंका पालन करनेसे हम निरन्तर स्वस्थ रह सकते हैं।
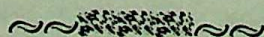
पढ़ो, समझो और करो

भगवत्कृपाके दर्शन

(१)

संत-महात्मा कहते हैं कि भगवान्‌की कृपा सबपर रहती है और निरन्तर रहती है; परंतु इसकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकारसे होनेके कारण सबके समझमें नहीं आती। पर यदि समझमें आ जाय और जीवनमें भगवत्कृपाका अनुभव होने लगे तो वह व्यक्ति निहाल हो जाय। वास्तवमें प्रभु-कृपा एवं सत्संगसे ही उनकी कृपाके दर्शन पद-पदपर होने लगते हैं तथा कृपाकी अनुभूति होते ही ईश्वरमें आस्था और विश्वास भी दृढ़ हो जाता है, जो जीवके कल्याणका मुख्य आधार है।

मेरे जीवनमें भी कितनी ही ऐसी घटनाएँ घटीं जो सामान्य होते हुए भी मेरे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। कारण, इन घटनाओंसे मेरी आस्था ईश्वरमें बढ़ी तथा जीवनमें बदलाव भी आया। उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर बड़ा आश्चर्य होता है। परमात्मामें श्रद्धा-विश्वास होनेके कारण और कभी-कभी देखा-देखी भी मन्दिरोंमें जाकर भगवान्‌के दर्शन-पूजन कर आता और माला भी फेर लेता था। मेरा व्यवसाय चिकित्सक (डॉक्टर)-का होनेसे अपने व्यवसायमें ही सारा समय व्यतीत होता था। धर्ममें आस्था भी कमजोर ही थी।

एक दिनकी बात है, मैं अपने साथ एक मरीज महावीर सरावगीको गाड़ीमें बैठाकर एक डॉ० महोदयसे सलाह करने ले जा रहा था। गाड़ी मैं स्वयं चला रहा था और वह मरीज मेरे पासवाली सीटपर बैठा हुआ था। कलकत्तामें गणेशचन्द्र एवेन्यूमें साधारण गतिसे गाड़ी दौड़ रही थी। सामनेसे एक गरीब महिला अपने कंधेपर छोटे बच्चेको लेकर फुटपाथसे उतरकर गाड़ीके सामनेसे निकलकर चली गयी। उसके पीछे उसका ही करीब तीन सालका बालक दौड़ा-दौड़ा आ रहा था कि गाड़ी एकदम उसके सामने पहुँच गयी, वह गिर पड़ा और गाड़ी उसके ऊपरसे निकल गयी। अब चारों ओर शोरगुल मच गया। मैंने गाड़ीको रोका, १-२ मीटर आगे जाकर गाड़ी रुकी। मेरे तो होश उड़ गये। उसी समय मैंने एक क्षणके लिये प्रभुको भी स्मरण किया। मेरे बगलमें जो महाशय बैठे थे, वे तो बेहोश हो गये थे। मैंने पीछे मुड़कर देखा तो बालक गिरा पड़ा था। माँ भी मुड़ी और देखने लगी, पर उसकी गोदमें एक छोटा बालक था, दूसरे व्यक्तिने बालकको उठाया।

मैंने जाकर उस बालकको देखा और उसकी माँके साथ उसे और दो व्यक्तियोंको अपनी गाड़ीमें बैठाकर मेडिकल कॉलेज ले गया। मार्गमें बार-बार भगवान्‌से प्रार्थना करता रहा कि—'हे नाथ, आज मेरी लाज रख लेना, नहीं तो यह कलंक जीवनभरके लिये मेरे माथेपर लग जायगा।' इमरजेंसी-विभागमें उस बालकको डॉक्टरोंने देखकर कहा कि इसको क्यों लाये हो? इसे तो किसी तरहकी चोट नहीं है, यह तो केवल रो रहा है। विशेषज्ञ डॉक्टरने परची बनानेसे इनकार कर दिया और हमारी इस बातपर उसे विश्वास भी नहीं हुआ कि इस बालकके ऊपरसे तेज रफ्तारसे चलती हुई गाड़ी निकल चुकी है। बात यह थी कि दोनों चक्कोंके बीचकी खाली जगहमें बालक पड़ा रहा और गाड़ी ऊपरसे निकल गयी। ईश्वर कैसे रक्षा करता है, यह कोई जानता नहीं। मैं इस घटनामें भगवान्‌की प्रत्यक्ष अहैतुकी कृपाका दर्शन कर बार-बार उनको प्रणाम करने लगा और सोचने लगा कि भगवान् कितने दयालु हैं। उन्होंने बालकको किस प्रकार रक्षा की। यदि इसे कुछ हो जाता तो मैं मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहता। इस घटनासे मेरी ईश्वरमें आस्था दृढ़ होने लगी।

(२)

लगभग तीस वर्ष पहले मेरे साथ एक और घटना घटी, जिसमें प्रत्यक्ष भगवत्कृपाका दर्शन, अनुभव हुआ। मेरे गुर्देमें पथरी हो गयी थी। बड़ा ही दर्द होता था और जब दर्दका दौरा उठता तो इंजेक्शन लेनेपर कुछ दिनतक तो आराम रहता, लेकिन पुनः वैसा ही दर्द शुरू हो जाता। डॉक्टरोंने ऑपरेशनकी सलाह दी थी, पर मैंने सोचा कि शायद होमियोपैथी या आयुर्वेदके उपचारसे पथरी गल जाय, यही सोचकर मैंने दवा शुरू कर दी। कुछ दिनतक थोड़ा लाभ रहा, तदनन्तर करीब दो मास बाद फिर एक्सरे

कराया, रिपोर्टके अनुसार पथरी ज्यों-की-त्यों बनी रही, लेकिन गुर्दा (किडनी) और भी फूलने लगा था। सर्जन डॉक्टर बी० मुखर्जीसे जब सलाह ली तो उन्होंने कहा कि एक दिन भी अब विलम्ब करना उचित नहीं; क्योंकि किडनी फूलती जा रही है और इसके नष्ट हो जानेकी प्रबल आशंका है। डॉ० मुखर्जी मेरे निकटतम साथी और मित्र थे। उन्होंने मेरे साथ अपनेपनके कारण मेरा ऑपरेशन दूसरे दिन सबेरे आठ बजे नर्सिंगहोममें तय कर दिया और सारा इंतजाम हो गया। यद्यपि मैं अभी ऑपरेशन कराना नहीं चाहता था, फिर भी उन्होंने आत्मीयताके नाते मेरी एक भी नहीं सुनी और मुझे दूसरे दिन सबेरे छ: बजे खाली पेट नर्सिंगहोममें भरती होनेका आदेश दे दिया। मैं उनके चेम्बरसे अपने चेम्बरमें आया। यहाँ कुछ रोगी मेरा इंतजार कर रहे थे। कल सबेरे आठ बजे मेरा ऑपरेशन होगा—यह सोच-सोचकर मैं चिन्तित होता जा रहा था, फिर भी मैंने रोगियोंका परीक्षण करना प्रारम्भं कर दिया। पहले रोगीको तो अच्छी तरहसे देख लिया, पर मेरा मन अब बिलकुल नहीं लग रहा था, क्लान्त-चिन्तित होनेके कारण मैं मानसिकरूपसे कुछ अशान्त हो गया था।

दूसरे नंबरका रोगी आया तो मैंने उससे साफ कह दिया कि 'मेरी मानसिक स्थिति ठीक नहीं है—मैं आज देख नहीं सकूँगा।' उसने बहुत विनम्रतासे कहा कि डॉक्टर साहब! मेरी कमर और पेटमें बहुत दर्द है, बहुत दूरसे आया हूँ, जरा मेरा एक्सरे-रिपोर्ट ही देख लीजिये। मैंने रिपोर्ट देखनेके बाद कहा कि तुम्हारे गुर्देमें तो पथरी है और ऑपरेशन करवाना पड़ेगा। उसके गुर्देमें भी ठीक मेरी-जैसी ही पथरी निकली। अपने ऑपरेशनसे तो मैं घबरा रहा था, पर उसकी पथरी देखकर बिना घबराहटके मैंने उसे ऑपरेशन करवानेकी सलाह दे दी। मेरे साथ उसका पुराना सम्बन्ध था इसलिये उसने मुझसे प्रार्थना की कि आप ही किसी सर्जन डॉक्टरके पास मुझे पत्र लिखकर भेज दीजिये। मैं बहुत कष्ट पा रहा हूँ। फिर मेरे मनमें भगवत्प्रेरणासे तुरंत विचार आया कि क्यों न डॉ० मुखर्जीसे ही बात की जाय। डॉ० बी० मुखर्जीको फोनकर कह दिया कि कल तो बुधवारके कारण मेरे घरवाले ऑपरेशनमें आपत्ति कर रहे हैं, पर इसी केशसे सम्बन्धित एक दूसरा मरीज है उसे मैं भेज रहा हूँ, क्योंकि उसे भी मेरी ही तरह गुर्देमें पथरी है। थोड़ी देर बाद डॉ० मुखर्जीका फोन आया कि मैं इस मरीजका कल सबेरे आठ बजे उसी नर्सिंगहोममें तुम्हारी जगह ऑपरेशन करूँगा और मुझे भी वहाँपर दूसरे दिन आठ बजे जरूर आनेका आदेश दिया।

उस दिन रातको फिर मेरी कमर और पेटमें दर्द हुआ तथा नींद नहीं आयी। भगवान्‌से कातर होकर प्रार्थना करता रहा। दूसरोंको तो आवश्यक होनेपर ऑपरेशन करानेकी सलाह देता था, परंतु स्वयं ऑपरेशन करानेसे इतना डर रहा था कि मेरा बुरा हाल हो गया था। बार-बार प्रभुसे प्रार्थना करता था कि ऑपरेशन न कराना पड़े। दूसरी ओर यह भी सोचता था कि मुझे ऑपरेशन तुरंत करवा लेना चाहिये। मेरी ऊहापोहकी स्थिति थी। दु:खमें भगवान् भी याद आने लगते हैं। मैं बार-बार मन-ही-मन प्रभुसे प्रार्थना करने लगा कि इस कष्टसे मेरा निस्तार कैसे होगा? थोड़ी ही देरमें मैं विह्वल हो गया और स्वयंको असहाय समझकर प्रभुसे कहने लगा—'हे करुणाके सागर, दयासिन्धो! आपकी अपार महिमा तो बहुत सुनी है, क्या मेरी इस पीड़ाको आप क्षणभरमें नहीं मिटा सकते?' इसी प्रकार मेरी रात्रि व्यतीत हो गयी। सबेरे जब मैं पाँच बजे उठकर मूत्र-त्यागके लिये गया तो थोड़ी पीड़ाके साथ पेशाब हुआ और गमलेपर टनकी आवाज् हुई, देखा तो गुर्देकी पथरी मूत्रके साथ ही बाहर आ गयी थी। मैंने उसे उठाकर पानीसे धोया और रुईमें लपेटकर माचिसकी खाली पेटीमें बंद करके ठीक आठ बजे नर्सिंगहोममें जा पहुँचा। मेरी खुशीका ठिकाना नहीं था। डॉ० मुखर्जी ऑपरेशन करके उस मरीजके गुर्देसे निकाली हुई पथरी मुझे दिखाने लगे। मैंने अपनी जेबसे अपनी निकली हुई पथरी उन्हें दिखलायी। दोनों ही पथरियाँ करीब-करीब एक ही आकारकी थीं। डॉ० मुखर्जी अपना माथा ठोककर बोले कि 'खूब बेचे गिये छे' (खूब बच गये हो।) यह देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी बड़ी पथरी कैसे अपने-आप निकल गयी। मैंने उत्तर दिया कि मेरेपर भगवान्‌की विशेष कृपा है। यह सब भगवान् कैसे करता है, हम कुछ सोच-समझ नहीं सकते। इस घटनाने

मेरे भगवद्विश्वासको सुदृढ़ कर दिया और उसी समयसे मेरा मन भगवान्‌में अधिक लगने लगा तथा भक्ति बढ़ती ही गयी। इसके बाद भी ऐसी-ऐसी अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ मेरे जीवनमें होती रहीं। मुझे ऐसा विश्वास हो गया कि केवल भगवान् ही असम्भवको सम्भव बनानेमें समर्थ हैं।

जीवनमें अनायास कुछ ऐसी घटनाएँ घटती हैं जो देखनेमें तो अत्यन्त छोटी होती हैं, परंतु उनमें भी भगवत्कृपाकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसीसे सम्बन्धित एक और घटनाका वर्णन करता हूँ—

तीन साल पहले वृन्दावनमें करीब ग्यारह बजे श्रीबाँकेबिहारीजीके मन्दिरमें अपनी माला (गोमुखी) लेकर दर्शन करने गया। जैसे ही घरपर आया और जेब टटोली, पैसा सँभाला तो माला नहीं मिली। दोपहरके बारह बजे थे। भोजनका समय हो गया था। उस समय माला फेरकर भोजन करना था। विचार आया कि माला तो मन्दिर या मार्गमें कहीं गिर गयी। मुझे बहुत दुःख हुआ—मन नहीं लगा—पागलकी तरह व्याकुल हो गया, दिमाग भी ठीक नहीं रहा। भगवान्‌के सामने रोते हुए यहाँ तक कह बैठा—'ला मेरी माला'। अबतक कमरेमें मैं अकेला ही था, उसी क्षण कोई व्यक्ति आया, दरवाजा खटखटाया। मेरी मानसिक स्थिति कुछ स्वस्थ हुई। आगन्तुक व्यक्ति कुछ औषधि लेने आया था। औषधि निकालनेके लिये मैंने चुपचाप आलमारीका दराज खोला तो वही माला नजर आ गयी। इस मालाको मैं बहुत वर्षोंसे फेरता था, अतः इसके प्रति विशेष अपनत्व हो गया था। यह भी जीवनकी आश्चर्यजनक घटना है।

उस आगन्तुकके रूपमें साक्षात् भगवान्‌का दर्शन हुआ था, जिनसे उस स्थानपर जानेकी प्रेरणा मिली, जहाँ माला रखी हुई थी। इस भगवत्कृपासे मेरी नैमित्तिक जपादि-क्रिया भंग होनेसे बच गयी। यह सब कुछ परमात्मप्रभुके प्रति अटूट आस्था और विश्वासका प्रतिफल एवं स्वयं उनकी अहैतुकी कृपाके प्रत्यक्ष दर्शन हैं।

—श्रीसोहनजी सुराना

मनन करने योग्य

जब शेख बाबा फरीद भिक्षा माँगने गये?

मैं भी चलूँ बादशाह सलामत दानशील अकबरसे कुछ माँगूँ! अपनी तंगी दूर करूँ। गरीबीसे निजात पाऊँ। सुना है कि वे हर एक फकीरकी इज्जत करते हैं और भरपूर मदद करते हैं। जो भी उनके सामने हाथ फैलाता है, वह मुँह-माँगो मुराद पाता है, कभी खाली हाथ नहीं लौटता।

यह सोचकर बाबा फरीद शाहंशाह अकबरसे मिलने गये। उन्होंने अकबरकी दरियादिली, सभी धर्मोंके प्रति आदर एवं गरीबोंकी मददके अनेक किस्से सुने थे। उन दिनों मुगल-साम्राज्य अपने स्वर्णिम कालमें था। उनकी सत्ता और महिमाकी शोहरत पूरे देशमें फैली हुई थी। अपने 'दीन-ए-इलाही' धर्मके कारण फकीरोंमें अकबर बहुत लोकप्रिय था।

अनेक जरूरतमंद फकीर आर्थिक मददके लिये अकबरके पास कुछ माँगने जाते और वहाँसे पूर्णतः संतुष्ट होकर वापस आते थे। एक दिन प्रसिद्ध फकीर शेख फरीदने भी सोचा चलो मैं भी बादशाहसे कुछ माँगूँ।

बादशाह अकबर उस समय खुदाके समक्ष प्रार्थना कर रहे थे। वे ध्यानमें मग्न थे। नेत्र मूँदे कुछ सोच रहे थे। बाबा शेख फरीद प्रतीक्षा करते हुए दूरसे ही अकबरकी पूजापर दृष्टि लगाये रहे।

पूजा कर लेनेके बाद जब अकबर उठा तो फरीदने देखा अकबर हाथ फैलाकर ईश्वरसे कुछ माँग रहा है, 'ऐ मेरे खुदा, मुझपर रहम कर। मुगल सल्तनतको गांधारसे लेकर दक्षिणतक सलामत रख। इसे और भी अधिक बढ़ा दे। मेरी ताजपोशी महफूज रहे। मेरी झोली सदा भरी रहे। धन-सम्पत्ति कभी कम न हो।'

अकबरको हाथ ऊपर फैलाये ईश्वरसे इस प्रकारकी याचना करते देखकर शेख फरीद मुड़कर वापस जाने लगे। बादशाह अकबर उनकी बड़ी इज्जत करते थे। वे बड़े ही चिन्तनशील और पहुँचे हुए फकीर थे। ऐसे फकीरको

अपने महलमें आया हुआ देखकर वे अपना अहोभाग्य समझ रहे थे। चुपचाप यों ही बिना कुछ बोले जाते देख उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। अकबरने अत्यन्त विनयपूर्वक उनसे निवेदन किया—

'हुजूर, आप यों चुपचाप क्यों चले जा रहे हैं? पूजामें लगे रहनेकी वजहसे देर हो गयी। माफी चाहता हूँ। बंदा अब खिदमतके लिये हाजिर है! हुक्म कीजिये।'

पर शेख फरीद चुपचाप कुछ सोच रहे थे। मानो वे किसी अन्तर्द्वन्द्वके समाधान-हेतु बड़ी गम्भीरतासे आत्ममन्थन कर रहे हों। उनके मनमें याचक और याचनामें संघर्ष चल रहा था। किससे मदद माँगी जाय, किससे नहीं।

पूरे आदरसहित बादशाहने फिर दोहराया—'बंदेको खिदमतका एक मौका जरूर दीजिये। आपका यहाँ पधारना मेरे लिये बड़े गौरवकी बात है।'

बादशाहकी बातोंको सुनकर भी बाबा चुप ही रहे। अब बादशाहने यह सोचा कि शायद ये कम सुनते हों, इसलिये पुनः कुछ जोर देकर बोले—'आपने मुझसे खिदमतके लिये कुछ फरमाया नहीं बाबा! क्या कोई गुनाह हो गया है! गुस्ताखी माफ करें, कुछ तो माँगें?'

बाबा जाते-जाते कुछ रुके। एक हलकी-सी मुस्कराहट उनके चेहरेपर काले बादलोंमेंसे उदित होते हुए चन्द्रमाकी तरह दिखायी दी।

अकबरने फिर कहा—'शेख साहब, मुझे खिदमतका मौका दीजिये। यों खाली हाथ वापस मत जाइये।'

अब बाबा कुछ सकुचाते हुए बोले—'बादशाह सलामत, मैं तो खुद आपसे कुछ माँगने ही आया था, पर आपको स्वयं माँगते देखकर मेरी अंदरकी आँखें खुल गयीं।'

'मैं कुछ समझा नहीं। बंदापरवर, कुछ स्पष्ट कीजिये।'

'आपको हाथ फैलाकर माँगते देखकर खुदाने मेरे हृदयकी आँखें खोल दी हैं।'

'क्या मतलब है?'

'आपको हाथ फैलाये देखकर मैं यह जान गया हूँ कि सारे जहाँका मालिक तो वह खुदा है, जिससे आप भी हाथ फैलाकर कुछ माँग रहे थे?'

'यह सही है, पर उससे क्या फर्क पड़ा?'—अकबर बोला।

'शाहंशाह अकबर, मैं यह महसूस करता हूँ कि मैं वह बदकिस्मत फकीर हूँ जो एक मँगतेके आगे हाथ फैलाने आया है। लानत है मुझ-जैसे मँगतेपर! मैं सोचता हूँ कि जिस इंसानके पास खुद ही नहीं है, वह भला मुझे क्या देगा! कैसे वह अपनेको सत्ता, धन-सम्पत्ति एवं रुतबेसे अलग कर सकेगा। मनुष्यकी अंदरूनी गरीबीका खयालकर मैंने आपसे कुछ भी माँगना उचित नहीं समझा! धन जरूरी है, पर उसका आगमन ईमानदारी, संतोष और अपने बाजुओंकी मेहनतपर टिका होना चाहिये। तभी तनाव कम होगा और देनेवाले तथा लेनेवालेको शान्ति मिलेगी, सुकून मिलेगा।

—यह सुनकर अकबर सोचमें पड़ गया? 'क्या मतलब है हुजूर! मुझे साफ-साफ समझा दीजिये?'

बादशाह अकबर! 'हिंसा, अन्याय, दिखावा, क्रोध और लालचसे आया हुआ पैसा न तुम्हें शान्ति देगा, न मुझे ही और न तो तुम्हारी आगे आनेवाली पीढ़ियोंको ही ताकत दे सकेगा। देनेवाला तो बस एक खुदा ही है। उसीसे कुछ माँगना उचित रहेगा।'

बाबा फरीद बिना कुछ माँगे ही वापस चले गये।

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः॥

जिनकी महिमा सर्वत्र विश्रुत (प्रसिद्ध) है, उन भगवान् अनन्तका जब कीर्तन किया जाता है, तब वे उन कीर्तनपरायण भक्तजनोंके चित्तमें प्रविष्ट हो उनके सारे संकटको उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जैसे सूर्य अन्धकारको और आँधी बादलोंको।

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण' के लोकप्रिय पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

सभी सचित्र-सजिल्द, प्रत्येकका डाकखर्च रु० १२ अतिरिक्त

[इच्छुक सज्जन शीघ्र मँगाकर लाभ उठायें]

शिवाङ्क [वर्ष ८, सन् १९३४ ई०]—इसमें शिवतत्त्व तथा शिव-महिमापर विशद विवेचन एवं शिवार्चन, व्रत, पूजन एवं उपासनापर ज्ञानप्रद मार्ग-दर्शनके साथ द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंका सचित्र परिचय तथा सुप्रसिद्ध शैव-तीर्थोंका प्रामाणिक वर्णन है। मूल्य रु० ८०

शक्ति-अङ्क [वर्ष ९, सन् १९३५ ई०]—यह परब्रह्म परमात्माके आद्य शक्ति-स्वरूपके तात्त्विक विवेचनसहित, महादेवीकी लीला-कथाओंका प्रकाशक है। इसमें वर्णित सुप्रसिद्ध शाक्त-भक्तों और साधकोंके जीवन-चरित्र प्रेरणादायी हैं। भारतके विख्यात शक्तिपीठों तथा प्राचीन देवी-मन्दिरोंका सचित्र दिग्दर्शन भी इसकी उल्लेखनीय विशेषता है। मूल्य रु० ८०

योगाङ्क [वर्ष १०, सन् १९३६ ई०]—इसमें योगकी व्याख्या, स्वरूप-परिचय, प्रकार तथा योग-प्रणालियों एवं योगके अङ्ग-उपाङ्गोंपर विस्तारसे चर्चा की गयी है। साथ ही अनेक सुप्रसिद्ध योगियों, योग-सिद्ध महात्माओं और योग-साधकोंके जीवन-चरित्र तथा साधना-पद्धतियोंपर रोचक, ज्ञानप्रद वर्णन हैं। सारांशत: यह विशेषाङ्क 'योग' के सर्वमान्य महत्त्व और महिमासे परिचय कराता है। मूल्य रु० ६०

संत-अङ्क [वर्ष १२, सन् १९३८ ई०]—यह 'संत-अङ्क' संतोंकी महिमासे मण्डित, उनकी शिक्षाओं, उपदेशों और प्रेरणाओंसे पूरित, नित्य पठनीय और सर्वदा सेवनीय है। इसमें भगवद्विश्वासी महापुरुषों तथा त्यागी-वैरागी महात्माओंके आदर्श जीवन-चरित्र बड़े रोचक और प्रेरणाप्रद हैं। मूल्य रु० ९०

संक्षिप्त मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाङ्क [वर्ष २१, सन् १९४७ ई०]—इसमें आत्म-कल्याणकारी महान् साधनों, उपदेशों और आदर्श चरित्रोंसहित मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत देवीमाहात्म्यका रोचक तथा ज्ञानप्रद वर्णन है। इसके अतिरिक्त तीर्थ-महिमा, भगवद्भक्ति, ज्ञान, योग, सदाचार आदि अनेक उपयोगी विषयोंपर भी (इन दोनों संयुक्त पुराणोंमें) विस्तृत प्रकाश डाला गया है। मूल्य रु० ७५

नारी-अङ्क [वर्ष २२, सन् १९४८ ई०]—इसमें भारतकी महान् नारियोंके प्रेरणादायी आदर्श चरित्र तथा नारीविषयक विभिन्न समस्याओंपर विस्तृत चर्चा और उनका वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणसे भारतीय आदर्शोचित समाधान है। साथ ही भारतसहित विश्वकी महान् महिला-रत्नोंके जीवन-परिचय और आदर्शोंपर मूल्यवान् प्रेरक सामग्री इसके उल्लेखनीय विषय हैं। मूल्य रु० ७०

हिन्दू-संस्कृति-अङ्क [वर्ष २४, सन् १९५० ई०]—भारतीय संस्कृति—विशेषत: हिन्दू-धर्म, दर्शन, आचार-विचार, संस्कार, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, कला-संस्कृति भारतीयता तथा भारतीय आदर्शोंपर प्रकाश डालनेवाला यह तथ्यपूर्ण बृहद् (सचित्र) दिग्दर्शन है। मूल्य रु० ७५

संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क [वर्ष २५, सन् १९५१ ई०]—इसमें भगवान् शिवकी महिमा, सती-चरित्र, शिव-पार्वती-विवाह, कुमार कार्तिकेयके जन्मकी कथा तथा तारकासुर-वध आदिका वर्णन है। शिव-पूजनकी महिमाके साथ इसमें तीर्थ, व्रत, जप-दानादिका महत्त्व-वर्णन एवं भगवान् सत्यनारायणके व्रत-कथाका रोचक तथा प्रेरणादायी वर्णन है। इसके अनेक आख्यान रोचक एवं ज्ञानप्रद प्रसङ्ग और चरित्र पठनीय हैं। मूल्य रु० १००

भक्त-चरिताङ्क [वर्ष २६, सन् १९५२ ई०]—इसमें भगवद्विश्वासको बढ़ानेवाली अनेकों भगवद्भक्तों और संत-महात्माओंके जीवन-चरित्र—विभिन्न विचित्र भक्तिपूर्ण भावोंकी ऐसी पवित्र, सरस, मधुर कथाएँ हैं, जो मनको प्रेम-भक्ति-सुधारससे सराबोर कर देती हैं। मूल्य रु० ८०

बालक-अङ्क [वर्ष २७, सन् १९५३ ई०]—यह विशेषाङ्क बालकोंसे सम्बन्धित सभी उपयोगी विषयोंका बृहद् संग्रह है। भारत तथा विश्वके सुविख्यात आदर्श बालकोंके इसमें वर्णित जीवन-वृत्त तथा आदर्श चरित्र प्रेरक, शिक्षाप्रद, रोचक तथा अनुकरणीय और अध्ययनीय हैं। मूल्य रु० ८०

—इनके अतिरिक्त निम्नलिखित पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क भी इस समय उपलब्ध हैं—

संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—मूल्य रु० ८०, **संतवाणी-अङ्क**—मूल्य रु० ८५, **सत्कथा-अङ्क**—मूल्य रु० ६५, **तीर्थाङ्क**—मूल्य रु० ८५, **भक्ति-अङ्क**—मूल्य रु० ८०, **परलोक-पुनर्जन्माङ्क**—मूल्य रु० ७०, **संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क**—मूल्य रु० ७५ एवं **श्रीहनुमान-अङ्क**—मूल्य रु० ५०

व्यवस्थापक—**'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३
प्र० ति० २१-७-९७
LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

नवीन प्रकाशन

श्रीरामचरितमानस ग्रन्थाकार, केवल हिन्दी अनुवाद—(कोड-नं० 740) पाठकोंकी विशेष माँगको देखते हुए श्रीरामचरितमानसका केवल हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया है, जिससे इसके गूढ़-से-गूढ़ भावोंको साधारण पढ़े-लिखे लोग भी आसानीसे समझ सकें तथा इसके सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारकर अपने जीवनको धन्य कर सकें। आजकी इस विषम परिस्थितिमें जब परस्पर कलह तथा स्वार्थका ही ताण्डव जन-जनमें चल रहा है तो रामचरितमानसके सिद्धान्त ही जीवनमें सच्चे सुख-शान्तिके संस्थापक हो सकते हैं। यही इस प्रकाशनका मुख्य उद्देश्य है। ग्रन्थको मजबूत जिल्द, लेमिनेटेड रंगीन आवरण तथा सुन्दर चित्रोंद्वारा विशेष आकर्षक बनाया गया है। पृष्ठ-संख्या ६०५, मूल्य रु० ५५ मात्र, डाकखर्च रु० १८ (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

संक्षिप्त शिवपुराण मोटा टाइप (ग्रन्थाकार)—(कोड-नं० 789) ग्राहकोंकी **विशेष माँग तथा** पठन-पाठनकी सुविधाको ध्यानमें रखकर इस विशेष संस्करणका प्रकाशन पहलेसे और मोटे टाइपमें किया गया है। इसमें भगवान् शिवके मनोहर चरित्रका विस्तृत वर्णन है तथा उनके कल्याणकारी स्वरूपका तात्त्विक विवेचन है। शिव-महिमाके साथ पूजा-पद्धति तथा अनेक ज्ञानप्रद प्रेरणापरक कथाओंका संयोजन होनेसे यह संग्रह तथा नित्य अध्ययनका विषय है। आकर्षक लेमिनेटेड आवरण, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ८३२, मूल्य रु० ८० मात्र, डाकखर्च रु० २२ (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

शीघ्र प्रकाश्य

जय हनुमान, सचित्र—(कोड-नं० 787) रुद्रावतार श्रीहनुमान्‌जीके सम्पूर्ण चरित्रका सरल भाषामें प्रकाशित होनेवाली यह विशिष्ट पुस्तक है। इसमें हनुमान्‌जीके बाल-लीलासे भगवान् श्रीरामके राज्याभिषेकतककी लीलाओंका ऐसा चित्रण है, जो पाठकोंको मन्त्र-मुग्ध कर देगा। सुन्दर चित्रावरणसहित हनुमान्‌जीके प्रत्येक चरित्रके साथ उनके आकर्षक चित्र मनमें उनकी अनोखी छबि अंकित कर देते हैं। यह पुस्तक बाल-युवा, स्त्री-पुरुष सबके लिये समान उपयोगी है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुनर्मुद्रित पुस्तकें

सूर्याङ्क—(कोड-नं० 732) ['कल्याण' वर्ष ५३ सन् १९७९] पाठकोंकी विशेष माँगपर बहुत दिनोंसे अनुपलब्ध इस अङ्कका पुनः प्रकाशन किया गया है। यह अङ्क सूर्य-महिमा, सूर्य-तत्त्व, सूर्यका प्रभाव, त्रिकाल-संध्यामें सूर्य, सूर्योपासनासे लाभ, सूर्योपासनासे रोग-निवारण आदि अनेक उपयोगी लेखोंसे अलंकृत है। अनेक प्रेरणास्पद उपाख्यानोंके साथ मासिक अङ्क एक और दो भी संलग्न है। आकर्षक लेमिनेटेड चित्रावरण, सचित्र, सजिल्द, मूल्य रु० ४५, डाकखर्च रु० १० (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव—(कोड-नं० 385) इस पुस्तकमें ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा गीताकी महिमा, सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा, गीतामें भक्ति, सगुण-निर्गुण-तत्त्व तथा प्रश्नोत्तर-शैलीमें श्रीमद्भगवद्गीताके प्रभाव आदि विषयोंपर सरल भाषामें सुन्दर ढंगसे प्रकाश डाला गया है। मूल्य रु० २ मात्र।

जीवनोपयोगी प्रवचन—(कोड-नं० 410) यह पुस्तक गीता-मर्मज्ञ श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजके सत्संगकी महिमा, मानव-जीवनका लक्ष्य, पञ्चामृत, शरणागति, व्यवहारमें परमार्थ आदि विषयोंपर प्रवचनका संकलन है। इसमें स्वामीजीकी भाषा सहज, सुलभ तथा अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी है। मनुष्योंके जीवनमें छायी निराशा तथा संतापको दूरकर प्राणोंमें नयी चेतना एवं प्रेरणाका संचार करनेके लिये यह अत्यन्त उपयोगी है। मूल्य रु० ४ मात्र।

ब्रह्मचर्य—(कोड-नं० 380) ब्रह्मचर्य मानव-जीवनकी कठोर नींव है, जिसके ऊपर सम्पूर्ण जीवनका मजबूत भवन खड़ा होता है। इस पुस्तकमें नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारने ब्रह्मचर्य, वीर्यधारण ही ब्रह्मचर्य है, वीर्यनाशसे हानि, बाल-विवाह आदि विषयोंपर सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है तथा ब्रह्मचर्य-रक्षाके उपायोंका सुझाव दिया है। मूल्य रु० २ मात्र।

ईश्वर—(कोड-नं० 542) यह पुस्तक हिन्दू-धर्म-दर्शनके प्रकाण्ड विद्वान् महामना पं० मदनमोहन मालवीयजीकी अनुपम कृति है। इसमें पण्डितजीने जगत्‌में सबसे उत्तम एवं जानने योग्य परमात्माका युक्ति एवं शास्त्रके आधारपर सुन्दर विवेचन करते हुए स्वधर्म-पालनपर जोर दिया है। मूल्य रु० २ मात्र।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

कल्याण

वर्ष ७१
संख्या ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, सितम्बर १९९७ ई०

चित्र-सूची

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

भगवती कात्यायनी देवी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

वर्ष ७१ } गोरखपुर, सौर आश्विन, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, सितम्बर १९९७ ई० { संख्या ९ पूर्ण संख्या ८५०

भगवती कात्यायनी मङ्गल प्रदान करें

चन्द्रहासोज्ज्वलकरा शार्दूलवरवाहना।
कात्यायनी शुभं दद्याद् देवी दानवघातिनी॥

जिनका हाथ उज्ज्वल चन्द्रहास (तलवार)-से सुशोभित होता है तथा सिंहप्रवर जिनका वाहन है, वे दानवसंहारिणी भगवती कात्यायनी मङ्गल प्रदान करें।

कल्याण

याद रखो—जबतक किसी वस्तुका मनमें महत्त्व है, जबतक उसकी ओर देखकर मन ललचाता है, जबतक 'किसीके पास वह वस्तु है' इसलिये उसे सौभाग्यवान् तथा ईश्वरका कृपापात्र समझा जाता है, जबतक उस वस्तुका अपने पास न होना अभाग्यका चिह्न माना जाता है, जबतक उसकी आवश्यकताका अनुभव होता रहता है और उसके प्राप्त होनेपर अभाव तथा कष्टका नाश एवं सुख-सुविधाकी प्राप्ति होगी, ऐसी धारणा रहती है, तबतक मनुष्य उसकी कामनासे कभी मुक्त नहीं हो सकता। उसमें निष्कामभाव नहीं आ सकता।

याद रखो—'निष्काम' शब्दके रटनेसे तुम निष्काम नहीं हो सकते? निष्कामभाव मनमें आता है और वह तभी आयेगा जब तुम जिस वस्तुकी कामना करते हो, उसमें तुम्हारी दुःख-दोष-बुद्धि, मलिन-बुद्धि—'वह तुम्हारे लिये हानिकारक है, तुम्हारे यथार्थ सुख-सुविधामें बाधक है' ऐसी बुद्धि और उसमें असत्-बुद्धि वस्तुतः हो जायगी।

याद रखो—मलको उठाकर कोई शरीरपर लेपना नहीं चाहता, उलटीको कोई मनुष्य चाटना नहीं चाहता, विषको कोई खाना नहीं चाहता, दुःखको कोई सिर चढ़ाकर स्वीकार नहीं करता तथा रोगसे कोई प्रीति नहीं करना चाहता। इसी प्रकार जब इस लोक और परलोकके तमाम भोग-पदार्थोंमें, स्थितियों और अवस्थाओंमें तुम्हारी मल-बुद्धि, वमन-बुद्धि, विष-बुद्धि, दुःख-बुद्धि और रोग-बुद्धि हो जायगी, वे सब इसी प्रकारके दिखायी देंगे, तब उनसे तुम्हारा मन अपने-आप ही हट जायगा। फिर उनमें न आसक्ति रहेगी, न मोह ही रहेगा। फिर उन्हें अपनाना, अपना बनाना, उनपर अपनी ममताकी मुहर लगाना, उनके न होनेपर छटपटाना, चले जानेपर शोक करना, चले जानेकी आशंकासे ही व्याकुल हो जाना, उनको प्राप्त करनेकी कामना या इच्छा होना—आदि बातें नहीं रहेंगी। कामनाका त्याग मनसे हुआ करता है, वाणीसे नहीं। सत्यकी कल्याणमयी सुन्दर प्रतिष्ठा मनमें ही हुआ करती है। अतएव तुम यदि जीवनमें निष्कामभाव लाना चाहते हो तो काम्य-वस्तुओंमें अनित्यता, मलिनता, दुःखरूपता और विनाशिताको देखो। भगवान्‌के बिना जितने भी भोग हैं—सब दुःख हैं, भयानक दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं—यह अनुभव करो। फिर उनकी ओर मनका प्रवाह अपने-आप ही रुक जायगा।

याद रखो—तुम्हारे मनका जो यह विश्वास है, तुम्हारी बुद्धिका जो यह निश्चय है कि भोगोंमें सुख है—चाहे यह विश्वास और यह निश्चय वाणीसे फूट न निकलता हो, पर तुम्हें भोगोंमें लगाये बिना नहीं रह सकता। तुम हजार निष्काम-शब्दकी रटना करो, निष्कामके महत्त्वका गुणगान करो। तुम सुखके लिये भोगोंका होना अनिवार्य समझोगे। तुम्हारा अन्तर्हृदय भोगोंके लिये छटपटाता रहेगा। तुम ऊपर चाहे जितना भी हँसो—तुम्हारा अन्तर भोगोंके अभावमें रोता-कलपता रहेगा। यही तो भोग-कामना है। इसके रहते तुम निष्काम कैसे बनोगे?

याद रखो—भोग-पदार्थोंमें सुख-बुद्धि, आवश्यक-बुद्धि, आदर-बुद्धि जबतक रहेगी, तबतक भोगोंके प्रति, जिनके पास भोग-पदार्थ अधिक हैं, उनके प्रति तथा जिन साधनोंसे भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति सुगम समझी जाती है, उन साधनोंके प्रति तुम्हारे मनमें सम्मान और प्रीतिका भाव होगा ही। तुम स्वयं उस सम्मान तथा प्रेमको प्राप्त करना चाहोगे और उसीमें अपना गौरव तथा सौभाग्य समझोगे। जिनके पास भोग-पदार्थ नहीं हैं या अपेक्षाकृत कम हैं, उन्हें तुम अभागा समझोगे, उनके प्रति सम्मान और प्रेमका भाव तुम्हारे मनमें तथा व्यवहारमें नहीं होगा। तुम उनकी उपेक्षा करोगे। इसलिये तुम स्वयं भी इस अभाग्य, इस सम्मान तथा प्रेमके अभाव और लोगोंकी अपेक्षासे डरोगे। ऐसा होनेमें अपना दुर्भाग्य मानकर ऐसी स्थितिसे सर्वथा दूर रहना चाहोगे, जबतक इस प्रकारकी मनोवृत्ति रहेगी, तबतक कामनाके कठिन चंगुलसे तुम नहीं छूट सकोगे।

याद रखो—भोगसहित और भोगरहित सभी अवस्थाओंमें सर्वत्र भगवान् हैं इसलिये आदर सबका करो, सम्मान सबका करो, पर करो भगवान् समझकर, भोग समझकर नहीं। भोग समझकर करोगे तो भोगरहितमें तुम्हारी आदर या सम्मान-बुद्धि नहीं रहेगी। मनसे भोगोंके आदरका बहिष्कार कर दो—निकाल दो और वह तभी निकलेगा, जब भोगोंमें सुख-बुद्धि और आवश्यक-बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जायगा। तब उनके अभावके जीवनमें एक भारमुक्त स्थितिकी, एक बड़े आश्वासनकी, एक अभूतपूर्व सुखकी और विलक्षण शान्तिकी अनुभूति होगी।

याद रखो—सुख-शान्ति वस्तुओंमें नहीं है, वह मनकी निष्काम स्थितिमें ही है। जब तुम्हारा मन कामना और स्पृहासे रहित हो जायगा, जब तुम्हारी ममताकी बेड़ी कट जायगी एवं जब तुम्हारा अहंकार भगवान्‌के दिव्य चरणकमल-युगलमें समर्पित होकर धन्य हो जायगा, तभी तुम सच्ची शान्ति पा सकोगे और तभी तुम्हें यथार्थ सुखका शुभ साक्षात्कार होगा। —'**शिव**'

भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से लोग कहा करते हैं कि यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी भगवान् हमें दर्शन नहीं देते। वे लोग भगवान्‌को 'निष्ठुर', 'कठोर' आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया करते हैं तथा ऐसा मान बैठे हैं कि उनका हृदय वज्रका-सा है और वे कभी पिघलते ही नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि वे हमारी सुध लें, हमें दर्शन दें और हमें अपनावें—ऐसी ही शिकायत बहुत-से लोगोंकी रहती है।

परंतु बात है बिलकुल उलटी। हमारे ऊपर प्रभुकी अपार दया है। वे देखते रहते हैं कि जरा भी गुंजाइश हो तो मैं प्रकट होऊँ, थोड़ा भी मौका मिले तो भक्तको दर्शन दूँ। साधनाके पथमें वे पद-पदपर हमारी सहायता करते रहते हैं। लोकमें भी यह देखा जाता है कि जहाँ विशेष टान होती है, जिस पुरुषका हमारे प्रति विशेष आकर्षण होता है, उसके पास और सब काम छोड़कर भी हमें जाना पड़ता है। जहाँ नहीं जाना होता वहाँ प्रायः यही मानना चाहिये कि प्रेमकी कमी है, जब हम साधारण मनुष्योंकी भी यह हालत है, तब भगवान्, जो प्रेम और दयाके अथाह सागर हैं, यदि थोड़ा प्रेम होनेपर भी हमें दर्शन देनेके लिये तैयार रहें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्‌के प्रकट होनेमें जो विलम्ब हो रहा है, उसमें मुख्य कारण हमारी टानकी कमी ही है। प्रभु तो प्रेम और दयाकी मूर्ति ही हैं। फिर वे आनेमें विलम्ब क्यों करते हैं? कारण स्पष्ट है। हम उनके दर्शनके लायक नहीं हैं। हममें अभी श्रद्धा और प्रेमकी बहुत कमी है। यदि हम उसके लायक होते तो भगवान् स्वयं आकर हमें दर्शन देते; क्योंकि भगवान् परमदयालु, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी हैं। किंतु हमारे अंदर उनके प्रति श्रद्धा और प्रेमकी बहुत ही कमी है। अतएव श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धिके लिये हमें उनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको जाननेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम हो जानेपर वे न मिलें ऐसा कभी हो नहीं सकता। बाध्य होकर भगवान् अपने श्रद्धालु भक्तकी श्रद्धाको फलीभूत करते ही हैं। जबतक उनकी कृपापर पूरा विश्वास नहीं होता, तबतक प्रभुका प्रसाद हमें कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि हमारा यह विश्वास हो जाय कि भगवान्‌के दर्शन होते हैं और अमुक व्यक्तिने भगवान्‌के दर्शन किये हैं, तो उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होगा, इसका भी हम लोग अनुमान नहीं कर सकते। फिर स्वयं भगवान्‌के मिलनेसे जो दशा होती है, उसका तो अंदाजा लगाना ही असम्भव है।

रासलीलाके समय भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंकी कैसी दशा हुई? एक क्षणके लिये भी उन्हें भगवान्‌का वियोग असह्य हो गया, अतएव बाध्य होकर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। दुर्वासाके दस हजार शिष्योंसहित भोजनके लिये असमयमें उपस्थित होनेपर, उन्हें भोजन करानेका कोई उपाय न दीखनेपर, द्रौपदी व्याकुल होकर भगवान्‌का स्मरण करने लगी और उसके पुकारते ही भगवान् इस प्रकार प्रकट हो गये जैसे मानो वहीं खड़े हों। विश्वास होनेसे प्रायः यही अवस्था सभी भक्तोंकी होती है। नरसीको दृढ़ विश्वास था कि उसकी लड़कीका भात भरनेके लिये हरि आवेंगे ही और वे मगन होकर गाने लगे *'बाई आसी आसी आसी, हरि घणे भरोसे आसी।'* हरिके आनेमें उन्हें तनिक भी शंका नहीं थी। अतएव भगवान्‌को समयपर आना ही पड़ा।

भगवान्‌के दर्शनमें जो विलम्ब हो रहा है उसका एकमात्र कारण दृढ़ विश्वासका अभाव ही है। चाहे जिस प्रकार निश्चय हो जाय, निश्चय हो जानेपर भगवान् न आवें ऐसा हो नहीं सकता। वे अपने भक्तको निराश नहीं करते, यही उनका बाना है। यह दूसरी बात है कि बीच-बीचमें हमारे मार्गमें ऐसे विघ्न आ खड़े हों जिनके कारण हमारा मन विचलित-सा हो जाय। परंतु यदि साधक उस समय सम्हलकर प्रभुको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहे और विघ्नोंसे प्रह्लादकी भाँति न घबड़ाये तो उसका काम अवश्य ही बन जाता है। प्रभु तो हमारी श्रद्धाको पक्की करनेके लिये ही कभी निष्ठुर और कभी कोमल व्यवहार और व्यवस्था किया करते हैं।

वास्तविक श्रद्धा इतनी बलवती होती है कि भगवान्‌को बाध्य होकर उस श्रद्धाको फलीभूत करनेके लिये प्रकट

होना पड़ता है। पारस यदि पारस है और लोहा यदि लोहा है तो स्पर्श होनेपर सोना होगा ही। उसी प्रकार श्रद्धावान्‌को भगवान्‌की प्राप्ति होती है। श्रद्धालु भक्तकी कमीकी पूर्ति करके भगवान् उसके कार्यको सिद्ध कर देते हैं। श्रद्धा होनेपर सारी कमीकी पूर्ति भगवान्‌की कृपासे अपने-आप हो जाती है। हम लोगोंमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी मालूम होती है, इसीलिये भगवान् प्रकट नहीं होते। अन्यथा उनके दयालु और प्रेमपूर्ण स्वभावको देखते हुए तो वे दर्शन दिये बिना रह सकें ऐसा हो नहीं सकता। रावणके द्वारा सीताके हरे जानेपर उसके लिये श्रीराम ऐसे व्याकुल होते हैं जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके लिये होता है। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि सीता एक क्षणके लिये भी रामके बिना नहीं रह सकती थी। भगवान् कहते हैं जो मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं भी वैसे ही भजता हूँ—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

भगवान् तो प्रकट होनेके लिये तैयार हैं। वे मानो चाहते हैं कि लोग मुझसे प्रेम करें और मैं प्रकट होऊँ। सीताका जैसा उत्कट प्रेम भगवान् रामचन्द्रमें था, वैसा ही प्रेम यदि हम लोगोंका प्रभुमें हो जाय तो प्रभु हमारे लिये भी तैयार हैं। जो हरिके लिये लालायित है उसके लिये हरि भी वैसे ही लालायित रहते हैं।

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उसका चिन्तन बना रहे—एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो, ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये। हमें वे चाहे जैसे रखें और चाहे जहाँ रखें उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये। उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये। प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें तो हमें वैकुण्ठकी ओर ताकना भी नहीं चाहिये, बल्कि नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये। सब प्रकारसे प्रभुके शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता। जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये तो फिर बाकी क्या रहा? हम तो प्रभुके बालक हैं। माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती। उसके हृदयमें बालकके लिये अपार प्यार रहता है। प्रभु यदि हमारे दोषोंका ख्याल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे। प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ। किंतु हमीं लोग उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं। देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं; परंतु भीतरसे उसे पानेकी लालसा कहाँ है? मुँहसे हम भले ही न कहें कि अभी ठहरो, परंतु हमारी क्रियासे यही सिद्ध होता है। प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा विछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोग (विछोह)-में हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दुःख नहीं होता, तो प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। खुशीसे हम उनके बिना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आवें तो इसमें उनका क्या दोष है? प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं, पर जबतक हमारे अंदर उत्सुकता नहीं होती, तबतक वे आवें भी कैसे? उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं वही चाह असली चाह समझनी चाहिये। अतः जबतक वे न आवें चाह बढ़ाता ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चलेगा।

भगवत्प्रेमकी अवस्था ही अनोखी होती है। भगवान्‌का प्रसंग चल रहा है, उसकी मधुर चर्चा चल रही है, उस समय यदि स्वयं भगवान् भी आ जायँ तो प्रसंग चलाता रहे, भंग न होने दे। प्रियतमकी चर्चामें एक अद्भुत मिठास होती है, जिसकी चाट लग जानेपर और कुछ सुहाता ही नहीं। प्रीतिकी रीति अनोखी है। प्रभुकी प्रीतिका रस जिसने पा लिया, उसे और पाना ही क्या रहा? प्रभु तो केवल प्रेम देखते हैं। स्वयं प्रभुसे बढ़कर प्रभुका प्रेम है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभुके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा रहस्यसहित ध्यानमें तन्मय होकर प्रभुके प्रेमामृतका पान करना ही प्रभुकी प्रीतिका आस्वादन करना है या हरिके रसमें डूबना है।

दो प्रेमियोंमें यदि न बोलनेकी शर्त लग जाय तो अधिक प्रेमवाला ही हारेगा। पति-पत्नीमें यदि न बोलनेका हठ हो जाय तो वही हारेगा जिसमें अधिक स्नेह होगा। इसी प्रकार जब भक्त और भगवान्‌में होड़ होती है तो भगवान्‌को ही हारना पड़ता है, क्योंकि प्रभुसे बढ़कर प्रेमी कोई नहीं है। उसे इतना व्याकुल कर देना चाहिये कि हमारे बिना वह एक क्षण भी न रह सके। फिर उसे हार माननी ही पड़ेगी—आनेके लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। हमें व्यवस्था ही ऐसी कर देनी चाहिये, प्रेमसे उन्हें मोहित कर देना चाहिये। फिर तो धक्का देनेपर भी वे नहीं हटेंगे।

प्रभुके साथ हमारा व्यवहार वैसा ही होना चाहिये जैसा स्त्रीका अपने पतिके साथ। जैसे स्त्री अपने प्रेम और हाव-भावसे पतिको मोहित कर लेती है, वैसे ही हमें भगवान्‌को अपने प्रेम और आचरणसे मोहित कर लेना चाहिये। उसे अपनेमें आसक्त भी कर ले और खुशामद भी न करे। फिर तो वह एक पलके लिये भी हमारे द्वारपरसे हटनेका नहीं। वह प्रेमका भिखारी प्रेमका बंदी बना बैठा है, जायगा कहाँ? पति पत्नीके प्यारको ठुकरा ही कैसे सकता है? इसी प्रकार प्रभु भी अपने भक्तके प्यारका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? ऐसा हो जानेपर उनसे हमारे बिना रहा ही कैसे जायगा? वे तो सदा प्रेमके अधीन रहते हैं। एक बार प्रभुको अपने प्रेम-पाशमें बाँध ले, फिर तो वे सदाके लिये बँध जाते हैं।

प्रभुको वशीभूत करनेका ढंग स्त्रीसे सीखना चाहिये। इसी प्रकारका सम्बन्ध उनसे जोड़ना चाहिये। यही माधुर्यभाव है। बाहरका वेष न बदले, भीतर प्रेमकी प्रगाढ़तामें उसीका बन जाय। यही उन्हें प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

प्रभु बड़े दयालु और उदारचित्त हैं। इसलिये थोड़े प्रेमसे भी वे प्राप्त हो सकते हैं, किंतु हम लोगोंको उपर्युक्त प्रेमको लक्ष्य बनाकर ही चलना चाहिये। क्योंकि उच्च लक्ष्य बनाकर चलनेसे ही प्रेमकी प्राप्ति होती है। यदि लक्ष्यके अनुसार पूर्ण प्रेम हो जाय तब तो अत्यन्त सौभाग्यकी बात है; ऐसे पुरुष तो आदर्श एवं दर्शनीय समझे जाते हैं, उनके कृपाकटाक्षसे दूसरे भी कृतकृत्य हो जाते हैं; फिर उनकी तो बात ही क्या?

शिष्टाचारकी मर्यादा

युवतीं गुरुभार्यां च प्रणमेन्न पदे स्पृशन्।
कनिष्ठभ्रातृपत्न्यास्तु स्नुषायाः शिष्ययोषितः॥
त्वङ्कारमङ्गस्पर्शं च बहिःसंदर्शनस्थितिम्।
उच्छिष्टदापनं चैव नासां कुर्यात् कदाचन॥
जननी गुरुपत्नी च श्वश्रूर्ज्येष्ठसहोदरा।
मातृष्वसा मातुलानी सप्तमी तु पितुः स्वसा॥
एता हि मातृपर्याया लघुत्वं चोत्तरोत्तरम्।
एता मान्याश्च पूज्याश्च अगम्याश्चैव सर्वशः॥

(बृहद्धर्म०, उत्तर० १। ४२—४५)

गुरुकी पत्नी यदि युवती हो तो उसके चरणोंका स्पर्श करके प्रणाम नहीं करना चाहिये। छोटे भाईकी स्त्री, पतोहू तथा शिष्यकी पत्नीको न तो 'तुम' कहकर पास बुलाना चाहिये, न इनके अङ्गोंका स्पर्श करना चाहिये, न इन्हें घरके बाहर देखने या ठहरानेकी चेष्टा करनी चाहिये। इन सबको कभी अपना जूँठा भी नहीं दिलाना चाहिये। जन्मदायिनी माता, गुरुपत्नी, सास, जेठी बहन, मौसी, मामी तथा सातवीं बूआ—ये सब माताके ही दूसरे नाम और रूप हैं। इनमें माताकी अपेक्षा उत्तरोत्तर लघुता है। ये सभी माननीय, पूजनीय तथा सब प्रकारसे अगम्य (समागमके अयोग्य) हैं।

तुलसीकी काव्यकला 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की कसौटीपर

(श्रीलक्ष्मीनारायणजी पुरोहित, शास्त्री, साहित्याचार्य)

गोस्वामी तुलसीदासजीका स्थान हिंदी-साहित्यमें सर्वोपरि है और वे हिंदी-साहित्यके सम्राट् भी कहे जाते हैं। गोस्वामीजीका जन्म उन दिनोंमें हुआ है, जब कि लोकको एक सच्चे मार्गदर्शककी आवश्यकता थी। गोस्वामीजी महाकवि होनेके साथ-ही-साथ एक परम साधु और आदर्श तपस्वी महापुरुष भी थे। यही कारण है कि गोस्वामीजी केवल भजन-कीर्तनमें ही न रहे, अपितु उन्होंने जहाँ भगवान्की स्तुतिमें अनेक कविताएँ लिखीं, वहाँ 'रामचरितमानस'-जैसा एक सच्ची चेतना देनेवाला एवं पद-पदपर पथ-प्रदर्शन करानेवाला महाकाव्य भी लोकको समर्पित किया। आज उनके महाकाव्यका इतना आदर है कि उसका अध्ययन आज लोकके दैनिक कार्यक्रमका एक अङ्ग बना हुआ है और इसी उपयोगिताकी दृष्टिसे यह मानना चाहिये कि गोस्वामीजीकी काव्यकला पूर्ण सफल हुई है। आज मैं इसी बातको आपके सामने कुछ विशदरूपसे रखना चाहता हूँ।

गोस्वामीजीके काव्योंके अत्यधिक आदरका कारण उनकी काव्यकलाका परिपाक है। जबतक कोई भी बात समुचित पदावलियोंके द्वारा सरसता या सुन्दरताके साथ न कही जाय, वह हृदयमें किसी-न-किसी अलौकिक चमत्कार (आह्लाद)-को जगा न दे तथा बलपूर्वक वह हृदयमें बैठ न जाय तबतक कोई भी उसे ग्रहण करनेके लिये रुचिके साथ कदापि तैयार नहीं हो सकता। सुतरां, वैसी ही बातें लोकके द्वारा स्वाभाविक रूपसे रुचिके साथ ग्रहण की जाती हैं, जो अलौकिक आह्लादको उत्पन्न करती हुई स्वयं ही उसके हृदयमें बैठ जाया करती हैं। गोस्वामीजीकी वाणी वैसी ही है। वह सरल, स्वाभाविक और प्रवाहयुक्त है। दोषोंके लिये तो उसमें चर्चाका अवसर ही नहीं। हाँ, गुणोंका उसमें प्राचुर्य है, उसमें माधुर्य और प्रसादगुणोंका प्राज्य साम्राज्य है, तो यथावसर ओजका भी प्राबल्य है। उपमा-रूपकादि अलंकारोंकी तो उसमें मालाएँ-की-मालाएँ देख लीजिये। सहृदय जनोंके हृदय-मधुकरोंको बलपूर्वक आकर्षित करनेवाली भावोंकी सुरभित फुलवारियाँ तो आप उसमें पदे-पदे बिछी पा लीजिये। और अपार आह्लादके महानिधान रसोंके रुचिर, मधुर, निर्झर तो उसमें अविरत प्रवाहित होते हुए ही दिखायी देते रहते हैं। तब वह क्यों न लोक-हृदयमें झटपट बैठ जाय और क्यों न लोक उसे अपना ले? 'स्वान्तःसुखाय' लिखी गयी तुलसीकी गाथाओंका लोकमें आदर होना स्वाभाविक है। संस्कृतकी एक उक्ति है—

अदोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥

—यह गोस्वामीजीके लिये ठीक-ठीक घटित हो जाती है। अस्तु!

गोस्वामीजीके काव्य-महाकाव्य हिंदीमें तो पाये ही जाते हैं, पर साथ ही संस्कृतमें भी उनकी सुन्दर कृतियाँ प्राप्त होती हैं। जिन्हें देखनेपर मन आनन्दित हो उठता है। एक-दो कृतियाँ देख लीजिये—

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

रचना कितनी सरल, सुन्दर और मनोहर है! निर्दोष तो है ही, पर साथ ही उसके प्रसाद, माधुर्य, गुण, अनुप्रासकी शोभा, तुल्ययोगिता, अलंकारका सौन्दर्य और वाणी-विनायकविषयक प्रकट होनेवाला कविका भक्तिभाव—ये सब बलात् हृदयको आवर्जित कर लेते हैं। इसी तरह—

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥

—इस पद्यकी भी प्रसन्न मधुर रचना, यमक और अनुप्रासोंकी छटा, उपमा, रूपक और तुल्ययोगिता, अलंकारोंके संकरोंकी सुषमा और कवीश्वर तथा कपीश्वर-विषयक व्यक्त होनेवाला तुलसीका भक्तिभाव—ये सब कितना आह्लाद उत्पन्न करते हैं, इसे सहृदय-हृदय ही जान सकता है।

गोस्वामीजीकी ऐसी संस्कृतमें लिखी गयी कई सुन्दर सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनसे उनका उस भाषापर अधिकार और अलंकार-शास्त्रका वैदुष्य प्रस्फुटरूपसे प्रकट हो जाता है और साथ ही वे उस भाषाके एक कुशल कवि भी माने जा सकते हैं।

गोस्वामीजीने अपनी कवितामयी सरस्वतीका प्रवाह

हिंदी भाषाके क्षेत्रमें ही प्रचुररूपमें बहाया है और उसीके कारण वे एक कुशल कवि ही नहीं अपितु एक महाकवि भी माने जाते हैं। काव्य-प्रयोजनमें यद्यपि कीर्ति, धन, लोक-व्यवहार एवं अमङ्गलनाश आदिकी लालसा भी कारण हुआ करते हैं, किंतु गोस्वामीजीकी काव्य-रचनामें प्रवृत्ति 'स्वान्तःसुखाय' ही हुई है, अन्यान्य किन्हीं लालसाओंको लेकर नहीं, यह उनके ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर प्रकट हुए उनके भावोंसे विदित हो जाता है, फिर भी उनके ग्रन्थोंकी लोकोपयोगिताको देखते हुए उनकी लोकमङ्गल-कामनाकी उदात्त भावना भी हमारे सामने आ जाती है और उन्हें हम एक सफल लोकनेताके रूपमें भी देख लेते हैं।

अब यहाँ मैं 'रामचरितमानस' से कुछ उदाहरण आपके सामने रखूँगा, जिनसे यह भलीभाँति प्रकट हो जायगा कि गोस्वामीजीने **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, सत्यं वद, धर्मं चर, मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** इत्यादि कठोर अनुशासनोंको भी अपनी काव्यकलाका सम्पुट देते हुए सरस, मधुर भाषाके द्वारा कितनी मृदुता और मञ्जुलताके साथ रखा है, यह देखते ही बनता है। यही कारण है कि वे कठोर अनुशासन भी किसीको अखरते नहीं, प्रत्युत वे बड़ी ही रुचि और आदरके साथ ग्रहण कर लिये जाते हैं। एक कुशल वैद्य भी अनिवार्यरूपसे बच्चोंके लिये देने योग्य कटु किंतु हितकर औषधको गुड़ या शहदके साथ ही देता है। अस्तु! देखिये—

गोस्वामीजी रामके चरितसे एक अनुशासनप्रियताका आदर्श उपस्थित करते हैं। रामकी लोकप्रियताको बताते हुए वे उनके राज्यतिलककी तैयारीके समाचारोंसे प्रजाजनोंकी प्रसन्नता और वनगमनकी तैयारीके समाचारसे उनके विषादका वर्णन करते हैं। पर हम वहाँ कहीं यह नहीं पाते कि राम पिताकी वैसी अनुचित आज्ञासे अप्रसन्न हो गये हों, दशरथपर या कैकेयीपर उन्होंने कोई आक्षेप किया हो या अनुकूल प्रजाजनोंको उनके विरोधमें उभाड़कर कोई विप्लव खड़ा कर दिया हो। प्रत्युत दशरथके मूर्च्छित हो जानेपर जब कैकेयीने रामसे दोनों वरोंकी—भरतके राजतिलक और उनके वनगमनकी बात सकुचाते हुए कही, तो राम उसकी बातको कितने विनय और कोमल मनके साथ स्वीकार करते हैं, यह देखिये—

अति लघु बात लागि दुखु पावा। काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥

× × ×

चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥

× × ×

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

कहिये! जिन्होंने अपने बाल्यकालमें ही मारीच-जैसे महाबली राक्षसका मान-मर्दन किया हो, ताड़का-जैसी विकट राक्षसीकी समुचित चिकित्सा की हो और सुबाहु-जैसे सहस्रों भयंकर राक्षसोंको तो रणक्षेत्रमें सदाके लिये ही सुला दिया हो, वे अस्त्र-शस्त्रविद्या-विशारद महान् बलशाली लोकप्रिय राम भी यदि अपने गुरुजनोंकी उचित-अनुचित आज्ञाओंका अनुसरण कर लेते हैं, तो उससे बढ़कर अनुशासनप्रियताका कोई उच्च आदर्श हो सकता है?

सुमित्राके पास जब लक्ष्मण रामके साथ वन जानेकी आज्ञा पानेके लिये जाते हैं, तो वह उन्हें रामको छोड़कर घरमें ही आनन्दोल्लासके साथ रहते हुए सुख-भोग करनेके लिये नहीं कहतीं, प्रत्युत कहती हैं कि—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥

× × ×

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

× × ×

अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

कोई स्त्री अपनी सौतके पुत्रके लिये सहज स्नेहमयी और अपने औरस पुत्रके लिये उसे कर्तव्यपरायण बनाने-हेतु मोह-ममतासे सर्वथा असम्पृक्त भी हो सकती है? इसका यह कितना उत्कृष्ट उदाहरण है!

भरत रामके वन चले जानेपर चाहते तो निःशंक होकर राजसुख भोगते और चौदह वर्षमें विविध प्रयत्नोंसे प्रजाजनोंको सर्वथा अपने अनुकूल बना लेते, पर नहीं, वे रामको लौटा लानेके लिये उनके पास जाते हैं और अनेक विनय-प्रार्थनाओंपर भी जब राम लौटनेको तैयार नहीं होते, तो वे उनकी पादुकाएँ और चौदह वर्षके लिये राज्यकार्य-संचालनका भार उनसे लेकर लौट जाते हैं। तत्पश्चात्

पादुकाओंको राजसिंहासनपर स्थापितकर स्वयं नन्दिग्राममें पर्णकुटीमें रहते हुए राज्यकार्य चलाते हैं। उनके कार्यका ढंग तो देखिये—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

—पादुकाओंकी आज्ञाओंको आगे रखते हुए सारा कार्य तो करते हैं, पर रामके विरहमें उनकी दशा कैसी है, यह भी देख लीजिये—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥

× × ×

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥

कोई व्यक्ति भाईके लिये सर्वस्व त्याग करनेवाला और उसके विरहमें तपोमय जीवन व्यतीत करनेवाला भी हो सकता है? इसका यह कितना उत्तम उदाहरण है।

सीताको रावण विविध अनुनय-विनयों, अनेक आकर्षणों एवं प्रलोभनों और नानाविध भर्त्सनाओं एवं विभीषिकाओंसे भी जब अपने अनुकूल न कर सका, तो तलवार खींचकर बोला—

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥

क्यों? रावणमें ऐसी कौन-सी कमी थी, जिससे वह सीताको अरुचिकर लगा और उसका उसने तिरस्कार कर दिया? रावण सुन्दर और बलशाली था; चाटु, वचन-रचनाओंका विद्वान् और शृंगार-केलिकलाओंका कोविद था। नानाविध सुख-साधनोंसे सम्पन्न और त्रिलोकविजयी वीर था। एक कामिनीके लिये स्पृहणीय और कमनीय सभी गुणोंसे रावण पूर्ण था। फिर भी सीताने रावणको न चाहा, क्यों? क्योंकि वह कामिनी नहीं थी। वह एक महान् साध्वी और पतिपरायणा स्त्री थी। उसे केवल अपना पति राम ही प्रिय था। उसीमें उसका हृदय और अडिग प्रेम था, भले वह राज्य-निर्वासित था, और वनवासी था, पर था वही उसका पति और प्रिय भी। उसे वह अपने हृदयसे कैसे निकाल सकती थी! उसने तलवार तानकर खड़े हुए रावणको उत्तर दिया—

स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा॥

कहिये! कोई स्त्री अनेक भय और आकर्षणोंके रहते हुए भी पति-परायणा हो सकती है? इसका यह कैसा अद्वितीय आदर्श है!

ऐसे ही अन्यान्य कई सुन्दर-सुन्दर आदर्शोंको प्रस्तुत करते हुए गोस्वामीजीने अपनी सरस मधुर रचनाके द्वारा व्यवहारके व्यापक क्षेत्रमें लोकको सही मार्ग दिखानेका सफल प्रयास किया है, जो उनकी काव्यकलाकी विपुल कीर्तिके लिये पर्याप्त है।

गोस्वामीजीने—

भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥

—ऐसे वचनोंके द्वारा राजनीतिका धर्ममयी होना स्वीकार किया है, जिससे—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

—इस उक्तिके आदर्शरूप तुलसीके रामका हृदय यदि प्रजारञ्जनके कार्यमें कुसुमके समान सुकुमार और धर्मों (कर्तव्यों)-का पालन करानेमें वज्रके समान कठोर भी हो जाय तो वह स्वाभाविक है। वस्तुतः '**धर्मादर्थश्च कामश्च**' यह जब कि निश्चित है, तो राजाकी नीति वैसी होनी भी आवश्यक है और उसीमें राजा तथा प्रजाका कल्याण भी है। गोस्वामीजी उसी राजनीतिको 'रामचरितमानस' के द्वारा राजाओंके लिये आदर्शरूपमें प्रस्तुत करते हैं।

गोस्वामीजीका लोक-मङ्गल-कामनाका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और विशाल है। लोकहितैषणासे वे अपनी कमनीय काव्यकलाके द्वारा जहाँ लौकिक अभ्युदयके लिये व्यावहारिक जगत्के कर्तव्यपालनोंकी आवश्यकता प्रस्तुत करते हैं, वहाँ साथ ही वे पारलौकिक निःश्रेयसप्राप्तिके लिये भगवद्भक्तिकी आवश्यकता प्रस्तुत करना भी नहीं भूलते हैं। देखिये—

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥

—जिस भगवान्‌की महिमाके वर्णनमें वेद—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

—यह कहता है। वही भगवान् हमारे लिये कोसलपति रामके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं, यह भी हमें गोस्वामीजी अपनी कविताके द्वारा बता देते हैं। देखिये—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

—इस तरह लोकहितैषणाकी सद्‌भावनासे अपने दृष्टिकोणको व्यापक रखते हुए अपनी काव्यकलाके द्वारा गोस्वामीजीने प्रत्येक व्यक्ति और समाजके लिये प्रत्येक परिस्थिति तथा अवसरपर समुचित मानी जानेवाली प्रेरणाएँ देकर जो उनका महान् हित-साधन किया है, उससे हम उनकी काव्यकलाकी सफलताको दृढ़ताके साथ स्वीकार कर सकते हैं।

गोस्वामीजीकी रचना काव्यकलाकी दृष्टिसे अत्युत्तम है और इसी कारण वह लोकमें अधिकाधिक आदर पा सकी है। उनकी रचनामें सरलता, स्वाभाविकता और आवश्यकतानुसार अलंकारोंके विन्यासके साथ-साथ भावों और सभी रसोंका सुन्दर समन्वय भी दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकारकी कविता लिखनेमें कविको महाकवि-पदकी प्राप्ति होती है, उस प्रकारकी कविता लिखनेमें गोस्वामीजी किसीसे पीछे नहीं रहे हैं, प्रत्युत उनकी काव्यकलाके प्रकारों, साहित्यिक विभिन्न अङ्गों और विषयोंकी व्यापकताको देखा जाय तो वे अन्यान्य सभी कवियोंसे आगे रहे हैं। अतएव मेरी मतिके अनुसार तो उन्हें हिंदी कवियोंमें सर्वश्रेष्ठ कहना उचित है, क्योंकि उनका 'रामचरितमानस' एक ऐसा महाकाव्य है, जो साहित्यिक दृष्टिसे सर्वथा परिपूर्ण है और उसकी समता करनेवाला हिंदी-साहित्यमें दूसरा ग्रन्थ नहीं है। सूरदासके 'सूरसागर' में वात्सल्य-भक्तिरसका प्रवाह यदि भरपूर है, तो तुलसीके 'मानस' में वात्सल्यके साथ-साथ अन्यान्य भी सभी रस बड़ी गहराईके साथ भरे-पूरे प्रवाहित होते हुए दिखायी दे रहे हैं। फिर 'रामचरितमानस'-की लोकोपयोगिता कितनी बढ़ी-चढ़ी है इसमें कहना ही क्या है?

गोस्वामीजीको महाकवि ही नहीं, अपितु लोकनेता महाकवि होनेका सुयश जिस ग्रन्थकौस्तुभसे मिला है और उनकी काव्यकला सफल हुई है, उस 'रामचरितमानस' का कथानक यद्यपि उनकी निजी कल्पनाका कार्य नहीं है, अपितु उसे उन्होंने महर्षि वाल्मीकिके रामायणसे ही प्राप्त किया है, जिसे वे मानसके आरम्भमें ही भक्तिभावपूर्वक स्वीकार करते हैं। तथापि आजकी 'रामचरितमानस' की लोकोपयोगिताको देखते हुए यह निःशंक कहा जा सकता है कि वह 'वाल्मीकिरामायण' की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वशाली है और इसीलिये उसका आदर अधिक-से-अधिक शीघ्रताके साथ बढ़ता चला जा रहा है। इस वस्तुस्थितिको सामने रखते हुए यदि हम आदिकवि महर्षि वाल्मीकि और हिंदी साहित्यके सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजीके लिये केवल आजके लोकोपयोगिताके यशको लेकर यह कह दें कि—***'गुरुजी गुरु रह गये, और चेलाजी चीनी बन गये'*** तो कोई अनुचित न होगा।

जिस महापुरुषका जीवन लोकसे उसके हितके लिये सम्पृक्त होनेपर भी विरक्त हो, भगवान्‌का कृपाभाजन होनेपर भी निष्काम हो, और तपःसिद्ध होनेपर भी परम दीन हो, उसकी या उसकी काव्यकलाकी महिमाके वर्णनमें जितना भी बताया जाय, अपर्याप्त ही है। और यह जो कुछ भी बताया गया है, वह गोस्वामीजीकी काव्यकलाके साफल्यपर प्रकट हुए भगवान् विश्वनाथके ***'सत्यं शिवं सुन्दरम्'*** इस मतका परम परमाणु व्याख्यानमात्र ही है, नवीन कुछ नहीं। जो उनकी पुण्य तिथिके पावन अवसरपर मनायी गयी पञ्चशती-समारोहके उपलक्ष्यमें यह साहित्यपुष्प उनकी अमर आत्माके लिये भक्तिभावामृत श्रद्धाञ्जलिके रूपमें परिणत हो, यही मेरा मनोरथ है।

श्रीभगवान्‌के पूजन और ध्यानकी विधि

[अम्बरीष-नारद-संवाद]

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

राजा अम्बरीष—मुनिवर! श्रीहरिकी आराधनाको छोड़कर ऐसा कोई भी प्रायश्चित्त मुझे नहीं दिखायी देता, जिससे जीवोंके अपार पापोंका नाश हो जाय। सुना गया है कि श्रीहरिकी एक दृष्टिसे ही सारी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब क्लेशोंके नाश करनेवाले उन केशवकी आराधना किस प्रकार की जाती है? जगत्‌के स्त्री-पुरुष उन नारायणकी उपासना कैसे करें—मुनिवर! जगत्‌के हितके लिये आप मुझको वही बतलाइये। सुना है, भगवान् भक्ति-प्रिय हैं। अत: वे किस भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, वह भक्ति कैसे होती है और कैसे सब लोग उनकी आराधना कर सकते हैं—यह सब बताइये। ब्रह्मन्! हे ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ! आप श्रीहरिके प्यारे हैं, परम वैष्णव हैं और परमार्थतत्त्वके जाननेवाले हैं, इसीसे मैं आपसे पूछ रहा हूँ। सुना है, श्रीहरिका चरणोदक (गङ्गाजल) जिस प्रकार पवित्र करनेवाला है, वैसे ही श्रीहरिविषयक प्रश्न भी प्रश्नकर्ता, श्रोता और वक्ता—सबको पवित्र कर देता है।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संगः शेवधिर्नृणाम्।
यस्मादवाप्यते सर्वं पुरुषार्थचतुष्टयम्॥

'जीव-देहोंमें मनुष्यदेह दुर्लभ है, परंतु है वह क्षणभंगुर; इस दुर्लभ और क्षणभंगुर मनुष्यदेहमें वैकुण्ठप्रिय—हरिके प्यारे संतके दर्शन और भी दुर्लभ हैं। इस संसारमें आधे क्षणका भी सत्संग मनुष्योंके लिये एक अमूल्य निधि है; क्योंकि इस सत्संगसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।'

हे भगवन्! जैसे बच्चोंके लिये माता-पिताका मिलना महान् आनन्द और कल्याणका देनेवाला है, वैसे ही आपके दर्शन भी सब जीवोंके लिये कल्याणकारी हैं।......अतएव भगवन्! आप मुझे भागवत-धर्मका उपदेश कीजिये।

नारद—राजन्! आप स्वयं भगवान्‌के भक्त हैं। 'भगवान्‌की सेवा ही परम धर्म है' आप इस बातको भलीभाँति जानते हैं। जिन भगवान्‌की आराधना करनेसे सारे विश्वकी सेवा हो जाती है, जिन सर्वदेवमय हरिके संतुष्ट होनेपर सभी संतुष्ट हो जाते हैं और जिनके स्मरणमात्रसे महान् पातकोंका समूह डरकर उसी क्षण भाग जाता है, उन श्रीहरिकी ही सब प्रकारसे सेवा करनी चाहिये। जो समस्त कार्य-कारणोंके कारणके कारण हैं, जिनका कोई कारण नहीं है; जो जगन्मय होकर जगत्‌के जीवोंके रूपमें वर्तमान हैं, जो अणु होते हुए ही बृहत्, कृश होते हुए ही स्थूल, निर्गुण होते हुए ही महान् गुणवान् हैं—उन जन्मत्रयातीत अज भगवान् श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये। पुरुषश्रेष्ठ! आप भागवत-धर्मके विषयमें सब कुछ जानते हुए भी जगत्‌के कल्याणके लिये ही मुझसे पूछ रहे हैं। भगवान्‌की कथा ऐसी ही है, उनका कीर्तन साधुओंके आत्मा, मन और कानोंको तृप्त करनेवाला है। इसीलिये आप मुझसे पूछ रहे हैं।

ज्ञानी पुरुष जिनको परम ब्रह्म और परात्पर प्रधान कहते हैं, जिनकी मायासे इस समस्त विश्वका अस्तित्व है, वे ही अच्युत भगवान् हैं। भक्तिपूर्वक पूजा करनेपर वे पुत्र, कलत्र, दीर्घ आयु, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष आदि सभी अभीष्ट प्रदान करते हैं। उनकी पूजाके कायिक, वाचिक और मानसिक—तीन प्रकारके व्रत होते हैं—

दिनमें एक बार अयाचित पवित्र भोजन करना और रातको कुछ न खाना 'कायिक' व्रत है।

वेदाध्ययन, श्रीभगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन, सत्य बोलना और किसीकी निन्दा-चुगली न करना 'वाचिक' व्रत है। और—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्कपटता आदि 'मानसिक' व्रत हैं। इनसे श्रीहरि संतुष्ट होते हैं।

श्रीहरिके नामोंका कीर्तन सदा-सर्वत्र किया जा सकता है, इसमें कोई अशौच बाधक नहीं होता। श्रीहरिका कीर्तन ही मनुष्यको भलीभाँति शुद्ध करता है। वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंको एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही परम पुरुष और उद्धारके एकमात्र साधन मानकर सदा उन्हींका आराधन करना चाहिये। स्त्रियोंको चाहिये कि वे दयामय श्रीभगवान्‌को परमपति मानकर सदाचारका पालन करती

हुई मन, वचन और शरीरका संयम करके उन्हींकी आराधना करें।

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने संतुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हों, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्के ध्यानकी महिमा सुनिये—राजन्! अग्निरूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चल-भावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और निराश होकर वैर तथा प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दुःख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकार ध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पञ्चेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद-शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्य-गुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रहनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं, उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त-चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्को देखता है, वह अमूर्त अमृतमय परम धामको प्राप्त होता है।

अब साकार ध्यानके विषयमें सुनिये—

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्की चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शंख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्गधनुष धारण किये हैं। उनका गला शंखके समान,गोल मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषीकेशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभ भगवान्के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशव भगवान्के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभमणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं!'

राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।
पूज्यते देववर्गैश्च विष्णुलोकं स गच्छति॥

(पद्मपुराणके आधारपर)

श्रीकृष्णका भ्राता एकलव्य

(श्रीबिहारीलालजी व्यास, एम्० ए०, एल्० टी०, आयुर्वेदरत्न)

भारतीय संस्कृतिमें ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं, जिनके सम्बन्धमें अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं। आजकी संकीर्ण राजनीति-प्रधान युगमें हर राजनीतिक दल अपने-अपने चश्मेसे तथा कथित परम्परासे प्रचलित गाथाओंको अपने अनुकूल आधारपर उन भ्रान्तियोंके अभिवर्धनमें लगे हुए हैं। इस प्रकार भ्रान्तिगत आधारपर समाजके किसी एक अंगपर अनर्गल आक्षेप करके सांस्कृतिक एकताके देश भारतको वर्ण, धर्म, जाति तथा सम्प्रदायके आधारपर विघटित या खण्डित करनेका प्रयास करते रहते हैं।

एकलव्य ऐसे ही महापुरुषोंमेंसे एक हैं। एकलव्य कौन है? वह निषादपुत्रके रूपमें कैसे विख्यात हुआ? अँगूठा क्यों एवं किस परिस्थितिमें कटा; ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्योंकी अवहेलना कर प्रचलित भ्रान्तिको सुदृढ़ बनाया जा रहा है। इसी भ्रान्तिका निराकरण प्रस्तुत आलेखका एक लघु प्रयास मात्र है।

घटना अति सामान्य है। श्रीकृष्णके पिता वसुदेवजीके तीसरे भाई अनाधृष्टिने अश्मकीसे यशस्वी नामक पुत्रको उत्पन्न किया तथा दूसरे भाई 'देवश्रवा' ने शत्रुओंको हटानेवाले शत्रुघ्न नामक पुत्रको उत्पन्न किया। किसी कारणवश बाल्यकालमें ही परिजनोंसे विच्छेद हो जानेके कारण इस 'देवश्रवा' के पुत्रको निषादोंने पाल-पोसकर बड़ा किया था। इसलिये वह निषादवंशी एकलव्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ—

अश्मक्यां प्राप्तवान् पुत्रमनाधृष्टिर्यशस्विनम्।
निवृत्तशत्रुं शत्रुघ्नं देवश्रवा व्यजायत॥
देवश्रवाः प्रजातस्तु नैषादिर्यः प्रतिश्रुतः।
एकलव्यो महाराज निषादैः परिवर्धितः॥

(हरिवंशपुराण ३४। ३२-३३)

समय गतिमान् रहता है। वसुदेवकी बहिन पृथा या कुन्ती हस्तिनापुर-नरेश पाण्डुके साथ विवाह दी जाती है। कुन्तीके तीन और माद्रीके दो ऐसी पाँच संतानें पाण्डुकी होती हैं। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र दुर्योधनादि कौरव राजकुमार तथा पाँचों पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी शिक्षा-दीक्षाके लिये गुरु द्रोणाचार्यको नियुक्त किया जाता है जो उस समयके अस्त्र-शस्त्र और शास्त्रके निपुण ज्ञाता थे। सब राजकुमारोंमें अर्जुन अति विचक्षण और प्रबुद्ध शिष्य थे। द्रोणाचार्य राजकुमारोंके साथ-ही-साथ अपने पुत्र अश्वत्थामाको भी शिक्षण देने लगे।

यह मानव-प्रवृत्ति एवं उसकी कमजोरी है कि वह अपने पुत्रको अन्योंकी अपेक्षा और यहाँ तक कि अपनेसे भी श्रेष्ठ देखना चाहता है। द्रोणाचार्य इससे पृथक् कैसे हो सकते थे। वे अपने पुत्रको राजकुमारोंकी अपेक्षा विशेष शिक्षण देना चाहते थे। इसलिये वे समस्त राजकुमारोंको एक-एक सँकरे मुँहका कमण्डलु देकर सरितासे जल भरकर लानेको भेजते थे और अश्वत्थामाको एक चौड़े मुँहका घड़ा देकर भेजते थे ताकि वह जल भरकर अन्य राजकुमारोंसे पूर्व ही आ जाय। राजकुमारोंके आनेतक उसे वे विशेष अस्त्र-शस्त्रोंका प्रशिक्षण देते थे। अश्वत्थामा प्रतिदिन सब राजकुमारोंसे पहले आ जाया करता था। यह बात अर्जुन किसी तरह जान गया। उसने वारुणास्त्रसे कमण्डलु भर अश्वत्थामाके साथ ही आना प्रारम्भ कर दिया। द्रोणाचार्य अर्जुनकी लगन, जिज्ञासा एवं रुचि तथा शस्त्र-लाघवसे पहलेसे ही प्रसन्न थे। लक्ष्यवेधकी परीक्षाके पश्चात् तो उन्होंने अर्जुनको सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर मान लिया था। अश्वत्थामाके साथ ही अर्जुनको भी विशेष प्रशिक्षण देना शुरू कर दिया था। एक दिन अति प्रसन्न होकर प्रतिबद्धतापूर्वक वचन दे दिया कि 'तुमसे श्रेष्ठ अर्थात् तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ प्रशिक्षण अन्य किसीको नहीं दूँगा।'

बात उन्हीं दिनोंकी और उसी समयकी है, जब कौरव और पाण्डव गुरु द्रोणाचार्यसे धनुर्विद्याका शिक्षण प्राप्त कर रहे थे। जन-सामान्यको छोड़कर आचार्यके पास शिक्षणके लिये अन्य राजकुमार भी आया करते थे। ऐसे ही एक दिन निषादराजका पोषित पुत्र एकलव्य गुरु द्रोणाचार्यके आश्रमपर उपस्थित हुआ और प्रणत होकर अपने नाम और गोत्रका उच्चारण कर धनुर्वेदके शिक्षणकी अभिलाषा प्रकट की।

राजकुमार न होनेके कारण द्रोणने एकलव्यको शिष्यरूपमें स्वीकार करनेसे इनकार कर दिया। दृढ़निश्चयी एकलव्यने तो आश्रममें आनेसे पूर्व ही आचार्यको गुरु मान लिया था। अतः वह गुरु-आज्ञाको शिरोधार्य कर गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम करके अपने निवास-स्थानको चल दिया।

हरिवंशपुराणके अनुसार कृष्णके पिता वसुदेवके भ्राता देवश्रवाके पुत्रका नाम शत्रुघ्न था, यही बालक निषादराज हिरण्यधनुके द्वारा पोषित पुत्रके रूपमें एकलव्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इसी एकलव्यने आश्रमसे वनमें लौटकर आचार्य द्रोणकी मिट्टीकी मूर्ति बनायी तथा उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्याका अभ्यास प्रारम्भ किया और बड़े नियमपूर्वक सतत साधनारत रहा। कालगतिसे गुरुको इस तथाकथित निषाद बालकका विस्मरण हो गया। गुरुके दृश्य-पटलसे ओझल हो गया। दैवयोगसे कौरव-पाण्डव राजकुमार उसी वनमें जा पहुँचे, जहाँ एकलव्य धनुर्विद्याकी साधना करता था। उनके साथ एक कुत्ता भी था। संयोगसे यह कुत्ता वहीं पहुँच गया जहाँ गुरु-प्रतिमाके सांनिध्यमें एकलव्य एकाग्रतासे साधना कर रहा था। कुत्तेके भौंकनेसे व्यवधान पाकर एकलव्यने कुत्तेके मुँहमें एक-एक कर क्रमशः सात बाण मारे। बाणोंसे वेष्टित हो जानेपर कुत्तेका भौंकना बंद हो गया तथा उसे कोई चोट भी नहीं आयी। कुत्ता उन राजकुमारोंके पास लौट गया।

अर्जुनसहित सभी राजकुमार कुत्तेके मुखमें अत्यन्त कौशलसे बाणोंको प्रविष्ट किये गये देखकर उस अदृश्य धनुर्धरकी प्रशंसा किये बिना न रह सके और कुत्तेको साथ लेकर खोजते हुए उसी स्थानपर पहुँच गये जहाँ धनुर्धर एकलव्य आचार्यकी मूर्तिके सांनिध्यमें धनुर्विद्याकी साधना एवं अभ्यास कर रहा था। राजकुमारोंने निकट पहुँचकर अत्यन्त शिष्टाचारसे यथोचित अभिवादनके पश्चात् उसका परिचय और गुरुका नाम पूछा। एकलव्यने अपनेको निषाद-पुत्र और गुरु द्रोणाचार्यका शिष्य कहकर परिचय दिया।

राजकुमार वहाँसे आचार्य द्रोणके पास लौट आये। अर्जुनने आचार्यको उस कुत्तेवाली घटनाका विवरण देते हुए गुरुके दिये हुए वचनका स्मरण दिलाया और निवेदन किया कि मुझसे भी श्रेष्ठ धनुर्धर आपका शिष्य एकलव्य किस प्रकार हुआ?

आचार्य अर्जुनको साथ लेकर वनमें एकलव्यके पास गये। एकलव्यने अपने गुरुको अपने समक्ष देखकर श्रद्धावनत हो प्रणाम किया एवं योग्य आदेशके लिये निवेदन किया। द्रोणाचार्यने उसकी गुरुनिष्ठा एवं दृढ़ताकी परीक्षा लेनेके लिये एकलव्यसे कहा—'वत्स! तुमने मुझे सर्वोच्च-भावसे गुरु माना है, किंतु मुझे गुरु-दक्षिणा नहीं दी है। गुरुको गुरु-दक्षिणा देनेकी उस समयकी मान्य परम्परा थी। एकलव्यने अपना अहोभाग्य मानकर इच्छित गुरु-दक्षिणा निर्देशित करनेके लिये निवेदन किया। गुरुने परीक्षा लेने-हेतु उससे कहा—'तुम मुझे अपने दाहिने हाथका अँगूठा दे दो।' दृढ़प्रतिज्ञ एवं दृढ़निश्चयी एकलव्यने बिना हिचकिचाहटके तत्काल अपने दाहिने हाथका अँगूठा काटकर गुरु कुछ समझ सकें इसके पूर्व ही उनको अर्पण कर दिया।

उदार-हृदय गुरुने उसकी सत्य-प्रतिज्ञा देखकर तर्जनी और मध्यमाके संयोगसे बाण पकड़कर किस प्रकार धनुषकी डोरी खींची जानी चाहिये उसे बता दिया।

इस प्रकार द्रोणाचार्यने अपनी वचनप्रतिबद्धता और गुरुकी गरिमा दोनोंका उचित रक्षण कर लिया। विस्तृत विवरण-हेतु महाभारत, आदिपर्व अध्याय १३० द्रष्टव्य है।

पूर्वाग्रहसे ग्रसित महानुभाव जो द्रोणाचार्यपर निषादोंके साथ पक्षपातका आक्षेप करते हैं, वे महाभारत आदिपर्वके उक्त प्रसंगका अवलोकन करें। तथ्य एवं परिस्थितिको समझे बिना द्रोणाचार्यको तिरस्कृत न करें। मूल ग्रन्थोंके अध्ययनके बिना आधी-अधूरी जानकारीके आधारपर किसीपर भी आक्षेप करना कहाँतक उचित है?

एकलव्य यादव-कुल-भूषण श्रीकृष्णके काका देवश्रवाका पुत्र एवं उनका चचेरा भाई था। वह अत्यन्त दृढ़प्रतिज्ञ, सत्यनिष्ठ, साहसी एवं महान् धनुर्धर था, अतः दोनों गुरु-शिष्यको सही परिप्रेक्ष्यमें देखना उचित होगा।

साधकोंके प्रति—

सच्ची मनुष्यता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

अपने सुखसे सुखी होना और अपने दु:खसे दु:खी होना—यह पशुता है तथा दूसरेके सुखसे सुखी होना और दूसरेके दु:खसे दु:खी होना—यह मनुष्यता है। अत: जबतक दूसरेके सुखसे सुखी होने और दूसरेके दु:खसे दु:खी होनेका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह मनुष्य कहलानेके योग्य नहीं है। वह आकृतिसे चाहे मनुष्य दीखे, पर वास्तवमें मनुष्य नहीं है। जबतक स्वयंके सुखसे सुखी और स्वयंके दु:खसे दु:खी होंगे, तबतक मनुष्यता नहीं आयेगी।

जो अपने सुखके लिये दूसरोंकी हानि करता है, वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। मनुष्य वही होता है, जो स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित करे, कम-से-कम दूसरेकी हानि न करे। अत: यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे द्वारा किसीको किञ्चिन्मात्र भी दु:ख न हो। दूसरोंका दु:ख कैसे मिटे—इससे भी आगे दूसरोंके हितकी दृष्टि रखो कि दूसरोंका हित कैसे हो? प्राणिमात्रके हितमें रति हो—'**सर्वभूतहिते रता:**' (गीता ५। २५; १२। ४) दूसरोंका हित कितना करना है, कितना नहीं करना है—इसकी आवश्यकता ही नहीं। हमारे पास जितनी सामर्थ्य है, जितनी योग्यता है, जितनी सामग्री है, उसीको दूसरोंके हितमें लगाना है, उतनी ही हमारी जिम्मेवारी है। सबको सुखी बना दे—यह किसी मनुष्यकी शक्ति नहीं है। यह इतनी कठिन बात है कि दुनियाके सब-के-सब आदमी मिलकर यदि एक आदमीको भी सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें, तो भी उसे सुखी नहीं कर सकते। कारण कि उसमें जो धनकी, भोगोंकी, मानकी, बड़ाईकी, आरामकी लालसा है, वह ज्यों-ज्यों धन, भोग आदि मिलेंगे, त्यों-ही-त्यों अधिक बढ़ती जायगी—'*जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई*'। अधिक-से-अधिक धन आदि मिलनेपर भी वह तृप्त नहीं हो सकता। जब सम्पूर्ण दुनिया मिलकर भी एक आदमीको सुखी नहीं कर सकती, तो एक आदमी दुनियाके दु:खको दूर कैसे करेगा? परंतु 'दूसरेको सुख कैसे हो'—यह भाव सब बना सकते हैं, चाहे वह भाई हो या बहन हो, बालक हो या जवान हो, धनी हो या निर्धन हो। सांसारिक वस्तुओंमें किसीको अधिकार मिला है, किसीको नहीं मिला है; परंतु हृदयसे सबका हित चाहनेका अधिकार सबको मिला है। इस अधिकारसे कोई भी वञ्चित नहीं है।

जो अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका भला करता है, उसका भला भगवान् अपनी शक्तिके अनुसार करते हैं। वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तो भगवान् भी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। जब भगवान् अपनी शक्ति लगा देंगे, तब वह दु:खी कैसे रहेगा? उसे कोई दु:खी कर ही नहीं सकता। वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:**' (गीता १२। ४)।

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्॥

'सब सुखी हो जायँ, सब नीरोग हो जायँ, सबके आनन्द-मङ्गल हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो'—यह जिसका भाव बन जाय, वही मनुष्य कहलाने योग्य है। जबतक वह दूसरेके दु:खसे दु:खी नहीं होता, तबतक वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। दूसरी एक और बात है—जो दूसरोंके दु:खसे दु:खी होता है, उसे अपने दु:खसे दु:खी नहीं होना पड़ता। आप लोग ध्यान दें, अपने दु:खसे दु:खी उसीको होना पड़ता है, जो दूसरोंके दु:खसे दु:खी नहीं होता और दूसरोंके सुखसे सुखी नहीं होता। वही संग्रही बनता है और अपने सुखका भोगी बनता है। उसे सुखका अभाव रहता है, कमी रहती है; परंतु जो दूसरोंके सुखसे सुखी होता है, उसे सुखकी कमी रहती ही नहीं। कमी कैसे नहीं रहती? कि उसे अपने सुखभोगकी इच्छा ही नहीं रहती।

संग्रह करना और भोग भोगना—ये दोनों परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हैं। रुपये-पैसे मेरे पास आ जायँ, सामग्री

मुझे मिल जाय, भोग मैं भोग लूँ—यह जो भीतरकी लालसा है, यह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होने देती। कारण कि संग्रह करेगा तो शरीरसे ही करेगा और सुख भोगेगा तो शरीरसे ही भोगेगा। अतः इस हाड़-मांसके पुतलेमें लिप्त रहनेसे, इसकी गुलामी रहनेसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी; परंतु दूसरोंके सुखमें सुखी होनेसे भोग भोगनेकी इच्छा और दूसरोंके दुःखमें दुःखी होनेसे अपने लिये संग्रह करनेकी इच्छा नहीं रहती।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे उसका दुःख दूर करनेका विचार होगा। जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देते हैं, ऐसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देंगे। हम अधिक संग्रह नहीं कर सकेंगे! यदि संग्रह अधिक हो भी जायगा, तो उसमें अपनापन नहीं रहेगा कि यह तो सबकी वस्तु है। इसीलिये भागवतमें आया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(७। १४। ८)

जितनेसे पेट भर जाय, उतनी ही वस्तु मनुष्यकी है। अभिप्राय यह है कि जितनेसे भूख मिट जाय, उतना अन्न; जितनेसे प्यास मिट जाय, उतना जल; जितनेसे शरीरका निर्वाह हो जाय, उतना कपड़ा और मकान—यह अपना है। इसके सिवाय अधिक अन्न है, जल है, वस्त्र है, मकान है, निर्वाहकी अधिक सामग्री है, उसे जो अपना मानता है—अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है, उसे दण्ड मिलेगा। वह कहता है कि हम किसीसे लाये नहीं, यह तो हमारी है। पर वह हमारी कैसे? क्योंकि जब जन्मे, तब एक धागा साथ लाये नहीं और जब मरेंगे, तब एक कौड़ी साथ जायगी नहीं। अतः हमारे पास जो अधिक सामग्री है, वह उसकी है, जिसके पास उस सामग्रीका अभाव है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, वह अपने सुखके लिये भोग और संग्रहकी इच्छा नहीं करता। उसमें करुणाका, दयाका भाव पैदा होता है। करुणामें जो रस है, आनन्द है, वह भोगोंमें नहीं है।

यह जो आप संग्रह करते हैं, इसका अर्थ है—निर्दयता, भीतरमें दया नहीं है। जहाँ दया होती है, वहाँ अपने सुखके लिये संग्रह नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि उसे ऐसे ही आनन्द आता है। संग्रहमें जो सुख होता है, उसमें राजसी और तामसीपना होता है। दूसरोंके सुखमें जो सुख होता है, वह सुख संग्रहमें और भोगोंमें परिणत नहीं होता। उस सुखमें बड़ा भारी आनन्द होता है।

जिसका दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव है, वह दूसरोंको दुःखी देखकर आप सुख भोग ले—यह हो ही नहीं सकता। पड़ोसमें रहनेवालोंको अन्न न मिले और हम बढ़िया-बढ़िया भोजन बनाकर खायें—यह अच्छे हृदयवालोंसे नहीं होगा। उन्हें भोजन अच्छा ही नहीं लगेगा; परंतु जिनका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वे दूसरोंके दुःखसे क्या दुःखी होंगे? वे तो दूसरोंका दुःख देखकर सुखी होते हैं। जो अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःखी बना देते हैं, अपने मानके लिये दूसरोंका अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसाके लिये दूसरोंकी निन्दा करते हैं, अपने पदके लिये दूसरोंको पदच्युत करते हैं, वे मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं हैं, मनुष्य तो हैं ही नहीं। वे तो पशु हैं। पशु भी ऐसे निकम्मे कि न सींग हैं, न पूँछ है! जिसके सींग और पूँछ न हों, वह भद्दा पशु होता है। उनका ढाँचा तो मनुष्यका है, पर स्वभाव पशुका है। पशु-पक्षी तो अपने पापोंका फल भोगकर शुद्ध होते हैं, पर दूसरोंको दुःख देनेवाले नये-नये पाप करके नरकोंका रास्ता तैयार करते हैं! रामायणमें आया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

(मानस ५। ४५। ४)

अपने सुखसे सुखी और अपने दुःखसे दुःखी होना दुष्टता है। नरकोंमें निवास भले ही हो जाय, पर ऐसे दुष्टोंका संग विधाता न दे। नरकोंमें जितना निवास होगा, जितना नरक भोगेंगे, उतने हमारे पाप कट जायँगे और हम शुद्ध हो जायँगे; परंतु ऐसे दुष्टोंका संग करनेसे नये-नये नरक भोगने पड़ेंगे।

पशु दूसरोंको दुःख देनेपर भी पापके भागी नहीं बनते;

क्योंकि पाप-पुण्यका विधान मनुष्यके लिये ही है। पशु-पक्षी दु:ख देते हैं तो अपने खानेके लिये देते हैं। वे खा लेंगे तो फिर आपको तंग नहीं करेंगे। वे अपने सुखभोगके लिये, संग्रहके लिये आपको तंग नहीं करेंगे, कष्ट नहीं देंगे, परंतु मनुष्य लाखों-करोड़ों रुपये कमा लेगा, तो भी दूसरोंको दु:ख देगा और दु:ख देकर अपना धन बढ़ाना चाहेगा, अपना सुख बढ़ाना चाहेगा। अत: वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है। वह तो पशुओंसे और नरकोंके कीड़ोंसे भी नीचा है! मनुष्य-जीवन मिला है शुद्ध होनेके लिये, निर्मल होनेके लिये, परंतु जो दूसरोंको दु:ख देते हैं, वे पाप कमाते हैं, जिसका परिणाम बहुत भयंकर होगा।

जिसके अन्त:करणमें दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्नता और दूसरोंको दु:खी देखकर करुणा पैदा नहीं होती, उसका अन्त:करण मैला होता है। मैला अन्त:करण नरकोंमें ले जाता है। पशुका अन्त:करण ऐसा मैला नहीं होता। पशु भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं है। वह अपने सुखके लिये दूसरोंको दु:ख नहीं देता। वह किसी प्राणीको मारकर खा जाता है तो केवल आहार करता है, सुख नहीं भोगता; परंतु मनुष्य शौकसे अच्छी-अच्छी वस्तुएँ बनाकर खाता है, उसमें स्वादका सुख लेता है तो वह पाप करता है। अत: दूसरोंके सुखसे सुखी होना और दूसरोंके दु:खसे दु:खी होना ही सच्ची मनुष्यता है। मनुष्यमात्रको अपने भीतर हरदम यह भाव रखना चाहिये कि सब सुखी कैसे हों? उनका दु:ख कैसे मिटे?

श्रीमद्भागवतके द्वादश उपदेश

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

(१)

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥

(१। ८। ५२)

जैसे कीचड़से गँदला जल स्वच्छ नहीं किया जा सकता, मदिरासे मदिराकी अपवित्रता नहीं मिटायी जा सकती, वैसे ही बहुतसे हिंसा-बहुल यज्ञोंके द्वारा एक भी प्राणीकी हत्याका प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता।

(२)

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवांघ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥

(२। २। ५)

क्या पहननेके लिये मार्गमें चिथड़े नहीं हैं? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलोंकी भिक्षा नहीं देते? क्या जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ सूख गयी हैं? क्या निवास-हेतु पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं? अरे भाई! सब न सही, भगवान् तो शरणागतोंकी रक्षा कर ही रहे हैं। ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर—घमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं?

(३)

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

(३। २५। १५)

इस जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है। विषयोंमें आसक्त होनेपर वह बन्धनका हेतु होता है और परमात्मामें अनुरक्त होनेपर वही मोक्षका कारण बन जाता है।

(४)

य उद्धरेत् करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुंक्ते भगं च स्वं जहाति सः॥

(४। २१। २४)

जो राजा प्रजाको धर्म-मार्गकी शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनेमें लगा रहता है, वह केवल प्रजाके पापका ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे हाथ धो बैठता है।

(५)

कल्पायुषां स्थानजयात् पुनर्भवात् क्षणायुषां भारतभूजयो वरम्।
क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः॥

(५। १९। २३)

स्वर्गके जिन निवासियोंकी एक-एक कल्पकी आयु होती है, किंतु जहाँसे फिर संसार-चक्रमें लौटना पड़ता है, उन ब्रह्मलोकादिकी अपेक्षा भी भारतभूमिमें थोड़ी आयु लेकर जन्म लेना अच्छा है; क्योंकि यहाँ धीर पुरुष एक क्षणमें ही अपने इस मर्त्य-शरीरसे किये हुए सम्पूर्ण कर्म श्रीभगवान्को अर्पण करके उनका अभय पद प्राप्त कर सकता है।

(६)

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥

(६। १०। ८)

जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुखी प्राणियोंपर दया करके मुख्यतः धर्म और गौणतः यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड़ पेड़-पौधोंसे भी गया-बीता है।

(७)

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः॥

(७। ७। ३९)

धन, स्त्री, पशु, पुत्र-पुत्री, महल, पृथ्वी, हाथी, खजाना और भाँति-भाँतिकी विभूतियाँ—और तो क्या, संसारका समस्त धन तथा भोग-सामग्रियाँ इस क्षणभङ्गुर मनुष्यको क्या सुख दे सकती हैं। वे स्वयं ही क्षणभङ्गुर हैं।

(८)

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

(८। ७। ४४)

परोपकारी सज्जन प्रायः प्रजाका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेला ही करते हैं, परंतु यह दुःख नहीं है, यह तो सबके हृदयमें विराजमान भगवान्की परम आराधना है।

(९)

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥

(९। १९। १६)

विषयोंकी तृष्णा ही दुःखोंका उद्गम-स्थान है। मन्दबुद्धि लोग बड़ी कठिनाईसे उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है पर तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना)-का त्याग कर देना चाहिये।

(१०)

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

(१०। ४८। ३१)

केवल जलके तीर्थ (नदी, सरोवर आदि) ही तीर्थ नहीं हैं। केवल मृत्तिका और शिला आदिकी बनी हुई मूर्तियाँ ही देवता नहीं हैं। उनकी तो बहुत दिनोंतक श्रद्धासे सेवा की जाय, तब वे पवित्र करते हैं। परंतु संतपुरुष तो अपने दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं।

(११)

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥

(११। १७। २१)

चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके लिये साधारण धर्म यह है कि मन, वाणी और शरीरसे किसीकी हिंसा न करे। सत्यपर दृढ़ रहे, चोरी न करे, काम-क्रोध तथा लोभसे बचे और जिन कामोंके करनेसे समस्त प्राणियोंकी प्रसन्नता और उनका भला हो, वही करे।

(१२)

दृष्ट्वाऽऽत्मनि जये व्यग्रान् नृपान् हसति भूरियम्।
अहो मा विजिगीषन्ति मृत्योः क्रीडनका नृपाः॥

(१२। ३। १)

जब पृथ्वी देखती है कि राजा लोग मुझपर विजय प्राप्त करनेके लिये उतावले हो रहे हैं, तब वह हँसने लगती है और कहती है—कितने आश्चर्यकी बात है कि ये राजा लोग जो स्वयं मौतके खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं।

महल कब्रमें बदल गया!

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'मेरे महलकी सब खिड़कियाँ बंद कर दो। सावधान, कोई अंदर आने न पाये।' राजाने आदेश दिया।

नौकरोंने राजाके आदेशानुसार शाही महलकी खिड़कियाँ बंद कर सावधानीसे सिटकनियाँ लगा दीं। प्रकाश तथा वायु तक रुक गये।

राजाके मनमें बैठा हुआ गुप्त भय फिर भी कम नहीं हुआ। उसके मनमें उथल-पुथल मची थी। शरीर भी थर-थर काँप रहा था। विवेक काम नहीं कर रहा था। इस काल्पनिक भयकी भयंकरतासे उसका मन अशान्त हो गया था।

वह डरकर गरजा—'रोशनदान भी बंद कर दो। उसमेंसे भी आक्रमण हो सकता है। महल आतंककारियोंसे पूरी तरह सुरक्षित होना चाहिये।'

रोशनदान भी बंद कर दिये गये। महलमें अँधेरा छा गया।

फिर भी राजाका आन्तरिक असुरक्षा-बोध कम न हुआ। अन्तिम रूपसे सुरक्षित होनेके लिये राजाने फिर आदेश दिया—'महलके दरवाजे ईटोंसे हमेशा-हमेशाके लिये चुनवा दो, फिर हम सदाके लिये बाहरके आक्रमणकारियोंसे सुरक्षित हो जायँगे।' सभी चकित थे! राजाको भयका भूत कहाँसे सवार हो गया है। राजाको गुप्त भय था कि कोई भी आक्रमणकारी एकाएक हमला करके उसका राज्य छीन लेगा। उसकी हत्या हो जायगी। अत: वह हर प्रकारसे अपने-आपको सुरक्षित कर लेना चाहता था, इसीलिये बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे पूरी तरह सुरक्षित रहनेके लिये सुरक्षाके एक-से-एक मूर्खतापूर्ण उपाय करता जा रहा था।

सभी राजदरबारी, नौकर-चाकर राजाके इन अविवेकपूर्ण कार्योंको देखकर हैरतमें थे। उनका दम घूँट रहा था। स्थिति ऐसी थी मानो यह कोई आलीशान राजमहल नहीं, बल्कि श्मशानका हृदय-विदारक कब्र हो।

जो जितने ऊँचे पदपर रहते हैं, उन्हें असुरक्षाकी भावना उतनी ही उग्रतासे परेशान करती है। यह राजा बाहरसे तो साहसी दीखता था, भारी-भरकम शरीर एवं बड़ी-बड़ी मूँछें थीं। कुल मिलाकर एक आकर्षक व्यक्तित्व था। राज्य-रक्षा-हेतु हर प्रकारके हथियार थे, अनेक अङ्गरक्षक थे। फिर भी उसे चारों ओरसे अपने ऊपर आक्रमण होने तथा अपनी हत्या हो जानेका भय पूर्णत: उसके मन-मस्तिष्कमें छाया हुआ था। वह महलकी चारदीवारीमें किसी जेल-कैदीकी भाँति कैद था। वह शानदार गद्दोंपर लेटता, पर नींद न आती थी। असुरक्षा और मृत्युका भय कहीं भीतर मनमें करवटें लेता रहता था। जिंदगीके आधे अधूरेपनकी यह एक अनिवार्य प्रतिक्रिया थी।

मनकी इस क्रियासे आदमी अंदर-ही-अंदर कँटीले तारोंकी बाड़में बँधकर शीतमृत्युका शिकार होता है। राजा भी ऐसी ही भयाक्रान्त स्थितिमें जकड़ा हुआ था।

सौभाग्यसे उधरसे एक सिद्ध संन्यासी निकले। भक्तोंने राजाकी इस अस्थिर मन:स्थितिकी बात उनसे कही और समस्याका कोई हल पूछा।

'क्या समस्या है राजन्?' संन्यासीजीने राजाके कुछ समीप आकर पूछा।

'मुझे हमेशा मृत्युभय रहता है, महाराज! सर्वत्र असुरक्षा दीखती है? कोई भी एकाएक महलमें घुसकर मेरी हत्या कर सकता है।' शीघ्र समस्याका कोई समाधान सुझाइये प्रभो!

संन्यासीने एक क्षणतक राजाकी मन:स्थितिपर विचार करनेके बाद कहा—'राजन्! आपकी विचार-प्रणाली गलत रास्तेपर है। उसे नकारात्मक सोच कहते हैं। मृत्युके आगे क्या महल, क्या युद्धका मैदान! सर्वत्र उसका राज्य है। आप चाहे कितना भी अपनेको सुरक्षित समझें, मृत्यु फिर भी अवश्यम्भावी है। वह शाश्वत है। जन्मके साथ मृत्यु पहलेसे ही जुड़ी है। काल्पनिक भय आपको परेशान कर रहा है। विचारोंको सकारात्मक मोड़ दीजिये।'

'मैंने कुछ समझा नहीं महात्माजी, कुछ और स्पष्ट करें?'

'मृत्यु-भय मनुष्यको सबसे अधिक चिन्तित, विचलित और अस्थिर किये रहता है, पर स्वस्थ-चित्त व्यक्ति उसे जीवनकी एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर उसके विषयमें

सोचता तक नहीं। व्यर्थ ही मृत्युकी बात सोचकर व्यक्ति अपने जीवनके उपभोगसे वंचित रहे तो उसे क्या मिलेगा। सभीकी मृत्यु एक दिन निश्चित रूपसे आयेगी, केवल एक बार। प्रतिपल उसके डरसे चिन्तित रहकर उसका निवारण नहीं किया जा सकता। अत: वास्तविक अर्थोंमें जीवन-संग्राममें लगिये। साहसको अपनाइये। वीर पुरुष तो जीवनमें केवल एक बार ही मरते हैं, परंतु कायरोंकी मृत्यु प्रतिपल होती रहती है। अपनी कायर-प्रवृत्ति त्याग दीजिये। आत्मा तो अमर है। राजन्! आपत्तियोंका मुकाबला दृढ़तासे कीजिये।

आपत्तियाँ उनपर आती हैं, जो उनसे घबराते हैं। जो विपत्तिसे घबराते नहीं, वरन् निर्भीकतासे उसका सामना करते हैं, वह उनके पास फटकती तक नहीं। दूसरे लोग भले ही समझते रहें कि उसपर विपत्ति आयी हुई है, पर वह स्वयं उस स्थितिमें भी शान्त-चित्त बना रहता है। जो सौभाग्यमें खुशीसे नहीं नाचते, वे दुर्भाग्यके समय रोते भी नहीं। जो सफलतापर उछलता है, वही असफलतापर सिर धुनता है। विचारशील मनुष्य समझता है कि कठिनाइयाँ एक प्रकारके व्यायाम हैं, जिनका निर्माण इसलिये किया गया है कि इसके द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति कर सके। जिसने अपनेको आरामका गुलाम नहीं बनाया है, वह विपत्तिको सृष्टिका एक नियम समझेगा और उसे देखकर तनिक भी विचलित न होगा। बहादुर वह है जो विपत्तियोंके समूहको देखकर भी नहीं डरता और एक योद्धाकी तरह उसका मुकाबला करनेके लिये प्रतिपल तैयार रहता है। राजन्! किसी कठिनाईसे मत डरिये। भय और व्यग्रताको छोड़कर हर परिस्थितिका सामना कीजिये। जब कोई कठिनाई आये तो धैर्यपूर्वक उसका सामना कीजिये।'

—यह सुनकर डरपोक राजाके मनमें आत्मविश्वास जाग्रत् हुआ। मृत्यु-भय और असुरक्षा-भावना दूर हो गयी। वह मानसिक रूपसे स्वस्थ हो गया।

गया-श्राद्धसे पुत्र

गया-श्राद्ध पितरोंकी तृप्तिके लिये परमावश्यक बताया गया है। पर आधुनिक वातावरण और शिक्षा-दीक्षामें पालित-पोषित लोग इसे ढोंगमात्र कहकर हँसी उड़ाते हैं। मैं एक ऐसे सज्जनको जानता हूँ, जिनको इसमें नाममात्रके लिये भी विश्वास नहीं था। घरमें श्राद्ध आदि होते थे, पर उनके लिये कोई महत्त्व नहीं था। परम्पराका निर्वाहमात्र था।

उनके कई पुत्र हुए। पर होते ही मर जाते थे। कई ज्योतिषियोंने भाग्यमें पुत्र नहीं है, कह दिया। पर सौभाग्यसे एक पण्डितजीने 'गया-श्राद्ध' का सुझाव दिया। वंशकी रक्षाके लिये विवश हो वे तैयार हुए। सबसे पहले श्मशानमें जाकर पितरोंको गया-श्राद्धके लिये आमन्त्रित किया और वहाँसे घर न आकर सीधे स्टेशन चले गये। पहले प्रयागमें त्रिवेणी-स्नान और बादमें काशीमें गङ्गा-स्नान किया। पटना होते हुए पुनपुन गये। पहला पिण्डदान वहीं किया।

गयाजीमें सौभाग्यसे उन्हें उत्तम कर्मकाण्डी पण्डितजी मिल गये। उन्होंने गयाजीमें सभी स्थानोंपर पिण्डदान शास्त्रोक्त-रीतिसे सम्पन्न करवाया।

इसके दो वर्ष बाद पितरोंकी कृपासे उनके एक पुत्र हुआ और पुनः दो वर्ष बाद एक और पुत्र हुआ। इस प्रकार आज उनके एक नहीं दो-दो पुत्र हैं। यह सब 'गया-श्राद्ध' का ही पुण्य-प्रताप वे मानते हैं। अब तो श्रद्धा और भक्तिपूर्वक श्राद्ध करते हैं। उनका विश्वास दृढ़ हो गया है। वे अपने अनेक मित्रोंको गया-श्राद्धके लिये प्रेरित कर भेज चुके हैं।

तुम कहाँ हो?

(कु० सत्यवती देवी शर्मा 'देवी')

मधुर संसार जाग उठा। पक्षी आनन्दनिमग्न हो गुंजन कर रहे थे। अनुरागसे भरी उषा गुलाल छोड़ रही थी। मलय-समीर विजेता वीरकी भाँति मस्तीसे बह रहा था। सघन वृक्ष-गुल्म, नयी-नयी सुन्दर लताएँ लावण्य बिखेर रही थीं। फूलोंकी कलियाँ चटकना चाहती थीं और उदयशैल अपने अभ्युदयपर हँस रहा था। मैंने मन्द-मन्द लहराती सरिताके किनारे प्यासी आँखोंसे आपकी प्रतीक्षा की, परंतु आपको न पा सकी। मेरे प्रभो! 'तुम कहाँ हो?'

जब अनुराग भी तैयार था, दिवाकर अनुरागसे अरुण वेश लेकर वेगसे अस्ताचलकी ओर दौड़ रहा था। मनोहर राग अलापती हुई पक्षियोंकी कतारें श्रमिकवर्गकी तरह अपने-अपने घोंसलोंकी ओर लौटी जा रही थीं। संसार कुछ शान्त था, फिर भी उल्लासकी कमी न थी। बगीचे हरे-भरे वृक्षोंसे शान्त और सुशोभित थे। दिनके पुष्प दिनकरकी ऊष्मासे कुछ कुम्हिला गये थे। तब संध्याकी स्वर्णिम वेलामें नगरसे दूर शान्त हरियालीमें मैंने आपको सब ओर देखा, पर पा न सकी। भगवन्! 'तुम कहाँ हो?'

'जब रजनीका श्यामल अञ्चल चन्द्रिकाके उज्ज्वल प्रकाशसे सफेदी उधार ले रहा था, नीले नभमें चन्द्रमा हँस रहा था। आकाश भी सुधाके फव्वारे छोड़ रहा था। नीलमके वितानमें रूपहले फानूस लटक रहे थे। फिर भी सब ओर शान्ति गूँज रही थी। चन्द्रकी रश्मियाँ उससे अठखेलियाँ कर रही थीं। सब सुखकी वंशी बजा रहे थे। मैंने भी तुम्हें अपनी वंशी बजाकर पुकारा, लेकिन............विभो! 'तुम कहाँ हो?'

जब बाग-बगीचे हरे-भरे थे। नर्तकी-वेषमें वसुन्धरारूपी मेनका हरी साड़ी पहने सावनका मनोहर अभिनय कर रही थी। नीले नभमें घिरी हुई घनावली कभी गर्जना करती थी और कभी मनोहर बूँदोंकी बौछार। न्यायप्रिय राजाकी तरह रजनीकर, दिवाकर छिपे हुए थे। अपनी हरी-भरी और चटकीली स्वर-लहरीसे तुमको सावनने गा-गाकर पुकारा, लेकिन तुम्हारे दर्शनोंका सौभाग्य न मिला। 'दीनबन्धो!' तुम कहाँ हो?'।

जब सुन्दर सरोवरोंका जल योगीके मनकी तरह स्वच्छ और निर्मल था। उसमें निरतिशय भावोंकी भाँति रंग-बिरंगे अरविन्द खिले थे। संसारके लिये सूर्य सुनहली उषा और चन्द्र रूपहली चाँदनीकी भेंट लेकर आता था। ग्वालोंकी वंशी सोये लोगोंको जगा रही थी। तब भी मैंने दर्शनोंकी अभिलाषासे तुम्हें पुकारा; किंतु स्वामिन्! 'तुम कहाँ हो?'।

जब रसीले रसालकी शान्त-शाखापर बैठी हुई कोयल पञ्चम स्वरसे राग अलाप रही थी। सब ओर खुशीकी धूम मच रही थी। शहतूत पकने लगे थे। वृक्षोंमें नूतनता आ गयी थी। गुलाब, कचनार, मोंगरा, मालतीकी मीठी सुषमाभरी सौरभ दिग्-दिगन्तमें फैली थी। उस वसंतको हर तरफ दुनिया गा रही थी। मैंने भी अपनी सारी खुशी समेटकर पुकारा, लेकिन भगवन्! 'तुम कहाँ हो?'।

मैंने दुनियाकी प्रत्येक वस्तुमें सतृष्ण नयनोंसे तुम्हें ढूँढ़ डाला, किंतु कहीं न पा सकी प्रभु!

आओ! मैं तुम्हारी पूजा करूँ। मैं शुद्ध हूँ, मेरे पास धूप, दीप सभी सामग्री प्रस्तुत हैं। आओ भगवन्!

किसीने मधुर एवं मृदुल वाणीसे पुकारा। मैं हूँ सदा तुम्हारे साथ, तुम्हारे हृदयमें—तुम्हारी अन्तरात्मामें। अपने ज्ञानके पट खोल दो।

भक्तिसे परमशुद्धि

शृण्वतां गृणतां वीर्याण्युद्दामानि हरेर्मुहुः। यथा सुजातया भक्त्या शुद्ध्येन्नात्मा व्रतादिभिः॥

(श्रीमद्भागवत ६। ३। ३२)

जो लोग बार-बार भगवान्‌के उदार और कृपापूर्ण चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करते हैं, उनके हृदयमें प्रेममयी भक्तिका उदय हो जाता है। उस भक्तिसे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंसे नहीं होती।

वर्तमानका सदुपयोग

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय संत स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

जीवनका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कर्तव्यपालन ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है; क्योंकि वर्तमानका सदुपयोग ही भविष्यको उज्ज्वल बनाता है और कार्यसे असंग होनेकी सामर्थ्य भी प्रदान करता है।

सिद्धान्त-रूपसे प्रत्येक कर्तव्यकर्मके दो परिणाम होते हैं—एक तो कर्ताके विद्यमान रागकी निवृत्ति और दूसरा उस कार्यसे जिनका सम्बन्ध है उनके अधिकारकी रक्षा। कर्ताका राग निवृत्त होते ही कर्ता जिज्ञासु तथा प्रेमी होनेमें समर्थ होता है और जिनके अधिकारकी रक्षा होती है, उनका भी हित होता है; अथवा यों कहो कि इससे बाह्य परिस्थिति भी सुन्दर हो जाती है।

इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान कर्तव्य ही उत्कृष्ट कार्य है। अतः बड़ी ही सावधानीपूर्वक उसका सदुपयोग करना चाहिये।

वर्तमानका सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब कर्ता प्राप्त कार्यको सर्वोत्कृष्ट कार्य माने, विधानके अनुरूप कार्यका सम्पादन करे और अपनेको उस कार्यमें पूरा लगा दे। पर इस बातका सदैव ध्यान रहे कि यह नियम उन्हीं कार्योंके लिये है, जो करने योग्य हैं। जिन कार्योंसे दूसरोंका अहित हो, वे किसी भी अवस्थामें करने योग्य नहीं हैं। जो करने योग्य नहीं हैं, उन कार्योंका तो त्याग करना ही होगा।

यह नियम है कि अकरणीय कार्यके त्यागमें ही करणीय कार्यको करनेकी सामर्थ्य निहित है। अतः जो करना चाहिये, उसके करनेमें लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है।

जो करना चाहिये, उसके करनेपर व्यर्थ-चेष्टाओंका अन्त हो जायगा और कार्यके अन्तमें निर्विकल्पता स्वतः आने लगेगी। निर्विकल्पता कल्पतरुके समान है। यह जिज्ञासुमें जिज्ञासा और प्रेमीमें प्रियलालसा जाग्रत् करनेमें समर्थ है। इतना ही नहीं, चिर-शान्ति तथा नित्य-योग भी निर्विकल्पतासे ही प्राप्त होता है। जिज्ञासाकी पूर्णता उस तत्त्वज्ञानमें और प्रियलालसा उस प्रेममें बदल जाती है, जो वास्तवमें जीवन है।

व्यर्थ-चेष्टाओंसे ही व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है और व्यर्थ-चिन्तनसे ही परिस्थितिका दुरुपयोग होता है तथा निर्विकल्पता भंग होती है। निर्विकल्पता भंग होनेसे विकास रुक जाता है और परिस्थितिके दुरुपयोगके कारण कर्ताके रागकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। इस दृष्टिसे साधकके जीवनमें व्यर्थ-चिन्तन तथा व्यर्थ-चेष्टाओंके लिये कोई स्थान ही नहीं है।

परिस्थितियोंके चिन्तनसे रहित होनेपर प्रियकी स्मृति तथा विचारका उदय स्वतः हो जाता है। प्रियकी स्मृति प्रियसे भिन्नकी विस्मृति करानेमें समर्थ है और विचारका उदय अविचारको नष्ट करता है। अविचारके नष्ट होते ही अविचार-सिद्ध सृष्टि स्वतः विलीन हो जाती है। प्रियसे भिन्नकी विस्मृति प्रियसे अभिन्न करनेमें समर्थ है और प्रियकी अभिन्नता दिव्य चिन्मय प्रेम प्रदान करनेमें समर्थ है; कारण कि प्रेम प्रेमास्पदका स्वभाव और प्रेमीका जीवन है।

कर्म-विज्ञानकी दृष्टिसे कर्ममें भिन्नता अनिवार्य है, पर प्रत्येक कार्यके प्रति प्रियता समान होनी चाहिये। ऐसा करनेसे प्रत्येक कर्म एक ही भावमें विलीन हो जायगा और कर्मजन्य आसक्ति उत्पन्न न होगी; कारण कि आसक्तिका हेतु रस है, जिसकी पूर्ति प्रियतासे स्वतः हो जाती है।

कार्यमें प्रधानता विधानके अनुरूप कार्यकुशलताकी होती है और प्रियता कर्तामें विद्यमान रहती है। समान प्रियता कर्ताको कर्मसे असंग करनेमें समर्थ है, क्योंकि प्रियताका भेद ही कर्ताको कर्ममें आबद्ध करता है। अतः प्रियताके भेदका अन्त करना अनिवार्य है। कर्मका भेद प्राकृतिक है और प्रियताका भेद कर्ताका अपना बनाया हुआ दोष है, जिसे मिटानेका दायित्व कर्तापर ही है। कर्ताके सभी दोष उस समय स्वतः मिट जाते हैं, जब वह जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु होनेके लिये प्रत्येक कार्यको सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये; क्योंकि कार्यकी सुन्दरता कर्ताको स्वयं कार्यके चिन्तनसे मुक्त कर देती है। कार्यके चिन्तनसे मुक्त होते ही प्रियलालसा अथवा तत्त्व-जिज्ञासा स्वतः जाग्रत् होती है, जो प्रेमी तथा जिज्ञासु बनानेमें समर्थ है। इस

दृष्टिसे सुन्दरतापूर्वक कार्य करना ही कार्यके चिन्तनसे मुक्त होनेका सुगम उपाय है।

अब विचार यह करना है कि कार्यके चिन्तनका हेतु क्या है। तो कहना होगा कि परिस्थितिके अनुसार किये हुए कार्यका राग ही कार्यके चिन्तनका हेतु है। किये हुए कार्यका राग तभी अंकित होता है, जब कर्ता कार्यमें ही जीवन-बुद्धि कर लेता है अथवा किये हुए कार्यका फल भोगना चाहता है। अर्थात् सुख-भोगकी आसक्ति ही कर्ताको परिस्थितियोंमें आबद्ध करती है।

परिस्थितियोंमें आबद्ध प्राणी अपनेको कर्ता मान लेता है, जिज्ञासु तथा प्रेमी नहीं। कर्ता, कर्म और फल—यद्यपि इन तीनोंमें जातीय एकता है, परंतु कर्ता फलकी आशाके कारण कर्मजालमें आबद्ध होकर अपनेको भोगके अधीन कर लेता है, अर्थात् दीन हो जाता है।

यह नियम है कि दीनत्वके रहते हुए प्राणी कभी भी अभिमानसे रहित नहीं हो पाता; कारण कि दीनता किसी-न-किसी वस्तु, अवस्था आदिमें आबद्ध कर देती है, जो अभिमानका हेतु है। दीनता और अभिमानका अन्त करनेके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि कर्ता सुख-भोगकी आशाको त्याग करके प्रत्येक कार्य राग-निवृत्तिके भावसे अथवा अपने प्रियकी प्रसन्नताके भावसे सम्पादित करनेका स्वभाव बना ले।

यह नियम है कि जिस भावसे कार्य किया जाता है, कर्ता अन्तमें उसी भावमें विलीन होता है, अर्थात् या तो वीतराग हो जाता है अथवा प्रेमी। वीतराग होते ही निरभिमानता आ जाती है और किसी प्रकारका दीनत्व शेष नहीं रहता। दीनता और अभिमानके गलते ही समस्त जीवन प्रेमसे परिपूर्ण हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदसे भिन्नकी सत्ता ही शेष नहीं रहती। जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फलमें जातीय एकता है, उसी प्रकार प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पदमें भी जातीय एकता है।

देहाभिमानके कारण ही प्रेमी अपनेको कर्ता मान लेता है। फिर प्रेम और प्रेमास्पदसे वंचित होकर कर्म और कर्मफलमें आबद्ध हो जाता है। यदि निर्मोहतापूर्वक देहाभिमानका त्याग कर दिया जाय तो कर्ता स्वयं प्रेमी हो जाता है; उसके बाद प्रेम होकर प्रेमास्पदसे अभिन्न होनेमें समर्थ होता है। इतना ही नहीं, प्रेमी होते ही प्रत्येक प्रवृत्तिमें अपने प्रीतमका ही दर्शन होने लगता है और प्रवृत्तिके अन्तमें प्रेमी प्रीति होकर प्रीतमसे अभिन्न हो जाता है, अर्थात् समस्त जीवन प्रीतिकी ही अभिव्यक्ति हो जाता है।

यह सभीको मान्य होगा कि प्रीतम प्रीतिमें ही विद्यमान है और प्रीतिसे ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रीतिकी प्राप्तिके लिये हमें प्रत्येक कार्य सुन्दरतापूर्वक करना चाहिये।

भेंट

(श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

आज इस क्षण-क्षणमें अधिकाधिक अन्धकाराच्छन्न हुए आते, अर्ध-रात्रिके संनाटेमें, सबको झटक, मैं तेरे द्वारपर आ खड़ा हुआ हूँ।

मैं!—दीन, हीन, मलिन!!

× × ×

सुना है, तू सम्राटोंका सम्राट् है।

होगा!—पर भेंट दिये बिना तो तेरे यहाँ भी पहुँच नहीं! और भेंटके लिये मुझ तुच्छ नाकुछके पास धरा ही क्या है?

× × ×

हाँ! भली याद आयी। एक वस्तु है यदि तू स्वीकार कर ले!

वह है चित्त-चाञ्चल्य!—जन्म-जन्मान्तरकी अर्जित-संचित-अकिञ्चनकी एकमात्र सम्पत्ति! समझा?

× × ×

भेंट देते मैं संकोचसे मरा जा रहा हूँ—यह भी क्या कहना होगा?—मेरे राजा!

स्वीकार-अस्वीकार, जो भी करना हो, शीघ्र कर, त्रिशंकुदशामें तो न छोड़ मुझे कम-से-कम मेरे सर्वस्व।

पर निर्णय करते हुए इतना याद अवश्य रखना—जो भी जैसा भी हूँ, तेरा, एकमात्र केवल तेरा ही हूँ।

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[व्रजकी महान् विभूति संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी आध्यात्मिक जगत्के प्रेरणास्रोत थे। वे सर्वस्व त्यागकर विरक्तभावसे जीवनपर्यन्त तपोमयी व्रजभूमिमें साधना-संलग्न थे। कुछ ही दिनों पूर्व वे गोलोक सिधार गये। वर्तमानमें वे एक उच्चकोटिके साधक एवं सिद्ध संतके रूपमें हमें प्राप्त थे। साधनावस्थामें अपनी अनुभूति और अपने अनुभवोंके आधारपर उनके द्वारा समय-समयपर जो उद्गार व्रजभाषामें प्रकट किये गये, उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया, जो साधकोंके लिये अत्यन्त उपयोगी है। अतः यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —सम्पादक]

श्रीसद्गुरुदेव (परमात्म-प्रभु)-की शरणागति प्राप्त करनौं साधु कौ सर्व-प्रथम कर्तव्य है।

× × ×

श्रीसद्गुरुदेवमें अधिक-सौं-अधिक श्रद्धा-भाव राखनौं।

× × ×

दिन व दिन श्रद्धा कूँ (को) बढ़ाते रहनौं।

× × ×

यह देखते रहनौं कि, श्रद्धामें कमी तौ नहीं आय रही है।

× × ×

पवित्र कार्य तथा सदाचार-पालन सौं श्रद्धाकी पुष्टि होय है।

× × ×

श्रद्धा-सम्पन्न साधकके ताँईं (लिये) लोक तथा परलोकमें कछु दुर्लभ नहीं।

× × ×

अपने श्रीसद्गुरु भगवान्में अधिक सौं अधिक श्रद्धा होनौं ही उचित है, किंतु साथ ही यहू विचार रहै कि, अन्य संतनमें अवज्ञा-बुद्धि न हौन पावै।

× × ×

सबरे (सभी) संत 'महापुरुष श्रीभगवत्-तुल्य माननीय तथा आदरणीय हैं।'

× × ×

जानेसु संत अनंत समाना॥

× × ×

चाहै जा देशके हौयँ, चाहै जा जातिके हौयँ, 'संत सबही परम माननीय हैं।'

× × ×

सबमें उच्च भाव राखै। सबकौ सम्मान करै। सबकी सेवा करै। सबकी वाणीन कौ अध्ययन करै। सबके उपदेश सुनै। किंतु साधन अपने श्रीसद्गुरुदेवकी आज्ञाके अनुसार ही करै।

× × ×

काहूके धर्ममें तर्क न करै।

× × ×

सबरे मत, समस्त विधि-विधान ठीक हैं, इनमें शंका न उपस्थित करै।

× × ×

साधुके ताँईं उचित है कि, प्राणपण सौं अपनी विधि कौ पालन करै, किंतु काहूकी विधिकी आलोचना न करै।

× × ×

अपनी ही विधि कूँ बड़ौ मानिकैं सबकी विधिन कौं खण्डन करनौं यह महा अपराध है। साधु या सौं बहुत ही बचतौ रहै।

× × ×

वाद-विवाद, खण्डन-मण्डनके चक्र सौं बचिकैं निरन्तर अपने साधनमें लग्यौ रहै, याहीमें परम कल्याण है।

× × ×

गृहत्यागि कैं जब साधु बने हौ तौ, सब प्रपंचन सौं बचिकैं निरन्तर भजनमें ही लगनौं चहिये।

× × ×

भजन ही करैं। भजन ही बिचारैं। भजनकी ही अनेकन युक्तियाँ सोचैं। भजनमें अतृप्ति ही रहै। जीवन कौ एक-एक क्षण भजनमें ही व्यतीत करैं।

× × ×

जो-जो बात, वस्तु, व्यक्ति, स्थान भजनमें बाधक हौयँ,

उनसौं सदैव ही बचते रहौ।

× × ×

अधिक बोलनौं, अधिक निद्रा, अधिक आहार, नशीली वस्तुन कौ सेवन, जन-समाजमें बैठनौं, ब्रह्मचर्य कौ अभाव, क्रोध आदिक दोषन कौ आवेश, रजोगुणकी वृद्धि, महत्-अवज्ञा, सदाचार-पालनमें कमी, दम्भ, भोगासक्ति, कार्य-बाहुल्य, शरीरकी अस्वस्थता, चिन्ता, मनकी अशान्ति, श्रीसद्गुरु-भक्तिमें कमी—ये सब भजनमें बाधक हैं।

विशेषरूप सौं विरक्त साधकके ताँईं स्त्री-जाति मात्र एवं गृहस्थ साधकके ताँईं परस्त्री-मात्र सौं सम्पर्क तथा श्रीप्राणबल्लभमें प्रेमकी कमी आदिक भजनमें बाधक हैं।

× × ×

श्रीसद्गुरु-भक्ति, त्यागमय जीवन, नियम-पालनमें दृढ़ता, संयम, सदाचार-पालन, गुरु-जन-सेवा, अखण्ड-ब्रह्मचर्य, एकान्तवास—ये सब भजनमें सहायक हैं। साधु इनकूँ बढ़ातौ ही रहै।

× × ×

भजन करिवे कौ विचार ही भजन कूँ बढ़ातौ रहै है।

× × ×

भजन करिवेमें रुचि बढ़ै, या बातकी इच्छा होय, तौ अन्य समस्त कार्य शिथिल करतौ जाय, चाहैं वे कार्य कितने हूँ शुभ क्यौं न प्रतीत होते हौयँ।

× × ×

यदि निष्ठाके साथ भजन होयवे लगै, तौ भजनमें रुचि स्वतः ही उत्पन्न होयवे लगै है।

× × ×

भजन करिकैं केवल भजन ही माँगै।

× × ×

पूर्ण-प्रतिज्ञा करै कि—'सब प्रपंचन सौ बचिकैं अब अपनौं अवशिष्ट जीवन केवल भजनमें ही व्यतीत करूँगौ।'

× × ×

नियमित भजन होयवे सौं चित्तमें अत्यन्त प्रसन्नता होय है।

× × ×

चाहै कछु है जाऔ, किंतु नियमित भजन तौ नित्य ही पूरौ करि लैनौं चहिये।

× × ×

नियमके बिना जो भजन कियौ जाय है, वाकौ (उसका) अधिक महत्त्व नहीं।

× × ×

यदि रुचिपूर्वक, नियम सौं, दीर्घकाल-पर्यन्त, भजन कियौ जाय, तौ भजन भगवान् साधक कूँ पकरि लैयँ हैं। (यदि रुचिपूर्वक नियमसे दीर्घकालतक भजन किया जाय तो भजनरूप भगवान् साधकको पकड़ लेता है।)

× × ×

वही परम सौभाग्यशाली दिवस है, जा दिना नियमित भजन पूर्णरूप सौं बनि जाय।

× × ×

सबरी कामनान कूँ त्यागि कैं एक ही कामना बनावै कि, मैं अधिक-सौं-अधिक भजन ही करूँ।

× × ×

यदि कृपा करिकैं स्वयं श्रीभगवान् वरदान दैवेके ताँईं प्रकट है कैं आज्ञा करैं, तौ इनसौं हूँ केवल यही याचना करै कि मैं निरन्तर आपकौ भजन-स्मरण ही करतौ रहूँ, यही वरदान दै जाऔ।

× × ×

नित्य सायंकालमें शयन सौं पूर्व यह विचारि लेय कि आज भजनमें कैसी रुचि रही। साथ ही यह प्रतिज्ञा करै कि अगले दिना आज सौं हूँ अधिक भजनमें उत्साह राखूँगौ।

× × ×

प्रातःकाल जागते ही श्रीसद्गुरु भगवान् सौं प्रार्थना करै कि आज भजन करिवेमें मेरे मन मैं अत्यधिक उत्साह रहै।

× × ×

अपनी रहनी (आदत या स्वभाव) ऐसी बनाय लेय कि जासौं भजन करिवेमें सब प्रकारकी सुविधा रहै।

× × ×

भजनमें शिथिलता हौनौं, पाप कौ परिणाम है।

[क्रमशः]

प्रभुकी उपासना-प्रार्थनाके वास्तविक अधिकारी

(श्रीनिहालचन्दजी कांसल)

उपासनाका शाब्दिक अर्थ है—उप=समीप, आसना= बैठना—भगवान्‌के समीप बैठना। उपासना उस अवस्थाका नाम है, जहाँ ज्योतिष्पुंज प्रेम-स्वरूप भगवान् रोम-रोममें रम जाय, मन अमृतमें भीग जाय तथा हृदय आनन्दसे भरपूर हो जाय। यह तभी सम्भव है, जब हमारा हृदय स्फटिक शिलाकी भाँति पवित्र हो, जिसमें ज्योतियोंकी भी परम ज्योति भगवान्‌का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी दे। किसीके भी प्रति राग-द्वेष अथवा घृणा न हो। सब जगह दिखायी देनेवाले ब्रह्मका ही असीम अनन्त रूप दिखायी दे। देहभाव—अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि पूर्णरूपसे शान्त हो जायँ और हृदय परम पवित्र तथा प्रेम-रससे परिपूर्ण एवं शान्त हो जाय। विश्वकी सब घटनाएँ भगवान्‌की ही लीलाकी सुन्दर झाँकियाँ बन जायँ और अपनी प्रत्येक क्रियामें भी भगवान्‌की प्रेरणा और शक्तिका अनुभव हो। तभी शान्त निर्मल हृदयमें ज्योतियोंको भी ज्योति प्रदान करनेवाले शुद्ध आत्माका अपने अंदर ही दर्शन होता है। सब शक्तियोंका अपने अंदर ही अनुभव होता है। यही तो वास्तविक अधिकारियोंके गुण हैं, अब केवल आवश्यकता है उस प्रशस्त पथपर सदैव बढ़ते रहनेकी।

उपासनाका आधार है आत्मसमर्पण। जबतक हम अपने-आपको, अपनी सब क्रियाओंको, अपने अहंकारको इस ब्रह्मरूप परमेश्वरके हवाले नहीं करते, तबतक हम उसके पास बैठ नहीं सकते—वहाँ बैठनेके अधिकारी नहीं हो सकते। अतः अपने स्वार्थभावको समाप्त करके ही हम भगवान्‌के पास बैठ सकते हैं।

जैसे प्रत्येक पत्ता वृक्षसे रस ग्रहण करके फलता-फूलता है और अपनी सामर्थ्यके अनुसार सूर्यकी रश्मियोंसे प्रकाश आदि लेकर वृक्षको सुन्दरता तथा विशालता प्रदान करता है, वैसे ही हम सब भी अपने-आपको इस गतिशील सुन्दर ब्रह्मका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझते हुए इसे सुन्दर तथा समृद्ध बनानेका समर्पण-भावसे प्रयास करें।

प्रार्थना एक आध्यात्मिक शक्ति है। शक्ति प्राप्त करनेका बहुत ही सशक्त साधन है। शक्तिशाली बननेके लिये प्रार्थना एक व्यायाम है। महात्मा गांधीने कहा था—'प्रार्थना मेरे जीवनकी रक्षिका है। इसके बिना मैं बहुत पहले ही पागल हो गया होता।'

प्रार्थना, याचना अथवा कुछ शब्दोंको बार-बार दोहराना या चापलूसी नहीं है, बल्कि प्रार्थना स्वयं अपनी आन्तरिक शक्तियोंकी अनुभूति तथा सात्त्विक अभिव्यक्ति है। हम यदि किसी कार्यालयमें अपनी नियुक्तिके लिये प्रार्थना-पत्रमें अपनी योग्यताके आधारपर यह सिद्ध कर दें कि 'हमारी नियुक्तिसे आपको लाभ होगा। यदि आप मुझे एक हजार रुपया प्रतिमाह देंगे तो मैं आपको दस हजारका लाभ पहुँचा सकता हूँ। इस प्रकार सशक्त अभिव्यक्ति और उम्मीदवारीके बलपर ही हमारा प्रार्थना-पत्र स्वीकार होगा। लेकिन यदि हम यह लिखें कि 'मैं रोगी हूँ, दीन-हीन हूँ, मैं कुछ भी करनेके योग्य नहीं हूँ,' तब वह प्रार्थना-पत्र नहीं याचना-पत्र हो जायगा, जिसे उस कार्यालयमें नियुक्तिके लिये तो स्वीकार नहीं किया जा सकेगा, हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि उस प्रार्थना-पत्रपर दया करके हमें खाना भले ही खिला दिया जाय।

प्रार्थना तो चन्द्रमाकी भाँति निर्मल है, सूर्यकी भाँति तेजस्वी है, सागरकी भाँति गम्भीर है, अतः हम प्रार्थना करके, तन्मयता प्राप्त करके प्रभुके दिव्य गुणोंको प्राप्त कर सकते हैं। जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थको प्रदीप्त करता है, प्रभुरूप होनेकी शक्तिको जगाता है, अपना सब कुछ समर्पित करता है, कुछ माँगता नहीं, उसीकी प्रार्थना स्वीकार होती है। वही परमात्माके दिव्य गुणोंको प्राप्त कर सकता है।

बुद्धिमान् माता-पिता अपने उसी पुत्रको अधिकार सौंपते हैं जो कार्यकुशल हो, अधिकार सँभालनेके प्रति जागरूक हो, उसमें प्रगति करनेके योग्य हो और सदैव आज्ञापालन करनेवाला हो। जो अयोग्य होकर अधिकारोंकी याचना करे, उसे कदापि अधिकार नहीं दिया जा सकता।

सर्वशक्तिमान् ईश्वर सभी शक्तियों तथा प्रज्ञाका एवं पवित्रता, प्रेम, शान्ति, आनन्द और ज्ञान-शक्तिका भंडार है, स्रोत है। उससे कुछ भी माँगनेकी आवश्यकता नहीं है, केवल स्वयं उसके समीप बैठनेकी, अपने-आपको उसके समीप, उसके अंदर अथवा उसको अपने अंदर अनुभव करनेकी आवश्यकता है, आपका हृदय प्रेम, शान्ति तथा आनन्दसे भरपूर हो जायगा। ये सभी आपको स्वयमेव प्राप्त होंगे।

हम भगवान्‌के दिव्य गुणों एवं नामोंका स्मरण करते

हैं, तो क्या यह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये करते हैं, कदापि नहीं। वह तो सदैव प्रसन्न है, एक-रस है, ज्ञान-स्वरूप है, उसमें अप्रसन्नताकी कल्पना करना भी अज्ञानताका सूचक है। हमें भगवान्‌के दिव्य गुणोंका बार-बार स्मरण करके स्वयं अपने अंदर उसको आवाहित करना है, स्थापित करना है, जिससे हम अपने अंदर ही पवित्रता, आनन्द, शक्ति और तेजका सहज अनुभव कर सकें, उसकी शक्तिसे ऊर्जस्वित हो सकें।

वह स्वयं हमारी आवश्यकताओंको भली प्रकार समझता है। वह हमसे अधिक बुद्धिमान् है। वह भली प्रकार समझता है कि हमको इस जीवनके नाटकमें किस प्रकारके भोजन-वस्त्र एवं आवास आदिकी आवश्यकता है। ईश्वरसे स्वयं कुछ माँगना उसकी अलौकिक बुद्धि-शक्तिको नकारना है और यह एक बड़ी भारी मूर्खता है। स्वामी रामतीर्थजीने कहा था—'भगवान्‌के पास भिखारी बनकर मत जाओ, ऐसा करनेपर तुम्हारी ओर ध्यान नहीं दिया जायगा। उसके पास याचक नहीं दानी बनकर जाओ। आत्मसमर्पणभावसे, प्रसन्न-मुद्रामें, पूर्ण संतुष्ट, मुसकराते हुए सुन्दर दानी बनकर जाओ। तुम उसकी संतान हो। वह अपना कार्य कुशलतासे करे, इसलिये अपना सब कुछ—यहाँ तक कि शरीर भी समर्पित करके जाओ। तब वहाँ तुम्हारा हार्दिक स्वागत होगा। वह तुम्हें अपनी प्यारी गोदमें बैठायेगा। अपनेमें विलीन कर लेगा, जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त कर देगा, फिर तुम्हें किसी प्रकारकी याचना-प्रार्थना और समर्पणकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अस्तु।

सूर्यसे ऊर्जा, उष्णता और प्रकाश माँगनेकी आवश्यकता नहीं है। सूर्य तो यह सब कुछ भरपूर मात्रामें दे रहा है। आवश्यकता है केवल सूर्यके सामने बैठकर अनुभव करनेकी कि सूर्य यह सब कुछ दे रहा है। अब तो तुम अधिकारी ही न रहे, बल्कि अधिकारप्रदायक हो गये।

श्राद्धकी अनिवार्य आवश्यकता

मृतात्माके लिये तर्पण, श्राद्ध आदि अवश्य करना चाहिये। प्रतिदिन ही तर्पण तथा बलिवैश्वदेवके अङ्ग-स्वरूप श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। वैसे आश्विन कृष्ण-पक्षमें मृतककी निधन-तिथिको तथा जिस मासमें जिस तिथिको मृत्यु हुई थी, उसी मासकी उस तिथिके दिन प्रतिवर्ष अपनी शक्तिके अनुसार श्रद्धापूर्वक श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। यदि मृतात्मा यमलोकके प्रेतविभाग या पितृविभागमें है, तब तो उसकी भयानक भूखमें इससे बड़ी तृप्ति मिलेगी। देवलोकमें चला गया है या किसी स्थूलशरीरको प्राप्त हो गया है तो वहाँ भी उस देहके अनुरूप तृप्तिकारक वस्तुके रूपमें परिणत होकर वह उसे मिल जायगा। जीव जहाँ भी होता है, वहीं उसको उसके अनुरूप होकर वह वस्तु मिल जाती है, वैसे ही जैसे सुदूर देशमें भारतसे प्रेषित रुपये, प्रेषण-विभाग-द्वारा वहाँ भेज दिये जाते हैं और वहाँके प्रचलित सिक्केके रूपमें (जैसे भारतका रुपया अमेरिकामें डालरके रूपमें मिल जाता है, वैसे ही) जिसके नाम भेजे गये हैं, उसको मिल जाते हैं।

श्राद्धके अतिरिक्त समय-समयपर मृतकके लिये अन्नदान, जलदान और वस्त्रदान तो यथाशक्ति करते ही रहना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि गया-श्राद्ध करनेपर या अमुक तीर्थमें पिण्ड देनेपर उसके लिये श्राद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वह प्राणी मुक्त हो जाता है। यह सत्य भी हो सकता है। परंतु यदि कदाचित् किसी कारणवश वह मुक्त न हुआ तो श्राद्ध न करनेसे वह आत्मा अतृप्त, दुखी रह जाता है तथा हम कर्तव्यसे च्युत होते हैं। अतएव गया-श्राद्ध या तीर्थमें विशेष पिण्डदान देनेके बाद भी श्राद्ध तो करते ही रहना चाहिये।

जिसके लिये श्राद्ध किया जाता है, कदाचित् वह मुक्त हो गया तो यहाँ किया हुआ श्राद्धकर्मरूपी पुण्य, वैसे ही कर्ताके पास लौट आता है, जैसे किसीके नाम मनीआर्डर या बीमा भेजे जानेपर उसके मृत हो जाने या न मिलनेपर भेजनेवालेके पास वापस लौट आता है। अतएव हर हालतमें श्राद्ध-कर्म करना ही चाहिये।

मृतकके लिये श्राद्धकी अनिवार्य आवश्यकता है।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

साधक-संजीवनी-परिशिष्ट

[सातवाँ अध्याय]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७०४ से आगे]

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

किंतु—

एभिः=इन	**जगत्**=जगत् (प्राणिमात्र)
त्रिभिः=तीनों	**एभ्यः**=इन गुणोंसे
गुणमयैः=गुणरूप	**परम्**=अतीत
भावैः=भावोंसे	**अव्ययम्**=अविनाशी
मोहितम्=मोहित	**माम्**=मुझे
इदम्=यह	**न**=नहीं
सर्वम्=सम्पूर्ण	**अभिजानाति**=जानता।

विशेष भाव—जो मनुष्य भगवान्‌को न देखकर सात्त्विक, राजस और तामस भावोंको ही देखता है, उनका भोग करता है, उनसे सुख लेता है, वह उन भावोंसे मोहित हो जाता है अर्थात् भगवान्‌की दुरत्यय गुणमयी मायासे बँध जाता है और फलस्वरूप बार-बार जन्मता-मरता है। तात्पर्य है कि सात्त्विक, राजस और तामस भाव (कर्म, पदार्थ, काल, स्वभाव, गुण आदि) अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं। जो अनित्यका भोग करते हैं, वे बँध जाते हैं; परंतु जो अनित्यका त्याग करके नित्य-स्वरूप भगवान्‌का आश्रय लेते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं (गीता ७। १४)।

इस श्लोकमें जीवात्माके लिये '**जगत्**' शब्द आया है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी सत्ता विद्यमान है ही नहीं, उसको सत्ता और महत्ता देकर उससे सम्बन्ध जोड़नेसे जीव भी जगत् हो जाता है! चेतन भी (चेतनताका दुरुपयोग करके) जड़ हो जाता है! उत्कृष्ट परा प्रकृति भी निकृष्ट अपरा प्रकृति बन जाती है! जीव जगत्‌के उत्पत्ति-विनाशको अपना उत्पत्ति-विनाश, जगत्‌के लाभ-हानिको अपना लाभ-हानि मान लेता है। जैसे मनुष्य कामनाके साथ अभिन्न होकर '**कामात्मानः**' अर्थात् कामना-रूप हो जाता है (गीता २। ४३) और भगवान्‌के साथ अभिन्न होकर '**मन्मयाः**' अर्थात् भगवद्रूप हो जाता है (गीता ४। १०), ऐसे ही जीव जगत्‌के साथ अभिन्न होकर जगत्-रूप हो जाता है। फर्क यही है कि भगवद्रूपसे वह नित्य है, पर कामनारूप या जगत्-रूपसे वह अनित्य है।

जीवने भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ताको माना, सत्ता मानकर उसको महत्त्व दिया, महत्त्व देकर उससे सम्बन्ध जोड़ा और सम्बन्ध जोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव कर लिया, इसलिये वह 'जगत्' बन गया! जो केवल जगत्‌की सत्ताको मानता है, वह अपनी सत्तासे विमुख होकर जगत् हो जाता है, जो अवास्तविक है, और जो केवल भगवान्‌की सत्ताको मानता है, वह अपनी स्वतन्त्र सत्ताकी मान्यताको मिटाकर भगवान् हो जाता है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २), जो वास्तविक है।

जीवको 'जगत्' कहनेका तात्पर्य है कि उसका चेतनताकी तरफ ख्याल ही नहीं रहा, प्रत्युत जड़ शरीरको ही 'मैं' (अपना स्वरूप) और 'मेरा' मानने लग गया। जीव स्वरूपसे निर्गुण तथा अव्यय होनेपर भी 'जगत्' हो जानेके कारण सात्त्विक-राजस-तामस गुणोंसे बँध जाता है—'**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्**' (गीता १४। ५)। वास्तवमें अलौकिक परमात्माका अंश होनेसे जीव भी अलौकिक ही है*, पर लौकिक जगत्‌को पकड़नेसे वह भी लौकिक हो जाता है! अहम्‌से लेकर पृथ्वीतक सब अपरा प्रकृति है (गीता ७। ४)। अतः जैसे पृथ्वी जड़ है, ऐसे ही अहम् भी जड़ है। जब जीव अहम्‌को दृढ़तासे पकड़कर '**अहंकारविमूढात्मा**' हो जाता है अर्थात् अहम्‌को अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसका पतन होते-होते वह भी जड़ जगत् ही बन जाता है

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

अर्थात् उसका चेतनपना लुप्त (विस्मृत) हो जाता है, उसको चेतनपनेका अनुभव नहीं होता।

जो गुणोंमें आसक्त नहीं होते, उनके सामने जड़ता रहती ही नहीं, इसलिये उनको सब जगह भगवान्-ही-भगवान् दीखते हैं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। परंतु जो गुणोंमें आसक्त होते हैं, उनको भगवान् दीखते ही नहीं, प्रत्युत संसार-ही-संसार दीखता है, इसलिये वे भगवान्को भी संसारी ही देखते हैं! वे गुणोंसे अतीत भगवान्को भी गुणोंसे बँधे हुए देखते हैं, अविनाशी भगवान्को भी जन्मने-मरनेवाला देखते हैं (गीता ७। २४)। भक्तकी दृष्टि तो भगवान्को छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती, पर गुणोंमें आसक्त संसारी लोगोंकी दृष्टि संसारको छोड़कर दूसरी तरफ नहीं जाती। इसलिये भक्तको आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है और संसारी मनुष्यको दुःख-ही-दुःख—'**दुःखालयम्**' (गीता ८। १५)।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

हि=क्योंकि	**ये**=जो
मम=मेरी	**माम्**=केवल मेरे
एषा=यह	**एव**=ही
गुणमयी=गुणमयी	**प्रपद्यन्ते**=शरण होते हैं,
दैवी=दैवी	**ते**=वे
माया=माया	**एताम्**=इस
दुरत्यया=दुरत्यय है अर्थात् इसका अतिक्रमण करना बड़ा कठिन है।	**मायाम्**=मायाको
	तरन्ति=तर जाते हैं।

विशेष भाव—जब मनुष्य संसारसे विमुख होकर भगवान्की शरणागति स्वीकार कर लेता है, तब वह माया (अपरा प्रकृतिके कार्य)-को तर जाता है अर्थात् उसके अहम्का सर्वथा नाश हो जाता है। भगवान्की शरणागति स्वीकार करनेका तात्पर्य है—भगवान्की सत्तामें ही अपनी सत्ता मिला दे अर्थात् केवल भगवान्की ही सत्ताको स्वीकार कर ले। न अपनी स्वतन्त्र सत्ता माने, न मायाकी स्वतन्त्र सत्ता माने। न अहम्का आश्रय ले, न माया (गुणों)-का आश्रय ले। इसमें कोई परिश्रम, उद्योग नहीं है।

मायाको सत्ता मनुष्यने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५), '**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। अगर वह मायाको सत्ता न देकर केवल भगवान्की ही शरणमें रहता तो वह मायाको तर जाता अर्थात् उसके लिये मायाकी सत्ता रहती ही नहीं।

जीव जड़ताका आश्रय लेनेसे अर्थात् उसको अपना एवं अपने लिये माननेसे जड़तामें चला जाता है और जगत् बन जाता है (गीता ७। १३)। परंतु भगवान्का आश्रय लेनेसे वह स्वतःसिद्ध चिन्मयतामें चला जाता है और भक्त हो जाता है। भक्त होनेपर जगत् लुप्त हो जाता है अर्थात् जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहता, प्रत्युत भगवत्स्वरूप हो जाता है, जो वास्तवमें है।

'**मामेव**' पदसे भगवान्का तात्पर्य है कि जीव मेरा ही (**मम एव**) अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७); अतः मेरे ही (**माम् एव**) शरण होनेसे वह मायाको तर जाता है। इसलिये मेरी शरण लेनेवाले भक्तोंका मेरे सिवाय अन्य किसीसे सम्बन्ध होता ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मेरे (भगवान्के) सिवाय अन्य कोई होता ही नहीं। न तो उनकी दृष्टि दूसरेमें जाती है और न दूसरा उनकी दृष्टिमें आता है। उनकी अपरा प्रकृतिमें न तो सत्यत्वबुद्धि रहती है, न महत्त्वबुद्धि रहती है और न अपनापन ही रहता है। उनकी केवल भगवद्बुद्धि हो जाती है, जो वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही है।

जिनमें विवेककी प्रधानता है, ऐसे भक्त अहम्का आश्रय छोड़कर अर्थात् संसारका त्याग करके भगवान्के आश्रित होते हैं। परंतु जिनमें विवेककी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भगवान्में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, ऐसे सीधे-सरल भक्त अहम्के साथ (जैसे हैं, वैसे ही) भगवान्के आश्रित हो जाते हैं। ऐसे भक्तोंके अहम्का नाश भगवान् स्वयं करते हैं*। [क्रमशः]

* तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता १०। ११)

साधनोपयोगी पत्र

(१)

भोग प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। यह सत्य है कि मानवको आर्थिक लाभ-हानि या मान-सम्मानकी प्राप्ति-अप्राप्ति—यथार्थमें सब फलरूप भोग प्रारब्धसे ही मिलते हैं। प्रारब्ध उन कर्मोंका नाम है, जिनका फल मिलना प्रारम्भ हो गया और इस जन्मके लिये पहलेसे निश्चित कर दिये गये। अतएव यह मानना कि हम प्रयत्न करके किसीका अनिष्ट कर देंगे, सर्वथा भ्रम है। अनिष्ट करनेकी इच्छा और चेष्टा करनेपर भविष्यमें अपना अनिष्ट अवश्य होगा; पर उसका अनिष्ट तो तभी होगा, जब उसके प्रारब्धके अनुसार होना होगा। इसी प्रकार हम किसी अवैध कर्मका—झूठ, छल, चोरी, धोखा आदिका आश्रय लेकर अधिक धन कमा लेंगे और अधिक सम्पन्न बन जायँगे—यह सोचना भी भ्रम ही है। अन्तमें तलपटमें उतना ही घाटा-नफा रहेगा, जितना रहना है। बुरे कर्म यदि किये जायँगे तो अपने पल्ले अवश्य बँधेंगे और उनका फल भविष्यमें अवश्य ही भोगना होगा। इसलिये न तो किसीका कभी बुरा करनेकी बात सोचनी चाहिये और न स्वयं ही किसी बुरे कर्मका आश्रय लेना चाहिये।

एक बात और। दूसरोंके द्वारा अपना कहीं बुरा होता दिखायी पड़े या अपना अनिष्ट दूसरोंके हाथ दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि यह वास्तवमें हमारे ही पूर्वके किये हुए बुरे कर्मका फल है। वे तो इसमें निमित्त बने हैं, जिससे उनको बुरा फल भोगना पड़ेगा; अतएव उनके लिये भगवान्से क्षमाकी कामना करनी चाहिये, न कि उनपर क्रोध करना या उनसे बदला लेनेकी भावना रखनी चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(२)

संन्यासी त्यागमूर्ति होता है

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—भगवान् श्रीरामके दर्शन रामकी कृपासे ही हो सकते हैं और उसके लिये अनन्य तथा तीव्र आकांक्षा होनी चाहिये। भगवान्को प्राप्त करनेकी अनन्य लालसा उत्पन्न होनेपर राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

आप रामायण और सत्यनारायणकी कथा कहते हैं, यह अच्छी बात है। दूसरी आजीविका न हो तो कथापर चढ़े हुए पैसे और वस्त्र आदि लेनेमें आपत्ति नहीं। मन्दिरमें भगवान्के श्रीविग्रहपर चढ़ा हुआ पैसा या वस्त्र-फल आदि यदि आप मन्दिरके पुजारी हैं और आपको उसे लेनेका अधिकार है तो आप ले सकते हैं।

दृढ़ वैराग्य होनेपर संन्यास ग्रहण करनेमें आपत्ति नहीं, पर केवल वेष बदलनेके लिये ही दण्ड धारण करना अनुचित है। माताजी जीवित हों तो उनकी सेवाके लिये संन्यास न धारण करके घरमें रहना लाभदायक है। संन्यासीके लिये स्त्री, धन, मान और संग्रह सर्वथा वर्जित हैं। जो करते हैं, वे संन्यास-धर्मका छेदन करते हैं। संन्यासी सर्वथा त्यागमूर्ति होता है।

ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्यके यहाँ तो कच्चा भोजन कर सकता है बशर्ते कि वह क्षत्रिय अथवा वैश्य उपनीत हो तथा भोजन शुद्धतासे बनाया गया हो। शेष भगवत्कृपा।

(३)

गर्भपातको वैध बनाना भयानक पाप है

सम्मान्य! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जब बुद्धि तमसाच्छन्न हो जाती है, तब बुद्धिके सभी निश्चय विपरीत होते हैं। इस समय हमारा यही हाल हो रहा है। हम चाहते हैं विकास, प्रकाश, उन्नति, शान्ति और सुख, पर बुद्धिकी तामसिकताके कारण करते हैं उन कार्योंको जिनका अवश्यम्भावी परिणाम है—विनाश, अन्धकार, अधोगति, अशान्ति और दुःख ही। नीयत बुरी नहीं भी है, पर बुद्धि विकृत है। इसी कारण हमारी आज ऐसी-ऐसी योजनाएँ बनती हैं, जिनसे हमारा पतन—विनाश सहज ही हो सकता है।

इन्हीं योजनाओंमें 'परिवार-नियोजन' एक है—जिसके परिणामस्वरूप व्यभिचारकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गयी है। अब उससे भी आगे, जनसंख्या न बढ़े, इस उद्देश्यसे गर्भपातको कानूनद्वारा वैध बना दिया गया है, जबकि पहले कानून और समाजमें यह अवैध था। गर्भपात करनेवालेको

कड़ी सजा दी जाती थी। अब भी ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे गर्भपात न हो, किंतु यह न करके गर्भपातको कानूनी तौरपर वैध बना देना तो वैसा ही है, जैसा हत्या (खून)-को वैध बना देना। बड़े मनुष्यकी हत्या भी हत्या है और भ्रूणहत्या भी हत्या ही है। भ्रूणहत्या धार्मिक दृष्टिसे भी बड़ा पाप है। हम अपनेको धर्मनिरपेक्ष कहते हैं, फिर भ्रूणहत्याको कानूनी बनाकर हम धर्मपर प्रत्यक्ष कुठाराघात कर रहे हैं—यह निश्चित है।

इसके अतिरिक्त गर्भपात वैध होनेपर व्यभिचारको प्रोत्साहन मिला है। हमारी देवियोंका गौरवमय सतीत्व और पुरुषोंका संयम—नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। गर्भपातसे स्त्रियोंमें नाना प्रकारके रोग फैलते जा रहे हैं। इस प्रकार गर्भपातको वैध बनाना सदाचार, धर्म, नीति, स्वास्थ्य—सभी दृष्टियोंसे सर्वथा हानिकर है।

अतएव मैं इसका समर्थन तो कर ही नहीं सकता, घोर विरोध करता हूँ। आप भी सिर्फ आवेशमें न पड़कर गम्भीरतासे सोचिये—इसमें बुराई-ही-बुराई है। और इसका पक्ष न लेकर स्वयं विरोध कीजिये तथा जनतासे भी विरोध करवाइये, जिससे ऐसे पापपूर्ण कानूनमें पुन: सुधार हो। शेष भगवत्कृपा।

(४)

वैरभावका सर्वथा त्याग कीजिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। जहाँतक मेरी समझ है, मैंने शास्त्रोंका जो अभिप्राय समझा है, उसके अनुसार मैं यह बलपूर्वक कह सकता हूँ कि किसी भी प्राणीके प्रति मनमें वैरभाव रखना अपने ही विनाश और पतनका एक प्रधान हेतु है। कोई आपसे वैरभाव रखता हो तो आपको चाहिये कि प्रेम, सेवा तथा सद्व्यवहारके द्वारा उसके वैरभावका नाश करके उसे मित्र बना लें। ऐसा होना सम्भव न समझें तो कम-से-कम अपने मनमें वैरभावका लेशतक न रहने दें। सबमें भगवान् हैं, सभी आपके आत्मा हैं—किससे वैर करेंगे—किसका विनाश चाहेंगे ? इस प्रमादका त्याग कीजिये और शीघ्र त्याग कीजिये। मृत्युसे बहुत पहले ही मनसे सारे वैरभावको निकाल दीजिये। मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि जो मनुष्य किसीसे मनमें वैर रखकर मरता है, वह मृत्युके अनन्तर घोर नारकीय पीड़ा भोगनेको बाध्य होता है। उसकी बड़ी दुर्गति होती है। वह जीवनभर यहाँ वैरकी अग्निसे जलता रहता है, मृत्युके अनन्तर नरककी भीषण अग्निमें उसे जलना पड़ता है। अतएव अपने भविष्यका विचार करके ही वैरभावका त्याग कर दीजिये।

आपका न किसीने बुरा किया है न कोई कर सकता है। आपका यदि कहीं बुरा हुआ है या आगे होगा तो वह आपके अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप ही होगा; वह दूसरा तो उसमें निमित्त बना है—और इस प्रकार उसने अपना ही बुरा किया है। वह दयाका पात्र है, वैरका नहीं। आप इस विषयपर गम्भीरतासे विचार कीजिये और इस पापके खेतरूप वैरभावको तुरंत मनसे निकाल फेंकिये। भगवान् आपका कल्याण करेंगे। शेष भगवत्कृपा।

(५)

भगवान्के मङ्गल-विधानमें संतुष्ट रहिये

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपके १४ सालके पुत्रकी मृत्यु हो गयी। इससे आपको अत्यन्त दु:ख तथा मानस-पीड़ा होना तो स्वाभाविक ही है। पर हम लोग देखते हैं, दुनियामें ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। जीव कर्मवश जन्म लेता है और कर्मवश मिली हुई अवधि पूरी करके चला जाता है। वास्तवमें यहाँके सभी सम्बन्ध कल्पित हैं। आप बुद्धिमान् हैं, आपको धैर्य रखना चाहिये। भगवान्की सत्तापर संदेह करना तो सर्वथा गलती है। भगवान्की सत्ता न हो तो कर्मोंका, कर्म-फलका नियन्त्रण कौन करे ? हमारे मनकी हो तब तो भगवान् हैं, न हो तो भगवान् नहीं—ऐसा मानना अज्ञान है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, सर्वलोकमहेश्वर हैं, वे बहुत दूरतक आत्माका यथार्थ कल्याण समझकर विधान करते हैं। हमारी दृष्टि सीमित है—इसलिये हम उतनी दूरकी सोच ही नहीं सकते। छोटे बालकका ऑपरेशन हो, वह दूरदृष्टि न होनेसे अङ्ग कटना समझकर दुखी होता है। दूर-दृष्टिवाले हम लोग ऑपरेशनके कष्टकी परवा न करके आगे होनेवाली नीरोगताको देखते हैं। देह छूटनेसे ही आत्माका अमङ्गल नहीं होता। आत्मा तो देहपातके बाद भी रहता है। यदि इस देहके पातमें उसका मङ्गल है तो भगवान् वही करते हैं। अतएव आपको दुखी नहीं होना चाहिये और भगवान्के मङ्गल-विधानमें विश्वास करके संतुष्ट रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

बाल-कल्याण

(१)

श्रीकृष्णकी बाल-लीला—१

कर ले तनिक कलेऊ लाल। आ जा, ओ प्यारे गोपाल॥
बुला रही हैं दोनों मैया। भगा खेलने कुँवर कन्हैया॥
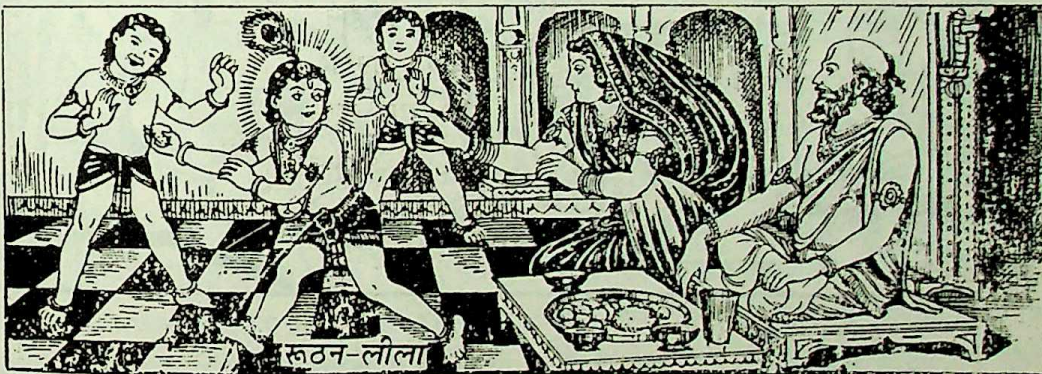
बुला रही है जसुदा मैया। रूठ गया है कुँवर कन्हैया॥
बैठे बाबा लेकर थाल। आ जा, कुछ तो खा ले लाल॥

उछल रहे मेंढकके संग। दिखा रहे बंदरका ढंग॥
चिड़िया-फुदक, मोर-सा नृत्य। कृष्ण कर रहे बालक कृत्य॥

श्रीकृष्णकी बाल-लीला—२

बछड़ा चरायी
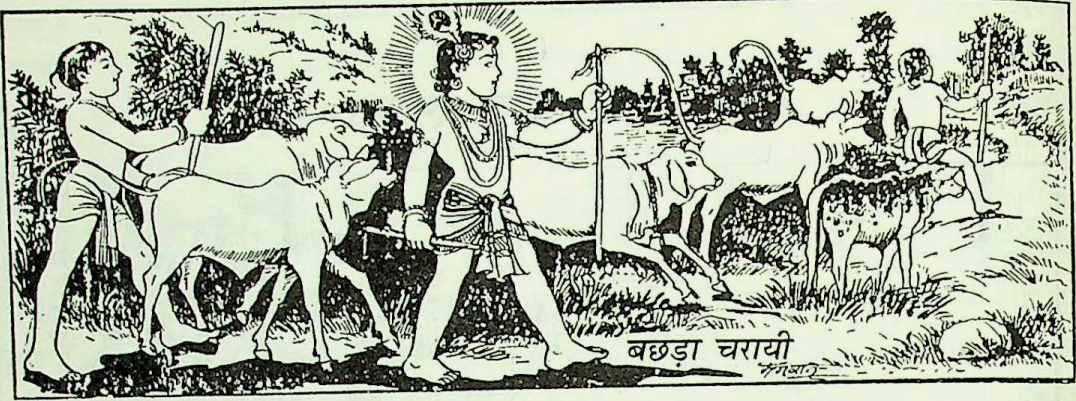
वनमें बछड़े श्याम चराते। ग्वाल सखा सब सँगमें जाते॥
हँसते करते खेल अनेक। सब आनन्दित वनको देख॥

मालादान
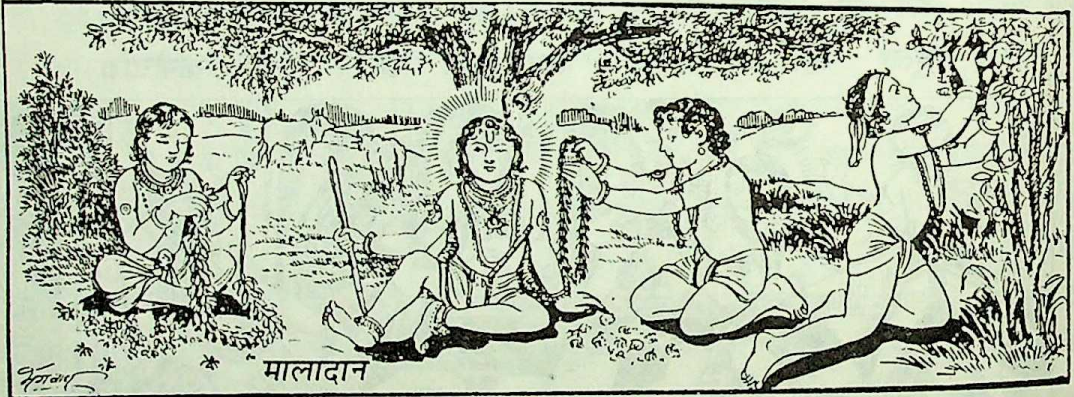
चुन चुन फूल बनाते हार। जिन्हें पहिनता नन्दकुमार॥
कौन कह सके इनका भाग। जिनका हरिमें यह अनुराग॥

वन-भोजन

वनमें भोजन कैसा सुंदर। ग्वाल सखा सँग बैठे नटवर॥
पत्ते फूल बनाये बर्तन। खायँ खिलायें सभी मगन मन॥

(२)

बच्चोंके जीवन-निर्माणमें माता-पिताका दायित्व

(माननीय डॉ० बी० पट्टाभि सीतारामैया, पूर्व राज्यपाल, मध्यप्रदेश)

शैशव यौवनका जनक है। दूसरे शब्दोंमें, जो तुम बचपनमें बोओगे, वही तुम जवानीमें काटोगे। हमारे बच्चोंको जो अवसर आज सुलभ है, वह हमें अपने बचपनमें सपनेमें भी दुर्लभ था, आज चार वर्षका बच्चा मोटर स्टार्ट करना जानता है और बता सकता है। वह कहने लगता है—'बटन दबाओ', 'ब्रेक छोड़ दो', 'मूठ दबाओ', 'गियर लगाओ' और गतिवर्धक दबाते समय इसे छोड़ दो।' यहाँतक कि वह यह सब करके दिखा भी देता है और गाड़ी चल पड़ती है, जिसे देखकर माँ-बाप स्तम्भित हो जाते हैं। मद्रासमें मैरीनापर तीन और चार वर्षके बच्चे तीस मीलकी रफ्तारसे चलनेवाली मोटरगाड़ियोंको दूरसे पहचान लेते हैं और अपने समवयस्कोंमें इस बातके लिये लड़ने लगते हैं कि अमुक गाड़ी पांटियक है या शेवरलेट है, ऑस्टिन है या हिंदुस्तान है, वाग्जाल है या सिट्रोएन है। मेरा तीन वर्षका पौत्र मोटरगाड़ियोंकी दस किस्में तो अच्छी तरह पहचानता है और उनमेंसे एक दूसरेसे भेद भी ठीक तरह जानता है। इसके अलावा कम-से-कम दस और किस्मोंके नाम भी वह जानता है, जब कि मैं स्वयं तो नहीं ही जानता—मैं तो यह भी नहीं जानता कि लोग एक गाड़ीसे दूसरी गाड़ीका भेद कैसे पहचान लेते हैं। इस प्रकार ज्ञानका परिधि-क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। कौन-सा वायुयान सिखानेवाला है और कौन-सा सवारीवाला है—हमारे बच्चे यह ठीक-ठीक बतला सकते हैं। बच्चोंका मस्तिष्क या इसका विकास उसके युगपर आलम्बित है और अपने युगके प्रभावोंके ही अनुसार वे विचार भी ग्रहण करते हैं। हमारे बचपनमें जो हमारे लिये हितकर था, वह शायद आजके बच्चोंके लिये हितकर न हो। उदाहरणार्थ, आज नहीं जँचेगा कि मैं अपनी डॉक्टरी बैलगाड़ीमें बैठकर चलाऊँ और इसलिये अब हमारे बच्चोंको वहाँसे प्रारम्भ करना है, जहाँ हमने समाप्त किया है। मेरे पास मोटरगाड़ी नहीं थी और मैं रख भी नहीं सकता था; पर सम्भवतः हमारे बच्चोंका काम बिना उसके चल नहीं सकता। यहाँ मैंने केवल मोटरगाड़ीवाली मनोवृत्तिका विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया है, पर यह तो दिङ्मात्र हुआ। जीवनके विविध क्षेत्रोंमें इसी प्रकारके दूसरे विकास हुए हैं।

बच्चेकी रुचि उसके परिसर, परिवार और परम्पराके अनुसार बनती है। शाकाहारी बच्चा मछली-मांस खानेकी निन्दनीयता कैसे समझेगा; पर यदि उसके माँ-बाप नहीं खाते तो बच्चा भी इन चीजोंसे हिकारत दिखलायेगा।

बच्चेको कभी भी न तंग करना चाहिये, न खिझाना चाहिये और न धोखा देना चाहिये। बच्चे, पागल और स्त्रियाँ एक ऐसी श्रेणीमें बाँधी गयी हैं, जिसे कभी गुमराह नहीं करना चाहिये। अगर कोई दवा कड़वी है तो उसे कभी मीठा न बतलाया जाय; नहीं तो वे बादमें मीठी दवा लेनेसे भी इनकार कर देंगे। अगर किसी पागलको पागलखानेमें आप ले जा रहे हैं तो उससे कभी मत कहिये कि तुम्हें रिश्तेदारके घर ले जा रहे हैं। गन्तव्य स्थानका सीधा उल्लेख करनेसे वह अपने भाग्यसे समझौता कर लेता है और उसे ऐसी परिस्थितियोंमें समायोजन करनेमें आसानी होती है। बादके जीवनकी रुचियोंकी सृष्टि शैशवमें ही होती है। अगर माँ-बाप हमेशा चिढ़ते रहते हैं तो बच्चे भी चिड़चिड़े हो जाते हैं। बच्चोंको कभी भी भयसे अभिभूत न होने देना चाहिये। उनके मनमें पूर्ण विश्वास जगाना चाहिये, जिससे वे अपने माँ-बापके सामने आत्मविश्वासके साथ आयें। मेरी पौत्री चौथे वर्षमें गयी, तभीसे पाठशाला जानेके लिये विकल करती रही है। एक वर्ष तो किसी तरह टालनेमें गया, पर बादमें वह नियमित-रूपसे पाठशाला जाने लगी। एक दिन उसने जानेसे एकदम इनकार कर दिया; क्योंकि उसके शिक्षकने उससे ऐसा प्रश्न पूछा, जिसका उत्तर उसे सिखाया नहीं गया था। पूरी कक्षासे वही प्रश्न पूछा गया और सभी बच्चोंने लाचारी दिखलायी और पाँच मिनटतक सभीको खड़ा किया गया। मेरी बच्ची मेरे पास आयी और उसने मुझसे पूछा कि जो चीज मुझे सिखायी ही नहीं गयी, उसका जवाब पानेकी मुझसे आशा क्यों की जाय। अब इसके बाद उसके मनमें पाठशालाके प्रति फिरसे विश्वास जगानेके लिये मुझे काफी प्रयत्न करना पड़ा, तब वह फिर पाठशाला गयी। इसलिये शिक्षकोंको चाहिये कि वे भयके स्थानपर प्रेमसे और शासनके स्थानपर अनुरोध और युक्तिसे काम लें तो बच्चेका विकास अधिक अच्छी तरह हो सकता है।

केवल शिक्षकोंको ही बच्चोंकी शिक्षाके लिये दोषका भागी बनाना उचित नहीं है। घरमें माताएँ अपनी घरेलू झंझटोंमें, जब कि एक ओर पति जल्दी भोजन माँग रहा हो और दूसरी ओर बच्चा स्तनपानके लिये मचल रहा हो, कभी-कभी सम्भवतः पाठशाला जानेवाले बच्चोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति तुरंत नहीं कर पातीं; और पेंसिल, कागज, रबर या कापी देनेकी बजाय माँ जब बच्चेके ऊपर बिगड़ खड़ी होती है, तब वह एकदम हतप्रभ हो जाता है और उसमें चिड़चिड़ापन आने लगता है, जिससे बढ़कर किसी दुर्गुणकी जीवनमें कल्पना नहीं की जा सकती। तब माँ बच्चेको पीटना शुरू करती है। मजा तब आता है, जब बाप माँको डाँटता है, माँ बच्चेको डाँटती है और बच्चा रो-रोकर बापको खिझाता है और इस प्रकार एक विचित्र बुराइयोंका चक्र बन जाता है। माताओंके लिये शिशुपालनकी शिक्षाका पाठ्यक्रम होना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि पितालोग उनसे कुछ अच्छे हैं, वे भी उतने ही खराब हैं; लेकिन माताको तो पति और संतान—दोनों चक्कियोंके बीच पिसना है, इसलिये उसका दायित्व अधिक है। बच्चेके अविश्वासका कारण जाँचते समय हर एक स्थितिकी देखभाल अधिकतम सावधानीसे करनी चाहिये। कभी-कभी बच्चे इसलिये पीटे जाते हैं कि वे चिल्लाना बंद करें, पर पीटनेसे चिल्लाना अनिवार्यतः और दूने वेगसे बढ़ता है और जितना ही बाप चिल्लाता है 'मत रोओ' उतना ही बच्चा और गला फाड़कर उत्क्रोश करने लगता है। इससे माँ-बाप और खीझ उठते हैं, उसे बाँह पकड़कर झकझोरते हैं, दीवालपर उसका सिर दे मारते हैं, माँके पाससे खींचकर उसे जोरसे दबाते हैं। कभी-कभी बच्चा मर भी जाता है और तब करुणार्त कहानी पूर्ण हो जाती है और सारा रोना-धोना विफल हो जाता है। इसलिये संलक्षित होते ही अपने आवेगके ऊपर नियन्त्रण लगा देना चाहिये। अपना क्रोध अपनेको ही खाता है। यदि माँ-बाप और शिक्षक इन प्रारम्भिक तथ्योंको भलीभाँति जान लें तो हमारे बच्चोंका पालन और अच्छी तरह होने लगे।

(३)

अपना वचन पालन करके दूसरोंका सुधार करनेवाला बालक

एक खलासीका लड़का एक जहाजपर नौकरी करता था। उस जहाजके सभी खलासी शराब पीते थे, पर वह लड़का शराब नहीं पीता था। एक दिन जहाजका कप्तान उसके ऊपर बहुत खुश हुआ और उसको एक अच्छी जातिका शराब पीनेके लिये दिया, पर लड़केने बिलकुल इनकार कर दिया। कप्तानने कहा—'तू क्या मेरा हुक्म नहीं मानेगा? न मानेगा तो कैदखानेमें डाल दूँगा।' लड़केने कहा—'मैं आपका हुक्म तोड़ना नहीं चाहता, परंतु शराबके लिये मुझे ऐसा करना पड़ता है।' इसके बाद कप्तानने आँखें दिखाकर कहा—'यदि तू यह शराबका प्याला नहीं पीयेगा तो अभी तुरंत ही तुझे बेड़ी डाल दी जायगी और किनारे चलकर हुक्म-अदूलीका फैसला किया जायगा।' कप्तानके ये शब्द सुनकर वह लड़का रोता हुआ कहने लगा—'मैं आपका हुक्म तोड़ता हूँ, इसका कारण यह है कि मैंने अपनी माँको शराब न पीनेका वचन दिया है। मेरे बाप शराब पीनेकी आदतसे मर गये, इसलिये मेरी माँने मुझसे शराब न पीनेका प्रण कराया है।'

उस लड़केका यह उत्तर सुनकर कप्तानको आश्चर्य हुआ और वह बोला—'लड़के! तुम ठीक हो। मैं तुम्हारी टेक देखकर बहुत ही खुश हूँ। सब लोग तुम्हारे-जैसे हों, यह मैं चाहता हूँ। शराब जहर है, यह सब जानते हैं, पर आदत नहीं छोड़ते। इसलिये अब मैं भी आजसे शराब पीना छोड़ता हूँ।' इतना कहकर उसके पास जितनी शराबकी बोतलें थीं, सब वहींसे उसने समुद्रमें फेंक दीं।

(४)

बुराई करनेवालेकी भलाई करनेवाला बालक

एक शहरके स्कूलमें ऐसा नियम था कि कोई बालक कुछ अपराध करता था तो गुरुजी उसके वर्गके दूसरे बालकोंको पंच बनाकर उनके द्वारा ही फैसला कराते थे और यदि अपराध साबित होता तो उसे केवल रोटी-पानी देकर एक अँधेरी कोठरीमें डाल देते थे। साथ ही यह भी नियम था कि यदि कोई लड़का उस अपराधीके बदले कैदखानेमें रहना

चाहे तो उस अपराधी लड़केको छोड़ दिया जाता था।

उस स्कूलमें एक शरारती लड़का सदा ही ऊधम मचाता और कैद भोगता था। गुरुजी भी उससे तंग आ गये थे। गुरुजीने तो अब यहाँ तक कह दिया था कि 'यदि तुम ऊधम मचाओगे तो तुमको हमेशाके लिये स्कूलसे निकाल दिया जायगा।'

इतना होनेपर भी एक दिन उस ऊधमी लड़केने एक दूसरे लड़केको मारा। पंचोंने फैसला देते हुए उसे अपराधी ठहराया। फिर कक्षामें पूछा गया कि 'उसके बदलेमें कोई कैदमें जानेके लिये तैयार है?' सब छात्रोंने कहा—'वह बहुत ही खराब बालक है। उसके ऊपर हम दया नहीं करेंगे।' उस समय वह लड़का, जिसको ऊधमी लड़केने मारा था, सामने आया। उसके मनमें दया आ गयी और वह बोला—'गुरुजी! मैं उसके बदले कैदखाने जानेके लिये तैयार हूँ।'

यह सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद उसे कैदखानेमें डाल दिया गया और वह ऊधमी लड़का छोड़ दिया गया। इससे वह विचार करने लगा कि 'मैंने जिसे मारा था, उसीने मुझे छुड़ाया। अहा! वह कैसा अच्छा बालक है।' उसके मनमें इस विषयमें तरह-तरहके विचार उठे और वह अफसोस करने लगा। बादमें उसने गुरुजीसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी और उस लड़केको छोड़नेके लिये प्रार्थना की तथा वचन दिया कि वह फिर कभी कोई बुरा काम नहीं करेगा। उसके बाद उसने फिर कभी कोई गलती नहीं की।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि बुरा करनेवालेका हित करके उसे लज्जित करना चाहिये, न कि बुरी बात कहकर या मारकर। सच्ची क्षमा वही है, जिससे दुश्मनका भी हित हो। उपर्युक्त लड़का ऐसा ही सच्चा क्षमाशील था।

(५)

वरदान

क्षुद्र स्वार्थका नाश करो प्रभु! कर दो मनको अभी महान।
'प्राणिमात्रका स्वार्थ, स्वार्थ है मेरा' इसको ले मन मान॥
'स्व'की सीमा अखिल विश्वके 'स्व'में जाकर मिल जाये।
'सबके हितमें ही अपना हित' यह निश्चय नहिं हिल पाये॥
सब भूतोंमें तुम्हीं भरे हो, सभी तुम्हारे ही हैं देह।
सबकी पूजामें तव पूजा, सबका नेह तुम्हारा नेह॥
छोटे-बड़े, देव-दानव-मानव, पशु-पक्षी हैं तव रूप।
वृक्ष-पहाड़, नदी-नद-सागर, व्योम-वायुमें वही स्वरूप॥
वही पूर्ण हो तुम पृथ्वीमें, तुम्हीं अग्रिमें छाये हो।
सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र ज्योतिमें, सबमें सदा समाये हो॥
तुम्हीं चराचर सकल विश्वमें, सदा तुम्हारा यह परिचय।
सभी दिशाओं, सभी दशाओं, सब देशोंमें तुम निश्चय॥
सभी रसोंमें, रूप सभीमें, सभी दृश्य दर्शनमें तुम।
तुम ही द्रष्टा बने सदा ही तुम्हीं देखते तुममें तुम॥
तुम्हीं स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्तिमें, तुम्हीं तुरीय रूप प्यारे!
भूत-भविष्यत्-वर्तमानका तुम्हीं विचित्र रूप धारे॥
जीवन-मृत्यु, मिलन-बिछुड़न बन तुमही सबमें आते हो।
लाभ-हानि-मानापमानमें अपना रूप छिपाते हो॥
सदा सभीमें तुम्हें देखकर सबका सदा करूँ सम्मान।
नाथ! कृपाकर मुझे आज ही दे दो यह सुन्दर वरदान॥

श्यामका स्वभाव

आपका कुछ परिचय है मैया यशोदाके लाड़लेसे?

श्रीव्रजराजकुमारसे परिचय करनेकी इच्छा है आपकी?

देखिये, यह नन्दबाबाका लड़का अभी बहुत नन्हा है। बहुत सुन्दर, बहुत सुकुमार है तो क्या हुआ—बहुत भोला है। ठीक-ठीक कछनी तो इसे अपनी कटिमें लपेटने आती नहीं। मैया पहना दे तो ठीक, वह पास न हो; क्योंकि अनेक बार यह खेलमें उसे खोल फेंकता है और तब फिर दाऊ भैयाके सामने जा खड़ा होता है—'दादा! तू पहना दे।'

लेकिन इतने भोले इस कन्हाईको पता नहीं, क्या-क्या आता है। पता नहीं, कहाँ-कहाँकी बातें, मौज आती है तो करने लगता है। जो मनमें आता है, बोलता है और जो मनमें आता है, कर लेता है। कोई नहीं कह सकता कि धुन चढ़ जाय तो कन्हाई अमुक काम नहीं कर सकता।

बहुत भोला, बहुत नन्हा है श्यामसुन्दर। इसलिये सबसे अच्छा लगता है इसे अनुकरण करना और यह अनुकरण इतना अच्छा, इतना सच्चा कर लेता है कि पूछिये मत। हम-आप तो क्या, सृष्टिकर्ता तक सिर पकड़के बैठ जायँ इसका अनुकरण देखकर।

आप इस गोपालसे परिचय करना चाहते हैं?

मत पूछिये कि 'यह कहाँ मिलेगा?'

'बिना मिले परिचय?'

'जी—कहा नहीं कि इसका भोलापन असीम है। आप एक चित्र, एक लकड़ी-पत्थरकी मूर्ति ले लीजिये। सुन्दर, असुन्दर—ऊट-पटाँग कैसी भी और कहिये'—'कृष्ण! यह तू है।'

कन्हाई निश्चय कहेगा—'हाँ, यह मैं हूँ।'

अब किसके मुखमें हाथ भरकी जीभ है कि वह कहेगा कि 'यह मूर्ति या चित्र श्रीकृष्ण नहीं है।'

'यह मैं तेरी पूजा कर रहा हूँ।' आप दूब, तुलसी, जल, फूल—क्या चढ़ा रहे हैं, इसे कौन देखता है। गोपका नन्हा बालक कहाँ समझता है कि पूजा क्या होती है और कैसे होती है। पूजाके मन्त्र, पूजाके पदार्थ—यह सब विद्वानोंके लिये रहने दीजिये। आप कर लीजिये पूजा। जैसी आपको आती है—जो कुछ आपके पास है उससे।

'अच्छा, तुम मेरी पूजा करते हो? बहुत अच्छे हो तुम।' श्यामको पूजा स्वीकार है तो 'पूजा सम्यक् परिपूर्ण नहीं है'—यह कहनेका कोई साहस करेगा?

'यह देवता नहीं है—पत्थर है।' लोगोंने कहा।

'हाँ पत्थर है।' गोपालको तो अनुकरण ही आता है।

'हमारा धर्म है मूर्तिको तोड़ना। हम इसे तोड़ेंगे।' लोगोंने यह भी कहा।

'तोड़ दो! तुम्हारा धर्म है तोड़ना—तोड़ो!' कृष्णचन्द्रको तो मूर्ति-भंजनमें भी पूजन-जैसा ही आनन्द आया। उसे खिलौनोंसे खेलनेमें आनन्द आता है तो सखा जब कोई खिलौना धड़ामसे पटककर फोड़ देते हैं तो उसमें भी आनन्द आता है। वह तो उछल-कूदकर तब ताली बजाता है।

'ईश्वर नहीं है।' आपने कहा।

'हाँ—नहीं है ईश्वर। क्या आवश्यकता है ईश्वरकी।' लीजिये, इस नटखटने छुट्टी कर दी। अब आप जानो और आपका काम जाने। आपके लिये ईश्वर नहीं है। आपको अब ईश्वरसे कोई सहायता, स्नेह, सुविधा पानेकी आशा नहीं करनी चाहिये। ईश्वर आपके निर्माण—पतनोत्थानमें टाँग अड़ाने अब नहीं आयेगा।

आप उसके विधानमें टाँग अड़ायेंगे?

इस धोखेमें मत रहिये। उसका विधान छुईमुई नहीं है। जबतक उसके विधानकी सीमामें आप उछल-कूद करते हैं, ठीक है; किंतु आपने उस सीमाके अतिक्रमणकी चेष्टा भी की तो……भाई मेरे! चींटी समुद्र तैरने जायगी तो क्या होगा?

आप हिमालयपर सिर पटकेंगे तो हिमालय टूटेगा या आपका सिर?

अतः ईश्वरके विधानकी चिन्ता मत कीजिये।

अपनी चिन्ता कीजिये। अपनी चिन्ता करनेवालोंमें ही हैं जो कहते हैं—'ईश्वर है, किंतु निराकार है।'

श्रीकृष्णचन्द्रको तो जैसे प्रतिध्वनि करनी आती है—'हाँ, ईश्वर निराकार है।'

'ईश्वर निराकार तो है, किंतु सगुण है। अनन्त दयालु, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ है।'

'हाँ—अनन्त दयालु, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ है।'

अब लीजिये—ईश्वर आपसे तटस्थ नहीं रह गया। वह अनन्त दयालु, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ होकर आपसे तटस्थ कैसे रह सकता है? अब आप उसकी दयापर, उसकी सामर्थ्यपूर्ण सहायतापर निर्भर रह सकते हैं। आप पुकारिये। आप प्रार्थना कीजिये—वह सुनेगा।

'नहीं सुनता।'

यह आपने क्या कहा? ऐसा कैसे हो सकता है कि आप पुकारें और आपका सर्वज्ञ, अनन्त दयालु, सर्वसमर्थ ईश्वर न सुने।

रुकिये! आपने ठीक पुकारा?

'ठीक पुकारना क्या?'

अरे भाई! आप इसे ईश्वर-परमेश्वर कुछ भी कह लो, है तो यह नन्द बाबाका लाला ही। बाबाने इसे कुछ पढ़ाया-लिखाया नहीं। गोप-बालक वैसे भी गुरु-गृह नहीं जाते और श्याम तो अभी नन्हा है। इसे कहाँ संस्कृत या पद-भजन समझमें आते हैं। लच्छेदार भाषा यह समझता कहाँ है। यह समझे, ऐसी भाषामें आपने इसे पुकारा?

'कौन-सी भाषा यह समझता है?'

केवल हृदयकी भाषा! हृदयकी भाषा तो यह गायों तककी समझ लेता है, आप तो मनुष्य हैं। इसकी भाषामें इसे पुकारिये, सुनेगा कैसे नहीं।

'ईश्वर—ब्रह्मतत्त्व निर्गुण, निराकार, निर्विशेष है। अपनेसे अभिन्न-रूपमें उसकी अनुभूति होती है।' ऐसे प्रकाण्ड दार्शनिकोंका भला श्रीकृष्णसे क्या प्रयोजन? निर्विशेषको तो हाँ-ना कुछ करना नहीं। प्रयोज्य-प्रयोजक-प्रयोजन, हम-तुम-वहका भेद ही वहाँ नहीं है।

ब्रह्मरूप ऐसे महापुरुषोंकी चर्चा मैं नहीं करता। कन्हाई भी उन्हें बाबा या मैयाके सिखलानेपर दोनों नन्हे हाथ जोड़कर प्रणाम ही करता है।

चर्चा आपकी—आप व्रजराजकुमारसे परिचय करना चाहते हैं न?

अच्छा, एक महत्त्वपूर्ण बात—'ईश्वर निष्ठुर है, क्रूर है, पक्षपाती है।' ऐसी बात भूलकर भी मत सोचिये।

'क्यों?'

इसलिये कि इस नटखटको अनुकरण ही तो करना आता है। कहीं इसने भी कह दिया—'हाँ, ईश्वर निष्ठुर है, क्रूर है, पक्षपाती है।'

क्या बिगाड़ लेंगे आप इसका?

आपका तो सब बिगड़ा ही धरा है ऐसी दशामें।

'तब?'

इस क्रमसे चलिये—

'कनूँ! (कान्हा) तू ईश्वर है?'

'हाँ, मैं ईश्वर हूँ।' कृष्ण दूसरा कुछ कह नहीं सकता।

'तू कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका परमेश्वर, सबकी सृष्टि-उत्पत्तिका परम नियन्ता है।'

'हाँ—हूँ।'

'तू सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, अनन्त करुणार्णव, सर्वेश्वरेश्वर है।'

'सो तो हूँ ही।'

'और मैं तेरा हूँ।' दृढ़तासे—पूर्णतासे कहिये।

'हाँ—तू मेरा है।' उतनी दृढ़तासे, उतने झटकेसे स्वीकृतिमें सिर हिलाकर श्याम कहेगा—कहेगा ही। बस, और क्या चाहिये आपको।

लोगोंने कहा—'तुम मेरे स्वामी हो।'

'हाँ—मैं तुम्हारा स्वामी हूँ।'

'तुम मेरे सेवक हो!'

'हाँ—मैं तुम्हारा सेवक हूँ।'

'तुम मेरे पिता!'

'हाँ—मैं तुम्हारा पिता।'

'तुम मेरे पुत्र!'

'अच्छा, आप मेरे बाप।'

'तुम मेरे भाई!'

'हाँ दादा! मैं तुम्हारा भाई।'

नन्दलालको कहीं अस्वीकार करना आता है? आपका सिर स्वीकृतिमें झुकता है तो उसका दुगुना झुकता है। स्मरण रखिये कि आप ही उसे अस्वीकार करना सिखला सकते हैं। कहीं आपका हृदय कहने लगा—'श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं!'

निश्चय वह अपना सिर हिला देगा—'मैं ईश्वर नहीं।'

'कोई ईश्वर नहीं?'

'हाँ, कोई ईश्वर नहीं।'

'ईश्वर है—पर मुझसे रुष्ट है।'

'तुमसे रुष्ट है।'

'मुझपर कृपा नहीं करता।'

'हाँ, नहीं करता।'

इसलिये इस भोले बच्चेको अस्वीकृति मत सिखलाइये। महाराज दशरथ, माता कौसल्याने इसे पुत्र बनाया। पुत्र तो बनाया व्रजके गोप-गोपियोंने। पता नहीं, कितनोंने इसे स्वामी बनाया और कितनोंने सेवक। कितनोंने सखा बनाया और इस सुकुमारकी पीठपर चड्डी कसी। इसको स्वयं अस्वीकार करना नहीं आता। आप अस्वीकृतिमें सिर हिलाओगे तो इसका सिर अस्वीकृतिमें हिलेगा।

प्रह्लादने कहा—'पत्थरके खम्भेमें भगवान् हैं।' पत्थरके खम्भेसे यह नृसिंह बनकर निकल पड़ा।

हिरण्यकशिपुने कहा—'यह मायावी हरि मुझे मारनेको प्रकट हुआ।'

नृसिंहने उसका पेट फाड़ दिया। वे त्रिलोक-भयंकर भगवान् नृसिंह, जिनके समीप जानेका साहस ब्रह्माजीमें तो क्या होता, लक्ष्मीको भी नहीं हुआ। प्रह्लाद निर्भय चले गये और बोले—'मेरे स्वामी!'

नृसिंहने उठाकर गोदमें बैठा लिया और जीभसे चाटने लगे—'मेरे बच्चे।'

यह मैया यशोदाका नटखट रूप बदलना बहुत जानता है; किंतु स्वभावका क्या करे। कोई अपना स्वभाव बदल पाया है या यही बदल लेगा? यह सिंह बने या सूअर, मछली बने या कछुआ, वामन बने या विराट्, ब्राह्मण बने या क्षत्रिय—स्वभाव इसका यही कि आप इसे जो कहो, आपके लिये वह वही है। आपमें दमखम है तो आप कह सकते हैं—

'कन्हाई! तू मेरा है।'

'हाँ—मैं तेरा हूँ।' मोहनका वचन पक्का है।

'तुझे मैं जैसा कहूँगा—वैसा तू करेगा।'

'अच्छा, मैं वैसा ही करूँगा।'

'मैं कहूँ बैठ, तो बैठ और कहूँ उठ, तो उठ।'

'जो आज्ञा!' कोई आपत्ति नहीं, कोई अप्रसन्नता नहीं, कोई खेद नहीं। श्यामसुन्दर तो सदा प्रस्तुत है।

आप कहते हैं—'भगवद्दर्शन नहीं होता।'

आपने कभी दृढ़तासे कहा—'श्याम! तू मेरा है। चल सामने आ!'

लेकिन भैया? क्या अच्छा लगेगा इस परम सुन्दर, परम सुकुमार, भोले-नन्हे व्रजेन्द्रनन्दनको इस प्रकार दौड़ाना? इस प्रकार अपनी इच्छाके अनुसार विवश करना? क्या सुख मिलेगा आपको इसे श्रान्त करके—इसे व्यस्त करके?

यह आनन्दकन्द है, जो हँसता-खेलता, कूदता-फुदकता अपनी क्रीडामें लगे रहनेपर ही अच्छा लगता है। इसे देखने, इसे स्मरण करनेमें—इसे अपना बनाकर स्मरण करनेमें, इसको उत्फुल्ल करनेमें जो असीम अचिन्त्य सुख है—किसी इच्छाकी पूर्ति किस तुलनामें है उसके? कहीं अमृत-महासिन्धुकी तुलना सड़े गड्ढेके जलकी बूँदसे की जा सकती है?

इसे अपना बनाना—यह क्या कठिन है। जब गोप, गायें, वनके कोल-किरात इसे अपना बना लेते हैं तो आप क्यों नहीं बना सकते? इसे कहाँ बड़ा पाण्डित्य, भारी तपस्या या योग चाहिये? यह स्वयं कहाँ योगी, तपस्वी या विद्वान् है। नन्हा-सा गोपशिशु और वह भी भोला इतना कि अस्वीकार करना इसे आता नहीं। आप दृढ़तासे कहो तो—

'कनूँ! मैं तेरा और तू आजसे मेरा!'

कन्हाई अस्वीकार कर नहीं सकता और यह बात कोई मैं अपनी ओरसे गढ़कर—बनाकर नहीं कह रहा हूँ। इसके साक्षी तो वेद-पुराण-शास्त्र सब हैं। सब संत-महापुरुष इस बातको जानते-मानते हैं। स्वयं श्यामसुन्दरने कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें अर्जुनके रथपर बैठकर इस अपने स्वभावकी घोषणा की है। आप गीता उठाकर देख लीजिये, इसी नन्दलालने कहा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

पढ़ो, समझो और करो

(१)

गङ्गाजीके अपमानसे गौ-हत्याका पाप

राजस्थानके सवाई माधोपुर जिलेके एक गाँवकी यह सत्य घटना कुछ वर्षों पूर्वकी है। हरिद्वारके एक पंडाजी सवाई माधोपुर जिलेके गाँवोंमें गङ्गाजल लेकर जाते और लोगोंको प्रसादमें थोड़ा-थोड़ा बाँटते तथा लोग उन्हें दक्षिणामें एक-एक, दो-दो रुपये अपनी इच्छानुसार जो भी दे दिया करते थे उसीसे उनकी आजीविका चलती थी। एक बार वे कुछ लोगोंको गङ्गाजल प्रसादमें दे रहे थे, उनमें एक नास्तिक-प्रकृतिका व्यक्ति भी था। पंडाजीने उसे भी गङ्गाजल दिया, उसने सकुचाते हुए गङ्गाजल ले तो लिया, परंतु हाथ मुँहके पास ले जाकर चुपकेसे पीछे पीठकी ओर फेंक दिया। उसके ऐसा करते जब पंडाजीकी दृष्टि पड़ी तब उनकी आँखोंमें आँसू आ गये और वे तुरंत ही हरिद्वार आ गये। इस घटनासे उन्हें इतना दु:ख हुआ कि वे गङ्गा-किनारे बैठकर रोने लगे और कहने लगे—'हे गङ्गा मैया! कलियुगमें व्यक्ति तेरा अपमान करने लगे हैं, यह अपमान मुझसे सहन नहीं होता। अत: अब मैं गङ्गाजलको आजीविकाका साधन नहीं बनाऊँगा, चाहे मुझे भूखा ही क्यों न मरना पड़े। आजीविकाका दूसरा धंधा भी मुझसे होता नहीं। अब क्या करूँ?' इस प्रकार अत्यधिक चिन्तित होकर रोते-रोते रातमें घर आकर सो गये। उसी रात स्वप्नमें उन्होंने देखा कि गङ्गा मैया आयीं और बोलीं—'बेटा, रोते क्यों हो? जिसने मेरा अपमान किया है, वही व्यक्ति तेरे चरणोंमें आकर रोयेगा, दो दिन धैर्य रख।' जब पंडाजीकी निद्रा भंग हुई तो वे प्रसन्न मुद्रामें थे। अब वे बड़ी आतुरतासे अगले दो दिनोंकी प्रतीक्षा करने लगे।

उधर गङ्गाजलका अपमान करनेवाला वह नास्तिक व्यक्ति शौचके लिये गाँवसे बाहर गया। एक गाय अपने स्वभाववश वहाँ पहुँच गयी, उस दुष्टने एक छोटा-सा पत्थर उठाया और गायके सिरमें मार दिया, विधि-वशात् गाय तुरंत मर गयी। उसने इधर-उधर देखा कि यहाँ कोई देख तो नहीं रहा है। वह तुरंत घर आ गया, किसीने उसे यह कुकृत्य करते देखा तो नहीं, पर जब वह अपनी दूकानपर आकर बैठा तब उसके पास दस-पाँच व्यक्ति और बैठे हुए थे, अचानक उसने देखा कि वही गाय उठकर बाजारमें आ गयी है। अपने पड़ोसीकी गाय होनेके कारण वह तुरंत उसे पहचान गया। वह विचार करने लगा कि अरे, यह गाय कैसे जीवित हो गयी। उसने इस कौतूहलभरी घटनाको पासमें बैठे व्यक्तियोंको सुनाते हुए कहा—'अरे भाइयो, यह देखो बड़े आश्चर्यकी बात है, यह गाय मर गयी थी, लेकिन फिर जिंदा होकर कैसे आ गयी।'

यह सुनकर वहाँ बैठे सभी लोग बड़े आश्चर्यचकित हुए। वे सभी लोग बड़े कौतूहलसे पूछे—'यह कैसे हुआ?' तब उसने सुबहकी घटनाका जिक्र किया और घटना सुनाते हुए बीचमें ही एक छोटा-सा पत्थरका टुकड़ा उठाकर उस गायके ऊपर फेंकते हुए कहा—'ऐसे ही मैंने इसे मारा था।' अभी यह वाक्य उसने पूरा ही किया था कि वह गाय सबके सामने देखते-देखते ही बीच बाजारमें मर गयी। तुरंत ही यह चर्चा पूरे गाँवमें बिजलीकी तरह फैल गयी; गाँववालोंने और जातिवालोंने कहा कि गौ-हत्या भयंकर पाप है। शास्त्रविहित प्रायश्चित्त करो, गङ्गा-स्नान करो, कुछ ब्राह्मण-भोजन कराओ और भागवत-कथा आदिका अनुष्ठान करो, अन्यथा जातिसे बहिष्कृत रहोगे। वह तुरंत चल दिया और हरिद्वार आया। पंडाजी तो गङ्गा मैयाके स्वप्नके अनुसार स्टेशनपर इंतजार ही कर रहे थे।

वह गौ-हत्यारा पंडाजीका चरण पकड़कर रोने लगा। पंडाजी भी पहचान गये कि यह वही गङ्गाजलका अपमान करनेवाला व्यक्ति है। उस व्यक्तिने रोते हुए पूरा विवरण सुना दिया कि मैंने गङ्गाजलका अपमान किया, जिससे मेरे द्वारा कल गौ-हत्या हो गयी है, अब प्रायश्चित्तके लिये गङ्गा-स्नान करने आया हूँ।

पंडाजीने गङ्गा-तटपर आकर मन्त्रोंद्वारा गङ्गाजीका पूजन कराया तथा उसके प्रायश्चित्तके लिये गङ्गा मैयासे प्रार्थना की। घर आकर उस व्यक्तिने भागवत-कथा, ब्राह्मण-भोजन भी प्रायश्चित्तके लिये किया।

शास्त्रोंमें गङ्गा मैयाकी महिमाका अनन्त वर्णन है। इसका जल अत्यन्त निर्मल एवं पापनाशक है। भयंकर-से-भयंकर ब्रह्महत्या-जैसा महापाप भी गङ्गा-स्नानसे दूर हो जाता है। अतः प्राणिमात्रको भूलकर भी गङ्गा माताका अपमान नहीं करना चाहिये।

—श्रीनारायणजी शर्मा

(२)

सत्संग-भवनके निकट रहनेमात्रका प्रभाव

घटना दिनांक ३०-१२-१९९२ ई० की है। हम पाँच लोग (चार राजस्थानसे और मैं म० प्र० से) स्वामीजी महाराजके सत्संगके लिये एक माह पूर्व ही कलकत्ता आ गये थे। ३०-१२-९२ को सत्संगकी पूर्णाहुति हो जानेके पश्चात् हम लोग गङ्गासागर चले गये। चूँकि रास्ता नया था, अतः तीन-चार जगह बसें बदलीं और हमें वहाँसे लौटते-लौटते रात्रिके १२.३० बज गये। गोविन्द-भवन रात्रिमें दस बजे बंद हो जाता है। हमने दरवाजा खटखटाया, लेकिन नियमानुसार खोला नहीं गया। अब हमारे सामने समस्या थी कि इस कड़ाकेकी सर्दीमें और सर्वथा अपरिचित क्षेत्रमें क्या करें। हमारे पास पहने हुए वस्त्रके अलावा कुछ भी नहीं था।

कुछ देर हम खड़े-खड़े नाम-जप करते रहे। लगभग रात्रि एक बजे गोविन्द-भवनके पड़ोसका एक युवक आया और उसने अपना दरवाजा खटखटाया। हमने उसे अपनी स्थिति बताकर प्रार्थना की कि आप हमें सुबह ४-५ बजे तकके लिये थोड़ी-सी जगह मात्र बैठनेके लिये दे दीजिये। वह हमें दो मिनट प्रतीक्षा करनेके लिये कहकर अंदर चला गया और दो मिनट बाद आकर वह अपरिचित तथा जातिका मुसलमान युवक हमें सम्मानपूर्वक अंदर ले गया। मकानमें एक गोदाम था, जिसमें करीब ५०-५१ लाखका माल रखा था, वहीं बिस्तर लगाकर बड़ी शालीनतासे हम लोगोंको बैठाकर जल आदि पिलानेके बाद खानेका आग्रह करने लगा; लेकिन हमने उसे यह कहकर मना कर दिया कि हम भोजन करके आये हैं। तत्पश्चात् वह हम लोगोंसे वहीं रात्रि-विश्राम करनेके लिये कहकर स्वयं चला गया। उसे हम अपरिचितोंपर किसी तरहका अविश्वास भी नहीं हुआ, नहीं तो रात्रि एक बजे कौन किसी अनजान व्यक्तिको अपने घरमें लायेगा और उस कमरेमें ठहरनेकी अनुमति देगा, जिसमें पचासों लाखका सामान भरा पड़ा हो। उसके इस सहज-निष्कपट विश्वासपर हम सभी लोग आश्चर्यचकित थे। अब बरबस ही उस सर्वोच्च शक्तिकी कृपा-सत्ताका प्रत्यक्ष आभास हो रहा था। तब हमने अनुभव किया कि सत्संग-भवनके नजदीक रहनेमात्रका इतना प्रभाव किसी भी व्यक्तिपर पड़ सकता है; क्योंकि वहाँके परमाणुओंमें संतोंकी भावनाएँ घुली होती हैं। तभी तो इस युवकमें इस प्रकारके उच्च संस्कार, सदाचरण एवं आतिथ्य-भावनाएँ कूट-कूटकर भरी हुई हैं।

वास्तवमें संत जहाँ भी जाते हैं, वहाँका सारा वायुमण्डल अत्यन्त पवित्र हो जाता है। चाहे वहाँ आस-पासके रहनेवाले लोग उनमें विश्वास करें या न करें, उनके दर्शन करें या न करें, तब भी जो लोग ऐसे संतोंके प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, उनकी परोपकारभरी मीठी, मधुर वाणीका श्रवण करते हैं, उनपर कैसे प्रभाव नहीं पड़ेगा? वास्तवमें उनका जीवन धन्य है, जिन्हें सत्संग मिल रहा है। सत्संगकी महिमा मैंने कई जगह प्रत्यक्ष अनुभव की है, लेकिन मेरी सामर्थ्य नहीं है कि उस अनुभवको बता पाऊँ, भला गूँगा व्यक्ति मधुर-से-मधुर मिष्टान्नके स्वादके बारेमें भी कैसे बखान कर सकता है। अगर सत्संगकी महिमाका अनुभव करना है (प्रत्यक्ष-रूपसे) तो आप महापुरुषोंका सत्संग कीजिये, तब आपको यह बात सच लगेगी पहले नहीं। लेकिन सत्संग मिलता तभी है जब भगवान्‌की कृपा हो। उस कृपाकी हमें भगवान्‌से सच्चे हृदयसे प्रार्थना करनी चाहिये, वे महान् दयालु हैं अवश्य ही आपकी प्रार्थना सुनेंगे।

—नित्यानन्ददास

(३)

जैसी करनी वैसा फल, आज नहीं तो निश्चय कल

घटना राजस्थानके सवाई माधोपुर जिलेकी है। सवाई माधोपुरके पास क्वालजी नामक एक बहुत ही पवित्र तीर्थ-स्थान है, वहाँके जलमें स्नान करनेपर सभी प्रकारके चर्मरोग (कुष्ठ आदि) दूर हो जाते हैं, प्रेत-बाधाएँ दूर हो जाती हैं। अपने कष्ट-निवारणार्थ हजारोंकी संख्यामें यात्री सदैव आते

रहते हैं। यहाँ शंकर भगवान्‌का एक प्राचीन मन्दिर भी है।

मेरे कुछ साथी भी क्वालजी गये थे। वहाँ स्नान-दर्शनके पश्चात् अपने गाँव आनेकी तैयारीमें सभी लोग बस-स्टैंडपर आये। लेकिन तबतक सभी बसें जा चुकी थीं। वे वहाँ घंटों बैठे रहे। मन्दिरके पास सैकड़ों भिखारी पड़े हुए थे। उसीमेंसे एक भिखारी, जिसके घुटनोंसे ऊपरतक दोनों पैर कटे हुए थे, वहीं घूम रहा था। उसकी दशा देखकर मेरे एक साथीको दया आयी और उसने सहानुभूतिपूर्वक पूछा—भैया, तुम्हारे पैर क्या जन्मसे ही ऐसे हैं? भिखारी सुनकर सुबक-सुबककर रोने लगा। कहने लगा—भैया, मेरे पैर मैंने ही काट लिये हैं। इस बातको न समझते हुए मेरे उस मित्रने कहा—अपने पैर जान-बूझकर कोई क्यों काटेगा? सच बताओ, क्या हुआ? भिखारी अपनी आत्मकथा सुनाने लगा। पाँच-सात वर्ष पूर्व मैं बकरी चराने जंगलमें जाया करता था। मेरी राक्षसी वृत्ति थी, मांस भी खाता था। शराब भी पीता था, हृदयमें दयाका नाम-निशान भी नहीं था।

एक दिन मैं बकरियाँ चराते-चराते घनी झाड़ियोंकी ओर निकल गया। वहाँ एक हिरनीने उसी दिन बच्चेको जन्म दिया था। मुझे देखकर भयभीत हो हिरनी बच्चेको छोड़कर तुरंत भाग गयी। बच्चा भाग नहीं सका। मैंने बच्चेको उठाया और एक पेड़के नीचे ले जाकर बड़ी निर्ममतापूर्वक कुल्हाड़ीसे उसके चारों पैर घुटनोंके ऊपरसे काट दिया और बच्चेको तड़पता हुआ छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक चला आया। मुझे बच्चेपर तनिक भी दया नहीं आयी। इस घटनाके एक-दो महीने बाद ही मेरे पैरोंमें बीमारी शुरू हुई। काफी उपचार कराया, परंतु पैर ठीक न हुए। जयपुर अस्पतालमें डॉक्टरोंने दोनों पैर कटवानेकी सलाह दी। मरता क्या न करता। जीवित रहनेके लिये पैर कटवाने पड़े। अब मैं एकदम निकम्मा बन चुका था। संसार बड़ा स्वार्थी है। घरमें गरीबी होनेसे घरवाले मुझे यहाँ छोड़ गये, तबसे माँगता-खाता हूँ। भगवान्‌की शरणमें पड़ा हूँ। मैंने हिरनीके बच्चेके चारों पैर काटे थे, इसलिये अभी मेरे दोनों हाथ भी कटने बाकी हैं, ऐसा कहकर वह भिखारी फूट-फूटकर रोने लगा।

घटना सोलहों आने सत्य है। अतः प्रत्येक भाई-बहिनको इस घटनासे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जीवको कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, यह अकाट्य सिद्धान्त है। कर्मरूपी डोरीमें सभी जीव बँधे हुए हैं। जबतक जीवको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक कोई भी जीव कर्मोंके बन्धनसे छुटकारा नहीं पा सकता। जैसे गायका छोटा बछड़ा गायोंके झुंडमें अपनी माँको पहचान लेता है और दूध पीने लगता है, ठीक उसी प्रकार शुभ और अशुभ कर्म जीवको सुख-दुःख प्राप्त करा देते हैं। शुभ कर्मका फल सुख एवं अशुभ कर्मका फल दुःख अवश्य ही मिलता है। अतः कभी भूलकर भी पापकर्म नहीं करना चाहिये।

—श्रीनारायणजी शर्मा

मनन करने योग्य

श्रद्धालु एवं निष्ठावान् अंग्रेज अफसरकी अपूर्व शिवभक्ति एवं नीति-धर्मनिष्ठा

लंदनकी किसी सड़कके किनारे पड़े हुए एक शिवलिङ्गको देखकर एक अंग्रेज पथिक ठिठककर खड़ा हो जाता है। वह उसे उठाकर अपने दफ्तर ले जाता है, वहाँ उसे उसी तरह आदरपूर्वक रखता है, जैसे किसी निष्ठावान् हिंदूके घर शिवलिङ्ग रखा जाता है। उसके दस सालके प्रयत्नके बाद वह शिवलिङ्ग दक्षिण भारत लाया जाता है और विधिवत् एक प्रसिद्ध तीर्थस्थानके मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया जाता है।

यह न कोरी किंवदन्ती है, न कहानीकारकी कल्पना, बल्कि सच्ची ऐतिहासिक घटना है।

बात सन् १८९६ की है। बम्बई हाईकोर्टके एक वकील श्री जी० एन्० नाडकर्णी यूरोपकी यात्रा करते हुए लंदन पहुँचे। वहाँ उस समय उनके पुराने मित्र और सेवानिवृत्त आई० सी० एस० अफसर सर जार्ज बर्डबुड, भारतमन्त्रीके कार्यालयमें काम करते थे। वे उनसे मिलने गये।

सर जार्ज बर्डबुडके दफ्तरमें पैर रखते ही नाडकर्णीजीकी दृष्टि महोगनीकी एक सुन्दर मेजपर पड़ी, जिसपर रुद्राक्षमाला-

मण्डित शिवलिङ्ग विराजित था। ऊपर लटकते हुए फानूससे शिवलिङ्गपर प्रकाश पड़ रहा था और उसका शिल्पसौन्दर्य उभरकर प्रकट हो रहा था। नाडकर्णी स्तब्ध होकर कई मिनटतक उसे निहारते रहे। वे सर जार्जसे इस शिवलिङ्गके बारेमें पूछ-ताछ किये बिना न रह सके और सर जार्ज तो जैसे इसीकी प्रतीक्षामें ही बैठे थे। उन्होंने शिवलिङ्गकी कहानी कह सुनायी।

सन् १८८५ में फिलाडेल्फियामें एक अन्ताराष्ट्रिय मेला लगा था। उसमें प्रदर्शित करनेके लिये यह शिवलिङ्ग भारतसे भेजा गया था। इसी उद्देश्यसे इसे कलकत्ताके किसी शिल्पीसे तैयार करवाया गया था। किंतु दुर्भाग्यवश विश्वमेलेके अधिकारियोंने इसे वहाँ प्रदर्शित नहीं होने दिया।

अगले साल उसी तरहका एक मेला लंदनमें हुआ। शिवलिङ्गको वहाँ ले जाया गया। लेकिन वहाँ भी इसे प्रदर्शित नहीं होने दिया गया। यही नहीं, इसे अश्लील कहकर फेंक दिया गया। सड़कके किनारे यह पड़ा रहा। ऐसा लगता था कि सड़क कूटनेवाले इसे तोड़-फोड़कर किसी सड़कमें बजरीके रूपमें कूट देंगे।

पर सौभाग्यसे सर जार्ज बर्डबुडकी नजर उसपर पड़ गयी और वे उसे अपने दफ्तरमें ले आये। काफी दौड़-धूपके बाद एक रुद्राक्षकी माला कहींसे प्राप्त करके उसपर चढ़ाकर उसे मेजपर आदरपूर्वक आसीन कर दिया।

यह सब सुनाकर सर जार्जने अपने भारतीय मित्रसे बड़े विनयके साथ कहा—'मैं पैंसठ सालका हो चला हूँ। शीघ्र ही भारतमन्त्रीके कार्यालयसे निवृत्त हो जाऊँगा। मैं यह सोचकर चिन्तित हूँ कि इस पवित्र वस्तुका फिर क्या होगा। मैंने बहुत कोशिश की कि 'ऑक्सफोर्ड म्यूजियम' में इसे रखवा दूँ, लेकिन वे इसे लेनेके लिये कतई तैयार नहीं हैं। अब तो आप मिल गये हैं। आप मेरे पुराने मित्र हैं और निष्ठावान् हिंदू हैं। आप मुझे इस चिन्तासे मुक्त कर सकते हैं। मैं इसे यहाँसे जहाजद्वारा भारत भिजवानेका सारा खर्च उठानेको तैयार हूँ। आपसे इतनी ही प्रार्थना है कि अपने देशमें इसे कहीं विधिवत् प्रतिष्ठित करा दीजिये, ताकि इसकी समुचित पूजा-अर्चना होती रहे। पिछले दस वर्षोंसे मेरी यह तीव्र लालसा रही है कि इसे विधिवत् प्रतिष्ठा मिले।'

श्रीनाडकर्णी गौड़ सारस्वत ब्राह्मण थे। जब वे भारत लौटे तो उन्होंने अपने समाजके धर्मगुरु श्रीस्वामी आत्मानन्दजी सरस्वतीसे इस विषयमें चर्चा की। स्वामीजीने यह मामला एक कश्मीरी ब्राह्मण पं० घनश्याम शर्मा शास्त्रीको, जो उनके धर्मशास्त्र-विषयक सलाहकार थे, विचारार्थ सौंपा। शास्त्रीजीने सम्मति दी कि 'विदेशसे शिवलिङ्गको लाकर भारतमें विधिवत् प्रतिष्ठित करनेमें कोई शास्त्रीय बाधा नहीं है।' इसपर सर जार्जको सूचना भेजी गयी कि 'भेंटके रूपमें उनसे उस शिवलिङ्गको स्वीकार करनेमें उन्हें प्रसन्नता होगी।'

अपनी दीर्घकालीन कामनाकी पूर्तिका अवसर आया देखकर सर जार्जके आनन्दकी सीमा न रही। स्वामीजीको धन्यवाद देते हुए उन्होंने यह विनम्र सुझाव रखा कि सात समुद्रोंकी यात्रा करके भारत लौटनेवाले इस शिवलिङ्गको 'चक्रवर्ती शिवलिङ्ग' का नाम दिया जाय।

यथासमय शिवलिङ्ग भारत आ पहुँचा और श्रीस्वामी आत्मानन्द सरस्वतीजीने अपने हाथोंसे कारवारसे ३५ मील दूर गोकर्णके गौड़ सारस्वत मठमें विधिवत् उसकी प्राणप्रतिष्ठा की। तबसे हजारों भक्त प्रतिवर्ष उसका दर्शन तथा पूजन करते हैं और आज भी वह उसी नामसे जाना जाता है जो उदारमना अंग्रेज सर जार्ज बर्डबुडने प्रेमपूर्वक सुझाया था—'चक्रवर्ती शिवलिङ्ग'। [नवनीतसे]

सधन सगुन सधरम सगन सबल सुसाइँ महीप।
तुलसी जे अभिमान बिनु ते तिभुवन के दीप॥

'तुलसीदासजी कहते हैं कि जो पुरुष धनवान्, गुणवान्, धर्मात्मा, सेवकोंसे युक्त, बलवान् और सुयोग्य स्वामी तथा राजा होते हुए भी अभिमानरहित होते हैं, वे ही तीनों लोकोंके उजागर होते हैं।'

कुछ अनुभूत प्रयोग

(१)

दाढ़ीकी फुंसियाँ

नाईकी असावधानी या अन्य किसी भी कारणसे दाढ़ीमें सफेद फुंसियाँ हो जाती हैं। दवासे एक ठीक होती है तो दूसरी निकल आती है। दाढ़ी सड़नेकी नौबत आ जाती है, इसके लिये नीचे लिखा सरल प्रयोग बहुत लाभदायक है।

प्रयोग—किसी ताँबेके चौड़े किनारदार बर्तनमें मलाईदार दही डाल दे और उसको ताँबेकी ही किसी दूसरी चीजसे या ताँबेके पुराने पाँच-सात पैसोंसे खूब रगड़े। दहीका रंग जितना हरा होगा, उतना ही जल्दी लाभ होगा। सुबह-शाम दोनों समय फुंसियोंको गरम जलसे धोकर तथा कपड़ेसे सुखाकर उनपर उस दहीका लेप कर ले। दही बर्तनमें उतना ही डालकर रगड़ा जाना चाहिये जिसमेंसे आधा लेपमें लग जाय और ठीक आधा बच रहे। दुबारा उसी बचे हुए आधेमें आधा नया मलाईवाला दही डालकर वैसे ही रगड़ ले। नयी बीमारी होगी तो तीन दिनोंमें, नहीं तो एक सप्ताहमें मिट जायगी। यह प्रयोग मूँछके या सिरके केश गिरते हों तो उसपर भी किया जा सकता है।

(२)

फोड़ा-फुंसी

कहीं कैसा भी फोड़ा-फुंसी हो, इस प्रयोगसे या तो वह बैठ जायगा या पककर फूट जायगा और घाव जल्दी भरकर साफ हो जायगा।

प्रयोग—पाँच तोले करंजके तेलमें एक मासा डलीका असली कपूर पीसकर मिला दे और हिलाकर शीशीमें भरकर रख दे। फोड़े-फुंसीपर अँगुलीसे लगा दे और रूईपर मामूली तेल लगाकर पट्टी बाँध दे। सुबह-शाम दोनों समय गरम जलसे धोना चाहिये।

(३)

खूनी बवासीर

प्रयोग—रीठेकी गुठली फोड़नेपर उसमेंसे पीले रंगकी चीज निकलेगी। उसको बारीक पीसकर देशी या विलायती शराबमें मिलाकर शीशीमें रख दे। शौचके बाद शुद्धि करके अँगुलीसे थोड़ी-सी दवा लगा दे। रातको सोते समय भी लगावे।

(४)

दमा (श्वास)

प्रयोग—(क) खानेका नमक सुनारकी कुठालीमें पकाकर रख ले और उसमेंसे मकईके दानेके बराबर बिना कत्थे-चूनेके पानमें डालकर प्रतिदिन दिनमें तीन बार खा ले। रातको सोते समय अवश्य खाये।

(ख) रातको सोते समय आधी सुपारीके बराबर पीसा हुआ काला नमक जलके साथ खानेसे भी दमाके रोगमें लाभ होता है।

(५)

हिचकी

प्रयोग—हिचकी शुरू होते ही बिना बोले सात घूँट ठंडा जल पी लेना चाहिये। बहुत जोर हिचकी हो तो सूखे नीबूको जलाकर उसे शहदके साथ धीरे-धीरे चाटना चाहिये।

(६)

कानका दर्द

प्रयोग—गुलाबका असली इत्र दो बूँद कानमें डालकर हिला देना चाहिये।

(७)

कानमें फुंसी

प्रयोग—बबूलके पके हुए दो-चार फूल लाकर उन्हें कानके अंदर गिराना चाहिये और उनका बुरादा फुंसीपर लगा देना चाहिये।

—चिरंजीलाल जाजोदिया

(८)

दो अनुभूत प्रयोग

(१) मोतियाबिंद—छोटी मक्खीका असली शहद और हरे आँवलोंका रस बराबर-बराबर मिलाकर एक साफ शीशीमें रख ले और सोते समय लगा ले। केवल शहद लगाना भी लाभप्रद है।

(२) मधुमेह (डाइबिटीज)—बबूल (कीकर)-की दो-ढाई तोला छाल डेढ़ पाव जलमें पकाये, जब एक पाव जल रह जाय तो पी ले। यह प्रतिदिन पीना चाहिये। इसके प्रयोगसे बदनके फोड़े, घाव आदि भी ठीक हो जाते हैं। छालको लाकर छायामें सुखाकर रखना चाहिये।

—डॉ० त्रिभुवननाथ शर्मा

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(इस जपकी अवधि कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०५३ से चैत्र पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०५४ तक रही है।)

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नाम कलौ युगे॥

'राजन्! मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते और दूसरोंसे स्मरण करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस वर्ष भी इस षोडश-नाम-महामन्त्रका जप पर्याप्त संख्यामें हुआ है। विवरण इस प्रकार है—

(क) मन्त्र-संख्या ३५,७१,०२,००० (पैंतीस करोड़, इकहत्तर लाख दो हजार)

(ख) नाम-संख्या ५,७१,३६,३२,००० (पाँच अरब, इकहत्तर करोड़ छत्तीस लाख बत्तीस हजार)

(ग) षोडश नाम-महामन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी जप हुआ है।

(घ) बालक, युवक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने उत्साहसे जपमें योग दिया है। भारतका शायद ही कोई ऐसा प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। भारतके अतिरिक्त बाहर अमेरिका, नेपाल आदिसे भी जप होनेकी सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

स्थानोंके नाम—

अंगदखेड़ा, अंजड़, अंता, अंधरा ठाढ़ी, अंबड, अंबरनाथ, अंबाजी, अंबाजोगाई, अंबालाशहर, अंबिकापुर, अँवरीकला, अइका, अकबरपुर, अकबरपुर (कुम्भी), अकलतरा, अकाबाली, अकोट, अकोट (एलीचपुरवेस), अकोदिया, अकोला, अकोवाली, अक्कलकोट, अगौरा, अचरोल, अचलपुरसिटी, अछनेरा, अजईखेड़ा, अजबपुरा, अजमेर, अजमेरी, अजासर, अटाली, अतर्रा, अथाईखेड़ा, अधीया, अनाइठ, अनूपगढ़, अनूपपुर, अबाड़ा, अमगवाँ, अमझोर, अमनपुर, अमरा, अमरावती, अमृतपुर, अमृतसर, अमलीपाली, अमायन, अरकार, अरड़का, अरनियाँगौड़, अरनियाँचौहान, अरनेठा, अरबे, अरर, अर्जुनपुर, अलकापुरी, अलगोल, अलवर, अलीगढ़, अलीगढ़-टोंक, अलीपुरा, अलीसरिया, अलौधियासराय, अल्मोड़ा, अल्लाहागंज, असदपुर, असनावर, असरीखेड़, असरीखेड़ा, असौली, अहमदनगर, अहमदाबाद, आऊवा, आगरा, आगरी (गणेश्वर), आगूचा, आजमपुर-कनेरी, आटपाडी, आदमपुर, आदिग्राम फुलोरिया, आदिलाबाद, आमला, आमलीझाड़, आमल्या, आमस, आरंग, आरा, आर्मापुर, आलमपुर, आशापुरा, आशापुर्वा, इंगोहटी, इंदवे, इंदौर, इटारसी, इटावा, इतवारा (बुरहानपुर), इनारावरण, इमिलिया, इलाहाबाद, इसरौली सेठ, इसोपुर, इसोपुर (महावीरस्थान), इसौली, इस्माइलपुर, इस्लामपुर, ईकरी, ईटगाँव, ईशाकचक, ईशुआ, ईश्वरनगर, ईसागढ़, उकरौड़, उछटी, उजलपुर, उज्जैन, उदयपुर, उदयाखेड़ी, उधमपुर, उधौली, उन्नाव, उपाध्यायटोला, उमटा, उमरिया, उमरियापान, उमाहीकलाँ, उरई, उरतुम, उरमा, उर्बरकनगर बरौनी, उल्दन, उल्हचक, उस्मानाबाद, ऊँचिया, ऊदपुर, ऊना, ऊसरी, एडगवारमीडक्स, एलूर, ओकनावाँ, ओडेर, ओड़ेकेरा, ओमनगरी जरहामाठा, ओसिया, औरंगपुर, औरंगाबाद, औराला, औरेई, औरैया, औरोही मोतीनगर, कंगटी, कंदकुर्ती, कंपाउण्डरटोला बेहर, कंसुवा, कंहई, ककडई-सुलह, ककरेली, ककीरा, कगर, कचंदा, कछुवी, कटक, कटरिया, कटारी, कटिहार, कठार, कठुआ, कठूमर, कठौर, कड़ैल, कतरास बाजार, कनेछणकलाँ, कनेरा, कन्नौज, कपासन, कपिलो, कमच्छा, कमलनैनपुर, कमानियाँ, कमासिन, कमोल, करकवेल, करकेली, करकोस (मोंठ), करगीरोड (कोटा) करनमेया, करनाल, करमला, करमाला, करम्मर, करवाड़, करहदा, करही (शुक्ल), कराड, कराड़ी, करुई, करेड़ा, करेली, करोला, करोहन, कर्वी, कलकत्ता, कलक्टरघाट, कलमपुर, कलवण, कलूँगा, कल्याल, कवर्धा, कविलपुर, कसरावाँ, कसहा (पूर्व), कसोलर, कहानी, काँकेर, काँटाबाँजी, काँटे, काँधला, काँधी, काँवट-टाऊन, काठगोदाम, कादरगंज-पढ़ेरा, कादीपुर-शिवपुर, कानपुर, कानपुर (देहात), कानपुर (नगर), कानानोर, कानुवान, कामता, कामदेवपुर, कालपी, कालाडेरा, कालूबहाल, काशीपुर, कासगंज, किकिरदा, किरठल, किरनापुर, किराना, किरीबुरू, कुंडल, कुंडहीलपनेरा, कुंदननगर कालोनी, कुंभराज, कुंभी, कुँवरपुर, कुँवरपुर (शिवराजपुर), कुँवारिया, कुआहेड़ी, कुकड़ेश्वर, कुटिलिया, कुठेड़ा, कुदरबाधा, कुमता (एन० कनारा), कुरमाली, कुरूद, कुल्लू, कुसुमकला, कुसुम्मी, कुसैला, कूड़ी (त्यागियोंकी), कूदन, केउटी, केकड़ी, केज, केजड़, केदारनगर, केर-आबू-उत्तर, केलटी

(शिमला), केवलारी, केसठ, कैथल, कैराना, कैलारस, कोंच, कोआड़ी, कोआड़ीमदन, कोचस, कोटड़ी, कोटड़ी (दरीबा माइंस), कोटद्वारा, कोटयूडा, कोटा, कोटाडेम, कोठिया सिरहुल्ली, कोठी, कोठी-सनसई, कोडपगला नावंदी, कोदंडा, कोनाग, कोनारी, कोमना, कोयंबटूर, कोरबा, कोरोराघवपुर, कोल्हापुर, कोसमली, कोसीकलाँ, कोहला, कौड़ीहार, कौलारस, क्योड़क, कृष्णनगर, खंडवान, खककसीस, खगौल, खजूरना, खजूरिया, खजूरी, खजूरीरूंडा, खटौराकलाँ, खड़की, खड़ात, खन्ना, खरकड़ीकलाँ, खरगापुर, खरगोन, खरोसा, खर्रा, खलारी, खातीबाबा (झाँसी), खानपुर, खानपुर मेवान, खामला, खालवा, खिरनी, खिवाँदी, खुँटपला, खुड़ीमोट, खुदरू, खुर्जा, खुरहानमिलिक, खुरूसलेंगा, खुलान, खूँटलिया, खेड़का-गुजर, खेड़ाठाकुर, खेड़ाडाबर, खेड़िया गुरुदेव, खेड़ीभीलक, खेड़ीराम, खेमादेई, खेरली, खेरोट, खैरथल, खैरवा, खोंपा, खोकसगुरि, खोड़, खोड़ी-टिहरी, खोरा, खोलीघाट-मुवाना, खौंडू, गंगरार, गंगाखेड, गंगापुर सिटी, गंगाबख्शपुरवा, गंगौर, गंजबासौदा, गड़रियनपुरवा, गढ़डा, गढ़दीवाला, गढ़बसई, गढ़मोराँ, गढ़वा, गढ़सान, गढ़सिवाना, गढ़िया, गढ़ी, गढ़ीगढ़सान, गढ़ीदूलाराय, गदग, गदरपुर, गम्हरियाँ, गम्हरिया (नेपाल), गया, गरसाहड, गरोठ, गर्लादई, गल्लाटोला, गवंद्री, गवाँ, गहाँसाड़, गांगमौथान, गांटोक पूर्व, गांधीनगर आबूरोड, गाँधीचौक रानीगंज, गाजियाबाद, गाडरवारा, गाड़ाटोल, गावरवाड़ी, गिरिजास्थान, गीदड़वाहा, गुडगुर्की, गुड़गाँव, गुना, गुनाकैंट, गुरदासपुर, गुरसराय, गुराड़ियाजोगा, गुरुकुलकांगड़ी, गुरुपाली, गुरुर, गुर्जरबर्डिया, गुलबर्गा, गुलरिया, गुलाबपुरा, गुहाला, गेगास, गेवराबस्ती, गैंता, गैसड़ी बाजार, गोंडा, गोंदिया, गोइंदा, गोकुलकाटा, गोगराबस्ती-गोहपुर, गोगोलाव, गोड़हिया नं० १, गोड्डा, गोड़ावर, गोनेशपुर, गोपालपुर, गोपेश्वर, गोबरौरा, गोबर्धनपुर, गोमतीनगर, गोरखपुर, गोरगामा, गोलाघाट, गोलेगाँव, गोवडीहा, गोविंदगढ़, गोविंदपुर, गोविंदपुरा, गोसाईगंज, गोसाईपुर, गोहिली, गौतमपुरा, गौरावगननहा, गौरीगंज, गौरीपुर-३, गौहाटी, ग्वालियर, घर्गोट, घटवाड़ा, घडशी, घड़शीकनैता (क्यार), घरनो (बणीदेवी), घाटमपुर, घाटलोदिया, घाटशिला, घाटाखेड़ी, घासको, घुघली, घेवडा, घोंघौर, घोडेगाँव, घोरपिठिया, चंगईपुर, चंगर-तरसूह, चंडीगढ़, चंडेश्वर, चंडीस, चंदखुरी, चंदला, चंदवा, चंदा, चंदेरी, चंद्रहटी, चंबा, चक, चक आमल्या, चकेठी, चक्रधरपुर, चगईपुर, चतरा, चमरौला, चरखीदादरी, चरपोखरी, चरेगाँव, चल्हौर, चांगलांग, चांडिल, चांदामेटा, चाँदपुराकलाँ, चाँवलपानी, चाईबासा, चिकना, चिचौली, चिटगुप्पा, चिड़ावा, चितभवन, चित्तौड़गढ़, चित्रकूट, चि० बाँकूडीह, चिरकुंडा, चिरगाँव, चिरावदा, चिराखान, चिरावड, चिलकछ, चिलौली, चीचगढ़, चीचली, चूला, चेन्नई, चैनपुर, चैना, चैसार (मथुरा बाजार), चोतराका खेड़ा, चौक-गौरीगंज, चौक सोनवर्षा, चौकी चंद्राहण, चौरई, चौरियापोखरा, चौरू, छकना, छटन दामापुर, छड़ावद, छतरगढ़, छतरपुर, छपड़ाधरमपुर जदू, छपरा, छयालसिंह, छापर, छिंदवाड़ा, छिछोर, छोटापचगढ़, छोटीखाई, जंगबहादुरगंज, जंगलोट, जंडोल, जगदलपुर, जगदीशपुर, जगदीशपुर बघनगरी, जगदेवपुर, जगनेर, जगरामपुर, जगरामपुरा, जगाधरी, जठाई, जड़वा, जदारी, जनप्पन-चत्रम-क्रोस रोड, जनापुर, जनोटीपालड़ी, जबलपुर, जमलापुर, जमलापुरध्यान, जमानी, जमुड़ी, जमुना कालयरी, जम्मू, जम्मू-तवी, जयनगर, जयपुर, जरागुरि, जरौली, जलगाँव, जलपाईगुड़ी, जलाड़ी, जवलका बरूद, जहाँगीराबाद, जहाँनाबाद, जाँजगीर, जागीवाड़ा, जाजपुररोड, जाजोता, जाबड़ियाभील, जामोन्या, जालंधर, जालंधरशहर, जालना, जालौन, जावरा, जावला, जियाराम राघोपुर, जीरापुर, जुक्कल, जूनागढ़, जूनालखनपुर, जे०के०पुरम्, जे०सी०नगर, जैतारण, जैसनी, जैसीनगर, जोंरा, जोगियारा, जोजवा, जोधपुर, जोरवा, जोरहार, जोरावरपुर, जोहवाशर्की, जौनपुर, झड़गाँवमल्ला, झबरेड़ा, झाँझरी, झाँसी, झाक, झाकूड़ी, झापीजुड़ी, झालबरदा, झालरापाटन, झालवड़दा, झालावाड़, झिंगोदर, झिंझाना, झिकटिया, झिलाय, झीगनगर (संगत), झीरकन, झुंझुनू, झूँथरी, झूलाघाट, झोटवाड़ा, टाँड़ीपार, टाडगढ़, टिसौरा, टी०पी०वनम्, टुंडी, टुनकी, टेघरा, टेपुरा, टेहरा, टोंक, टोंकरी, टोडारायसिंह, टोला गम्हरिया, टोला शिवनराय, ठाठीपुर, डंडवा, डंडीभद्रवाह, डकादा, डबरा, डाकपत्थर, डॉ० निरूपमानगर, डालामारा, डालामारा (झापीजुड़ी), डावली, डिघारी, डिमौली, डिलारी, डुमरवार, डुमरिया, डूँगरपुर, डूमाईगढ़, डेढ़गावाँ, डेनविल (यू०एस०ए०), डोंगरगाँव, डोंविवली, डोरंडा, डोल, डौराबली, ढकपुरा, ढालपुर, ढेकियाजुली, ढिकोला, ढेगाडीह महावीरनगर, ढोढर, ढोसर, तंवरा, तड़ोला, तताहट, तपोभूमि, तरकेड़ी, तराना, तरंगा, तरौका, तलाओ, तलोटी, तवड़ा, ताजकित्ता, ताजनीपुर, ताजपुर, ताथेड़, तालगुप्पा, तालबेहट, तालिकोट, तालेड़ाजमात, तालेड़ी (मेवाड़), तासगाँव, ताहपुर, तिजारा, तितरा आशानंद, तितरी, तितिरा, तिनसुकिया, तिरकौ, तिरासी, तिरुवण्णमलै, तिरोजपुर, तिलावदगोविंद, तिलोई, तिवारीपुर द्वितीय, तिहाड़, तीखमपुर, तुनि, तुलंडी, तुलसीनगर, तुसरा, तेंदूखेड़ा (सागोनी),

तेईया, तेवाड़ीखोला, तोपाकोलियरी, तोरनी, तोलियासर, थड़ोली, थाची, थाना (ठाणे), थानाभवन, थोई, दगौरी, दतिया, दबनाला, दभैरा, दमुहाँ, दयाछपरा, दरवैली, दरौना, दवना, दशाल, दसीयाँव, दाऊदनगर, दाडवाड, दाड़ी, दाड़ीधर्मशाला, दाताँरामगढ़, दापोरी, दाभा, दावणगेरे, दिलकुशा, दिल्ली, दीवलखेड़ा, दुगाहाखुर्द, दुघरा, दुधौरा, दुबेनपाली, दुब्बीबनास, दुमका, दुर्ग, दुर्गापुरा (नागदा), दुर्जनपूर्वा, दूधवा, देव, देवकुली (दुबौली), देवगढ़-मदारिया, देवगाँव, देवही, देवतालाब, देवतीकी छावनी, देवतोली (तल्ली), देवदरा, देवनगरपुराना, देवनाल, देवपारा, देवपुरा, देवराली-मसहार (नेपाल), देवरिया, देवरी (जगदीशपुर), देवरीटौरी, देवरीनाहरमऊ, देवरीबखत, देवलामाफी, देवसर, देवास, देवेन्द्रनगर, देहरादून, देहलरी, दोरवाँ, दौरई, दौलतगढ़, दौलतपुर मिसरिखतीर्थ, दौसा, धकजरी, धनकुट्टीपुरा, धनकोसा, धनगढ़ी (नेपाल), धनसार, धनौजा, धमधा, धमौरा, धरगाँव, धरमगाँव, धराकड़, धर्मगंज (पूरब टोला), धर्मपुरा, धामणगाँव, धार, धारसीखेड़ा, धुंधियाड़ी, धुबेनपालि, धुमाभटा, धुलिया, धोईंदा, धौनी, धौलादेवी, धौलीपाल, ध्रांगध्रा, ध्रुवगंज, नंदौरखुर्द, नगलामुर्ली, नई दिल्ली, नगरोटावगवाँ, नगला जैतमाजरा ऊपरी, नगलापछैया, नगावली, नथुवाबार, नदवई, नपाणिया-खीजड़ीया, नमिचनगर, नयानगर, नरला, नरवन, नरसिंहगढ़, नरायनपूर्वा, नरी, नरेंद्रपुर, नरोखर, नल्लजर्ला, नवरंगपुर, नवागढ़, नवागाँव, नवादा, नसीराबाद, नहान, नांदिया, नाकोट, नागपुर, नाचनी, नाजिरपुर उर्फ विष्णुपुर, नाडोली, नाढ़ी, नादौड़, नादौन, नादौनबेला, नापासर, नारकंडा, नारनौल, नारेपुर पश्चिम, नालिया, नाली, नावली-वृंदावन (देवाला), नावापारा, नासिक, नासिक सिटी, नाहरगढ़, नाहली, नाहापाड़ा, निकोरा, निघवा, निटूटी, निनोर, निफाड, निरमंड, निरमुंड, निवसाई (रौन), निवारी, निहाल, नीदर (मंडरायल), नीमच, नीमच कैंट, नीमच सिटी, नीमड़ी चाँदावता, नीमराना, नूराबाद, नेरी, नेवारी, नेवारी (फुलवारी), नैनवारा, नैमिषारण्य, नैल, नोएडा, नोखा, नोनैती, नोवी, नोहर, नौगाँव, नौघई, नौधना, न्यालकल, न्योली, पंचकूला, पंचोभ, पंडरीतराई, पंडरीपानी (पतराटोली), पंतनगर, पंदनी, पकवाइनार, पचपदरा, पचपदरानगर, पचरुखिया, पचोर, पचौरी, पटना, पटनातमोली, पटपड़गंज, पटियाला, पटिहटा, पटोरी, पट्टीततारपुर, पठखौली, पठानकोट, पड़रियाखुर्द, पड़रौना, पड़िहारा, पतारी, पत्तेरापाली, पथरकोट (महेंद्रकोट), पदमपुर सुखरो, पदमपुरा, पदमपुरा (औरंगाबाद), पधानपाली, पनगरा, पनिहारी, पनोग, पनोतिया, पन्ना, परतवाड़ा, परबतसर, परपोड़ी, परली वैद्यनाथ, परवनपुर, परवानू, परसवानी, परसाई पिपरिया, परसोदागूजर, परासीचकलाल, परियर, परीक्षितगढ़, परेवरा, पलसावदपँवार, पलसौड़ा दोलत, पलाड़ा, पलियाकलाँ, पलेरा, पशुपुला, पहाड़पुर, पहारपुर रेलवे स्टेशन, पांडातराई, पांडुकेश्वर, पाँगना, पाँचवा, पाटनपुर, पाटन-बैतड़ी (नेपाल), पाटमऊ, पाटील, पाटौदी, पाठकपुरा, पानगाँव, पानापुर, पालघर, पालमपुर, पालवास (टाटनवा), पालवी, पाली, पालीगंज, पावटा, पावटा-प्रागपुरा, पावा, पाहरपुर पांडेडीह, पिंडलवाडा, पिंडवाडा, पिपरापाड़े, पिपरिया उड़नी, पिपरियाकलाँ (भैरवघाट), पिपरी, पिहोवा, पीकरी, पीपरीगहरवार, पीपलवाडा, पीपल्या-जोधा, पीलीभीत, पुनहा, पुनाघना, पुपरी, पुरसंडा, पुरानाभोजपुर, पुरी, पुरैनी, पुरुलिया, पुलगाँव, पुष्कर, पूना, पूरचेतऊका पुरवा, पूरे तुलसीराम तिवारी, पूरेरामदीन, पूरोयोगा (जयचंदपुर), पूर्णियाँ, पूसा, पेंड्रारोड, पेद्दापुर, पेशुआ, पेशोक टी०ई०, पैंची, पैगाँव, पोडैयाहाट, पोन्नेरी, पोलादपुर, पौना, प्रतापपुरा, प्रभातपट्टन, प्रसादडीह, प्रहलादपुर, प्रीतमपुरी, प्रेमका पुरा, प्रेमीदास कुट्टी, फतहपुर-शेखावटी, फतेहगंजपूर्वी, फतेहपुर, फतेहाबाद, फरदफोड़, फरीदकोट, फरीदपुर (प्रेमपुर), फरीदाबाद, फर्रूखाबाद, फलोदी, फागी, फुलपुररामा, फुलहर, फुलहर-१, फुलेरा, फुलौत, फूलेला, फैजपुर, फैजाबाद, बंगलोर, बंगा, बंगाईगाँव, बंडामुंडा, बंदनवार, बंधुछपरा, बंभई, बंसरामऊ, बक्सर, बक्षेरा, बखरी, बगचौलीखार, बगडू जामुनटोली, बगड़, बगरू, बगही, बगही पश्चिमबारी, बगीचा (सीमातल्ला) (ताड़ीखेत), बघवाड़ा, बछपरा, बटाला, बठोड़ाशुक्लेश्वर, बड़पारी, बड़वानी, बड़वारा, बड़वाहा, बड़हराबाबू, बड़हिया, बड़ाखड़कलाँ, बड़ागाँव, बड़ीबिजोलियाँ, बड़ेसरा, बड़ोदरा, बड़ौदा (श्योपुरकलाँ), बथना, बदगल रौतेला, बदरवास, बदवार, बदायूँ, बनवारी बसंत, बनियगाँव, बनौण, बबेड़ी, बबेरू, बब्बेहाली, बमनाला, बम्होरी (कसबा), बयाना, बरगदही बसंतनाथ, बरटोला मौहरी, बरमसर, बरमसिया, बरहगावाँ, बरहापुर, बरही, बराकर, बरारी, बरालोकपुर, बरीका नगला, बरीडीह, बरुआघाट, बरुवासागर, बरेली, बरोरी, बरौंधा, बर्दिया (नेपाल), बलरामपुर तलगड़, बलवाड़ा, बलिया, बलिया (चतरा), बलिया नबाबगंज, बलिहारा, बलौदा; बल्लूपुर, बसंतनगर, बसंतपुर, बसिया, बसौनी, बसौरा, बहरोड़, बहादुरगढ़, बहादुरपुर (जागीर), बहादुरपुर टोला-विनवलिया, बहुआ, बाँका, बाँकी, बाँगरोद, बाँदा, बाँदीकुई, बाँबेली, बाँसवाड़ा, बाँसाकलाँ, बाँसीलाला,

बागर, बागली, बागलुंग (नेपाल), बागोरी, बाघमारा, बाजुगाड बाजार, बाजेल, बाटाडु, बाड़मेर, बाड़ी, बाढ़, बानसी, बानसूर, बाप, बाबरा, बामनियाँकला, बामोरीशाला, बाम्हनवाड़ा, बायतु, बाराँ, बाराबंकी, बारालोटा, बारीडीह, बारीबलिया, बारू, बालसी, बालाघाट, बालाचड़ी, बालापुर, बालावत, बालू-१, बालेसर, बालोतरा, बालोद, बास, बाहुला, बिंदा, बिगाछी, बिछौदना, बिजनौर, बिजौलिया, बिझड़ी, बिड़कीनगाँव, बिदियाद, बिनिका, बिरलाग्राम, बिरोल, बिलंदपुर (रामजीसिंहका टोला), बिलसंडा, बिलाड़ा, बिलाड़ी, बिलायाँ, बिलासपुर, बिलोद, बिलौंद, बिल्मी, बिल्हौर, बिशाड़ (खोलगाड़ा), बिशुनपुर बघनगरी, बिसरा, बिसुंदनी, बिहटा, बिहार, बी० कैथी, बीकानेर, बीदासर, बीरमपुर-गढ़शंकर, बीरवाँ, बीलाग्राम, बीसापुरकलाँ, बुटरिया, बुडालापल्ली, बुद्धिकामना, बुरदा, बुरहानपुर, बुर्जवानी, बुलंदशहर, बूरमजरा, बृजेशनगर (पीपलठोन), बेंदा, बेड़िया, बेनियाँका बास, बेनोडा (शहीद), बेरखेड़ीगुसाई, बेरलीखुर्द, बेराघाट, बेरी, बेलपुर, बेलरगांव, बेला, बेल्लूर (बू०), बेहजम, बैका-विष्णुपुर, बैकुंठ, बैजनाथ, बैजापुर, बैजूपट्टी, बैना, बैरवार, बोंदानवापाडी, बोइदा, बोकठा, बोकारो स्टील सिटी, बोटाद, बोड़खी (आमला), बोड़ा, बोतराई, बोदवड़, बोधगया, बोधन, बोरावड़, ब्यावर, ब्रजराजनगर, ब्रह्मण, ब्रह्मनगर, ब्रह्मपुर, ब्रह्मावली, ब्रह्मोतरा, ब्रह्मौल, भंजनगर, भंडारा, भंडारिया, भंडारिया (बोड़कीढाना), भंदेमऊ, भँवरगढ़, भगवानपुर, भगवानपुरा, भग्यापुर, भटकटिया, भटकरजा, भटली, भटेवरा, भटौली, भदलियानोसरगोकुल, भदैनी, भद्रकाली-हुगली (हिंदमोटर), भमावद, भरतपुर, भरथना, भरथीपुर, भरथुआ, भरुब, भरेह, भलार, भलेरा, भवनपुरा, भवानीपुरा, भाँकरी निरंजनकोट, भाऊगढ़, भागनबीघा, भागीरथपुर, भाटागाँव (आर०), भादरा, भारौली खुर्द, भावनगर, भिंभौरी, भिखनीडीह टोला, भिखमपुर, भिलाई, भीकनगाँव, भीखनपुर, भीखर, भीखापाली, भीनासर, भीमगंजमंडी, भीमगढ़, भीराणी, भीलवाड़ा, भीष्मगिरी, भुईली, भुवनेश्वर, भुसावल, भूड़ (बरेली), भूपालसागर, भूरा, भेउसा, भेडोली, भेड़वन, भेलाखुर्द, भैंसवाही, भैंसवाहीकलाँ, भैंसादरहा, भैरवपुर, भैसोदा, भौंरट, भोगपुर, भोगल-कंगर, भोजपुर-कोल्हुइया, भोटिया, भोपाल, मंगरुलदत्त, मंगलेश्वर, मंगलौरटाउन, मंगोनाकलाँ, मंजेश्वर, मंठा, मंडला, मंडी, मंडीगोविंदगढ़, मंडीडबवाली, मंतीगेमने, मंदली, मंदसौर, मऊ, मऊरानीपुर, मकराना, मखदुमपुर, मखमेलपुर, मगरखेड़ी, मगरमू, मछरया, मछलीशहर, मजेड़ा-सतगढ़, मझिला, मझौरा, मझौलिया, मडलौडामंडी, मडोरी, मड़ावदा, मढ़ीजैतपुरा, मतवाना, मत्तेपुर, मथुरा, मदनगंज, मदलोंग, मदारीचक, मद्दूर, मद्रास, मधतपुरवासा, मधुबनी, मधुरापुर, मधेपुरा, मनफरा, मनावर, मनासा, मनिगाँव, मनिपाल, मनैतापुर, मरदानपुर, मरलगोई खुर्द, मरारी टोला, मरौंदा, मर्दनपुरवा, मलंगवा, मलकलीपुर-डेवढ़ी, मलकापुर, मलपहरसेनपुर, मलसीसर, मलार, मलिनियाँदिरा, मलेहरानिवादा, मल्दा (चांपा), मल्ली, मल्हारगंज, मवइया (चैनपुर), मवाकहोलाँ, मस्तूरा, महथी, महनियावास, महमदबाजार, महरोली, महादेवाँ, महाराजपुर, महावाँ, महावीरचौक (भिरखी), महासमुंद, महिदपुर, महियामा, महियावाली, महींदरवैस, महुँगाई, (देवगण), महुआ, महुआखेड़ा, महुआर बसगितिया, महू, महेशपुर महाकाली अंचल, महेशवारा, महेसिया, महोली, मांडल, मांडलगढ़, माचनूर, माचाडी, माचाडीचौक, माछरा, माड़ीपुर, माणिकपुर, माधसिया, माधोपुर, माधोपुर गोविन्द, मानसा, मानहड़, मायागंज, मायागढ़ी स्टेट, मारकंडा, माराकुंडा, मालडा, मालतीपुर, मालपुर, मालेर कोटला, मासलपुर, मिड़का-बम्हौरी, मिमियापालीज, मिर्जापुर, मिश्रपुर टोला सुलतानपुर, मीठाकुआ-लखनादोन, मीरपुर, मुंगावली, मुंगेली, मुंबई, मुजफ्फरनगर, मुबारकपुर, मुरलीगंज, मुरादनगर, मुरादाबाद, मुरार, मुलताई, मुलाना, मुलुंड, मुशेदपुर, मुहमदाबाद-शिंभूनगर, मूसलपुर, मेड़ियारास, मेदक, मेदनीपुर, मेरठ, मेरा, मेहकर, मो जो, मोडासा, मोतीनगर, मोरानहाट, मोहनपुरा, मोहना, मोहबा, मोहम्मदगढ़, मोहम्मदाबाद, मोहरेंगा, मोहान, मौजपुर, मौड़ा, मौधा, मौधिया, म्याऊँ, यमुनानगर, यवतमाल, यू०के०, यू०एस०ए०, येताला, येवला, रंगत, रंगिया, रंधाडा, रक्सेहा, रक्सौल, रघुराजगढ़, रधौली, रजऊपरसपुर, रजडिहाँ, रजपुरा, रटलाई, रहेरा, रतनगढ़, रतलाम, रमना, रबूपुरा, ररी, रहली, रहिनियाँपुर, रांहेरा, राँची, राउरकेला, राजगढ़, राजगीर, राजग्राम, राजनांदगाँव, राजपुर, राजबोड़ा सम्बरपुर, राजरूपपुर, राजेपुर, राजोरीगार्डेन, रानापुर, रानिटोला, रानियाँ, रानीपुर, रामकोट (सई), रामगढ़, रामगढ़-जबंधे, रामदासपुर, रामदीरी, रामनगरपरीवा, रामपट्टी बेलारी, रामपुरकलाँ, रामपुर-कोलियरी, रामपुर-पिपरिया, रामपुर-बखरा, रामपुर-मझिला, रामपुर-माधो, रामपुरा, रामबाजार करसोग, रायथल, रायपुर, रायपुर-

कर्चुलियान, रायपुरकोटा, रायपुरजागा, रायपुर-जागीर, रायपुर (पाली मारवाड़), रायपुर-सानी, रायबरेली, रायरंगपुर, रायसिंहनगर, राल, रावतभाटा, रावतसर, रावतिया, रावत्ता, रावलवासखुर्द, रावर्ट्सगंज, रिंगनोद, रियासी, रिशड़ा, रीवाँ, रुड़की, रुलही, रुस्तमनगर (राजाका सहसपुर), रेंदड़ी, रेणूसागर, रेती, रेवई, रेवाड़ी, रेहटी, रैपुरादीक्षित, रोहतक, रोहांडा, रोहिणी, रौजा जं०, लक्ष्मणपुर (मिश्रान), लक्ष्मीपुर-ककढ़िया, लक्ष्मीपुर-सायत, लखनऊ, लखनऊ छावनी, लखनपहाड़ी, लखीमपुर खीरी, लखीसराय, लखुरी, लखोरिया, लखौरी, लगमा, लचिदा, लत्ता, लतिवाड़ी (पाकरीवाड़ी), ललितपुर, ललितललाम-संहौली, ललियाद, लवहरफरना, लवापन, लस्करी, लहरीतिवारीडीह, लांडेवाडी, लाखेरी, लाडवा, लातूर, लातेहार, लालपुर, लालपुरा, लालसिंग, लालसोर, लावन, लासूर स्टेशन, लुहारिया, लुहारी, लोईंग, लोईसींघा, लोठखेड़ी, लोध, लोफंदी, लोवाधिया, लोहरसिंग, लोहा, लौंह, लौकहाबाजार, लौर, लौरिया, लौरियाबाजार, वंधुनिवास, वडगाँव, वनखंडा, वरुड, वरोरा, वर्धा, वल्लभनगर, वसन्तपुर, वसोहली, वांगणी, वागदा, वाजितपुर (झखरा), वाजुगाड, वाडा, वादासावंगी, वारंगल, वाराणसी, वालसावंगी, वास्कोदिगामा (गोवा), वाहेगाँव-देभणी, विंढमगंज, विकाराबाद, विगाही, विजदवाँ, विजयग्राम, विजयनगर, विजयपुर, विजियानगरम्, विटावा, विठौली, विदिशा, विद्यानगर, विरदा, विरोंधी, विशनपुरा (चारणवास), विशाखापट्टनम्, विशौनी, विश्वकर्मा, विश्वम्भरपुर, विष्णुपुर, विसरापार, वीरपाडा, वीरवाँ, वैजापुर, वैदहा, वैर, वैरवार, वैसावासा, शंकरनगर (रायपुर), शंभूगढ़, शकरा, शरफुद्दीनपुर, शहरना, शाजापुर, शादपुर-रूपौली, शाहगढ़, शाहजहाँपुर-निनावा, शाहपुर, शाहपुरकंडी टाउनशिप, शाहपुर-टहला, शाहोपुर-बरमा, शिकारपुर, शिकोहाबाद, शिमला, शिवकाशी, शिवगंज, शिवगढ़, शिवगढ़-चौहान, शिवदासपुरा, शिवपुर, शिवपुरा, शिवपुरी, शिवराजपुर, शिवांक, शीतलापुरी, शीशूपुर, शुजालपुरमंडी, शेरुणा, श्योपुरकलाँ, श्रीकरनपुर, श्रीकाकुल्लम्, श्रीगंगानगर, श्रीपुर, श्रीपुरमजरहिया, श्रीरामपुर, श्रीवैकुंठम्, श्रीशिरनियाँ, संखवास, संगरिया, संगरियामंडी, संडिलवा, संतोषगड, संतोषगढ़, संदलपुर, संबलपुर, सकरार, सकरीगली, सक्ती, सगरा, सगौली, सड़कपरसुली (गरियाबन्द), सड़रा, सतना, सतनीसराय, सतोहल, सथरा, सदरपुर, सनला, सनावल, सपरदह, सपोटरा, सफीदों, सफीपुर, सबलगढ़, सबलपुरा, सब्जपुरा, समस्तीपुर, समालखा, सयालदह, सरखों, सरगाँव, सरदारशहर, सरवाड़, सरस्वतीनगर, सराधना, सरिया, सरेंधी, सरैया-गोपाल, सरैयाबाजार, सर्रा, सलकाया, सलकिया, सलेमपुर, सवदत्ती, सवाँसा, सवाई माधोपुर, सस्तरा, सहनवा, सहरी, सहरू, सहारनपुर, सांकाकलाँ, सांगली, सांभर-लेक, साँवला, साईवाड़मोड़ त्रिवेणीधाम, सागर, सागोर, सादूमल, सादुलपुर, साधुपुर, सानरामोन (यू० एस० ए०), सामगी, सामी, सायन-कोलीवाड़ा, सारड़ी, सालिमपुर, सालेवाड़ा, सालोन-बी-भाण्डेर, सावड़ा, सावनेर, सासंग (ब्रह्मनी), सासनी, साहिबाबाद, साहूकारा-विसौली, सिंघाना, सिंडोली, सिंदुवारटोली, सिंहभूम, सिकंद्रा, सिक्किम, सिगौली चारभुजा, सिडकी, सिडको कोलियरी, सितारगंज, सिधौली, सियारी, सिरपुर-कागजनगर, सिरसगाँव कस्बा, सिरसुं, सिरेगाँवखुर्द, सिलेपुर, सिलौत, सिलौत वासुदेव, सिवनी, सिवनी-मालवा, सिहोरा, सीकर, सीतापुर, सीतामढ़ी, सीनखेड़ा, सीपरीबाजार, सीरेगाँव, सीवाँ, सीसवाली, सीहोर, सुंगरहा (गुनौर), सुखा, सुखारी, सुगवाँ, सुजानगढ़, सुजियामहोलिया, सुनाफाट (नेपाल), सुनाम, सुन्हेरा, सुपेला, सुमावली, सुयालवाड़ी, सुरजननगर, सुरपुरा, सुरिंद्रपुर, सुरेंद्रनगर, सुरेबान, सुलगाँव, सुलह, सुल्तानपुर, सुसाई, सूजागंजबाजार, सूरजपुराकलाँ, सूरत, सूरतगढ़, सेंट्रलपल्प-मिल, सेंठा, सेऊ, सेऊगी, सेतरावा, सेमरा, सेमरा मेडरौल, सेमली, सेरुकहा, सेलदा, सेवर, सेहलंग, सैदनपुर, सोंठवा, सोणैवाडीखुर्द, सोनवला, सोनवर्षाराज, सोनीपत, सोनो, सोलन, सोलापुर, सोहावल, हंसवर, हजारीबाग, हटनी, हटा, हथछोया, हथौड़ाखेड़ा, हनुमंती, हनुमानगढ़, हनुमानगढ़ जं०, हमीरपुर, हरगनपुर, हरदा, हरदी, हरनामपुर (रामबाग), हरनावदा शाहजी, हरनी, हरनौल, हरपुररेवाड़ी, हरसूद, हरसोरा, हरसोली, हरिद्वार, हरिपुर, हरिपुर-डाक, हरिपुरडीहटोल, हरिपुर-नायक, हरिराहा, हरिहरपुर, हरिहरपुर वैद्यालय, हलद्वानी, हलेड़, हलेपेठ (शहापुर), हवेलीपुरनगरी, हसनपुर, हसनापुर, हसामपुर, हसुवा, हाँफा, हाजीनगर, हाजीपुर, हाथज, हाथरस, हार्सिकट्टा, हार्सिकट्टा-सिद्दापुर, हाली-शहरकोना, हास्पेट, हिंदमोटर, हिड़ली (आठनेर), हिमराजपुर, हिरनी, हिरामनपुर, हिरेतरा, हिसार, हिसारडयोढ़ी, हीनू, हुबली, हुब्लीबनास, हुमायूँपुर, हुसेनपुर, हूर, हेमनगर, हैंजा, हैदराबाद, होशियारपुर, होसिर, हौसा।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त पुनर्मुद्रित पुस्तकें

१. मानस-रहस्य (कोड-नं० 103) (लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन') प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीरामचरितमानसके विभिन्न पहलुओंपर आध्यात्मिक एवं शोधपरक ३५ लेखोंका अभूतपूर्व संग्रह है। रामावतारका रहस्य, मानसमें संत- लक्षण, गुरुवन्दनाका महत्त्व, हनुमान्‌जीके चरित्रसे शिक्षा, शबरीकी भक्ति, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी अन्तिम अभिलाषा एवं श्रावण शुक्ला सप्तमी श्रीतुलसीजयन्ती क्यों है? आदि लेखोंमें भक्ति एवं श्रीरामचरितमानसमें रुचि बढ़ानेवाली अत्यन्त गूढ़ विषयोंकी सरल व्याख्या की गयी है। सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ४००, मूल्य रु० २४.००, डाकव्यय रु० १४.०० (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

२. रामाज्ञा-प्रश्न (कोड-नं० 109) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीद्वारा रचित इस पुस्तकमें सात सर्गोंके माध्यमसे शकुन देखनेकी विधि बतायी गयी है। प्रत्येक सर्गमें सात सप्तक एवं प्रत्येक सप्तकमें सात दोहे हैं, जिनमें श्रीरामचरितमानसमें वर्णित कथाका संक्षिप्त वर्णन भी है। पृष्ठ-संख्या ९६, मूल्य रु० ४.००, डाकव्यय रु० १.००

३. महामन्त्रराज-स्तोत्रम् (कोड-नं० 715) प्रस्तुत पुस्तकमें स्वामी श्रीलक्ष्मणजी शास्त्रीद्वारा रचित ११८ श्लोकोंका संग्रह है। इनमें भगवान् विष्णु, ब्रह्माजी, शिवचरित्र, श्रीरामजीके अवतार-चरित्र एवं श्रीकृष्ण-चरित्रका रोचक वर्णन किया गया है। जिसके अध्ययन-मननसे जीवन सफल बनाया जा सकता है। मूल्य रु० २.५०, डाकव्यय रु० २.००

नवीन प्रकाशन

१. श्रीरामचरितमानस ग्रन्थाकार [गुजराती अनुवादसहित] (कोड-नं० 799) गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजद्वारा रचित इस अलौकिक ग्रन्थ 'श्रीरामचरितमानस' का पठन-पाठन सभी क्लेशोंके निवारणका एवं आध्यात्मिक उन्नतिका सर्वश्रेष्ठ साधन है। कुछ माह-पूर्व श्रीरामचरितमानसका गुजराती अनुवादसहित मझले आकारमें एक संस्करण प्रकाशित किया गया था। ग्राहकोंके विशेष माँगपर यह दूसरा ग्रन्थाकार गुजराती संस्करण प्रकाशित किया गया है। आकर्षक बहुरंगा लेमिनेटेड आवरण, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ-संख्या ९३६, मूल्य रु० ८५.००, डाकव्यय रु० १८.०० (रजिस्ट्रीसे) अतिरिक्त।

२. सचित्र आरतियाँ (कोड-नं० 807) आरती अपने इष्टको रिझाने तथा पूजा एवं दीपोंके माध्यमसे अपने इष्टतक अपने भाव (आर्तनाद)-को पहुँचानेका एक माध्यम है। बहुत दिनोंसे सचित्र आरती-संग्रहकी माँग पाठकोंकी ओरसे आ रही थी, अब जाकर इस संग्रहका प्रकाशन सम्भव हो सका है। इसमें ९ देवी-देवताओंकी आरती-ध्यानके श्लोक तथा एक पृष्ठपर रंगीन चित्र एवं दूसरे पृष्ठपर उनकी आरती दी गयी है। आकर्षक बहुरंगा लेमिनेटेड आवरण। मूल्य रु० ५.००, डाकव्यय २.००

३. गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका [मराठी] (कोड-नं० 802)—(लेखक-श्रीगोपीनाथजी अग्रवाल) प्रस्तुत पुस्तकमें गर्भपातके भयानक कुकृत्यका लोमहर्षक चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसे पढ़कर पाठकके मनमें इस अक्षम्य अपराधसे सदाके लिये घृणा हो जाती है। अभीतक यह पुस्तक हिन्दी, तेलगू, बँगला, तमिल तथा अंग्रेजी भाषामें उपलब्ध थी। अब इसका नवीन संस्करण मराठीमें भी प्रकाशित किया गया है। मूल्य रु० २.००, डाकव्यय रु० १.००

१५ सितम्बरतक प्रकाश्य

गीता-दैनन्दिनी—१९९८ ई० [सं० २०५४-५५]

[दो आकार-तीन प्रकारमें]

पुस्तकाकार (कोड-नं० 503)—(साइज $8'' \times 5\frac{1}{4}''$) अच्छे कागजपर सुन्दर छपाई, श्रीमद्भगवद्गीताका मूलपाठ (संस्कृत एवं रोमन), जीवनोपयोगी सूत्र, तिथि, वार, व्रत आदि। प्लास्टिक आवरण, सुन्दर बहुरंगा चित्र, मूल्य रु० २५.००

पाकेट-साइज (कोड-नं० 506)—(साइज $5\frac{3}{4}'' \times 3\frac{3}{4}''$) प्रतिवर्षकी भाँति सम्पूर्ण गीता, तिथि, वार, व्रत आदि अनेक उपयोगी सूचनाएँ, अब प्रत्येक पृष्ठ रुलदार एवं कपड़ेका आवरण तथा सुन्दर बहुरंगा चित्र, मूल्य रु० १०.००

पाकेट-साइज विशेष संस्करण (कोड-नं० 615)—उपर्युक्त (पाकेट-साइज)-का ही यह विशेष संस्करण है। मजबूत प्लास्टिक आवरण एवं आरम्भमें भावपूर्ण रंगीन चित्र भी। मूल्य रु० १२.०० (२०० के कार्टून पैकोंमें उपलब्ध)

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

प्र० ति० २०-८-९७

LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

'कल्याण' का आगामी (जनवरी सन् १९९८ ई० का) विशेषाङ्क

'भगवल्लीला-अङ्क'

[ग्राहकोंसे नम्र निवेदन]

यह समस्त दृश्य जगत् परमात्माका स्वरूप है। परब्रह्म परमात्मा ही समस्त भू-ब्रह्माण्डके आधार, अधिपति और विभु हैं। वे ही स्वयं निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार दोनों रूपोंसे सर्वत्र व्याप्त रहकर नित्य-निरन्तर नवीन लीलाएँ करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी प्रत्येक हलचल एकमात्र परमेश्वरका ही लीला-विलास है। भगवान्‌की परम मङ्गलकारी विभिन्न लीलाओंका मनन, चिन्तन, ध्यान और कीर्तन आदि भगवत्प्राप्तिका अमोघ साधन और इस कलिकालमें कल्याणकारी उपाय है। अत: भगवान्‌की विभिन्न लीलाओं—अवतार-कथाओं और अनेकानेक लोक-मङ्गलकारी भगवच्चरित्रोंका सरस वर्णन एक ही स्थानपर एकत्रित—उपलब्ध हो सके—इस दृष्टिसे 'कल्याण' ने आगामी वर्ष (सन् १९९८ ई०)-के विशेषाङ्कके रूपमें **'भगवल्लीला-अङ्क'** प्रकाशित करनेका निश्चय किया है।

१-इस अङ्कमें भगवल्लीलाका प्रयोजन, परमात्मप्रभुकी सूक्ष्म एवं स्थूल लीलाएँ, पञ्चदेवोंके विभिन्न अवतार एवं उनकी लीलाएँ, भगवान् सदाशिवके विभिन्न स्वरूपोंमें कल्याणकारी लीलाएँ, भगवान् राम तथा भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्य-माधुर्यपूर्ण आदर्श लीला-चरित्र, महाविष्णुके चौबीस अवतारोंके रूपमें विभिन्न लीलाएँ, श्रीकृष्णकी रासलीला एवं उसका आध्यात्मिक रहस्य आदि अनेक वर्णनसहित, भगवान्‌के विभिन्न लीला-अनुचरों, लीला-उपासकों और भक्तोंके मनोरम चरित्र-चित्रण भी रहेंगे। अनेक भावपूर्ण बहुरंगे तथा सादे चित्रोंसे सज्जित एवं रंगीन आकर्षक सचित्र आवरणसे युक्त यह विशेषाङ्क भी 'कल्याण' के परम्परागत पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह ही सर्वजनोपयोगी और लोकप्रिय होगा—ऐसी आशा है।

२-डाकखर्च एवं अन्य खर्चोंमें वृद्धि हो जानेपर भी नये वर्षमें 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क पूर्ववत् रु० ८० (सजिल्दका रु० ९०); विदेशके लिये समुद्री-डाकसे वार्षिक शुल्क (US $ 11) **अथवा हवाई डाकसे** (US $ 22) है।

३-इस अङ्कमें मनीआर्डर-फार्म संलग्न है। आगामी वर्ष ७२ (सन् १९९८ ई०)-के निमित्त शुल्क-राशि भेजनेके उद्देश्यसे ग्राहक महानुभाव इस मनीआर्डर-फार्मका कृपया सदुपयोग करेंगे। मनीआर्डर-फार्मके पिछले भागमें नीचेकी ओर ग्राहक-संख्यासहित आपका पूरा पता छपा है। **पतेमें यदि कोई परिवर्तन आवश्यक हो तो इस फार्मपर चिपके छपे पतेमें कृपया कोई सुधार न करें, अपितु पता बदलनेकी सूचना अलग एक पोस्टकार्डपर लिखकर इस कार्यालयको तुरंत भेज दें, ऐसा करनेसे आपके पतेमें सुधार कर लिया जायगा।**

४-सभी पुराने ग्राहक सज्जनोंसे यह विशेष रूपसे विनम्र अनुरोध है कि **वे मनीआर्डर अथवा पत्र भेजते समय अपनी ग्राहक-संख्या कृपया अनिवार्यत: लिखें, इससे कार्यकी सम्पन्नता शीघ्र होगी।** पत्र-व्यवहारमें ग्राहक-संख्याका उल्लेख न करनेसे कार्यकी सम्पन्नतामें अनावश्यक विलम्ब और कार्यालयका अतिरिक्त कार्यभार बढ़ता है। अत: सभी महानुभावोंको इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

५-नये वर्षके लिये आपका मनीआर्डर प्राप्त होने एवं उसके समायोजनमें लगभग डेढ़-दो माहका समय लग जाता है। गत वर्षकी तरह इस वर्ष भी हमारा यह प्रयास है कि ग्राहकोंको नया विशेषाङ्क—**'भगवल्लीला-अङ्क'** जनवरीके प्रारम्भसे ही भेजना आरम्भ हो जाय, जिससे फरवरीके अन्ततक सभी ग्राहकोंको प्राप्त हो सके। अतएव **आपसे सादर अनुरोध है कि आगामी वर्ष ७२ (सन् १९९८ ई०)-के लिये अपना वार्षिक शुल्क इस मनीआर्डर-फार्मका उपयोग करते हुए शीघ्र भेजनेकी कृपा करें। जिन ग्राहकोंसे शुल्क समयसे पूर्व—अग्रिम प्राप्त नहीं होगा, उन्हें नियमानुसार गत वर्षोंकी तरह रु० ५ अतिरिक्त वी०पी०पी०—पोस्टेजके रूपमें देने होंगे।**

६-जिन ग्राहकोंको किसी कारणवश नये वर्ष-७२ (सन् १९९८ ई०)-में यदि 'कल्याण' का ग्राहक न रहना हो तो उन्हें चाहिये कि एक पोस्टकार्ड लिखकर 'मनाही' की सूचना इस कार्यालयको अवश्य भेज दें, जिससे उन्हें नये विशेषाङ्ककी वी०पी०पी० न भेजी जा सके।

७-'कल्याण'-प्रचारके इच्छुक सज्जन, पुस्तक-विक्रेता एवं समाजसेवी संस्थाएँ विशेषाङ्ककी कम-से-कम २५ (पच्चीस) प्रतियाँ एक साथ मँगाकर 'कल्याण' के पावन प्रचारमें सहयोगी बन सकते हैं। साधारण-अङ्क 'कल्याण'-कार्यालयसे भेजे जायँगे; वे चाहें तो वितरण-व्यवस्था स्वयं भी कर सकते हैं। इस निमित्त उन्हें रु० ६ (छ: रुपये) प्रति ग्राहककी दरसे प्रचार-प्रोत्साहन-राशि दी जायगी।

व्यवस्थापक—**'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ७१ संख्या १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
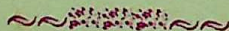
(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, अक्टूबर १९९७ ई०

☆☆☆

चित्र-सूची

☆☆☆

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

अहल्यापर कृपा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

वर्ष ७१ | गोरखपुर, सौर कार्तिक, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, अक्टूबर १९९७ ई० | संख्या १० | पूर्ण संख्या ८५१

अहल्यापर कृपा

रामपद-पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥
प्रबल पाप पति-साप दुसह दव दारुन जरनि जरी।
कृपासुधा सिँचि बिबुध-बेलि ज्यौं फिरि सुख-फरनि फरी॥
निगम-अगम मूरति महेस-मति-जुबति बराय बरी।
सोइ मूरति भइ जानि नयनपथ इकटकतें न टरी॥
बरनति हृदय सरूप, सील, गुन प्रेम-प्रमोद-भरी।
तुलसिदास अस केहि आरतकी आरति प्रभु न हरी?॥

(गीतावली)

कल्याण

सांसारिक सुख-भोगोंकी तृष्णाने ही लोगोंको भगवान्से विमुख कर रखा है। यह पिशाचिनी किसी भी कालमें भगवच्चिन्तनके लिये मनका पिण्ड नहीं छोड़ती। सदा-सर्वदा सिरपर सवार ही रहती है। रेल, मोटर, गाड़ी, जहाज, मन्दिर, मस्जिद, दूकान, घर, बाजार, वन, सभा और समारोह—सभी जगह यह साथ लगी रहती है। इसी कारण मनुष्य दुःखोंसे छुटकारा नहीं पा सकता। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥

(योगवासिष्ठ १। १७। ३२)

'संसारमें जितने दोष हैं, उन सबमें अकेली तृष्णा ही सबसे अधिक दुःखदायिनी है। जो कभी घरसे बाहर भी नहीं निकलता, उसे भी तृष्णा महान् संकटमें डाल देती है।'

भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम्।
खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी॥

(योगवासिष्ठ १। १७। १६)

'तृष्णा महती अन्धकारमयी कालरात्रिकी तरह है, जो धीर पुरुषको भी डरा देती है, चक्षुयुक्तको भी अन्धा बना देती है और आनन्दमग्नको भी खिन्न कर देती है।'

अपने ही व्याजसे विषय-तृष्णामें मतवाले मनुष्योंकी असफलताका दिग्दर्शन कराते हुए किसी कविने कहा है कि देखो तो धनकी तृष्णाने क्या-क्या काम नहीं कराये—

खोदत डोल्यो भूमि, गड़ी हू न पाई सम्पति।
धौंकत रह्यो पखान, कनकके लोभ लगी मति॥
गयो सिन्धुके पास, तहाँ मुक्ताहु न पायो।
कौड़ी कर नहिं लगी, नृपनको सीस नवायो॥
साधे प्रयोग स्मसानमें, भूत प्रेत बैताल सजि।
कितहूँ भयो न वांछित कछू, अब तो तृष्णा मोहि तजि॥

'गड़े धनके लिये जमीनका तल खोद डाला, रसायनके लिये धातुएँ फूँकीं, मोतियोंके लिये समुद्रकी थाह ली, राजाओंको संतुष्ट रखनेमें बड़ा यत्न किया, मन्त्र-सिद्धिके लिये रातों श्मशान जगाया और एकाग्र होकर बैठा हुआ जप करता रहा, पर खेद है कि कहीं एक फूटी कौड़ी भी हाथ न लगी। इसलिये हे तृष्णे! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़ दे।'

फिर कहते हैं—

भटक्यो देस-बिदेस, तहाँ कछु फलहु न पायो।
निज कुलको अभिमान छोड़ सेवा चित लायो॥
सही गारि अरु खीझ, हाथ झारत घर आयो।
दूर करतहूँ दौरि, स्वान जिमि परघर खायो॥
इहि भाँति नचायो मोहि तैं, बहकायो दै लोभतल।
अबहूँ न तोहि संतोष कहु, तृष्णा! तू पापिनि प्रबल॥

तृष्णाके कारण ही इतनी लाञ्छना, निर्लज्जता और इतना अपमान तथा दुःख सहन करना पड़ता है।

दुःखके बाद दुःखोंकी परम्परा बनी रहनेमें भी तृष्णा ही प्रधान कारण होती है। मनुष्य किसी भी अवस्थामें संतोष नहीं करता, इसीलिये बारंबार उसकी स्थिति बदलती रहती है। तृष्णाके मारे भटकते-भटकते सारी आयु बीत जाती है, अन्तमें वह जैसे-का-तैसा ही रह जाता है। पीछे हाथ मल-मलकर पछतानेसे भी कोई लाभ नहीं होता।

यदि भाग्यवश धन प्राप्त भी हो जाता है तो भी तृष्णा उसका कुछ विशेष सदुपयोग नहीं होने देती। यह वृद्धावस्थामें और बढ़ती है। इस प्रकार सारी आयु बातों-ही-बातोंमें बीत जाती है।

अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको भोगोंकी तृष्णासे मुँह मोड़कर परमात्माके लिये तृषित होना चाहिये। भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होती—

'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, बिषय-भोग बहु घी ते॥'

अग्निमें घी डालते जाइये, वह और भी धधकेगी। यही दशा कामनाकी है। उसे बुझाना हो तो संतोषरूपी शीतल जल डालिये। असली धन तो वही है, जिससे मनुष्यको सुख मिले। ऐसा धन संतोष है—

'संतोषः परमं धनम्।'

—'शिव'

भगवान्‌की दया और प्रेमका रहस्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जिनका भगवान्‌में तीव्र प्रेम होता है या परम श्रद्धा होती है अथवा जिनकी भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा या लगन होती है, उन्हें तो भगवान्‌के दर्शन तुरंत हो ही जाते हैं—यह उचित है और न्याय है। ऐसे भक्तोंको दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य हैं। स्वयं भगवान्‌ने गीता (११।५४)-में कहा है कि अनन्य भक्तिसे मैं दर्शन देनेके लिये बाध्य हूँ। जब भगवान्‌में परम श्रद्धा हो जाती है, तब उनमें उच्चकोटिका अनन्य प्रेम, विशुद्ध प्रेम हो जाता है। ऐसा होनेपर भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा हो जाती है। जब तीव्र इच्छा हो जाती है तो साधनकी तत्परता हो जाती है और लगन लग जाती है। तब भगवान् उसी समय प्रकट हो जाते हैं। किंतु मिलनेकी तीव्र इच्छा या परम प्रेम न होनेपर भी भगवान् उसको दर्शन देते हैं। जिनमें भगवान्‌से मिलनेकी तीव्र इच्छा, भगवान्‌में परम श्रद्धा तथा अनन्य प्रेम आदि बातें हों ऐसे पुरुष तो भगवान्‌के दर्शनोंके पात्र हैं ही, किंतु पात्र न होनेपर भी भगवान् किस परिस्थितिमें दया करते हैं? यह जो मान्यता है कि भगवान् हेतु-रहित दया और हेतु-रहित प्रेम करनेवाले हैं और सबके सुहृद् हैं—इस मान्यतासे अपात्रको भी दर्शन हो जाते हैं अर्थात् उसकी अपात्रता होनेपर भी भगवान् दर्शन देते हैं। जो यह मानता है कि भगवान् बड़े दयालु हैं पात्र नहीं होनेपर भी भगवान् उसे दर्शन देते हैं। तो पात्रपर दया करना तो न्याय ही है। ऐसी परिस्थितिमें फिर पापियोंका उद्धार कैसे हो? पापी पुरुषके भी यह समझमें आ जाय कि भगवान् दयालु हैं तो पापी-से-पापी पुरुष भी भगवान्‌के दर्शनोंका अधिकारी हो जाता है और ऐसा विश्वास हो जाय कि भगवान् अपने दासके दोषोंकी तरफ नहीं देखते। उनकी दयासे अपात्रको भी दर्शन हो जाते हैं। 'भगवान् सुहृद् हैं'—इसका दृढ़ निश्चय ही—इस बातका द्योतक है कि अपात्रको भी भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं। दृढ़ विश्वास कर लेनेपर कि भगवान् दयालु और उदार हैं तो वह मनुष्य कैसा भी क्यों न हो, भगवान् उसके दोषोंको देखते ही नहीं। जैसे माँ परम दयालु है और वह अपने बालकके दोषोंकी तरफ नहीं देखती, उससे प्यार ही करती है। इसी प्रकार भगवान् भी दोषोंको न देखकर प्यार ही करते हैं। भगवान्‌के विषयमें यह धारणा यानी मान्यता बड़ी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है, भगवान् दयामय हैं, प्रेममय हैं, दया और प्रेमके सागर हैं तथा वे सभी लोगोंपर बिना ही कारण दया और प्रेम करते हैं। इस प्रकारकी मान्यतासे बड़ा लाभ होता है। भगवान् यह समझते हैं कि मेरे विषयमें यह इस प्रकारका विश्वास करता है, अतः इसके लिये मुझे वैसा ही बनना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(४।११)

किंतु इसके विपरीत यदि कोई भगवान्‌की दयाकी आड़में पाप करता है तो वह पाप वज्रलेप हो जाता है और उसका कभी नाश नहीं होता। उपर्युक्त मान्यतासे पूर्वके पाप तो नष्ट हो जाते हैं, किंतु भविष्यमें भी किसी प्रकारके पापका आश्रय न ले। इसके लिये वह बार-बार भगवान्‌के इन वचनोंको पुस्तकोंमें पढ़े, महापुरुषोंसे सुने और उनपर श्रद्धापूर्वक मनन करे। गीता (५। २९)-में भगवान्‌ने कहा है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

—मनुष्य मुझे सब भूतोंका सुहृद् जानकर परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। तथा—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(रा० च० मा० ७। ४७। ५)

बिना हेतु उपकार करनेवाले या तो प्रभु हैं या उनके भक्त।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥

(रा० च० मा० ४। १२। १)

[श्रीशंकरजीके वचन हैं—] हे उमा! रामके समान हित करनेवाला संसारमें माता-पिता, गुरु-बन्धु कोई भी नहीं है। इस प्रकारके प्रसंग बार-बार सुने और भगवान्‌के स्वभावको याद करे कि भगवान् कितने दयालु और प्रेमी हैं। जैसे संसारमें कोई आदमी बहुत ज्यादा दयालु हो तो

उसकी दयासे स्वार्थी आदमी अनुचित लाभ उठा लेता है, इसी प्रकार भगवान्‌से हमें लाभ उठाना चाहिये। अतएव भगवान्‌को ऐसा माने। वास्तवमें भगवान् हैं ही ऐसे। भगवान् इतने दयालु हैं कि अपने जनके दु:खको सहन नहीं कर सकते, देख नहीं सकते। प्रभुका हृदय बड़ा ही कोमल है। भरतजी महाराज कहते हैं—

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(रा० च० मा० ७। १। ६)

भरतजीका कैसा उच्चकोटिका भाव है। वे कहते हैं कि प्रभु! यदि आप मेरे अवगुणोंकी ओर देखेंगे तो सौ करोड़ कल्पतक मेरा उद्धार होनेका कोई उपाय नहीं है, किंतु आप मेरे दोषोंकी तरफ देखते ही नहीं—यही मेरे लिये एक मात्र आधार है। प्रभु! आपका स्वभाव बड़ा कोमल है और आप अपने जनके दु:खोंको देख ही नहीं सकते। आप दीनोंके बन्धु हैं। मनुष्यके भीतर भगवान्‌के लिये जो आतुर-भाव, दीन-भाव और करुणा-भाव है, उसका बड़ा महत्त्व है। जिनके हृदयमें ऐसा भाव है वह भगवान्‌की दयाका पात्र हो जाता है। पापी-से-पापी मनुष्य भी पात्र हो जाता है अर्थात् अपात्र भी पात्र हो जाता है। जैसे संसारमें कोई मनुष्य किसीके प्रति ऐसा भाव रखता है कि यह बड़ा उदार है, बड़ा दयालु है तो हृदयमें ऐसा भाव रखनेवाला पुरुष उस दयालु और उदारचित्तवाले मनुष्यसे ज्यादा लाभ उठा लेता है। वह उदारचित्तवाला पुरुष यह समझता है कि मेरे विषयमें यह इतना भरोसा रखता है, धारणा रखता है तो इसकी धारणाके जैसा ही मुझे व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार उसका हृदय बदल जाता है और उसके लिये कम दयालु भी अधिक दयालु बन जाता है। जो कम उदारचित्त है वह उसके लिये अधिक उदारचित्त हो जाता है। भगवान् तो वास्तवमें उदार हैं ही। इस प्रकार भगवान्‌के प्रति जो अधिक-से-अधिक विश्वास करता है कि भगवान् कितने उदार हैं, कितने दयालु हैं। इस प्रकार भगवान्‌को उत्तम-से-उत्तम समझनेवाला पुरुष दयाका पात्र हो जाता है। भगवान् तो वास्तवमें ऐसे ही हैं। हम लोग लाभ नहीं उठा रहे हैं। हम कहते तो हैं कि भगवान् बहुत दयालु हैं और साथ-साथ यह भी समझते हैं कि वे दयालु होते हुए भी न्यायकारी हैं। न्यायकारी माननेसे उनके विधानके अनुसार ही हमें लाभ मिलता है। हम यह समझते हैं कि यह भगवान्‌की नीति है। नीति तो है, किंतु प्रेमके आगे नीति टिकती नहीं। इसलिये जो यह समझता है कि भगवान् दयालु हैं, प्रेमी हैं, वहाँ भगवान् अपनी नीतिको भी भूल जाते हैं। भगवान् तो दया और प्रेमके भण्डार हैं। भगवान्‌को दयालु समझनेसे मनुष्य अधिक-से-अधिक दया-विषयक लाभ उठा लेता है। वह यह समझे कि मैं तो किसी प्रकारसे भी पात्र नहीं हूँ, किंतु जो कुपात्र है या अपात्र है, उसका भी भगवान् उद्धार करते हैं। इस प्रकार भगवान्‌के घरमें विशेष छूट है, एक विशेष कानून है। यह भी एक प्रणाली है। ऐसी जिसकी मान्यता है और जिसका इस विषयमें अधिक-से-अधिक विश्वास है, वह विशेष लाभ उठा सकता है। भजन-साधन करनेवाला लाभ उठाये तो वह न्याययुक्त है ही। क्योंकि भगवान् इतने दयालु हैं कि वे दयाकी बाढ़में स्वयं ही बह जाते हैं। उनके हृदयमें जब दया उमड़ती है, उस समय भगवान् न्याय और नीतिके विधानका खयाल ही नहीं करते। नीतिके अनुसार तो वह दयाका पात्र नहीं है। किंतु वे ऐसा नहीं करते। भगवान् सबके मालिक हैं। उनको कहनेवाला कौन है? पूतना-जैसी राक्षसी जो कि भगवान्‌को विष देने आयी, उसका भी भगवान् उद्धार कर देते हैं। यह खयाल करना चाहिये कि उनमें कितनी दयालुता भरी है। पूतनाको स्वप्नमें भी कल्पना नहीं थी कि उसकी मुक्ति हो जायगी। भगवान् विचार करते हैं कि जिसका मेरे साथ सम्बन्ध हो गया, उसका उद्धार तो होना ही चाहिये। इस प्रकार भगवान्‌के विषयमें जो जानता है, वह उनसे विशेष लाभ उठा लेता है।

यही बात प्रेमके विषयमें भी है। जो यह समझ लेता है कि भगवान् बिना कारण ही प्रेम करनेवाले हैं और उनमें प्रेमकी मात्रा अतिशय है,ऐसी स्थितिमें यदि सारी दुनियाका प्रेम इकट्ठा कर लिया जाय तो संसारका समस्त प्रेम मिल करके भी उस प्रेमसागरकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। भगवान् ऐसे प्रेमी हैं वे प्रेमका जितना मूल्य चुकाते हैं दुनियामें और कोई नहीं चुका सकता, आदर नहीं कर सकता। अपने अंदर प्रेम नहीं है, किंतु अपनी यह मान्यता

है कि भगवान् प्रेमकी बड़ी इज्जत करते हैं। हम यह समझते हैं कि भगवान्‌से जो थोड़ा भी प्रेम करता है, उसके बदलेमें भगवान् अपने-आपको बेच देते हैं। जिस मनुष्यकी यह मान्यता है कि भगवान् प्रेमका जितना मूल्य चुकाते हैं, उतना दुनियामें कोई भी नहीं चुका सकता, वह मनुष्य भगवान्‌से ही प्रेम करता है और किसीसे नहीं करता। मात्र इस बातके ज्ञानसे ही भगवान्‌में अनन्य और विशुद्ध प्रेम हो जाता है और भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार हमको यह समझना चाहिये कि भगवान् ही एकमात्र ऐसे प्रेमी हैं, वे बिना कारण ही प्रेम करते हैं। उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। भगवान्‌का स्वभाव ही प्रेम करनेका है। जो इस प्रकार मानकर भगवान्‌से अनन्य प्रेम करता है, वह निश्चय ही लाभ उठा लेता है। फिर जो जानता है, वह तो लाभ उठाता ही है। जिनका वास्तवमें भगवान्‌से प्रेम है, उनका तो कहना ही क्या है?

प्रश्न—जानने और माननेमें क्या अन्तर है?

उत्तर—पहले तो मान्यता होती है और फिर उसका ज्ञान होता है। पहले यह बात मान ले या स्वीकार कर ले कि भगवान् ऐसे प्रेमी हैं और उनके समान दुनियामें और कोई प्रेमी नहीं है। भगवान्‌में किसीका थोड़ा भी प्रेम होता है तो भगवान् स्वयं ही उसके प्रेममें बिक जाते हैं। जिनका थोड़ा भी प्रेम होता है भगवान् उसका बहुत मूल्य देते हैं, ऐसा कोई भी नहीं देता। संसारके मनुष्योंके प्रेमका मूल्य भगवान्‌के मुकाबले शतांश भी नहीं है, यानी कुछ भी नहीं है। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है, जो प्रेमका ऐसा मूल्य चुकाये—एक भगवान् ही ऐसे हैं। इस प्रकारका मनमें दृढ़ विश्वास होनेपर ही ऐसी मान्यता होती है। यदि ऐसा विश्वास कर ले तो आगे चलकर इस मान्यतासे ज्ञान हो जाता है। भगवान्‌का ज्ञान होनेके समय इतनी प्रसन्नता और शान्ति हो जाती है, जिसकी कोई सीमा ही नहीं। भगवान्‌के प्रति ऐसी मान्यताके समय उसको ऐसी प्रतीति होती है कि इस बातको हम जानते ही नहीं थे कि भगवान् ऐसे हैं और मानते भी नहीं थे। वह इस प्रकार समझता है कि यह तो महापुरुषोंकी कृपा है, जिन्होंने हमें ऐसी युक्ति बतायी, शास्त्रोंकी हमपर बड़ी कृपा है, जो इस तरहकी बातें हमको शास्त्रोंमें पढ़नेको मिलीं और वह खूब प्रसन्न होता है। गड़ा हुआ धन मिलनेसे जितनी प्रसन्नता होती है, उससे भी ज्यादा प्रसन्नता होती है। धन तो मामूली चीज है, पर लोभी आदमीके लिये तो वही सबसे बढ़कर है। इसीलिये धनका उदाहरण दिया जाता है। जो भगवान्‌को इस प्रकारसे जानता है कि भगवान् तो ऐसे हैं, तो भगवान्‌को तो यह ज्ञान है ही कि अमुक आदमीकी मेरे प्रति मान्यता ऐसी है। ऐसी मान्यता श्रद्धासे होती है, विश्वाससे होती है। यह विश्वास सुननेसे होता है, पढ़नेसे होता है, अन्त:करण शुद्ध होनेसे होता है और भगवान्‌की कृपासे होता है।

भगवान्‌की कृपा तो सबपर है ही। इस बातको जो हृदयसे समझता है कि भगवान्‌की कृपा सबपर है तो वह पात्र हो जाता है—भगवान्‌की दयाका पात्र बन जाता है। उसपर भगवान् विशेष दया करते हैं। भगवान् परम प्रेमी हैं, परम दयालु हैं, बिना कारण ही दया और प्रेम करनेवाले हैं; दया करना और प्रेम करना उनका स्वभाव ही है। सूर्य भगवान् ताप देते हैं, प्रकाश देते हैं। यह उनका स्वभाव ही है। जिस प्रकार ताप और प्रकाश देना सूर्य भगवान्‌का स्वभाव है, उसी प्रकार भगवान्‌का भी यह स्वभाव है कि वे बिना कारण ही प्रेम और दया करते हैं। सूर्यके विषयमें जिसकी इस प्रकारकी मान्यता होती है, वह सूर्यसे विशेष लाभ उठा लेता है। इसी प्रकार भगवान्‌के विषयमें जिसकी ऐसी मान्यता होती है, वह भगवान्‌से विशेष लाभ उठा लेता है। वह यह समझता है कि सूर्य-जितना प्रकाश कहीं नहीं है और सूर्यकी धूपमें बड़ी भारी गर्मी है। उसे यदि गर्मीकी आवश्यकता है तो वह धूपसे लाभ उठा लेता है। इसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष भगवान्‌की छत्रच्छायामें रहकर भगवान्‌से लाभ उठा लेता है। भगवान् बड़े दयालु, बड़े प्रेमी और हेतुरहित दया तथा प्रेम करनेवाले हैं, बड़े उदारचित्त हैं, बिना माँगे ही देते हैं। माँगनेकी आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि यह उनका स्वभाव है। ऐसे ही संत और महात्माओंका स्वभाव जीवोंका हित और कल्याण करनेका होता है। जैसे महात्माओंका स्वभाव श्रेष्ठ होता है, साधु-स्वभाव होता है, ऐसे ही भगवान्‌का स्वभाव उनसे भी बढ़कर है।

जो पुरुष महात्मा नहीं है, उसमें कमी है, किंतु दूसरे लोग उसपर विश्वास करते हैं, उसको हृदयसे महात्मा मान लेते हैं तो वह उनके लिये महात्मा ही रहता है; क्योंकि वह समझता है कि ये मुझे महात्मा मानते हैं तो जैसे महात्माका व्यवहार होता है, वैसा ही व्यवहार मुझे उनके साथ करना चाहिये। इनकी दृष्टिमें मैं महात्मा हूँ, इनका जो विश्वास है, श्रद्धा है, उसके अनुसार इनको तो लाभ होना ही चाहिये। इस प्रकार जो महात्मा नहीं है, उसमें कमी है, पर वह भी दूसरोंके लिये श्रेष्ठ बनकर रहता है। किंतु भगवान् तो वास्तवमें महात्माओंके भी महात्मा, श्रेष्ठसे भी महान् (उच्चकोटिके) श्रेष्ठ हैं। उनको वास्तवमें जो जैसा मान लेता है, उसके लिये भगवान् वैसे ही बन जाते हैं और वह पात्र हो जाता है। मान्यता ऐसी चीज है कि अपात्र भी पात्र बन जाता है। कुपात्र भी सुपात्र बन जाता है। इसमें जो भाव है, माननेकी जो भावना है, वह उस अपात्रको भी पात्र बना देती है। जैसे कोई आदमी विश्वासका पात्र नहीं है, किंतु मैं उसको विश्वासका पात्र समझकर विश्वास करता हूँ तो वह अविश्वासी आदमी भी मेरी मान्यताके बलपर विश्वासी बन जाता है; क्योंकि वह श्रेष्ठ बननेके लिये प्रयत्न करता है और श्रेष्ठ बन जाता है। यदि वह श्रेष्ठ नहीं भी बनता है, पर मेरे सामने तो वह श्रेष्ठ बनकर ही रहता है, क्योंकि वह समझता है कि ये मेरा विश्वास करते हैं, मुझे विश्वासी मानते हैं, तो मुझे इनके सामने विश्वासी होकर ही रहना चाहिये। फिर भगवान् तो महान् विश्वासके पात्र हैं, उनमें तो कोई कमी है ही नहीं।

भगवान् प्रेमीको तो मिलते ही हैं, किंतु मेरेमें प्रेम कहाँ? परंतु मैं समझता हूँ भगवान् मुझमें गुणोंकी कमी नहीं देखेंगे, मुझमें कमी तो है, किंतु भगवान् देखते नहीं हैं। वे तो केवल मात्र यही देखते हैं कि मेरे प्रति इसका कितना विश्वास है, कैसी मान्यता है? अत: भगवान्‌के विषयमें अपनी मान्यता और दृढ़ करनी चाहिये।

भगवान् परम दयालु हैं—यह बात हम मुँहसे कहते हैं। किंतु जो बात हम कहते हैं, उसी प्रकार हम मानें कि भगवान् वास्तवमें ऐसे हैं तो उनकी दयासे हम वंचित कैसे रह सकते हैं? यदि हम वंचित हैं तो यह बात कि 'भगवान् हेतुरहित दयालु और दयाके सागर हैं'—केवल कथनमात्र ही है; क्योंकि हृदयसे ऐसी मान्यता दृढ़ होनेपर हम उनकी परम दयासे कभी वंचित नहीं रह सकते और यदि हम भगवान्‌की परम दयासे वंचित हैं तो हम इस बातको नहीं मानते कि वे परम दयालु हैं और उनकी हमपर अटूट दया है। इस संदर्भमें यह कहानी समझनेके लिये उपयुक्त है—

'एक क्षत्रियका लड़का था। उसके माता-पिताने वृद्ध होनेपर कहा कि 'बेटा! अब हम बूढ़े हो गये हैं, यदि हम मर जायँ तो तुम किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं करना, हमारे राजा बड़े दयालु हैं। जैसे माता-पिताका पुत्रपर स्वाभाविक ही दया और प्रेम होता है, वैसे ही वे उससे भी बढ़कर, बिना किसी कारणके दया और प्रेम करनेवाले हैं। ऐसे उत्तम संस्कार उस लड़केमें भर दिये। उनके आज्ञानुसार उस बालकमें राजाके प्रति पक्की मान्यता, बड़ा सम्मान और उच्चकोटिका भाव हो गया। जब वह पाठशालामें पढ़ने जाता तो सबसे प्रेम रखता, प्रसन्न रहता।

जब उसके माता-पिता मर गये और वह पाठशाला पढ़ने जाता तो भी उसके चेहरेपर न उदासी रहती और न चिन्ता रहती। यह देखकर उसके सहपाठी लड़कोंको आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'क्या बात है, तुम्हारे माता-पिता दोनों ही अभी जल्दी ही मरे हैं, उनके लिये तुम्हें चिन्ता-शोक नहीं होता? क्या तुम्हारे मनमें यह विचार नहीं आता कि मेरा भरण-पोषण कैसे होगा? उस क्षत्रिय बालकका उत्तर था—मेरे भरण-पोषणकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि यहाँके राजा बड़े दयालु और प्रेमी हैं और उनके राज्यमें किसीको भी किसी बातकी चिन्ता करनी ही नहीं चाहिये। जो चिन्ता करता है वह मूर्ख है। फिर मेरे ऊपर तो उनकी विशेष दया है, विशेष प्रेम है। मेरे माता-पिता यह बराबर समझाया करते थे। मुझे उनके वचनोंपर पूरा विश्वास है। अतएव मुझे मेरे निर्वाहकी चिन्ता नहीं है। बालकोंका यह पारस्परिक वार्तालाप उनके प्रधानाध्यापकने सुना, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस छोटेसे बालकका राजापर कितना अद्भुत विश्वास हो गया है। वास्तवमें राजा

ऐसा ही था।

वह प्रधानाध्यापक राजाकी सभामें बैठा करता था। एक दिन प्रधानाध्यापक राजाके पास गया। वहाँ सारे मन्त्री इकट्ठे थे। उनमें राज्य-सम्बन्धी विचार होने लगा। राजाने पूछा कि मेरे देशमें कोई अनाथ या भूखा तो नहीं है? अन्न-वस्त्रके बिना कोई तकलीफ पाता हो तो बतलाओ। उसका प्रबन्ध किया जा सकता है। तब किसीने कहा कि सरकार, एक राजपूतके लड़केके माँ-बाप मर गये हैं और वह अनाथ हो गया है। वह विद्यालयमें पढ़ता भी है और उसकी आयु भी अभी छोटी है, अत: वह सहायताके लायक है। इतनेमें प्रधानाध्यापक बोल उठा कि सरकार, उस लड़केके विषयमें लोग जितना कहते हैं, वह उससे भी बढ़कर गरीब है, उसका कोई आधार नहीं है, वह बिलकुल अनाथ है। यद्यपि उसके माँ-बाप मर गये हैं फिर भी आपके ऊपर उसका बड़ा भारी विश्वास है, वह आपपर बहुत ही निर्भर है, इसलिये वह निश्चिन्त-सा है। वह कहता है कि 'मैं अपने लिये क्यों चिन्ता करूँ। महाराज बड़े दयालु, प्रेमी तथा उच्चकोटिके महापुरुष हैं, अत: मुझे चिन्ता किस बातकी?' राजाने बड़े उत्साहसे पूछा कि क्या उसे इतना भारी विश्वास है? अध्यापकने कहा कि विश्वासकी तो हद है सरकार! राजाने तत्काल उसके खाने-पहननेके लिये और उसको जो वस्तु चाहिये, उनका आवश्यकतानुसार राज्यसे प्रबन्ध करा दिया। विद्याका प्रबन्ध पहलेसे था ही।

एक दिनकी बात है, लड़के दौड़कर आये और बोले कि तुम्हारे कच्चे घरको राजाके सिपाही तोड़ रहे हैं। यह सुनकर वह बड़ा खुश हुआ। लड़कोंने कहा कि यह रोनेका काम है कि खुश होनेका। उसने पूछा कि क्यों रोऊँ? लड़कोंने कहा—वे तुम्हारे घरको तोड़ रहे हैं। वह बोला—तोड़ रहे हैं तो क्या हुआ उस जगह नया बनायेंगे। उसमें क्या आपत्ति है? उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि देखो, इसे कितना विश्वास है। फिर वह प्रधानाध्यापक दरबारमें गया और राजासे पूछा कि हुजूर! क्या आप उसका घर नया बनवा रहे हैं? राजाने कहा-हाँ, नया बनवा रहे हैं। बेचारेके पास रहनेके लिये अनुकूल घर नहीं है। उस लड़केके विवाहमें भी जो रकम खर्च होगी, उसके लिये भी आदेश कर दिया है। वह बड़ा ही दयाका पात्र है। इसपर प्रधानाध्यापक हँसे तो राजाने पूछा कि क्यों हँसते हो? उसने कहा कि महाराज! मैं क्या कहूँ, वास्तवमें वह पात्र है। वह आपपर जितना निर्भर है, उतना हम लोग कोई भी नहीं हैं। वह आपपर बड़ा विश्वास करता है। इतना विश्वास करता है कि जब उसका मकान तोड़ा जा रहा था तो लड़कोंने आकर उसे खबर दी, यह सुनकर वह बड़ा खुश हुआ और कहा कि महाराज नया बनवायेंगे। फिर आपसमें बात चली, तब राजाने कहा कि 'मैं वृद्ध हो गया हूँ और मेरे कोई संतान नहीं है। अत: आप लोग विचार करके देखें कि राज्यमें जिसे आप पात्र और बढ़िया-से-बढ़िया समझें उसे युवराजपद यानी राजगद्दी दे दी जाय।' प्रधानाध्यापकने यह प्रस्ताव किया कि उस लड़केके समान कोई दूसरा लड़का मेरे देखनेमें नहीं आता। वह सुशील है, बुद्धि भी बड़ी तेज है और आपका परम भक्त है। अत: वह सब प्रकारसे युवराज-पदके योग्य है। राजाने सबसे पूछा तो सबने उसका समर्थन किया कि महाराज! बात तो ऐसी ही है, उस लड़केके विषयमें हम भी ऐसा ही सुनते हैं। तब राजाने कहा—ठीक है, और उसी समय एक प्रस्ताव पास हो गया और उसे युवराज-पद दे दिया गया। उस समय वहाँ जितने लोग थे, वे सभी खुश हो गये और वे सब उस क्षत्रिय बालकके घर गये। उस बालकने सबको नमस्कार किया, आदर किया और कहा कि आप लोग मेरे घर पधारे हैं सो आपकी मुझपर बड़ी भारी दया है, बतायें मैं आपकी क्या सेवा करूँ? उन्होंने कहा कि हम तो आपके पास दयाकी याचना करने आये हैं कि आप हमारे ऊपर सदा दया रखें। लड़केने कहा कि आप ये क्या बात कहते हैं, दया तो आपकी मुझपर है और होनी चाहिये; क्योंकि महाराजकी दया है तो आपकी क्यों नहीं होगी। उन्होंने कहा कि महाराजकी क्या कहें, उनकी जितनी दया आपपर है, उतनी किसीपर नहीं है। लड़केने कहा कि मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि महाराजकी दया मेरेपर सबसे बढ़कर है। उन्होंने कहा कि आप जैसा मानते हैं उससे भी और ज्यादा दया है, जिसे

आप समझ ही नहीं सकते-अनुमान ही नहीं लगा सकते। उसने पूछा कि क्या महाराजने मेरी शादीके लिये रुपयोंका प्रबन्ध कर दिया। उन्होंने कहा कि शादीकी क्या बात है? आपके ऊपर बड़ी भारी दया है और हम लोग भी आपकी दयाका पात्र बनना चाहते हैं, तो उसने कहा कि महाराज, ऐसा कहकर मुझे लज्जित न करें, मैं तो एक साधारण व्यक्ति हूँ, इसके लायक नहीं हूँ। उन्होंने कहा कि आप साधारण व्यक्ति हैं यह आपकी धारणा है। हम तो यह जानते हैं कि महाराजकी आपपर इतनी दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। उसने पूछा कि क्या महाराजने मेरे नामपर कोई एक आध गाँव कर दिया! बोले—गाँवकी क्या बात? तो क्या मुझे कहींका जागीरदार बना दिया है। मैं कहता हूँ कि मैं लायक नहीं हूँ। उन्होंने कहा—आप क्या समझेंगे? उनकी दयाकी कोई सीमा नहीं है, उसका आप अनुमान भी नहीं कर सकते। लड़केने कहा कि अगर बतलाने योग्य हो तो आप कृपा करके मुझको बतलायें, मैं सुनना चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि महाराजने आपको युवराज-पद देनेका निर्णय कर लिया है, आपको अपना उत्तराधिकारी मान लिया। आप ही महाराजके बाद राजा होंगे। उसने कहा कि यह तो असम्भव-सी बात है। उन्होंने कहा कि असम्भव नहीं है, यह निर्णय हो चुका है। तब उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहा और कहा कि इस बातका मुझे स्वप्नमें भी अनुमान नहीं था कि मेरे ऊपर इतनी भारी दया है। मैं तो पात्र नहीं हूँ, मुझ अपात्रपर भी महाराजकी इस प्रकारकी दया है, यह तो मेरी समझके बाहरकी है।'

इस उदाहरणमें हमको यह समझना चाहिये कि राजा कौन है? राजा परमात्मा है। और वह लड़का? वह यह माननेवाला पुरुष कि राजा यानी भगवान् बड़े दयालु और प्रेमी हैं, बिना कारण ही दया और प्रेम करनेवाले हैं, अपात्रपर भी दया और प्रेम करनेवाले हैं। राजाके मन्त्रिमण्डलमें बैठनेवाले जो मन्त्री आदि थे जिनमें अध्यापक भी एक था, वे सब भगवान्के उच्चकोटिके भक्त हैं और उसके जो सहपाठी थे, वे संसारमें जो हमारे हितैषी और मित्र होते हैं वे हैं। उसको शिक्षा देनेवाले उसके माता-पिता वे महात्मा पुरुष हैं जो हमको शिक्षा देते रहते हैं। वे कहते हैं कि महाराज यानी ईश्वर बड़े दयालु और प्रेमी हैं, बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाले हैं। अब इससे हमको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जैसे उस लड़केके अनुमानमें भी यह बात नहीं थी कि मैं युवराज-पदपर अभिषिक्त होऊँगा, उसकी सपनेमें भी यह कल्पना नहीं थी कि राजा मुझे युवराज-पद दे देंगे, वैसे ही जो यह मानता है कि भगवान्की मेरे ऊपर बड़ी दया और बड़ा प्रेम है, वे बिना कारण ही दया और प्रेम करनेवाले हैं, उसका यह फल है कि उसे युवराज-पदकी प्राप्ति यानी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमपदकी प्राप्ति यहाँ युवराज-पद है। यानी यह कल्पना भी नहीं होती कि इस प्रकारकी मान्यताका यह फल है। प्रकरण यह है कि अपने मनमें यह धारणा करनी, यह विश्वास करना कि मैं अपात्र हूँ, वास्तवमें मैं किसी प्रकारसे भी पात्र नहीं हूँ, किंतु भगवान् इतने दयालु हैं कि जो अपात्र है उसका भी कल्याण करते हैं और परमात्माके विषयमें उसकी जो धारणा है और उस धारणाका जितना लाभ है वह समझके बाहर है। बात यह चली थी कि अपात्र या कुपात्र मनुष्य कैसी मान्यतासे परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। वह इस प्रकारकी धारणाको समझकर हर समय प्रसन्न रहता है कि भगवान्की मेरेपर बड़ी भारी दया है, भगवान् बड़े दयालु हैं, प्रेमी हैं। इसको समझकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होना, प्रसन्न होना—यह भाव उसे परमात्माकी प्राप्तिका पात्र बना देता है। यह हुई मान्यता। उस क्षत्रिय बालकको ज्ञान नहीं था, वह माता-पिताके उपदेशको सुनकर मानता था। ऐसे ही हम लोग महात्माके उपदेश सुनकर मनमें ऐसी मान्यता रखें कि भगवान् ऐसे हैं—भगवान् ऐसे हैं और वास्तवमें विश्वास करें कि यह बात सच्ची है और भगवान्के विषयमें हम ऐसी भावना करें तो हम वैसे ही पात्र बन जाते हैं, बन सकते हैं, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। इसमें हमारा क्या लगा? भगवान्के विषयमें ऐसी जो मान्यता है वह अपात्रको भी पात्र बना देती है। हर समय भगवान्की अपने ऊपर दया देख-देखकर खुश होना और इस बातको कि 'भगवान् बिना ही कारण प्रेम कर रहे हैं' समझकर खुश होना या इस बातको सुनकर और मानकर खुश होना श्रद्धाकी ही

बात है। जैसी श्रद्धा होती है वैसा फल होता है। रामचरितमानस (५। ४)-में चर्चा आती है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

अर्थात् हे तात! स्वर्ग और अपवर्ग यानी मोक्ष दोनोंको तराजूके एक पलड़ेपर रखो और दूसरे पलड़ेपर एक क्षणका सत्संग रखो तो एक क्षणके सत्संगके समान स्वर्ग और मुक्ति दोनों मिलकर भी नहीं होते। वह कैसा सत्संग है? सत् यानी परमात्माका संग एक नंबरका सत्संग है और दो नंबरमें महापुरुषों यानी भगवत्प्राप्त पुरुषोंका संग है। वह भी एक प्रकारसे ऐसा ही है, किंतु उन महापुरुषोंमें श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये कि इन महापुरुषोंका संग मुक्तिसे भी बढ़कर है। जो इस प्रकारका विश्वास रखता है, उसे महापुरुषोंके दर्शन होनेसे ही इतनी प्रसन्नता और शान्ति होती है, जिसकी कोई सीमा नहीं और वह महापुरुषोंकी प्रत्येक चेष्टाको देख-देखकर मुग्ध हो जाता है। उसे उनकी सारी चेष्टा लीलाकी भाँति दीखती है। जैसे गोपियोंको भगवान्‌की सब चेष्टा लीलाके रूपमें दीखा करती थी, उसी प्रकार उसे महापुरुषकी सारी चेष्टा लीला प्रतीत होती है और वह उसे देख-देखकर क्षण-क्षणमें मुग्ध होता रहता है। उसमें इतनी मुग्धता बढ़ जाती है कि उसे क्षणमात्रमें परमात्माका ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, वह समझता है कि महापुरुषके बराबर संसारमें कोई नहीं है। जब गरुडजीको मोह हो गया और वे उपदेश लेनेके लिये जाते हैं, उस समय उनको रास्तेमें शिवजी मिले। शिवजीने कहा कि मैं तो एक जरूरी कामसे जा रहा हूँ, तुम काकभुशुण्डिके पास चले जाओ, वे बहुत ही उच्चकोटिके हैं। शिवजीके वचनोंपर गरुडजीको विश्वास हो गया और वे काकभुशुण्डिजीके आश्रममें पहुँचे और वहाँ पहुँचते ही क्षणमात्रमें उनको इतनी शान्ति, इतनी प्रसन्नता और इतना आनन्द हुआ जिसकी कोई सीमा नहीं। उसी समय काकभुशुण्डिजीने पूछा कि आप हमारे यहाँ पधारे हैं, मैं आपका कौन-सा काम करूँ? गरुडजीने कहा कि मैं जिस कामके लिये आया था, वह तो आपके दर्शनसे ही हो गया-आपके आश्रममें आनेसे ही हो गया। अब आप मुझे भगवान्‌की बातें सुनायें। इससे यह बात सिद्ध होती है कि गरुडजीको शिवजीके वचन सुनकर बड़ी भारी श्रद्धा हो गयी थी और उस श्रद्धाके प्रभावसे काकभुशुण्डिके दर्शनमात्रसे, क्षणमात्रमें वे जिस कामके लिये गये थे, वह काम सिद्ध हो गया। इससे यह बात सिद्ध होती है कि क्षणमात्रमें कल्याण हो जाता है। गरुडजीका मोह एकदम दूर हो गया। काकभुशुण्डिजी उच्चकोटिके महापुरुष थे ही और शिवजीके वचन काम कर गये। उनको विश्वास हो गया। विश्वास होनेसे उनका कार्य क्षणमात्रमें सिद्ध हो गया। पर विश्वास न होनेपर कार्य सिद्ध नहीं होता। जैसे शिवजीने अपनी धर्मपत्नी सतीको कहा कि श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् परमात्मा हैं, किंतु उनको विश्वास नहीं हुआ और वे परीक्षा लेनेके लिये गयीं। उस परीक्षाका फल यह हुआ कि उनको दक्ष प्रजापतिके यज्ञमें अपने प्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। शिवजीके वचनोंपर गरुडजीको विश्वास हो गया तो क्षणमात्रमें कल्याण हो गया, अतः श्रद्धा ही प्रधान है। शिवजीने सतीको भी कहा कि ये साक्षात् महापुरुष हैं और गरुडजीको बताया कि काकभुशुण्डिजी महापुरुष हैं। रामचन्द्रजी तो महापुरुषोंके भी महापुरुष, मर्यादापुरुषोत्तम साक्षात् ब्रह्म, साक्षात् परमात्मा थे। अतः यह समझना चाहिये कि विश्वास प्रधान है और भक्तिसहित विश्वासका नाम श्रद्धा है। यह पुरुष श्रद्धामय है। गीता (१७। ३)-में भगवान् श्रीकृष्णने कहा—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

—हे भरतवंशी अर्जुन! अन्तःकरणके अनुसार ही सबकी श्रद्धा होती है। ये पुरुष श्रद्धामय हैं। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह पुरुष वैसा ही है यानी उसकी वैसी ही स्थिति है वैसी ही निष्ठा है। अतः हमें भगवान्‌की दया और प्रेमपर दृढ़ विश्वास करके उससे विशेष लाभ उठाना चाहिये।

[पुराने प्रवचनसे]

संसार-चक्रसे निवृत्ति क्यों नहीं होती?

(श्री जय जय बाबा)

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥

(श्रीमद्भा० ३। २७। ४, ४। २९। ७३, ११। २२। ५५, ११। २८। १३)

'जिस प्रकार स्वप्नमें भय-शोकादिका कोई कारण न होनेपर भी स्वप्नके पदार्थोंमें आस्था होनेसे दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय-शोक, अहं-मम एवं जन्म-मरणादिरूप संसारकी कोई सत्ता न होनेपर भी अविद्यावश विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे जीव संसार-चक्रसे कभी निवृत्त नहीं होता।'

इस एक ही श्लोकमें दुःखका कारण तथा दुःख-निवृत्तिका उपाय—दोनों एक साथ बतला दिया गया है।

अविद्यावश विषयोंका चिन्तन करना ही दुःखका कारण है तथा ज्ञानके द्वारा विषयोंका अभाव जान लेना ही दुःख-निवृत्तिका उपाय है।

वेदान्तकी दृष्टिसे, जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है, उसी प्रकार जाग्रत्-कालमें भी अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भास रहा है, जैसा कि माण्डूक्यकारिका (३। ३०)-में कहा गया है—

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः॥

श्रीमद्भागवतमहापुराणका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है मानवको अविद्या-कल्पित जीवभावसे छुड़ाकर उसके सत्स्वरूप-ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित कर देना। इसीलिये शुकदेवजीने परीक्षित्को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा—

मनः सृजति वै देहान् गुणान् कर्माणि चात्मनः।
तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः॥

(श्रीमद्भा० १२। ५। ६)

मन ही आत्माके लिये शरीर, विषय और कर्मोंकी कल्पना कर लेता है और उस मनकी सृष्टि करती है माया (अविद्या)। वास्तवमें माया ही जीवके संसार-चक्रमें पड़नेका कारण है।

शुकदेवजी आगे पुनः कहते हैं—हे राजन्! तुम स्वयं मृत्युओंकी भी मृत्यु हो। तुम स्वयं ईश्वर हो। ब्राह्मणके शापसे प्रेरित तक्षक तुम्हें भस्म न कर सकेगा। अजी, तक्षककी तो बात ही क्या स्वयं मृत्यु और मृत्युओंके समूह भी तुम्हारे पास नहीं फटक सकेंगे।

तुम इस प्रकार अनुसंधान-चिन्तन करो कि 'मैं ही सर्वाधिष्ठान परब्रह्म हूँ—सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं ही हूँ'—इस प्रकार तुम अपने-आपको अपने वास्तविक एकरस, अनन्त अखण्ड-स्वरूपमें स्थिर कर लो। (श्रीमद्भा० १२। ५। १०-११)।

श्रीमद्भागवतका कहना है कि असत् विषय जिनकी सत्ता तीन कालमें कभी भी नहीं रही, उसका चिन्तन-ध्यान छोड़कर निरन्तर परम सत्य परमात्माका ही ध्यान करते रहो, इसीलिये इस शास्त्रका प्रारम्भ **'सत्यं परं धीमहि'** (१। १। १)-इन शब्दोंसे करके इसका उपसंहार भी **'सत्यं परं धीमहि'** (१२। १३। १९)-इन्हीं शब्दोंसे किया गया है तथा मध्यमें भी विस्तारसे इसीकी व्याख्या की गयी है।

अब विचार यह करना है कि जिस विषय-चिन्तनको इतना अनिष्टकारी बताया गया है, वह विषय-चिन्तन हम क्यों करते हैं?

हमारी इन्द्रियाँ अविद्या-मायाके कारण सम्मोहित हो गयी हैं, इसीलिये ये विषय न होनेपर भी जीवको प्रतीत हो रहे हैं। उन इन्द्रियोंकी प्रतीतिकी सूचनाको यह जीव सच्ची मानकर इन विषयोंमें राग कर बैठता है और निरन्तर उन्हींका ध्यान-चिन्तन करने लग जाता है, यही बात भगवान् सनत्सुजात राजा धृतराष्ट्रसे कहते हैं—

तद् वै महामोहनमिन्द्रियाणां
मिथ्यार्थयोगस्य गतिर्हि नित्या।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा
स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात्॥

(महाभारत, उद्योगपर्व ४२। १०)

अर्थात् यह भोगप्रवृत्ति ही इन्द्रियोंका महामोह है, क्योंकि मिथ्या पदार्थोंके प्रति इस जीवकी निश्चित प्रवृत्ति है; अतः वह इन मिथ्या पदार्थोंके संयोगसे अपने स्वरूप (स्वाभाविक ब्रह्मभाव)-से भ्रष्ट होकर विषयोंका स्मरण करते हुए सब प्रकारसे उन्हींका सेवन करता है।

यह कितने आश्चर्यकी बात है कि यह भोगप्रवृत्तिवाली असत्-विषय-सत्ता कदम-कदमपर हमारा तिरस्कार कर रही है तथा हमारे लिये अप्राप्य बनकर हमसे दूर भाग रही है, फिर भी हम उसीके पीछे भाग रहे हैं। इसके विपरीत

हमारी परमप्रेमास्पद आत्मसत्ता जो नित्य हमारे पास रहकर हमको अपनानेके लिये तैयार रहती है, उससे हम विमुख बने रहते हैं। एक बात सर्वदा स्मरण रखनेकी यह है कि जिसको यह सारा दृश्य-प्रपञ्च दीख रहा है, वह हमारा स्वरूप नहीं है। फिर यह दृश्य-प्रपञ्च किसको दीख रहा है? इसका द्रष्टा कौन है?

यह सारा दृश्य-प्रपञ्च हमारे मनको—अहंकारको दीख रहा है—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित् सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

(माण्डूक्यकारिका ३। ३१)

यह जो कुछ चराचर-द्वैत है, सब मनका दृश्य है; क्योंकि मनका अमनीभाव (संकल्प-शून्यत्व) हो जानेपर द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती।

मनको ही इस दृश्य-द्वैतके अस्तित्वका भ्रम हो रहा है और इसमें राग हो जानेके कारण ही वह बारंबार इसीका चिन्तन करता है। एक बार व्यतिरेक-ज्ञानके द्वारा इस दृश्य-प्रपञ्च अत्यन्ताभावका प्रत्यक्ष अनुभव हो जानेपर फिर मन उधर नहीं जायगा—

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥

(माण्डूक्यकारिका ३। ३२)

जिस समय आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेपर मन संकल्प नहीं करता, उस समय वह अमनीभावको प्राप्त हो जाता है। उस समय ग्राह्यका अभाव हो जानेके कारण वह ग्रहण करनेके विकल्पसे रहित हो जाता है।

अब इस संसार-चक्रसे निवृत्त होनेके उपायपर विचार करें—

जैसे स्वप्नावस्थामें होनेवाले दुःखोंका अन्त स्वप्नसे जगनेपर ही हो सकता है पहले नहीं, वैसे ही यह संसार जो एक लंबा सपना है, इसके दुःखोंका अन्त इस संसार-स्वप्नसे जग जानेपर ही हो सकता है—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

(माण्डूक्यकारिका १। १६)

जिस समय अनादि मायासे सोया हुआ जीव जागता है (अर्थात् तत्त्व-ज्ञान प्राप्त कर लेता है), उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्वका बोध प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवत (८। १०। ५५)-में भी कहा गया है कि—

स्वप्नो यथा हि प्रतिबोध आगते
हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्॥

जैसे जग जानेपर स्वप्नकी वस्तुओंका पता नहीं चलता, वैसे ही भगवान्‌की स्मृति सब विपत्तियोंसे मुक्त कर देती है।

जबतक हमारा शरीररूपी रथ स्वस्थ है, बलवान् है तबतक इस संसाररूपी स्वप्नसे जगकर अपने स्वाराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाना चाहिये। वेद कहते हैं—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**' निर्बल व्यक्तिको आत्मलाभ नहीं हो सकता। आत्मतत्त्वकी तीव्र जिज्ञासाद्वारा समय रहते आत्मसाक्षात्कार कर लेना चाहिये तथा अन्तसमयमें इस प्रकारके पश्चात्ताप करनेका अवसर ही नहीं आने देना चाहिये कि 'हाय रे, मैंने अपना अमूल्य जीवन व्यर्थ ही खो दिया।'

इसी प्रकारकी बात भागवतकार कहते हैं—

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम्।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात्॥
नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति॥

(श्रीमद्भा० ७। १५। ४५-४६)

यह मनुष्य-शरीररूपी रथ जबतक अपने वशमें है और इसके इन्द्रिय तथा मन आदि सारे साधन अच्छी दशामें हैं, तभीतक श्रीगुरुदेवके चरण-कमलोंकी सेवा-पूजासे शानपर चढ़ायी हुई ज्ञानकी तीखी तलवार लेकर भगवान्‌के आश्रयसे इन रागादि शत्रुओंका नाश करके अपने स्वाराज्य-सिंहासनपर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्त-भावसे इस शरीरका भी परित्याग कर दे। नहीं तो तनिक भी प्रमाद हो जानेपर ये इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूपी सारथि रथके स्वामी जीवको उलटे रास्ते ले जाकर विषयरूपी लुटेरोंके हाथमें डाल देंगे। ये डाकू, सारथि और घोड़ोंके सहित इस जीवको मृत्युसे अत्यन्त भयावने—घोर अन्धकारमय संसारके कुएँमें डाल देंगे।

श्रीरामकी पुनः लंका-यात्रा और सेतु-भंग

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

एक समय भगवान् श्रीरामको राक्षसराज विभीषणका स्मरण हो आया। उन्होंने सोचा कि 'विभीषण धर्मपूर्वक शासन कर रहा है कि नहीं! देव-विरोधी व्यवहार ही राजाके विनाशका सूत्र है। मैं विभीषणको लंकाका राज्य दे आया हूँ, अब जाकर उसे सँभालना भी चाहिये। कहीं राज्यमदमें उससे अधर्माचरण तो नहीं हो रहा है। अतएव मैं स्वयं लंका जाकर उसे देखूँगा और हितकर उपदेश दूँगा, जिससे उसका राज्य अनन्तकालतक स्थायी रहेगा।' श्रीराम यों विचार कर ही रहे थे कि भरतजी आ पहुँचे। भरतजीके नम्रतासे पूछनेपर श्रीरामने कहा—'भाई! तुमसे मेरा कुछ भी गोपनीय नहीं है, तुम और यशस्वी लक्ष्मण मेरे प्राण हो। मैंने निश्चय किया है कि मैं लंका जाकर विभीषणसे मिलूँ, उसकी राज्य-पद्धति देखूँ और उसे कर्तव्यका उपदेश दूँ।' भरतने कभी लंका नहीं देखी थी, इससे उन्होंने भी साथ चलनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीरामने स्वीकार कर लिया और लक्ष्मणको सारा राज्यभार सौंपकर दोनों भाई पुष्पक विमानपर चढ़ लंकाके लिये विदा हुए। पहले भरतके दोनों पुत्रोंकी राजधानीमें जाकर उनसे मिले और उनके कार्यका निरीक्षण किया, तदनन्तर लक्ष्मणके पुत्रोंकी राजधानीमें गये और वहाँ छः दिन ठहरकर सब कुछ देख-भाल किया। इसके बाद भरद्वाज और अत्रिके आश्रमोंमें गये। फिर आगे चलकर श्रीरामने चलते हुए विमानपरसे वे सब स्थान दिखलाये जहाँ श्रीसीताजीका हरण हुआ था, जटायुकी मृत्यु हुई थी, कबन्धको मारा था और बालिका वध किया था। तत्पश्चात् किष्किन्धापुरीमें जाकर राजा सुग्रीवसे मिले। सुग्रीवने राजघरानेके सब स्त्री-पुरुषों तथा नगरोंके समस्त नर-नारियोंसमेत श्रीराम और भरतका बड़े ही उत्साहसे स्वागत किया। फिर सुग्रीवको साथ लेकर विमानपरसे भरतको विभिन्न स्थान दिखलाते और उनकी कथा सुनाते हुए लंकामें जा पहुँचे, विभीषणको दूतोंने यह शुभ समाचार सुनाया। श्रीरामके लंका पधारनेका संवाद सुनकर विभीषणको बड़ी प्रसन्नता हुई। सारा नगर बात-की-बातमें सजाया गया और अपने मन्त्रियोंको साथ लेकर विभीषण अगवानीके लिये चले। सुमेरुस्थित सूर्यकी भाँति विमानस्थ श्रीरामको देखकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक विभीषणने कहा—'प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया, आज मेरे सारे मनोरथ सिद्ध हो गये; क्योंकि आज मैं जगद्वन्द्य अनिन्द्य आप दोनों स्वामियोंके चरण-दर्शन कर रहा हूँ। आज स्वर्गवासी देवगण भी मेरे भाग्यकी श्लाघा कर रहे हैं। मैं आज अपनेको त्रिदशपति इन्द्रकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझ रहा हूँ। सर्वरत्नसुशोभित उज्ज्वल भवनमें महोत्तम सिंहासनपर श्रीराम विराजे। विभीषण अर्घ्य देकर हाथ जोड़ भरत और सुग्रीवकी स्तुति करने लगे। लंका-निवासी प्रजाकी राम-दर्शनार्थ भीड़ लग गयी। प्रजाने विभीषणसे कहा—'प्रभो! हमको उस अनोखी रूप-माधुरीको देखे बहुत दिन हो गये। युद्धके समय हम सब देख भी नहीं पाये थे। आज हम दीनोंपर दयाकर हमारा हित करनेके लिये करुणामय हमारे घर पधारे हैं। अतएव शीघ्र ही हम लोगोंको उनके दर्शन कराइये।' विभीषणने श्रीरामसे पूछा और दयामयकी आज्ञा पाकर प्रजाके लिये द्वार खोल दिये। लंकाके नर-नारी श्रीराम-भरतकी झाँकी देखकर पवित्र और मुग्ध हो गये। यों तीन दिन बीत गये। चौथे दिन रावणकी माता कैकसीने विभीषणको बुलाकर कहा—'बेटा! मैं भी श्रीरामके दर्शन करूँगी। उनके दर्शनसे महामुनिगण भी महापुण्यके भागी होते हैं। श्रीराम साक्षात् सनातन विष्णु हैं, वे ही यहाँ चार रूपोंमें अवतीर्ण हैं। सीताजी स्वयं लक्ष्मी हैं। तेरे भाई रावणने यह रहस्य नहीं जाना। तेरे पिताजीने कहा था कि रावणको मारनेके लिये भगवान् विष्णु रघुवंशमें दशरथके यहाँ प्रादुर्भूत होंगे।' विभीषणने कहा—'माता! आप नये वस्त्र पहनकर कञ्चनथालमें चन्दन, मधु, अक्षत, दधि, दूर्वाका अर्घ्य सजाकर भगवान् श्रीरामके दर्शन करें। सरमा (विभीषण-पत्नी)-को आगे कर और अन्यान्य देवकन्याओंको साथ लेकर आप श्रीरामके समीप जायँ। मैं पहले ही वहाँ चला जाता हूँ।'

विभीषणने श्रीरामके पास जाकर वहाँसे सब लोगोंको हटा दिया और श्रीरामसे कहा—'देव! रावणकी, कुम्भकर्णकी और मेरी माता कैकसी आपके चरण-कमलोंके दर्शनार्थ आ

रही हैं, आप कृपापूर्वक उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ करें।' श्रीरामने कहा—'भाई! तुम्हारी माँ तो मेरी 'माँ' ही है। मैं ही उनके पास चलता हूँ, तुम जाकर उनसे कह दो।' इतना कहकर विभु श्रीराम उठकर चले और कैकसीको देखकर मस्तकसे उसे प्रणाम किया तथा बोले—'आप मेरी धर्ममाता हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ। अनेक पुण्य और महान् तपके प्रभावसे ही मनुष्यको आपके (विभीषण-सदृश भक्तोंकी जननीके) चरणदर्शनका सौभाग्य मिलता है। आज मुझे आपके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। जैसे श्रीकौसल्याजी हैं, वैसे ही मेरे लिये आप हैं। बदलेमें कैकसीने मातृभावसे आशीर्वाद दिया और भगवान् श्रीरामको विश्वपति जानकर उनकी स्तुति की। इसके बाद 'सरमा' ने भगवान्की स्तुति की। भरतको सरमाका परिचय जाननेकी इच्छा हुई, उनके संकेतको समझकर 'इङ्गितविद्' श्रीरामने भरतसे कहा—'ये विभीषणकी साध्वी भार्या हैं, इनका नाम सरमा है। ये महाभागा सीताजीकी प्रिय सखी हैं और इनकी सखिता (मैत्री) बहुत दृढ़ है।' इसके बाद सरमाको समयोचित उपदेश दिया। फिर विभीषणको विविध उपदेश देकर कहा—'निष्पाप! देवताओंका प्रिय कार्य करना, उनका अपराध कभी न करना। लंकामें कभी मनुष्य आयें तो उनका कोई राक्षस वध न करने पाये।' विभीषणने आज्ञानुसार चलना स्वीकार किया।

तदनन्तर जब वापस लौटनेके लिये सुग्रीव और भरतसहित श्रीराम विमानपर चढ़े तब विभीषणने कहा—'प्रभो! यदि लंकाका पुल ज्यों-का-त्यों बना रहेगा तो पृथ्वीके सभी लोग यहाँ आकर हम लोगोंको तंग करेंगे, इसलिये क्या करना चाहिये।' भगवान्ने विभीषणकी बात सुनकर पुलको बीचमेंसे तोड़ डाला और दस योजनके बीचके टुकड़ेके फिर तीन टुकड़े कर दिये। तदनन्तर उस एक-एक टुकड़ेके फिर छोटे-छोटे कई टुकड़े कर डाले, जिससे पुल टूट गया और यों लंकाके साथ भारतका मार्ग पुनः विच्छिन्न हो गया। यह कथा पद्मपुराणसे ली गयी है।

जन-जनकी आस्थाके प्रतीक—श्रीराम

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचंडिया, एम्० ए० (संस्कृत), बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

भारतीय संस्कृतिमें 'श्रीराम' आस्थाके प्रतीक हैं, आराध्य हैं, पूज्य हैं। वे दशरथ-पुत्र या कौसल्यानन्दन हैं या फिर अयोध्याके राजकुमार हैं, इसलिये वे पूज्य हैं, मात्र ऐसा नहीं है। उनकी यह पूज्यता गुणोंपर आधृत है। उनमें जो गुण व्याप्त हैं, उनसे मस्तक स्वतः ही श्रद्धावनत हो जाता है। यों तो कोई-न-कोई गुण हर प्राणीमें विद्यमान रहता है। गुणका होना प्रत्येक प्राणीका लक्षण जो है, किंतु अन्तरंगमें व्याप्त अलौकिक गुण जब जाग जाते हैं, तब राम प्रकट होता है। रामका 'रामत्व' जब जाग्रत् होता है, तब राम राम नहीं रहते, वे श्रीराम बन जाते हैं। भव्यता और दिव्यतासे सदा अभिमण्डित रहते हुए शाश्वत हो जाते हैं। कण-कणमें वे व्याप्त हो जाते हैं। घर-घरमें राम रमने लगते हैं, फिर वे मन्दिरोंतक ही सीमित नहीं रह पाते, गिरजाघरों, मस्जिदों और गुरुद्वारोंमें भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं । हर मजहब, हर कौमके लिये वे एक आदर्श, अनुकरणीय, प्रेरणास्रोत तथा शक्तिधर बन जाते हैं। ऐसे रामको क्या कभी किसी काल-सीमामें बाँधा जा सकता है, कदापि नहीं। श्रीराम कल भी प्रासंगिक थे, आज भी हैं और कल भी रहेंगे। उनकी यह प्रासंगिकता प्राणिमात्रके लिये कल्याणकारी एवं मङ्गलप्रदायिनी है। इस धरित्रीके लिये श्रीराम सचमुच एक वरदान हैं। प्राणिमात्रके आदर्श हैं, प्रेरणास्रोत हैं। विश्व-संस्कृतिके समन्वयक तथा आधारस्तम्भ हैं और जन-जनकी आस्थाके प्रतीक ही नहीं सबके प्राणाधार भी हैं।

गुण-शक्तिके दो रूप हमारे सामने हैं। एक रामके रूपमें तथा दूसरा रावणके रूपमें। रावणमें जो गुण-शक्ति विद्यमान है, वह विध्वंसकारी है, अमानवीय है और सर्वथा राक्षसी प्रवृत्तिसे अनुप्राणित है, जबकि श्रीराम मानवीय शक्तियोंसे तथा अलौकिक शक्तियोंसे सदा सम्पृक्त हैं। एकमें विनाश है, संहार है, अमङ्गल है, तो दूसरेमें

सृजनशीलता है, मङ्गल-भव्यता है। विचार करें, ये दोनों रूप प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान रहते हैं, कहीं कम तो कहीं अधिक। जब और जिस क्षण मनुष्यमें राक्षसी वृत्तियोंका प्रभाव बढ़ जाता है, तब वह रावणका रूप ले लेता है। फिर वह मानव नहीं दानव बन जाता है, किंतु उसी मनुष्यके अन्तरंगमें जब मानवीय वृत्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं, तब वह राममय हो जाता है। आज हमारे अन्तरंगमें रावणका बोलबाला अधिक है। हमारे आचार-विचार, रहन-सहन सबमें रावण-ही-रावण भरा पड़ा है।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि लबालब भरे हुए पात्रमें नया कुछ भी नहीं भरा जा सकता और जो भरा जायगा, वह फैलेगा, बिखरेगा, बेकार जायगा और अन्ततः उसका कोई मूल्य नहीं रह जायगा। अतः सबसे पहले अपने अन्तर्मनमें भरे हुए इस रावणको खाली करना होगा, तभी राममयी वृत्तियाँ प्रकट हो सकेंगी।

रावणी वृत्तियाँ हैं क्या ? रावणी वृत्तियाँ हैं कषाय, जो कसती हैं मनुष्यकी आत्माको अपने रूप-जालमें। अपने अन्तरंगमें प्रतिष्ठित श्रीरामको पानेके लिये हमें इन राग-द्वेषात्मक कषायोंसे मुक्त होना होगा। ये कषाय हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। रावणका क्रोध, उसका मान (अहंकार), उसके माया-जाल और उसकी लोभवृत्ति भला किससे छिपी है ? इनमें लिप्त रावणका विवेक, पाण्डित्य तथा शक्तिसाधना सब कुछ स्वाहा हो जाता है, फिर भी रावण नहीं चेतता तो नहीं चेतता और एक-न-एक दिन अपनी अपार शक्तियोंके साथ वह प्रतापी रावण धूलमें मिल जाता है।

इन कषायोंसे मुक्त होनेका एक ही उपाय है कि हम अपने भीतर सुप्त-प्रसुप्त राममयी शक्तियोंको जगायें। अपनी ऊर्जा रावण बननेमें नहीं, श्रीराम बननेमें खर्च करें। ऐसा होनेपर हम समदर्शी होंगे, समत्व हममें जगेगा। श्रीरामकी मर्यादा, विनयशीलता, प्रेम, क्षमा, ऋजुता, शुचिता, कर्तव्यपरायणता, धीरता, वीरता, पराक्रमता, दिव्यता और भव्यताको सब जानते हैं। उनमें राज-पाटका लोभ नहीं, वनवास मिलता है तो कोई क्षोभ नहीं, बस कर्तव्य-पथपर सदा आरूढ़ आज्ञाकारी श्रीरामका जीवन सचमुच महान् है, उनमें छोटा-बड़ा-जैसा कोई भेदक चिह्न नहीं दिखायी देता । वे सम्मान करते हैं उन सभीका जिनमें आत्मतत्त्व विद्यमान है।

निष्पक्ष-रूपसे विचारें, स्वयं साक्षी बनकर अपने अन्तरमें झाँकें कि इनमेंसे कितने गुण हममें हैं ? क्या हम सही अर्थोंमें श्रीराम-भक्त हो पाये हैं ? 'राम' नाम रख लेने मात्रसे कोई राममय नहीं हो सकता। उसके लिये तो अन्तरसे, श्रद्धासे समर्पण चाहिये, साधना चाहिये और वह सब कुछ चाहिये जो श्रीराममें था।

इस प्रकार श्रीराम एकता, अखण्डता तथा भारतीय संस्कृति और अध्यात्मको संजीवित रखनेवाले एक दिव्यशक्ति हैं। उनके पावन जीवनसे हम अपने कालुष्यको यत्किंचित् धो सकें तो हम सबका जीवन निश्चयेन सार्थक होगा।

धिक्कार है

येषां श्रीमद्यशोदासुतपदकमले नास्ति भक्तिर्नराणां
येषामाभीरकन्याप्रियगुणकथने नानुरक्ता रसज्ञा।
येषां श्रीकृष्णलीलाललितरसकथासादरौ नैव कर्णौ
धिक् तान् धिक् तान् धिगेतान् कथयति नियतं कीर्तनस्थो मृदङ्गः॥

(श्रीधरस्वामी)

जिन मनुष्योंकी यशोदानन्दनके चरणकमलोंमें भक्ति नहीं है, जिनकी रसना गोपकुमारियोंके प्राणाधारके गुणगानमें अनुरागिणी नहीं है और जिनके कर्ण अति ललित श्रीकृष्ण-लीला-सुधा-रसके प्यासे नहीं हैं, उनके लिये कीर्तनमें बजता हुआ मृदङ्ग धिक् तान्, धिक् तान्, धिगेतान् (उन्हें धिक्कार है! धिक्कार है, धिक्कार है!)—ऐसा कहता है।

साधकोंके प्रति—

कामना और आवश्यकता

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

भगवान्ने गीतामें कहा है—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (गीता १५। ७) 'इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।' शरीरमें तो माता और पिता दोनोंका अंश है, पर स्वयंमें परमात्मा और प्रकृति दोनोंका अंश नहीं है, प्रत्युत यह केवल परमात्माका ही शुद्ध अंश है—'**ममैवांशः**'। तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा हैं, ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—'***ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥***' (मानस, उत्तर० ११७। १)। अतः जैसे परमात्मा चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि हैं। परंतु परमात्माका ऐसा अंश होते हुए भी जीव मायाके वशमें हो जाता है—'***सो मायाबस भयउ गोसाईं***' और प्रकृतिमें स्थित मन-इन्द्रियोंको अपनी तरफ खींचने लगता है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये मानने लगता है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**' (गीता १५। ७)। हम परमात्माके अंश हैं तथा परमात्मामें स्थित हैं और शरीर प्रकृतिका अंश है तथा प्रकृतिमें स्थित है। परमात्मामें स्थित होते हुए भी हम अपनेको शरीरमें स्थित मान लेते हैं—यह कितनी बड़ी भूल है! प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर हम परमात्माके अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहते, प्रत्युत स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरमें स्थित हो जाते हैं, जो कि प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकार प्रकृतिको पकड़नेसे ही जीव परमात्माका अंश कहलाता है। अगर प्रकृतिको न पकड़े तो यह अंश नहीं है, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा (ब्रह्म) ही है—

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३। २२)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

(गीता १३। ३१)

प्रकृतिको पकड़नेसे जीवमें संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी। प्रकृतिके जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी इच्छा होती है और परमात्माके चेतन-अंशकी प्रधानतासे परमात्माकी इच्छा होती है। संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है, जिसको मुमुक्षा, तत्त्व-जिज्ञासा और प्रेम-पिपासा भी कहते हैं। आवश्यकताकी तो पूर्ति होती है, पर कामनाकी पूर्ति कभी किसीकी हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतिहास पढ़ लें, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ लें, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गयी हों। कामनाका तो त्याग ही होता है, पूर्ति नहीं होती। संसार क्षणभंगुर है, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला है, फिर उसकी कामना पूरी कैसे होगी? शरीर-संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण हमें अपनेमें जो कमी प्रतीत होती है, उसकी पूर्ति परमात्माकी प्राप्तिसे ही होगी। हमें त्रिलोकीका आधिपत्य मिल जाय, संसारमात्र मिल जाय, अनेक ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी हमारी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होगी। न कामनाकी पूर्ति होगी, न आवश्यकताकी; क्योंकि जो कुछ मिलेगा, शरीरको ही मिलेगा, हमें (स्वयंको) नहीं मिलेगा। जड़ वस्तु चेतनतक कैसे पहुँच सकती है? परमात्माके अंशको परमात्माकी ही आवश्यकता है। मेरी मुक्ति हो जाय, मेरा कल्याण हो जाय, मेरेको तत्त्वज्ञान हो जाय, मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाऊँ, मेरेको महान् आनन्द मिल जाय, मेरेको भगवत्प्रेम मिल जाय—यह सब स्वयंकी आवश्यकता है। कामनाका तो त्याग होता है, पर आवश्यकताका त्याग कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है। जितने भी संत-महात्मा हो चुके हैं, उनकी कामनाओंका त्याग हुआ है और आवश्यकताकी पूर्ति हुई है। इसलिये गीतामें कामनाके त्यागपर बहुत जोर दिया गया है।

जहाँ जीवने प्रकृतिके अंशको पकड़ा है, वहींसे कामना और आवश्यकताका भेद उत्पन्न हुआ है। अगर जीव प्रकृतिके अंशको छोड़ दे तो कामनाका त्याग हो जायगा और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। जड़तासे सम्बन्ध-

विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति स्वत: हो जाती है; क्योंकि परमात्मा सब जगह नित्य-निरन्तर विद्यमान हैं। परमात्माकी प्राप्तिमें संसारकी कामना ही बाधक है। जड़ताको साथमें रखनेसे ही आवश्यकताकी पूर्ति (परमात्मप्राप्ति) नहीं होती। साधन करनेवाले बहुतसे लोग सांसारिक कामनाकी पूर्तिकी तरह ही पारमार्थिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भी उद्योग करते हैं अर्थात् जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति चाहते हैं, शरीर-इन्द्रियाँ-मन बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं। परंतु यह सिद्धान्त है कि जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति होती नहीं, होनी सम्भव नहीं। चेतनकी प्राप्ति जड़के त्यागसे ही होती है।

कामनाओंके त्यागसे आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है—यह नियम है। कामनाका त्याग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। कामना किसीमें भी निरन्तर नहीं रहती, प्रत्युत उत्पन्न-नष्ट होती रहती है। परंतु आवश्यकता निरन्तर रहती है। हमें सत्ता चाहिये तो नित्य सत्ता चाहिये, ज्ञान चाहिये तो अनन्त ज्ञान चाहिये, सुख चाहिये तो अनन्त सुख चाहिये—यह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकता हमारेमें निरन्तर रहती है। निरन्तर न रहनेवाली कामनाको तो हम पकड़ लेते हैं, पर निरन्तर रहनेवाली आवश्यकताकी तरफ हम ध्यान ही नहीं देते—यह हमारी भूल है।

अगर हम कामनाओंका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी अथवा परमात्माकी प्राप्ति कर लें तो कामनाओंका त्याग हो जायगा। इन दोनोंको ही गीताने 'योग' कहा है—

'तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।'

(६। २३)

'जिसमें दु:खोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये।'

'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८)

'समत्व ही योग कहा जाता है।'

तात्पर्य है कि जड़ताका त्याग करना भी योग है और चिन्मयतामें स्थित होना भी योग है। दु:खरूप संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'दु:खसंयोग' है। दु:खोंका घर होनेसे संसार 'दु:खालय' है—'**दु:खालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। जैसे पुस्तकालयमें पुस्तकें मिलती हैं, वस्त्रालयमें वस्त्र मिलता है, भोजनालयमें भोजन मिलता है, ऐसे ही दु:खालयमें दु:ख-ही-दु:ख मिलता है। दु:खालयमें सुख ही नहीं मिलता, फिर आनन्द तो दूर रहा! परंतु परमात्मामें आनन्द-ही-आनन्द है—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**' (गीता ६। २२)। ऐसे महान् आनन्दकी ही हमें आवश्यकता है, जिसकी पूर्तिके लिये ही हमें यह मनुष्य-जन्म मिला है।

मनुष्य अनन्तकालतक जन्मता-मरता रहे तो भी उसकी आवश्यकता मिटेगी नहीं और कामना टिकेगी नहीं। बाल्यावस्थामें खिलौनोंकी कामना होती है, फिर बड़े होनेपर रुपयोंकी कामना हो जाती है, फिर स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदिकी कामना हो जाती है। इस प्रकार कोई भी कामना टिकती नहीं, बदलती रहती है, पर आवश्यकता कभी मिटती नहीं, बदलती नहीं। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ही कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधन हैं।

हम गृहस्थका त्याग कर दें, रुपयोंका त्याग कर दें, शरीरका त्याग कर दें तो आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। आवश्यकताकी पूर्ति इनकी इच्छाका त्याग करनेसे होगी। गृहस्थ बना रहे, रुपये बने रहें, शरीर बना रहे, मान-बड़ाई बनी रहे—यह असम्भव है। असम्भवकी इच्छा कभी पूरी होगी ही नहीं, प्रत्युत इच्छा करते हुए मर जायँगे और जन्म-मरणके चक्करमें वैसे ही पड़े रहेंगे। इच्छाकी कभी पूर्ति नहीं होगी और आवश्यकताका कभी त्याग नहीं होगा। कारण कि इच्छा शरीर (जड़)-को लेकर है और उसका विषय नाशवान् है तथा आवश्यकता स्वयं (चेतन)-को लेकर है और उसका विषय अविनाशी है। अत: चाहे इच्छाका त्याग कर दें तो योग सिद्ध हो जायगा—'**तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' और चाहे आवश्यकताकी पूर्ति कर लें तो योग सिद्ध हो जायगा—'**समत्वं योग उच्यते।**' जड़ताका त्याग भी योग है और समताकी प्राप्ति भी योग है। जड़ताके त्यागसे चिन्मयताकी प्राप्ति हो जायगी और चिन्मयताकी प्राप्तिसे जड़ताका त्याग हो जायगा। दोनों एक साथ कभी रहेंगे नहीं।

जैसे पानीसे भरा हुआ घड़ा हो तो उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है—ये दो काम दीखते हैं। पर वास्तवमें दो काम नहीं हैं, प्रत्युत एक ही काम है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही संसारकी कामनाका त्याग करना और परमात्माकी आवश्यकता पूरी करना—ये दो काम नहीं हैं। संसारकी कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी आवश्यकता अपने-आप पूरी हो जायगी। केवल संसारकी इच्छासे ही परमात्मा अप्राप्त हो रहे हैं।

जीव, जगत् और परमात्मा—ये तीन ही वस्तुएँ हैं। जीव क्या है? मैं जीव हूँ। जगत् क्या है? यह जो दीख रहा है, यह जगत् है। परमात्मा क्या है? जो जीव और जगत् दोनोंका मालिक है, वह परमात्मा है। जीव और जगत्का तो विचार होता है, पर परमात्माका विचार नहीं होता, प्रत्युत विश्वास होता है। कारण कि विचारका विषय वह होता है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते। जिसके विषयमें कुछ नहीं जानते, उसपर विश्वास ही किया जाता है। अत: विचार करके जगत्का त्याग करना है और श्रद्धा-विश्वास करके परमात्माको स्वीकार करना है। जड़ताका त्याग करनेमें कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि जड़ता विजातीय है। साधक अधिक-से-अधिक अपने मनको परमात्मामें लगाता है। मन तो प्रकृतिका अंश होनेसे जड़ है और परमात्मा चेतन हैं। अत: मन परमात्मामें कैसे लगेगा? जड़ तो जड़में ही लगेगा, चेतनमें कैसे लगेगा? वास्तवमें स्वयं (चेतन) ही परमात्मामें लगता है, मन नहीं लगता। जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसका मन लगता है। संसारमें मन लगानेसे वह संसारमें लग गया। जब वह परमात्मामें मन लगाता है, तब मन तो परमात्मामें नहीं लगता, पर स्वयं परमात्मामें लग जाता है। मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेसे मन विलीन हो जाता है, खत्म हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(११। १४। २७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता नहीं रहती।'

कामनाकी पूर्तिमें तो भविष्य है, पर आवश्यकताकी पूर्तिमें भविष्य नहीं है। कारण कि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, पर परमात्मा सदा सब जगह विद्यमान हैं। अनुभवमें न आये तो भी आँखें मीचकर, अन्धे होकर यह मान लें कि परमात्मा सब जगह मौजूद हैं—'**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (गीता १३। १५) 'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं।' इस प्रकार सब जगह, सब समय, सब वस्तुओंमें, सब व्यक्तियोंमें, सब क्रियाओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें परमात्माको देखते रहनेसे इच्छा नष्ट हो जायगी और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी।

शरीर और संसार एक ही जातिके हैं—'*छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥*' (मानस, कि० ११। २)। शरीर हमारे साथ एक क्षण भी नहीं रहता। यह निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। परंतु भगवान् निरन्तर हमारे हृदयमें विराजमान रहते हैं—'**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३। १७), '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)। तात्पर्य है कि हमें जिसका त्याग करना है, उसका निरन्तर त्याग हो रहा है और जिसको प्राप्त करना है, वह निरन्तर प्राप्त हो रहा है। केवल भोग भोगना और संग्रह करना—इन दो इच्छाओंका हमें त्याग करना है। ये दो इच्छाएँ ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक हैं। भोग और संग्रहका, शरीरका त्याग तो अपने-आप हो रहा है। जैसे बालकपना चला गया, ऐसे ही जवानी भी चली जायगी, वृद्धावस्था भी चली जायगी, व्यक्ति भी चले जायँगे, पदार्थ भी चले जायँगे। केवल उनकी इच्छाका त्याग करना है, उनको अस्वीकार करना है। परंतु परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। वे हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं हैं। परमात्माको मानें तो भी वे हैं, न मानें तो भी वे हैं, स्वीकार करें तो भी वे हैं,

अस्वीकार करें तो भी वे हैं। परंतु संसार हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर करता है। संसारको स्वीकार करें तो वह है, अस्वीकार करें तो वह नहीं है। अगर संसार मनुष्यकी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं होता, तो फिर कोई भी मनुष्य संसारसे असंग नहीं हो सकता, साधु नहीं बन सकता। संसार निरन्तर अलग हो रहा है और परमात्मा कभी अलग नहीं होते। केवल संसारकी इच्छाका त्याग करना है और परमात्माकी आवश्यकताका अनुभव करना है। फिर संसारका त्याग और परमात्माकी प्राप्ति स्वत:सिद्ध है।

किसीकी भी ताकत नहीं है कि वह शरीर-संसारको अपने साथ रख सके अथवा खुद उनके साथ रह सके। न हम उनके साथ रह सकते हैं, न वे हमारे साथ रह सकते हैं; क्योंकि वे हमारे नहीं हैं। संसारका कोई भी सुख सदा नहीं रहता; क्योंकि वह सुख हमारा नहीं है। उसकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा। संसारको सत्ता भी हमने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। वास्तवमें संसारकी सत्ता है नहीं—'**नासतो विद्यते भाव:**' (गीता २। १६)। संसार एक क्षण भी टिकता नहीं है। हमें वहम होता है कि हम जी रहे हैं, पर वास्तवमें हम मर रहे हैं। मान लें, हमारी कुल आयु अस्सी वर्षकी है और उसमेंसे बीस वर्ष बीत गये तो अब हमारी आयु अस्सी वर्षकी नहीं रही, प्रत्युत साठ वर्षकी रह गयी। हम सोचते हैं कि हम इतने वर्ष बड़े हो गये हैं, पर वास्तवमें छोटे हो गये हैं। जितनी उम्र बीत रही है, उतनी ही मौत नजदीक आ रही है। जितने वर्ष बीत गये, उतने तो हम मर ही गये। अत: जो निरन्तर छूट रहा है, उसको ही छोड़ना है और जो निरन्तर विद्यमान है, उसको ही प्राप्त करना है।

हमने जिद कर ली है कि हम संसारको पकड़ेंगे, छोड़ेंगे नहीं तो भगवान्ने भी जिद कर ली है कि मैं छुड़ा दूँगा, रहने दूँगा नहीं। हम बालकपना पकड़ते हैं तो भगवान् उसको नहीं रहने देते, हम जवानी पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम वृद्धावस्था पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम धनवत्ता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम नीरोगता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते। हम नया-नया पकड़ते रहते हैं और भगवान् छुड़ाते रहते हैं! यह भगवान्की अत्यन्त कृपालुता है! वे हमारा क्रियात्मक आवाहन करते हैं कि तुम संसारमें न फँसकर मेरी तरफ चले आओ। अगर हम संसारको पकड़ना छोड़ दें तो महान् आनन्द मिल जायगा। जब कभी हमें शान्ति मिलेगी तो वह कामनाओंके त्यागसे ही मिलेगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)।

दूसरोंकी सेवा करनेसे बड़ी सुगमतासे इच्छाका त्याग होता है। गरीब, अपाहिज, बीमार, बालक, विधवा, गाय आदिकी सेवा करनेसे इच्छाएँ मिटती हैं। एक साधु कहते थे कि जब मेरा विवाह हुआ था, एक दिन मेरेको एक आम मिला। पर मैंने वह आम अपनी स्त्रीको दे दिया। इससे मेरे भीतर यह विचार उठा कि वह आम मैं खुद भी खा सकता था, पर मैंने खुद न खाकर स्त्रीको क्यों दिया? इससे मेरेको यह शिक्षा मिली कि दूसरेको सुख पहुँचानेसे अपने सुखकी इच्छा मिटती है। इसका नाम 'कर्मयोग' है।

संसारकी इच्छा शरीरकी प्रधानतासे होती है। अत: विवेक-विचारपूर्वक शरीरके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेसे, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे इच्छा सुगमतापूर्वक मिट जाती है। सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि एक-दूसरेको सुख पहुँचानेसे, सेवा करनेसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है—'**परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ**' (गीता ३। ११)। शरीर संसारसे ही पैदा हुआ है, संसारसे ही पला है, संसारसे ही शिक्षित हुआ है, संसारमें ही रहता है और संसारमें ही लीन हो जाता है अर्थात् संसारके सिवाय शरीरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अत: संसारसे मिले हुएको ईमानदारीके साथ संसारकी सेवामें अर्पित कर दें। जो कुछ करें, संसारके हितके लिये ही करें। केवल संसारके हितका ही चिन्तन करें, हितका ही भाव रखें, साथमें अपने आराम, मान-बड़ाई आदिकी इच्छा न रखें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:**' (गीता १२। ४)।

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी अपेक्षा भी किसीको दु:ख न पहुँचाना बहुत ऊँची सेवा है। सुख पहुँचानेसे सीमित सेवा होती है, पर दु:ख न पहुँचानेसे असीम सेवा होती है। भलाई करनेसे ऊपरसे भलाई होती है, पर बुराई न करनेसे भीतरसे भलाई अंकुरित होती है। बुराईका त्याग करनेके लिये तीन बातोंका पालन आवश्यक है—(१) किसीको

बुरा नहीं समझें, (२) किसीका बुरा नहीं चाहें और (३) किसीका बुरा नहीं करें। इस प्रकार बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे हमारी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी और मनुष्य-जीवन सफल हो जायगा।

विचारके द्वारा यह अनुभव करें कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। बचपनमें हमारा शरीर जैसा था, वैसा आज नहीं है, पर हम स्वयं वही हैं, जो बचपनमें थे। तात्पर्य है कि शरीर तो बदल गया, पर हम नहीं बदले। अत: शरीर हमारा साथी नहीं है। हम निरन्तर रहते हैं, पर शरीर निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत निरन्तर मिटता रहता है। इस विवेकको महत्त्व देनेसे तत्त्वज्ञान हो जायगा अर्थात् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। इसका नाम 'ज्ञानयोग' है।

जब इच्छाओंको मिटानेमें अथवा आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें अपनी शक्ति काम नहीं करती और साधकका यह विश्वास होता है कि केवल भगवान् ही अपने हैं और उनकी शक्तिसे ही मेरी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, तब वह व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारता है, प्रार्थना करता है। भगवान्‌को पुकारनेसे उसकी इच्छाएँ मिट जाती हैं। इसका नाम 'भक्तियोग' है।

संसारकी सत्ता मानकर उसको महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जो अप्राप्त है, वह संसार प्राप्त दीखने लग गया और जो प्राप्त है, वह परमात्मतत्त्व अप्राप्त दीखने लग गया। इसी कारण संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा (आवश्यकता) उत्पन्न हो गयी। अत: साधकको कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी साधनसे संसारकी इच्छाको सर्वथा मिटाना है। संसारकी इच्छा सर्वथा मिटते ही संसारकी सत्ता, महत्ता तथा सम्बन्ध नहीं रहेगा और जिनके हम अंश हैं, उन नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा। फिर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा अर्थात् मनुष्य-जन्मकी पूर्णता हो जायगी।

उपनिषदोंमें भक्ति-तत्त्व

(डॉ० आभा रानी)

'**भज सेवायाम्**' इस धातुसे निष्पन्न 'भक्ति' शब्दमें सेवाका भाव निहित है और इसका आधार है प्रेम। 'नारदभक्तिसूत्र'में भक्तिको प्रेमरूपा एवं अमृतस्वरूपा कहा गया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ अमृतस्वरूपा च॥

प्रेमसे पृथक् भक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती। प्रेम ही सब कुछ है। प्रेम ही सार है। संसारके प्रति प्रेम जब ऊर्ध्वमुखी होकर ईश्वरीय सत्तासे जुड़ जाता है, तब वही भक्तिका रूप ले लेता है। इसलिये 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र'में भक्तिको '**सा परानुरक्तिरीश्वरे**' कहा गया है। अर्थात् ईश्वरमें परम अनुरक्ति ही भक्ति है।

सूरदास कहते हैं—

प्रेम प्रेमसे होय प्रेमसे पारहिं जइये।
प्रेम-बँधे संसार प्रेम परमारथ पइये॥

प्रेमसे प्रेम होता है। प्रेम ही भव-संतरणका ऐकान्तिक आधार है। प्रेमसे ही संसार बँधा हुआ है और प्रेमसे ही परमार्थ तत्त्वकी प्राप्ति सम्भव है।

ईश्वर और जीवमें अंशांशिभाव-सम्बन्ध है। ईश्वर अंशी है और जीव उनका अंश। वह पूर्ण है। उसी पूर्ण अंशीसे जीव एवं जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। जो जीव अपने अंशीसे उद्‌भूत होकर अलग हो गया है, वह पुन: अपने अंशीमें मिल जानेके लिये विकल है। जीवकी यह विकलता ही भक्तिका उत्स है। जीव जिस क्षण विकलता या विवशताका अनुभव करता है, उसी क्षण भक्तिका परमोत्कर्ष होता है। तुलसीदासजीने लिखा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

ईश्वरीय अंश होनेके कारण जीव भी शाश्वत, चेतन, निर्मल एवं सहज सुखकी राशि है। किंतु यही जीव जब मायिक बन्धनोंमें फँसता है, तब वह संसारी हो जाता है। अपने मूलसे भटक जाता है। यह भटकाव ही उसके बन्धनका कारण बन जाता है। इस विषयमें तुलसीदासजी कहते हैं कि—

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

बंदर जिस प्रकार मदारीकी डोरीमें बँध जाता है तो मुक्त नहीं हो पाता और सुग्गा अनारके दानोंमें अनुरक्त हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जीव भी मायाकी डोरीमें बँधकर आवागमनके चक्रमें पिसता रहता है। जड़-चेतनकी गाँठ पड़ जाती है। यद्यपि यह गाँठ मिथ्या है तथापि इससे मुक्त होना अत्यन्त कठिन होता है। यह संसार जड़-चेतनके गुण-दोषोंसे युक्त है। संत और संसारी दोनों प्रकारके लोग इस संसारमें रहते हैं। पर नीर-क्षीर-विवेकी संतरूपी हंस गुणरूपी दूध तो ग्रहण करते हैं और विकार-रूपी जलका परित्याग कर देते हैं। हंसवत् भगवत्प्रेमका रसास्वाद जिसे मिल जाता है, वह संसारमें रहकर भी उससे अलिप्त रहता है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

गीतोक्त धारणा '**पद्मपत्रमिवाम्भसा**'से भी यही ध्वनि निकलती है। कमल जलमें रहता है। जलसे ही जीवन-रस लेता है। पर जलसे सम्पृक्त नहीं होता। असम्पृक्तता ही कमलकी मूल शक्ति है। संत भी संसारमें रहते हुए उससे निर्लिप्त रहते हैं।

ईश्वर प्रेममें बँध जाता है। भक्तोंकी भक्तिसे वह तत्काल द्रवित हो जाता है। क्योंकि प्रभुकी भक्तिमें भक्तोंको अलौकिक रस मिलता है। अतः—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

अतः इस प्रकारकी उत्तम भक्ति, अनुकूल भाव श्रीकृष्णानुशीलनसे प्राप्त होती है। तभी तो 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु'में यह कहा गया कि—

अनुकूलभावेन श्रीकृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।

प्रेमकी वृत्ति सहजात है। पहले यह प्रेम संसार तथा सांसारिक सम्बन्धोंमें प्रकट होता है, अपना अस्तित्व रेखांकित करता है। किंतु जब यही ईश्वरीय कृपासे दिव्य सत्तासे जुड़ जाता है, तब दिव्यसे दिव्यतर तथा परम दिव्य हो जाता है। सांसारिकता पीछे छूट जाती है। प्रेम ऊर्ध्वमुखी हो जाता है और इसी प्रेमोत्कर्षसे भक्ति प्रकट होती है।

वैदिक ऋचाओं तथा औपनिषदिक आख्यानोंमें भक्ति-तत्त्वका व्यापक निरूपण मिलता है। उपनिषदोंमें प्रेमसे लेकर भक्ति और समर्पणतकको भरपूर चर्चा है। समर्पणके बिना भक्ति नहीं हो सकती। समर्पण भी सकाम नहीं निष्काम होना चाहिये। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६६)

तात्पर्य यह कि विविध धर्मोंकी अपेक्षा न करके मात्र मेरी शरण आ जा तो मैं तुझे सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा। चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं।

गुरु, सत्कृपा, समर्पण एवं सत्संग आदि भक्तिके साधक तत्त्व हैं। इनसे भक्तिकी भावभूमि बनती है। भक्तिका बीज पड़ता है। भक्तिलता अंकुरित होती है और अन्ततः लहलहा उठती है। हृत्तन्त्री झंकृत हो उठती है। झंकारके फलस्वरूप भक्ति-रस स्वतः बजने लगता है।

सर्वप्रथम गुरुतत्त्वका विचार अपेक्षित है। कभी-कभी हम भ्रमवश गुरुको कोई साधारण व्यक्ति समझनेकी भूल कर बैठते हैं। वस्तुतः गुरु व्यक्ति नहीं होता, वह तो शाश्वत सत्ता है—परम सत्ता है। वही अपनेको गुरु-रूपमें प्रकट करती है। श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं देवोंके देव महादेव अर्थात् शिव ही परम सत्ता हैं और परम गुरु भी। वन्दना-प्रकरण (रामचरितमानस)-में तुलसीदासजीने इसको स्पष्ट करते हुए कहा भी है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

इन्हीं भावोंसे समन्वित औपनिषदिक गुरु-शिष्य अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा या भक्त और भगवान्‌के मध्य आख्यान-परम्परामें सर्वत्र भक्ति-तत्त्वका प्रस्फुटन देखनेको मिलता है। जिसके तत्त्वज्ञानसे जीवमात्रका परम कल्याण हो जाता है।

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७४४ से आगे]

भजन बंद है जानौं, अपराध कौ परिणाम है।

× × ×

पुण्यके फलस्वरूप भजनमें रुचि बढ़ै है, एवं रसकी उत्पत्ति होयवे लगै है, यामें सबसौं उत्तम पुण्य है, सबके सुख पहुँचायवे कौ बिचार तथा भजन करिवे वारेकी (वालेकी) सब प्रकार सौं सहायता करनी चाहिये।

× × ×

जब ताँई भजनमें आनन्द नहीं आवैगौ, तब ताँई यामें रुचि हैवे की कमी रहैगी। भजनमें आनन्द मिलै, याके ताँई उपाय है, अधिक सौं अधिक एकान्तमें बैठिकैं, सब प्रपंचन सौं बचिकैं, नियम सौं भजन करनौं। भजन बनिवे लगै, यही श्रीभगवत्कृपा है।

× × ×

भजन करिवे के समय आलस्य कौ आक्रमण न हौन पावै। याके ताँई चाहें जो युक्ति सोचनी परै। जैसे—टहलिवे लगै। जल सौं मुँख धोय ले। जल पी ले। स्वच्छ वायु-सेवन करै। काहू काममें हाथ लगाय देने। श्रीभगवत्कृपा कौ स्मरण करिवे लगै। अधिक जभाँई लैवे सौं सदैव बचै।

× × ×

जिह्वा की सफलता श्रीनामोच्चारण, श्रवणन की सफलता श्रीनाम-श्रवणमें तथा मनके ताँई परमानन्द केवल श्रीनामके रसामृत पीवे में ही है।

× × ×

दीर्घकाल-पर्यन्त भजन करिवे पैहू (पर भी) यदि भजनमें प्रगाढ़ रुचि न भयी, तौ समझ लेनौं चहियै कि, हमारे अन्तःकरणमें कोई अन्य अभिलाषा आसन जमाये भये है। वाकूँ (उसकी) पूर्ण खोज करिकैं शीघ्रातिशीघ्र निकारि कैं भगाय दैनौं चहियै।

× × ×

भजन करिवे में यदि कबहूँ दुर्भाग्य सौं प्रमाद बनि जाय तौ अन्तःकरणमें अत्यन्त खिन्नता हौनी चहियै। क्योंकि यदि प्रमाद कूँ सहन करि बैठ्यौ, तौ याकौ दुष्परिणाम काहू समय भजन सौं विमुख कराय बैठैगौ। श्रद्धावान् सौं प्रमाद नहीं बनै है।

× × ×

तप, त्याग, संयम, नियमपालन, श्रद्धा, सदाचार तथा निष्कामताके साथ-साथ जो भजन कियौ जाय है, वह भजन विषयन सौं घृणा, संसार सौं उपरति तथा श्रीप्राणप्यारे दुलारे जीवनाधारमें स्नेह-लता कौ अंकुर उत्पन्न करिवे लगै है।

× × ×

बड़ी गहराई सौं यह देखतौ रहै कि, मैं भजन उचित रूप सौं करि रह्यौ हूँ या नहीं। अपने समस्त उत्साह कूँ, अपनी समस्त रुचि कूँ तथा अपनी समस्त तत्परता कूँ, शीघ्रातिशीघ्र लगाय देय केवल भजन करिवेमें। एकान्तमें बैठिकैं, घुटने टेकिकैं, अन्तःकरणकी सबरी शक्ति कूँ बहायकैं, भजन सौं केवल यही माँगै कि, भरि पेट भजन करि लऊँ।

× × ×

तबही मान्यौ जायगौ, भजन भयौ चितलाय।
जब शुभ से शुभ कामकूँ, नैंक न मन ललचाय॥

× × ×

इतनौं अभ्यास बढ़ावै कि निद्राऽवस्थामें हूँ (भी) भजन होतौ रहै।

× × ×

पूर्ण उत्साह, पूर्ण लगन, पूर्ण रुचिके साथ अधिक भजन करिवे पै (पर) ऐसौ होनौं सम्भव है जाय है कि, निद्रावस्थामें हूँ भजन होतौ ही रहै है। भजन करनौं ही सबसौं बड़ौ कार्य है। जा कामके ताँई आये हौ,

वह पहलें पूरौ करि लेउ। सौभाग्य एक—केवल भजन ही सुहाय।

× × ×

सम्प्रति साधकके दो ही कर्तव्य हैं, एकतौ अधिक सौं अधिक भजन करनौं, दूसरौ भजनमें सहायक नियमन कौ दृढ़ता सौं पालन। जब स्वतः ही उत्कट-उत्साह उपजैगौ, ठीक-ठीक भजन तौ तबही है पावैगौ। कोटिन जन्मनके सुकृतन कौ फल जब आवै है, तब ही भजन करिवेमें पूर्ण उत्साह होय है।

× × ×

प्राणी कूँ सब कछू मिल सकै है, किंतु दुर्लभ एवं अलभ्य है, भजन करिवेके ताँईं पूर्ण अवकाश मिलनौं। वही यथार्थमें भाग्यशाली है, जाकूँ आज भजन करिवे कौ पूर्ण अवकाश प्राप्त है। वाहू सौं (उससे भी) अधिक भाग्यशाली है वह, जो भजनके समय कूँ केवल भजनमें ही लगाय देय है और वाहू सौं अधिक भाग्यशाली है वह, जो इतनौं करते भयेहू अतृप्त ही रहै है। किम्बहुना। सबसौं अधिकाधिक भाग्यवान् वही है, हाँ केवल वही है, जाके अन्तःकरणमें भजन करिवेके अतिरिक्त अन्य कोई अभिलाषा कौ अंश ही न रह गयौ होय।

× × ×

यदि मेरे श्रीप्राणनाथने आपके ताँईं भजन करिवे कौं पूर्ण अवकाश दै दियौ है, तौ अब इनकूँ तंग मत कारौ और कछू मत माँग बैठियौं? इनकूँ लज्जित होनौं परैगौ, कारण कि, इनके पास अब दैवेके नाम पै कछू बच्यौ ही नायँ, जो आपकूँ दै सकैं।

× × ×

अब या बिचारे पै दया करौ, आशीर्वाद देउ, कि इनकी बुद्धि ठीक-ठिकाने पै ही रहै, भजन करिवे वारेन कूँ संसारी कामनमें न फँसायौ करै।

× × ×

यदि आपकूँ शान्ति नहीं मिली, सुख नहीं मिल्यौ, मनकी चंचलता दूर नहीं भयी, तौ आपने कोई महान् अपराध कियौ होयगौ यह निश्चय करिकैं मान लीजौं। इनकी प्रदत्त वस्तुकी अवहेलना ? यदि इनकी दयी भयी वस्तु कौ सम्मान करि रहे हौ, सदुपयोग करि रहे हौ, तौ—मित्रवर! तैयार है जाऔ, मेरे खिलौनाके असह्य विरह तापमें तड़फिवे के ताँईं।

× × ×

अगम यद्वा अलभ्य मानिकैं निराश मत है बैठियौं, श्रीसद्गुरुदेवके अनुग्रह बल पै पूर्ण विश्वास करिकैं, पूर्ण तत्परताके साथ, साधनमें लगि जाऔ, फलतौ तुम्हारी योग्यता एवं पूर्ण लगनकी वाट देखि रह्यो है। पूर्ण विश्वास राखौ कि—श्रीजीवनाधार तुम्हें बुलाय रहे हैं, इनकी नित्य सेवामें सम्मिलित होनौं ही परैगौ, हाँ, कछु विलम्ब है, तौ केवल तुम्हारे दृढ़ संकल्प कौ ही।

× × ×

साधुके ताईं यहू परम आवश्यक है कि अपने आचरण पवित्रतम बनावै। श्रद्धा तथा सदाचार—ये दोनौ संपुट होने चाहियें भजनके दोऊ ओर। यदि यह इच्छा होय कि याही जन्ममें साधन कौ पूरौ फल मिलि जाय तौ इन दोउनकूँ दृढ़ताके साथ पकरे रहै। दीर्घकाल-पर्यन्त, पूर्ण विश्वासके साथ यह त्रिपुटी यदि चलाते वनि गयी, तौ स्वल्पकालमें ही सफलता हस्तगत है जायगी।

× × ×

श्रद्धा, सदाचार, साधन तथा वैराग्यमें संतोष न होन पावै।

× × ×

जो मृत्युके समय करना परै है, वाकूँ यही क्षणसौं करि चलौ। संसारकी ओर सौं आँख मूँदिकैं, अन्तःकरणमें श्रीजीवन-सर्वस्वकी पूर्ण स्मृति जगै, यही तौ उत्तमोत्तम मृत्यु है। को कहै, यह मृत्यु है अथवा अमरत्व। संसारमें जो कछू है रह्यौ है, हौन देउ, तुमतौ अपने लक्ष्य पैही डटे रहौ।

× × ×

संसारके सुधार कौ काम उनपै ही छोड़ि देउ, जिननें याकी (इसकी) रचना करी है तथा जो याके स्वामी हैं, तुमतौ अपनी सुधारकी धुनमें ही लगौ। प्रमादरहित है कैं पूर्ण-योग सौं साधनमें डटे रहौ, साध्य तौ साधन कौ फल है। साधक विषयनकी ओर मुड़ि परै, यह पतन तौ है ही, किंतु संसारके उद्धार करिवे कौ बीड़ा उठाय लैनौं हूँ कम पतन नहीं। [क्रमशः]

मनका मैल निकाल प्यारे!

(पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

पानी, मिट्टी, आग।

रेह, रीठा, साबुन।

धोबी, लाँड्री, सर्फ।

कूँची, झाड़ू ब्रश।

क्या-क्या साधन नहीं निकाल रखे हैं हमने सफाईके। कायाकी सफाईके। कपड़ोंकी सफाईके। सामानकी सफाईके। मकानकी सफाईके।

× × ×

ये सब हैं बाहरी सफाईके साधन।

ऊपरी सफाईके साधन।

पर भीतरी सफाई? चित्तकी सफाई?

मनके मैलकी सफाई?

कभी ध्यान देते हैं हम इस ओर?

और आजकल तो मनका मैल और ज्यादा बढ़ गया है—

'यह कलिकाल मलायतन!'

वहाँ तो मलका ठट्ट लगा है। अम्बार लगा है। उसकी व्यापकता और विशालताको देखकर तुलसीदासजीको कहना पड़ा—

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास-निरत चित, अधिक अधिक लपटाई॥

(विनयप० ८२। १)

कुत्तेकी पूँछ। लाख कोशिश कीजिये सीधी करनेकी, वह हरदम टेढ़ी ही रहती है। जन्म-जन्मका अभ्यास है। मलके संचित संस्कार दिन-दिन उसका परिणाम बढ़ाते ही चलते हैं।

रोज उसमें इज़ाफा हो रहा है, बढ़ोत्तरी हो रही है—चक्रवृद्धि व्याजकी तरह, द्रौपदीके चीरकी तरह।

काम और क्रोध, लोभ और मोह, मद और मत्सर, राग और द्वेष, असूया और अमर्ष, घृणा और ईर्ष्या-जैसे अनेकानेक मल दिन-दिन बढ़ते चलते हैं। विषयासक्ति और मानकी वासना घड़ी-घड़ी बढ़ती चलती है।

हमारी आँखें गंदगीकी ओर दौड़ती हैं।

हमारे कान गंदी बातें सुन-सुनकर मलिन हो रहे हैं।

हमारी जीभ गंदी बातें कर-करके मलिन हो रही है।

हमारी सभी इन्द्रियाँ मलिनताकी ओर बेतहाशा दौड़ रही हैं।

एकाध इन्द्रियका रोना हो तो गनीमत। यहाँ तो आँवा-का-आँवा ही खराब हो रहा है।

× × ×

ऊपरी मल तो दीखता है, संकोचवश ही सही, हम उसे साफ करनेकी बात सोचते भी हैं, पर भीतरी मल?

वह तो हमारे मनीरामकी पेटीमें बंद है।

हमें छोड़ कौन उसे देख सकता है?

और हम हैं, जो उसकी ओरसे आँखें मूँदे बैठे हैं।

इतना ही नहीं, हमने मनका मैल छिपानेकी कला भी सीख ली है। दिन-दिन हम उसमें पारंगत होते चले जा रहे हैं।

मान लें कि आपकी सूरतसे हमें नफरत है, हम आपसे बात करना नहीं चाहते, किंतु आपको देखते ही हमारे मुँहसे फूल झड़ने लगते हैं—'आपको देखकर बड़ी खुशी हुई!……'

सभ्यता और शिष्टाचारके नामपर हमने अपने मनोभावोंको कुछ-का-कुछ बताना सीख लिया है। भीतर रहता है कुछ, पर बाहरसे हम प्रकट करते हैं बिलकुल दूसरा।

वह तो अचानक कभी-कभी सलाईकी आँच पाकर बारूद भड़क पड़ती है। हमारा कोई विकार नंगे रूपमें फूट पड़ता है। तब लोगोंको पता चलता है कि बाहरसे दीखनेवाले इस हिमखण्डके भीतर कितना भीषण ज्वालामुखी छिपा हुआ था!

× × ×

पर हम लाख छिपायें, होता क्या है?

वस्तुस्थितिपर तो हम पर्दा डाल नहीं सकते।

हम ऊपरसे लाख साफ-सुथरे बन लें, इत्र-फुलेल लगा लें, पर भीतर जबतक मैल भरा रहेगा, तबतक हम गंदे ही रहेंगे और किसी फक्कड़की यह पंक्ति हमें सालती

ही रहेगी कि—

'क्या काया को मलि मलि धोवे, मनका मैल निकाल प्यारे!'

× × ×

इस बातको सभी जानते और मानते हैं कि जीवनको ऊपर उठानेके लिये हृदयको, चित्तको, मनको शुद्ध—निर्मल बनाना पड़ता है।

मनका मैल निकाले बिना न लोक सुधरता है, न परलोक।

मनका मैल निकाले बिना न साधना होगी, न भक्ति।

मनका मैल निकाले बिना न कर्म पवित्र होगा, न ज्ञानकी ही प्राप्ति होगी।

साधु और संत, फकीर और महात्मा चित्त-शुद्धिपर इतना जोर क्यों देते हैं? मीराने क्यों—

'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।'

सबका तात्पर्य एक ही है—

मनके मैलको निकाल बाहर करना।

उसके बिना गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं।

× × ×

मनका मैल कैसे निकले? चित्तकी मलिनता कैसे मिटे? इसके लिये महर्षि पतञ्जलिने एक बढ़िया साधन बताया है—

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाकी भावनाका विकास। योगसूत्रमें उन्होंने कहा है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥' (समाधिपाद ३३)

अर्थात् सुखी व्यक्तिके प्रति मैत्रीकी भावनाका अनुष्ठान करो।

दुःखी व्यक्तिके प्रति करुणाकी भावनाका अनुष्ठान करो।

पुण्यात्मा व्यक्तिके प्रति मुदिताकी भावनाका अनुष्ठान करो।

पापात्मा व्यक्तिके प्रति उपेक्षाकी भावनाका अनुष्ठान करो। ऐसा करनेसे चित्त प्रसन्न और निर्मल बनता है।

× × ×

मनके मैल अनेक हैं। कहाँतक गिनाया जाय उन्हें? थोड़ेमें कुछ विवेचकोंने उनके छः भेद किये हैं—(१) राग-कालुष्य, (२) ईर्ष्या-कालुष्य, (३) पर-अपकार-चिकीर्षा-कालुष्य, (४) असूया-कालुष्य, (५) द्वेष-कालुष्य और (६) अमर्ष-कालुष्य।

मुझे कोई सुख मिला। उसकी अनुभूति मुझे उसकी ओर बारंबार खींचती है। जी चाहता है कि यह सुख मुझे सदा मिलता रहे। इसका नाम है—राग।

दूसरेकी उन्नति न देख सकनेका नाम है—ईर्ष्या। किसीकी ऊँची हवेली देखकर, ऊँचा वेतन देखकर, अच्छी समृद्धि देखकर जीमें जो जलन पैदा होती है, जो डाह उत्पन्न होता है, उसे कहते हैं—ईर्ष्या।

दूसरेका अपकार करनेकी इच्छा कहलाती है—पर-अपकार-चिकीर्षा। किसीका बुरा सोचनेकी वृत्ति, किसीको दुःख पहुँचानेकी भावना मनको बुरी तरह कलुषित करती रहती है। किसीको दुःख देनेकी वृत्ति अथवा किसी दुःखीकी ओरसे मुँह मोड़ लेनेकी वृत्ति अत्यन्त निकृष्ट वृत्ति है।

किसीके गुणमें भी दोष देखनेकी वृत्ति 'असूया' है। हम सदाचारी नहीं हैं, हममें सद्गुण नहीं हैं तो हम सहज ही मान लेते हैं कि दूसरोंमें भी सद्गुण न होंगे। बस, हम अपने थर्मामीटरसे दूसरोंको नापकर फतवा देने लगते हैं—'बड़ा बना हुआ है वह पाखण्डी! बड़ा हरिश्चन्द्र बनता है!! ऊपर जितनी लम्बी दाढ़ी लटकाये है, भीतर उससे भी बड़ी दाढ़ी छिपाये है!!!' इसका नाम है—असूया।

हमें कोई सताता है, गाली देता है, हमारा अपमान करता है, हमारी रोजीपर लात मारता है, हमें बदनाम करता है, बस, हम उसे मिटा डालनेकी योजना बनाने लगते हैं। उसके प्रति हम द्वेषकी गाँठ बाँध लेते हैं। वैर-विरोध, घृणा, तिरस्कार इसी थैलीके चट्टे-बट्टे हैं।

अपनी अवज्ञा, तिरस्कार, अपमान आदिसे उत्पन्न होनेवाले क्षोभका नाम है—अमर्ष।

× × ×

योगदर्शनके टीकाकार कहते हैं कि मैत्रीकी भावनाका अनुष्ठान करनेसे राग और ईर्ष्या-कालुष्यका नाश हो सकता है। दुखियोंके प्रति करुणाकी भावनासे पर-अपकार-चिकीर्षा-कालुष्य मिट सकता है। पुण्यात्मा पुरुषोंके प्रति हर्षकी, मुदिताकी भावनासे असूया-मलकी निवृत्ति हो

सकती है। पापियोंके प्रति तटस्थता, उपेक्षा, उदासीनताकी भावनाका अनुष्ठान करनेसे द्वेष और अमर्ष-कालुष्य मिट सकते हैं।

× × ×

मैत्री कहते हैं—मित्रताको। मित्रके सुखमें सुखी होनेवाले और मित्रके दुःखमें दुखी होनेवाले व्यक्तिका नाम है—'मित्र'।

मित्रको सुख तो मुझे सुख।

मित्रको दुःख तो मुझे दुःख।

'मित्रको जो सुख मिल रहा है, वह सुख मुझे ही मिल रहा है'—ऐसी मैत्रीकी भावना आते ही सुखियोंके प्रति सद्भाव आ जाता है, फिर न अपना व्यक्तिगत राग रह जाता है और न उसके सुखके प्रति ईर्ष्या या डाहकी भावना रह जाती है।

सुखियोंके प्रति मैत्री आयी कि राग भी गया, ईर्ष्या भी गयी।

× × ×

करुणा कहते हैं—दयाको। दयामें स्नेह तो रहता ही है, सद्भाव और सहानुभूति भी रहती है। सेवाकी उत्कट भावना भी रहती है।

'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।'

'संसारके सभी दुखियोंका कष्ट मैं भोग लूँ। वे कष्ट-मुक्त हो जायँ;—इस भावनाका नाम है—करुणा।

करुणा आयी कि दुखियोंके प्रति घृणा गयी, उपेक्षा गयी, उदासीनता गयी। फिर किसीका अपकार करनेकी कल्पना भी कहाँसे उठेगी? अतः पर-अपकार-चिकीर्षाका प्रश्न ही नहीं रह जाता।

× × ×

मुदिता कहते हैं—हर्षको, प्रसन्नताको।

पुण्यात्माओंको देखकर प्रसन्न होना, उनके सत्कृत्योंपर न्यौछावर होना, उनके सद्गुणोंकी प्रशंसा करना मुदिता है। 'धन्य है यह सत्पुरुष'—

'वसुंधरा पुण्यवती च तेन।'

पुण्यात्माको देखकर प्रसन्न होनेवाला व्यक्ति ही तो गाता है—

'जननी जीवो गोपीचन्दकी, पुत्रने प्रेर्यो वैराग्य जी!'

मुदिता आयी कि असूयाका पत्ता कटा।

× × ×

उपेक्षा कहते हैं—उदासीनताको, तटस्थताको।

किसीसे कोई अपराध बन गया, कोई पाप हो गया, कोई गलती हो गयी तो ऐसे व्यक्तिके प्रति उपेक्षाका बर्ताव।

'ऊँह होगा। जाने भी दो। गलती किससे नहीं होती? किसीने किसी उत्तेजनाके क्षणमें कोई गलत काम कर दिया, हमींको सताया तो हम भी गलती क्यों करें? भगवान् उसे सुबुद्धि दें। हम उसके प्रति दुर्भाव रखकर क्यों अपनी मानसिक शान्ति खोयें? किसीने हमारे प्रति अपराध किया हो तो उसे क्षमा करना ही हमारा कर्तव्य है। हमें उसके पापका स्पर्श नहीं होना चाहिये।'

ऐसी भावनाको कहते हैं—उपेक्षा, उदासीनता, तटस्थता।

× × ×

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षाकी भावनाएँ मनका मैल दूर करनेमें निश्चय ही सहायक बन सकती हैं। योगशास्त्रमें तो उनका विधान है ही, भगवान् बुद्धने भी उनपर बड़ा जोर दिया है।

मनका मैल मिटते ही चित्त निर्मल हो उठता है। निर्मल चित्त होते ही बुद्धि स्थिर हो उठती है। स्थितप्रज्ञके आनन्दका तो कहना ही क्या?

गीता कहती है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२। ६४)

और—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

(२। ६५)

चित्त प्रसन्न होते ही सारे दुःखोंका अवसान हो जाता है और उसका उपाय—

मनका मैल निकाल प्यारे!

सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन कैसे हों ?

(श्रीबनवारीलालजी गोयन्का)

अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमेश्वरका सर्वत्र दर्शन हम कैसे करें ? इसके समाधानमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज रामचरितमानसमें लिखते हैं—

सीय राममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

तथा—

उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥

'सीय राममय०' इस चौपाईमें गोस्वामीजीको सर्वत्र सीतासहित राम दीख रहे हैं और उनको वे प्रणाम करते हैं। **'उत्तम के०'** इस चौपाईमें अनसूयाजी सीताजीसे कहती हैं कि उत्तम पतिव्रताके लिये अपने पतिके सिवाय दूसरा पुरुष स्वप्नमें भी नहीं है।

इसी प्रकार व्रजकी गोपाङ्गनाएँ अपने मनमें सर्वत्र केवल अपने प्यारे श्यामसुन्दरको ही देखती हैं। एक गोपी फल बेचने जा रही थी। रास्तेमें कहती जा रही थी—**'अरी, कोई फल ले लो री, अरे कोई फल ले लो री।'** फिर वह फल कहना ही भूल जाती है। अब तो जिसको सदैव अपने मन-मन्दिरमें बैठाये रहती है, उसीका नाम जिह्वापर आने लगता है और कहने लगती है—**'अरी, कोई कन्हैया ले लो री, अरे कोई कान्हा ले लो री।'** वह अपने प्रभुमें इतना तल्लीन और तन्मय थी कि उसे इसका भान ही नहीं रहा कि मैं फल बेच रही हूँ। कहती है—

'कोई माई ल्यो री गोपाल'

बस, चित्तमें तो केवल प्यारे श्यामसुन्दर बसे हैं। वही कहती-कहती व्रजकी गलियोंमें चली जा रही है। उसको सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर, कन्हैया, लाला ही दीख रहे हैं। ऐसी दशा है। उसके लिये यह न तो कोई समस्या है और न ही उसे यह सोचने-समझनेका अवकाश ही कि 'भगवान्‌के दर्शन सर्वत्र कैसे हों! वह तो जैसे घर-घर घूमकर प्रभुको बेच रही हो, जन-जनमें प्रभुका अलख जगा रही हो।

गोपी केवल साड़ी पहननेवाली स्त्रीका नाम नहीं है। गोपी-भाव है। पुरुष हो या नारी जिसकी आँखोंमें सर्वत्र केवल अपने प्यारे श्यामसुन्दर ही बस गये—वही गोपी है। एक बार कुछ गोपाङ्गनाएँ जंगलमें जा रही थीं। रास्तेमें विष्णु भगवान् मिले तो उनसे पूछती हैं—'क्या आपने हमारे श्यामसुन्दरको देखा है ? देखा हो तो जल्दी बताओ वे कहाँ हैं ? किधर हैं ? हम उनके बिना नहीं रह सकतीं। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—ब्रह्माजीने ये आँखोंकी पलकें क्यों रचीं जो बार-बार खुलती हैं, मिचती भी हैं, केवल खुली ही रखते। व्रज-भावापन्न संत कहते हैं—

जिसने देखा कभी नयनभर मोहन रूप बिना बाधा।
वही जान सकता है क्यों कर कुल कलंकिनी है राधा॥
मिली हुई जो कभी भाग्यवश है उनके आँखें होती।
वही जानता कीमत जो उस रूप माधुरी की होती॥

मीराबाई सायंकाल अपने घरके दरवाजेपर खड़ी हो जातीं और एक दृष्टि रहती—प्यारे अभीतक गैया चराकर ग्वाल-बालोंसे घिरे क्यों नहीं आये। लोग पूछते दरवाजेपर खड़ी क्या देख रही हो तो कहतीं—

अलि मेरे नैनन बान पड़ी।

ऐसा मन जब बन जाता है तो उसकी दृष्टि श्रीकृष्णमयी बन जाती है। उसे सर्वत्र श्रीकृष्ण ही दीखते हैं।

एक बार गोपियाँ वनमें कन्हैयाको ढूँढ़ती जा रही थीं। रास्तेमें नारदजी मिले। उनसे पूछने लगीं—क्या आपने हमारे प्यारे श्यामसुन्दरको कहीं देखा है ? यदि देखा है तो जल्दी बताओ, हम उनके बिना नहीं रह सकतीं। नारदजी कहते हैं—पगलियो, ऐसे कहीं श्यामसुन्दर मिलते हैं, वे भगवान् हैं, साक्षात् उनसे मिलनेका उपाय बतलाता हूँ। पहले ये सब बाल-जटा कटाओ और भगवा कपड़ा धारण करो फिर तपस्या करो, तब श्यामसुन्दर मिलेंगे। नारदजीके वचन सुनकर गोपियाँ एक दूसरेको देखने लगीं। फिर बोलीं ठीक नारदजी, आपके वे भगवान् श्यामसुन्दर दूसरे ही हैं। नारदजीने पूछा—'फिर तुम्हारे कैसे हैं ?' उस समय वे अपने प्यारेकी छबिका वर्णन करती हैं। कहती हैं—'देखो! हमारे प्यारेके काले-काले घुँघराले बाल हैं, वे कभी गालोंपर आ जाते हैं। बड़े सुन्दर गाल हैं, आँखें तिरछी हैं, चपल हैं, स्थायी एक जगह नहीं टिकतीं। मन्द-मन्द मुस्कराते रहते हैं' प्रभुका ऐसा मोहक वर्णन सुननेपर नारदजीकी आँखोंसे

अश्रुपात होने लगा। वे मन-ही-मन कहने लगे—धन्य हैं ये गोप-बालाएँ।

ऐसे ही उद्धवजी जब व्रजमें आकर गोपियोंको समझाते हैं, तब वे कहती हैं—

ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस॥

फिर कहती हैं—

मन मैं रह्यौ नाहिंन ठौर।
नंदनंदन अछत कैसैं, आनियै उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत स्वप्न सोवत राति।
हृदय तैं वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति॥
मन मैं रह्यौ नाहिंन ठौर।

ऐसी बात सुनकर उद्धवजी पागल-जैसे हो गये। कहने लगे—धन्य है इन व्रज-बालाओंको। यदि मैं इस व्रजकी गलियोंमें बेल-लता बन जाऊँ तो उन व्रज-बालाओंके पैरोंकी धूल उड़कर जब मेरे शरीरपर पड़ेगी तब मेरी भी आँखें ऐसी ही बन जायँगी। सूरदासजी कहते हैं—

दधि-मटुकी सिर लिये ग्वालिनी कान्ह कान्ह करि डोलै री।
बिबस भई तनु-सुधि न सम्हारै आपु बिकी बिनु मोलै री॥
जोइ जोइ पूछै यामैं है कह लेहु लेहु कहि बोलै री।
सूरदास प्रभु-रस-बस ग्वालिनि बिरह भरी फिरै टोलै री॥

जो आँखें अपने प्यारे प्रभुको निहारती हैं, वही आँखें वास्तवमें धन्य हैं। जो कान निरन्तर श्रीकृष्ण-लीला सुनते हैं, वही कान धन्य हैं। जो जीभ दिन-रात श्रीकृष्ण-गान अथवा श्रीकृष्ण-चर्चा करती है, वही जीभ धन्य है। जो त्वचा श्रीकृष्णका स्पर्श करती है; वही त्वचा वास्तवमें धन्य है। जब श्रीकृष्ण-कृपासे हृदयमें उनको पानेकी विरहाग्नि जल उठती है, तब विरहातुर भक्त क्या कहता है—

अब तो कुछ भी नहीं सुहावै एक तू ही मन भावै है।

फिर क्या कहते हैं—

'तेरे सुख सैं सुखिया हूँ मैं तेरे लिये प्राण रोवै।

एक दूसरे संत कहते हैं—

ना भावै अब जग की बातें एक दिलवर की चर्चा सहती।
ललितकिसोरी पार लगावै मायाकी सरिता बहती॥

भगवत्प्रेम-नदीके दो तट हैं। एक विरह और एक संयोग—संयोग यानी सर्वत्र कृष्णमय दीखना। ऐसी आँखें जब श्रीकृष्णकी कृपासे बन जायँगी, तब उसे सर्वत्र केवल अपने भगवान् ही दीखेंगे।

दीपावली ऐसे भी मनाकर देखें

(श्रीरामनिवासजी लखोटिया)

दीपावली भारतका राष्ट्रिय पर्व है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं और कोई विवादकी आवश्यकता नहीं। चाहे हिन्दू-धर्मावलम्बी हों, चाहे जैन-धर्मके अनुयायी हों और चाहे आर्य-समाजके सदस्य हों, चाहे वे उत्तर भारतमें बसनेवाले भारतीय हों या फिर दक्षिण-भारतीय हों, चाहे साधारण गृहस्थी या नागरिक, चाहे लक्ष्मीके उपासक हों या फिर कालीके उपासक, सभी भारतीय किसी-न-किसी रूपमें दीपावलीको बड़े उत्साह और उमंगके साथ मनाते हैं। दीपों, आधुनिक बल्बों, ट्यूबलाइटों, मिनी बल्बोंकी कतारसे घर-आँगन, द्वार, खिड़कियाँ, मार्ग, सड़कें, अट्टालिकाएँ तथा भवन सभी सुशोभित हो जाते हैं और दीपावलीके इस पवित्र अवसरपर बच्चोंमें ही नहीं बल्कि युवा, प्रौढ़—सभीमें नये वस्त्र पहननेकी, नये पकवान खानेकी उमंग और चाह बनी रहती है। कोई लक्ष्मीका आह्वान कर समृद्धि और धनकी प्रार्थना करता है तो कोई महाकालीका आशीर्वाद प्राप्त कर शक्तिकी पूजा-अर्चना करता है। कहीं वैश्य-समुदायके लोग आपसमें मिलकर भाई-चारेकी भावना उजागर करते हैं तो कहीं त्यौहारके पश्चात् बहनें अपने भाइयोंका सम्मान कर उन्हें आदर प्रदान करती हैं। विविध सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम-प्रसंग दीपावलीके साथ जुड़े हैं और हम वर्षोंसे भारतके विभिन्न क्षेत्रोंमें इसी प्रकार दीपावली मनाते आ रहे हैं।

उपर्युक्त प्रकारसे जो जिस प्रकार दीपावली मना रहे हैं, वे मनायें, इसमें कोई हानि नहीं। लेकिन यदि हमें

दीपावलीका वास्तविक लाभ लेना है और इसके संदेशको जीवनमें उतारकर अपना जीवन सफल करना है तो आइये हम कुछ क्षण दीपावलीके आध्यात्मिक संदेशकी ओर दृष्टिपात करें। दीपावलीका अर्थ है 'दीये' का जलाना अर्थात् रोशनी करना और अन्धकारको भगाना। बाह्य दृष्टिसे तो रोशनी आध्यात्मिक सिद्धान्तका एक प्रतीक है, लेकिन असली उत्सव, असली कार्य है मनके अन्धकारको भगाना और अपने मनमें पुनः इस प्रश्नकी जिज्ञासा उजागर करना कि हमारा मानव-जन्म किसलिये है, भगवत्प्राप्ति तथा आत्मबोधके लिये ही तो मानव-जीवन है और यह तभी सम्भव है, जब दीपावलीके शुभ संदेश अर्थात् रोशनीसे अमावस्याके काले अँधियारेको भगाने या आत्मबोधके ज्ञानद्वारा काम, क्रोध, मोह, लोभ, दम्भ आदि विकारोंको, एवं अज्ञानको दूर करनेकी प्रवृत्तिको हम जीवनमें ढालें। हृदयमें वास्तविक प्रेम रखना चाहिये तथा द्वेषके स्थानपर मैत्रीभाव और सभीके साथ आध्यात्मिक रूपसे वर्णित समुचित भाव रखना चाहिये। जैसे—आर्थिक स्थितिमें अपनेसे बड़ोंके प्रति मुदितभाव, बराबरवालोंके प्रति मैत्रीभाव और अपनेसे कमजोर स्थितिवाले और अनुजोंके प्रति करुणभाव तथा जो व्यक्ति दुष्ट हैं, उनके प्रति घृणाके स्थानपर उपेक्षाभाव रखकर हम अपना जीवन व्यतीत करें तो हमारे हृदयमें घृणा, द्वेष और ईर्ष्याके स्थानपर प्यार, प्रेम, करुणा तथा वात्सल्य आदि भाव जगेंगे तथा हमारे मन और हृदयका अन्धकार दूर होकर उसमें वास्तविक ज्ञानका दीपक जलेगा। तभी हम सही अर्थोंमें दीपावली-उत्सवकी भावनाको हृदयंगम कर अपना जीवन सार्थक बना सकेंगे और साथ ही अपने परिवार—स्वजनों, मित्रों तथा पड़ोसियों एवं अन्य व्यक्तियोंका भी जीवन सार्थक बना सकेंगे।

जब हमारे मनका अन्धकार मिटेगा तो मनके विभिन्न विकारोंपर हम विजय प्राप्त कर सकेंगे। उस दिन अज्ञानरूपी अमावस्याका अन्धकार आत्मज्ञानके आलोकसे नष्ट हो जायगा फिर बाहरी हजारों-लाखों दीप आलोकित होंगे, बाहरके संसारके लिये और हमें निरन्तर आभास करायेंगे कि उसका असली प्रतिबिम्ब हमारे मनके अमावस्याके अँधेरेको सतत मिटाकर उसमें ज्ञान-रूपी दीपक जला रहा है। यही अमावस्याके दिन दीपोत्सव मनानेका या लक्ष्मीपूजन करनेका सही उद्देश्य है। लक्ष्मीजी भी निरन्तर उसीके पास रहती हैं जो विष्णु अर्थात् कल्याणकारक स्वभावके होते हैं और हम कल्याणकारक स्वभावके तभी बन सकते हैं, जब हम अपने मनके ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि अँधियारेको आत्मज्ञानके आलोकसे मिटा दें।

महर्षि पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें ठीक ही कहा है—**'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः'** अर्थात् मानव-जीवनके पाँच मुख्य क्लेश हैं अज्ञान, अभिमान, राग, द्वेष और मृत्युका भय।

तो आइये, आज हम दीपावलीके अवसरपर नयी दृष्टिसे दीपावली मनायें। बाहरका आलोक तो अपने स्थानपर रहेगा ही, लेकिन हम मनन करें, ध्यान करें और थोड़ा विचार करें कि किस प्रकार अपने मनके अन्धकारको हम आत्मज्ञानकी रोशनीसे **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** की भावनाके अनुरूप आलोकित कर स्वयं भी आनन्दित हों और दूसरोंको भी आनन्दित करें। तथा हम इन्हीं अर्थोंमें पूरे वर्ष ही दीपावलीकी इस आध्यात्मिक भावनासे प्रेरित होकर अपना जीवन-यापन करें और दीपावली-पर्वको सही अर्थोंमें सार्थक बनायें।

आरतपाल कृपाल जो रामु जेहीं सुमिरे तेहिको तहँ ठाढ़े।
नाम-प्रताप-महामहिमा अँकरे किये खोटेउ छोटेउ बाढ़े॥
सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥

(कवितावली)

साधनोपयोगी पत्र

सम्मान्य तथा प्रिय महोदय, सादर हरिस्मरण!

आपने घटनाका जो वर्णन लिखा और उसपर 'अपने हितकी दृष्टिसे तथा मेरे लिखनेके अनुसार ही आप करेंगे'—यह लिखते हुए मेरी संकोचरहित सम्मति चाही, यह आपका शील है। आपने मुझपर इतना विश्वास किया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरी तुच्छ सम्मतिमें जो बात ठीक प्रतीत होती है, वह लिख रहा हूँ। हो सकता है—कहीं भूलसे कुछ अनुचित लिख जाऊँ, पर मुझे अपनी रायके हितकारक होनेमें संदेह नहीं है; किंतु आप इसे पूर्णरूपसे मानकर ऐसा ही करें—यह मेरा आग्रह नहीं है। आपकी शान्त विवेक-बुद्धि जैसी कुछ सम्मति दे, जिसमें आपको अपना कल्याण प्रतीत हो, आप वही कीजिये।

जो किसीका अपमान-तिरस्कार करके गौरव मानते हैं, गर्व करते हैं, वे तो असुर हैं, उनके दोष सहज ही मिटेंगे नहीं और उनकी निश्चित ही दुर्गति भी होगी। मनुष्यकी बुद्धि जब तमोगुणसे ढक जाती है, तब ऐसा ही होता है। आपको 'अपनी भूल-सी भी मालूम होती है, किंचित् पश्चात्ताप भी होता है और भूल हो तो उसे मानने तथा हृदयसे आप उसका सुधार करना चाहते हैं'—यह आपकी दैवी सम्पदाका एक लक्षण है। इसीसे मैं भी आपको लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

मेरी समझसे आपने बड़ी भूल की है। उक्त सज्जन आपके सामने बोले, उन्होंने कटु शब्द कहे—यह अवश्य उनका दोष है। पर इससे पहले आपके द्वारा प्रकारान्तरसे उनकी कुछ अवज्ञा हो चुकी थी। उसकी उनके मनमें छिपी जलन थी। आपसे यदि उन्हें स्नेहपूर्ण वचन-सुधाधारा मिलती तो वह छिपी आग बुझ जाती, उनका हृदय शीतल-शान्त हो जाता; पर आप भी आवेशमें आ गये। मनुष्य जब आवेशमें आता है, तब उसको क्रमशः सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाशकी स्थिति प्राप्त होती है; उस समय वह 'सर्वनाश' कर बैठता है। आपसे भी किसी अंशमें आवेशके वश होनेके कारण ऐसा ही हो गया।

आप यह जानते ही हैं कि प्राणिमात्र—खास करके मनुष्य सहज ही सम्मान चाहता है। अतएव वह किसीके द्वारा भी किया हुआ जरा-सा भी अपमान सहन नहीं कर सकता। समर्थ होता है या आवेशमें आ जाता है तो वह बदलेमें उतना ही या उससे भी अधिक अपमान कर बैठता है और असमर्थ होनेपर मन-ही-मन शाप देता है। उसके हृदयमें एक जलन पैदा हो जाती है, जो अपमान करनेवालेको जलते देखकर ही प्रायः शान्त होती है। अतएव भाव तथा संकेतसे भी कभी किसीका अपमान न करे; वाणीसे तो कभी करे ही नहीं। खास करके जो अपनेसे किसी प्रकार नीचे पदपर हों, उनके लिये तो विशेष सावधानी रखे। किसी भी छोटे-से-छोटे मनुष्यका भी कभी अपमान न करे;—बहुत नीचे नौकरों तथा छोटे बच्चोंका भी नहीं, पशु-पक्षीका भी नहीं। सम्मानसूचक, मधुर सुधावाणीसे सबको अमृत देकर आप्यायित करता रहे। आपके द्वारा यह बड़ी भूल हुई कि आपने उनके भली नीयतसे किये हुए कामकी भी अभिमानवश निन्दा की, उसे न करनेका आदेश दिया और उनकी भलाई तथा नेकनीयतीका आदर न करते हुए रूखे, कड़े तथा अपमानसूचक शब्दोंका उनके प्रति प्रयोग किया। संतोंका तो यह स्वभाव होता है कि वे गाली—शाप देनेवालों तथा प्रत्यक्ष अनिष्ट करनेवालोंका भी सम्मान करते तथा उनका सहज ही हित चाहते हैं। **'*मंद करत जो करइ भलाई॥*'** भगवान्ने (गीता १२। १३ में) भक्तके लक्षण बतलाते हुए आरम्भमें ही कहा—'वह सर्वत्र द्वेषरहित, सबसे मैत्रीभावसे बर्तनेवाला, करुण-हृदय, ममता तथा अहंकारसे रहित, अपने सुख-दुःखमें समबुद्धि रखनेवाला तथा क्षमावान्—बुरा करनेवालेका भी भला करनेवाला होता है।' यह संत-स्वभाव न सही, कम-से-कम अपनी ओरसे तो कभी किसीका अपमान न करे। किसीका जी न दुखावे। अपमान करनेपर उसके मनमें बैठे हुए भगवान्को संताप होता है, उसके मनमें द्वेष उत्पन्न होता है, वह कोई अच्छा काम कर रहा हो तो उसमें बाधा आती है, वैरका बीज बोया जाता है, हिंसा-प्रतिहिंसाके पापका प्रारम्भ हो जाता है, अशान्ति पैदा होती है और दूसरेके मनके भावानुसार

अपने मनमें भी वे सारे दोष आने लगते हैं। अतएव किसी भी प्रकारका अभिमान न करके सदा विनय-विनम्र रहे। मनुष्यको धनका, बुद्धिका, विद्याका, पदका, अधिकारका, ऐश्वर्यका, शक्तिका, सम्मानका, दानका, सत्कर्मका—यहाँतक कि सदाचारका, तपका, साधनका, सेवाका और त्याग तकका अभिमान हो जाता है और अभिमानके कारण उसका पतन हो जाता है—लोकदृष्टिमें भी और अपनी वास्तविक स्थितिसे भी। सुतरां इस अभिमानसे बचे। भगवान् भी अभिमानके साथ द्वेषकी तथा दैन्यके साथ प्रेमकी लीला करते हैं—

'ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।'

(नारदभक्ति-सूत्र २७)

अतएव मेरी तुच्छ सम्मति मानें तो आप संकोच और झेंप छोड़कर सहर्ष अपनी भूल स्वीकार करते हुए उनसे क्षमा माँग लें। भविष्यमें ऐसा न करनेकी मन-ही-मन प्रतिज्ञा करें। वे एक बारमें क्षमा न करके आपसे न बोलें, रूखा बर्ताव करें, कड़े बोलें, अपमान करें तो उसे सह लें और मनमें सच्चा पश्चात्ताप करते हुए उनसे बार-बार क्षमा माँगें और क्षमा-याचनाका भी कभी अभिमान न करें। याद रखें, क्षमा-प्रार्थना करनेवाला कभी नीचा नहीं होता।

क्षमा-याचना, सेवा, सद्व्यवहार, नम्रता आदिके द्वारा उनके मनकी सारी जलन बुझा दें और उसमें रही हुई द्वेषकी भावनाका सर्वथा नाश कर दें। मनुष्य अपने सद्व्यवहारसे शत्रुको भी मित्र बना सकता है। पर कदाचित् ऐसा न भी हो, वे प्रसन्न न भी हों तो कम-से-कम आप अपने मनमें द्वेष या वैर-भावनाको सर्वथा निकालकर उसे सर्वथा शुद्ध कर लें।

आप ऊँचे हैं, बहुत विद्वान् हैं, आपके पास अधिकार है—यह सत्य है, पर इससे तो आपको और भी नम्र होना चाहिये। तराजूका जो पलड़ा भारी होता है, वह नीचा होता है। ऊँचा वही है जो नीचे-से-नीचेमें भगवान्‌को देखकर—उसको अपने मनमें ऊँचा मानकर उसका सम्मान, नमन, हित-साधन करता है और अपने लिये तो—साधक—

'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधा।'

—'सम्मानको भीषण विषके समान तथा नीचापमानको अमृतके समान समझे।' यह न हो तो, कम-से-कम द्वेषकी भावनाको सर्वथा निकालकर सबका सम्मान, सबका हित, सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें। निश्चय समझें—सबमें एक भगवान् हैं, अपने प्रत्येक कर्मद्वारा उनकी पूजा करें, उनकी सेवा करें।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान्‌से यह प्रार्थना नित्य कातर-भावसे कीजिये—

विनती तुमसे है यही, हे मेरे भगवान।
कभी किसीका भी नहीं हो मुझसे अपमान॥
सबमें देखूँ तुम्हींको छोड़ सभी अभिमान।
सबकी सेवा-हित करूँ सबको दूँ सम्मान॥

शेष भगवत्कृपा।

जो परिस्थिति आवे, उसका हम स्वागत करें

हम यह अनुभव करनेकी चेष्टा करें, सारी शक्ति लगाकर विश्वास करें कि जो भी परिस्थिति भगवान्‌की ओरसे हमारे सामने रखी जा रही है, उसके कण-कणमें लौकिक-पारलौकिक हमारा मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है। हमारे लिये जो अत्यन्त आवश्यक परिस्थिति है, भगवान्‌के द्वारा उसीका निर्माण किया गया है। भगवान् अपरिसीम करुणामय हैं। उन्हें बिलकुल ठीक पूरा पता है कि हमारे लिये कौन-कौन-सी परिस्थिति होनी चाहिये और यह सोच-समझकर ही सारी परिस्थितियोंका निर्माण भगवान्‌ने किया है। 'अबोध बच्चेको क्या चाहिये' इसका निर्णय ठीक-ठीक जननी ही करती है और तदनुरूप व्यवस्था भी करती है। इसलिये जो परिस्थिति आवे, उसका हम स्वागत करें। यही प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌के मङ्गलमय विधानको देखना है।

भक्त-गाथा—

केदारभक्तकी तीर्थयात्रा

(श्रीउद्धवचन्द्रजी चतुर्वेदी)

लगभग दो सौ वर्ष-पूर्वकी बात है। मध्यप्रान्तके एक छोटे-से गाँवमें केदारनाथका जन्म एक गरीब परंतु उच्च ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। केदारनाथके पिता पं० आत्मारामजी दूबे उस गाँवके पुरोहित थे। गाँवकी यजमानीसे ही अपनी गृहस्थीकी नौकाको जैसे-तैसे चला लेते थे। घरमें केवल केदारनाथ, उसकी वृद्धा माँ और स्वयं आत्मारामजी—ये ही तीन प्राणी थे।

आत्मारामजीको ज्योतिषकी अच्छी जानकारी थी। इसी कारण अपने पुत्र केदारनाथके उत्पन्न होनेपर उसकी जन्म-पत्रिकाकी रचना उन्होंने स्वयं ही की। जन्म-पत्रिका बना लेनेपर पण्डितजी बड़े प्रसन्न थे। लड़केके ग्रह बड़े उच्च थे। कुण्डली स्पष्ट बता रही थी कि केदारनाथ परम भक्त बनेगा।

माता-पिताके दुलारसे केदारनाथ बढ़ने लगा और उसकी वृद्धिके साथ-साथ ही जन्मपत्रिकाद्वारा ज्ञात लक्षण भी स्पष्ट होने लगे। जब पण्डित आत्मारामजी अपने इष्टदेवकी पूजा करते और आरती उतारते, उस समय केदारनाथ अपने घुटनोंके बल घिसकता-घिसकता वहीं पहुँच जाता। सात-आठ वर्षकी अवस्था हो जानेपर तो केदारनाथ अपने पिताके साथ ही उठने, पूजा या नित्यकर्म करने और ठाकुरजीकी सेवामें भी हाथ बँटाने लगा। उपनयन-संस्कार हो जानेपर केदारनाथने अपने पिताजीको ठाकुरजीकी पूजासे पूर्ण अवकाश दे दिया। अब पण्डितजी भी अपनी जीविकाके लिये प्राय: आस-पासके गाँवोंमें ही अधिक वास किया करते थे। केदारनाथ अपने ठाकुरजीकी पूजा बड़े ही प्रेमसे करता, घंटोंतक भगवत्-ध्यानमें ही तल्लीन रहता और श्रीहरि-संकीर्तन किया करता था। उसकी निष्काम भावनासे भगवान् अत्यन्त संतुष्ट थे।

× × ×

केदारनाथके मकानके सामने ही एक बड़ा पीपलका वृक्ष था, जिसके चारों ओर पक्का चबूतरा बना हुआ था। रात्रिके समय अपने-अपने गृह-कार्योंसे निवृत्त होकर गाँवके सब लोग इसी चबूतरेपर आकर बैठ जाते और वार्तालाप किया करते। गाँवके कुछ लोग आज ही श्रीबदरीनारायणजीकी तीर्थ-यात्रासे वापस आये हुए थे और अपनी यात्राका वृत्तान्त सुना रहे थे। केदारनाथ भी सब बातें चुपचाप बैठा सुन रहा था। वह बड़ा ही आनन्द अनुभव करने लगा। उस तीर्थयात्राके वृत्तान्त-श्रवणमें—किस तरह पहाड़ी रास्तोंको पार करके मेह-आँधीकी लेशमात्र चिन्ता न करते हुए, पवित्र गङ्गाजल-पान करते, भगवती सुरसरिके पावन तटोंके आश्रमोंका दर्शन करते हुए भक्तोंकी तीर्थयात्रा पूर्ण होती है। भक्तोंको क्या ही आनन्द होता है, जब इस प्रकारकी लंबी और कठिन यात्रा तय करके उनको श्रीभगवान् बदरीनारायणके पावन चरणोंके दर्शन प्राप्त होते हैं। यात्राका वृत्तान्त सुनते-सुनते केदारनाथ ऐसा आनन्दविभोर हो गया कि उसने भी आगामी वर्ष यात्रा करनेकी सोच ली।

आधी रात बीत गयी। सब लोग अपने-अपने घर चले गये। केदारनाथ भी आ गया और भगवत्-चिन्तन करता-करता सो गया। × × × नित्यकी भाँति केदारनाथने बहुत सबेरे ही उठकर स्नानादिसे निवृत्त हो श्रीठाकुरजीका मन्दिर खोला और खोला अपना हृदय-पट एवं चिरसंचित अश्रु-स्रोत, अपने उस भगवान्‌के पावन चरणोंके सम्मुख, जिनकी कृपामात्रको वह अपनी मन:कामना पूरी कर देनेमें समर्थ माने हुए था। प्रार्थना करते-करते केदारनाथ अधीर हो उठा और कहने लगा—'हे मेरे देवाधिदेव! तुम पूर्ण अन्तर्यामी हो, तुम जानते हो कि अब मेरे जीवनकी एकमात्र इच्छा क्या है! मैं अपने वचनोंद्वारा उसे प्रकट करके तुम्हारे अन्तर्यामीपनकी महत्ता घटाना नहीं चाहता—केवल प्रार्थना करता हूँ कि शीघ्र ही उस कामनाको पूर्ण करो।' × × × केदारनाथ भगवान्‌के पावन चरणोंमें पड़ा रहा। उसे कुछ आभास हुआ, मनने साक्षी दी—'धैर्य धारण करो, भगवान् सबकी लालसा पूर्ण करते हैं—तुम्हारी भी करेंगे।'

'दिवस जात नहिं लागिहि बारा'—गर्मी और वर्षाऋतु भी गयी। सर्दी भी आ गयी, परंतु इसी सर्दीमें केदारनाथकी वृद्धा माँ सहसा चल बसी। केदारने सोचा—उसकी माँ उससे

भी पहले बदरिकाश्रम पहुँच गयी। इससे भी केदारनाथको बड़ा दु:ख हुआ; परंतु उस गरीबको क्या मालूम था कि अभी भगवान् उसकी और भी कठिन परीक्षा लेनेवाले हैं। गाँवमें शीतलाका रोग फैल गया और केदारनाथ भी उससे बचा न रह सका। उसके भी माता (चेचक) निकल आयी और वह भी बड़े वेगसे। पण्डित आत्मारामजी और अन्य गाँववालोंको तो केदारके जीवनकी आशा ही न रही। सबको विस्मय हो रहा था कि इतनी अवस्था हो जानेपर भी इस रोगने केदारको आ घेरा (क्योंकि चेचक प्राय: बालकोंको ही निकलती है)।

दिन फिरे, केदार चंगा हो गया; परंतु उसकी दृष्टि इस रोगमें जाती रही। वह अंधा हो गया। इससे केदारनाथको बहुत ही दु:ख हुआ; क्योंकि अब उसे अपनी तीर्थयात्रा पूर्ण करनेका कोई भी साधन नहीं सूझ रहा था।

× × × सर्दी गयी, गर्मी आयी। पण्डित आत्मारामजी भी अपनी जीविकाके लिये पासके गाँवोंमें चले गये। घरपर था केवल केदार और उसके भगवान्! पहलेकी भाँति अब भी केदार लाठी टेकता-टेकता शामके समय गाँवके उसी चबूतरेपर जा बैठता था। हर वर्षकी भाँति इस वर्ष भी कुछ भक्त लोग श्रीबदरीनारायणजीकी तीर्थ-यात्रामें जानेवाले थे और अन्य लोगोंसे अपने विचार प्रकट कर रहे थे। केदारका भी मन छटपटाया और एक दीर्घ नि:श्वास छोड़कर अपने विचार भी उसने उन यात्रार्थियोंके सम्मुख प्रकट किये कि यदि वे लोग उसे भी अपने साथ किसी प्रकार ले चलते। केदारनाथका शरीर बड़ा हृष्ट-पुष्ट था और उसकी चलनेकी गति तीव्र थी। कुछ लोगोंने यह प्रस्ताव किया कि यदि कोई केदारकी लाठी पकड़कर ले चलनेको तैयार हो तो केदार भी उनके पैरके साथ पैर रखता हुआ जा सकता है। लोगोंने सहानुभूति प्रकट की और इस विश्वाससे कि उसकी दृष्टि भी श्रीबदरीनारायणकी कृपासे शायद फिर आ जाय। वे लोग उसे साथ ले चलनेको तैयार हो गये। केदार बड़ा ही प्रसन्न था। उसने मन-ही-मन भगवान्को कोटिश: धन्यवाद दिये और गाँववालोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

× × ×

यात्राका शुभ मुहूर्त आया—श्रीबदरीनारायणका जयकार करके सब लोगोंने गाँवसे प्रस्थान किया। तेईस दिनकी पैदल यात्रा करके सब लोग हरिद्वार पहुँचे। ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला इत्यादि स्थानोंपर गङ्गास्नान करता हुआ केदारनाथ परम प्रसन्नचित्त अपने गाँववालोंके साथ-साथ चला जा रहा था। नन्दप्रयाग पार किया और अब रास्ता कुछ विकट आने लगा। परंतु केदार नेत्रवालोंकी ही भाँति उस दुर्गम पथको तय किये चला जाता था। आगे बढ़नेपर रास्ता बर्फीला आया। मेह, आँधी आने लगे। चट्टियोंपर यात्री लोग कंबल ओढ़े पड़े रहते और आँधीके बंद हो जानेकी प्रतीक्षा किया करते थे।

× × × बादल हो रहे थे, बर्फकी छोटी-छोटी कणिकाएँ गिर रही थीं—सर्वत्र कुहासा छा रहा था। हाथ-को-हाथ नहीं सूझ रहा था। सब यात्री एक दूसरेसे सटे हुए कंबल ओढ़े सिकुड़े हुए बैठे थे। मौसम और भी बिगड़ा और बड़े जोरकी आँधी आयी। लोगोंकी आँखें धूलके कारण स्वयं ही बंद हो रही थीं। ---केदारनाथ अपने यात्रियोंके साथ बैठा भगवान्के ध्यानमें तल्लीन था और श्रीबदरीनारायणजीके पावनकारी दर्शनोंकी आस लगाये था। वह सोच रहा था—यदि इस समय मेरी आँखें होतीं तो इस मौसमकी चिन्ता न करके मैं तो सीधा बदरिकाश्रम ही पहुँचता। भगवान्के दर्शनोंमें कोई भी आपत्ति बाधा नहीं दे सकती। परंतु केदार पराधीन था।

× × × केदारको सहसा प्रतीत हुआ कि कोई उसकी लाठी पकड़े उसे उठनेका संकेत कर रहा है। केदारने समझा कि शायद साथके लोग चलनेके लिये तैयार हो गये हैं और उसकी लाठी पकड़कर उससे चलनेको कह रहे हैं। केदार उठ बैठा और चल पड़ा—उसकी लाठी सारे रास्ते कोई-न-कोई पकड़े रहा। उसे रास्तेमें न थकान मालूम हुई और न किसी अन्य प्रकारकी आपत्ति ही सहनी पड़ी। एक स्थानपर पहुँचकर केदारकी लाठी छोड़ दी गयी और केदार बैठ गया। स्थानकी शीतल, मन्द एवं सुगन्धित वायुके झकोरोंने केदारको निद्रादेवीकी अङ्कमें शरण दी। केदार प्रगाढ़ निद्रामें सो गया।

× × × आँधी थमी, मौसम साफ हुआ, प्रकाश हो गया। लोगोंने देखा कि केदार गायब है। चट्टीके आस-पास

चारों ओर खोज की गयी, परंतु केदारका कहीं भी पता न लगा। दूर-दूरतक तलाश की गयी, पर सब व्यर्थ। अन्तमें हताश होकर यात्रियोंने अपना रास्ता लिया।

रात्रि व्यतीत हुई, भोर होनेको था। भगवान् भास्कर अपनी दिव्य रश्मियोंद्वारा संसारको आलोकित करनेवाले ही थे, सहसा केदारकी निद्रा भंग हुई और उसके कानोंमें सुमधुर शब्द सुनायी पड़े—'स्वामी बदरीनारायणकी जय'। केदारनाथ उठ बैठा, परंतु विस्मित और परम विस्मित। उसे प्रतीत हुआ वह सब चीजें देख रहा है, उसको दृष्टि मिल गयी है। सामने ही उसे दीखा एक स्वर्णकलश और खड़े होते ही उसे प्रत्यक्ष दिखायी दिया कि भगवान् बदरीनारायणका विशाल मन्दिर ठीक सामने शैलशिखरपर भगवान् दिवसनाथकी किरणोंसे अनुरंजित हो रहा है। सेवकगणोंकी अपार भीड़ भगवान् श्रीबदरीनारायणके घोर जय-जयकारोंसे समस्त वातावरणको मुखरित कर रही है। उसी क्षण केदारके पैर उठे और वह लपका उसी शैलशिखरकी ओर। कुछ ही क्षणोंमें केदारने अपने-आपको अपार सेवकोंके बीच और अपने चिराभिलषित इष्टदेवके सम्मुख पाया—उसके चारों ओर भक्तगण आरती गा रहे थे। उसके भी मुखसे निकला 'स्वामी जय बदरी देवा'। वह एकटक भगवान्के चरणोंकी ओर आँख लगाये खड़ा रहा। उसने मन-ही-मन भगवान्को कोटिशः धन्यवाद दिये। घंटोंतक वह मन्दिरमें ही भगवत्-सम्मुख पाषाणवत् खड़ा रहा। उसे पता नहीं कब भक्त लोगोंके टोले-के-टोले आते और चले जाते। वह मस्त और आनन्दविभोर खड़ा था—विस्मित उस परम पिता परमेश्वरकी अपार मायापर।

× × ×

धीरे-धीरे दोपहर हो गया। राजभोगके लिये मन्दिर बंद होनेको था। पुजारी पट बंद करने लगा—सहसा केदारकी मुद्रा भंग हुई और उसने अपने इष्टदेवके सामने पाषाणवत् पड़कर साष्टाङ्ग दण्डवत् की। दण्डवत्के उपरान्त केदार खड़ा हुआ और फिर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा उस परमेश्वरकी अद्भुत लीलापर—उसकी दृष्टि पूर्ववत् फिर लुप्त हो गयी। परंतु इस बार केदारको तनिक भी दुःख अथवा विस्मय नहीं हुआ और वह समझ गया परमात्म प्रभुकी लीला-कृपाको। उसने समझ लिया यह सब कुछ उसी परमेश्वरकी माया और अनुकम्पा थी। वह भी नहीं चाहता था अब उन नेत्रोंसे इस मनुष्यत्वहीन संसारको देखना। उसने भगवान्के प्रसादको सहर्ष शिरोधार्य किया। मन्दिरमें उपस्थित भक्तसमुदाय बड़े ही विस्मयसे इस कुतूहलको देख रहे थे। वे समझ गये कि केदार है कोई बड़ा ही भक्त। अस्तु, मन्दिरके एक सेवकने केदारको मन्दिरसे नीचे उतारकर सुविधानुकूल एक शिलापर बिठा दिया और भक्त केदार वहीं भजनमें मस्त रहने लगा। अस्तु।

× × ×

सभी कार्योंका मूल संकल्प ही होता है। अतः दृढ़ संकल्पकी आधारभूमिपर असम्भव भी सम्भव हो जाता है, बहुत बड़ा प्रतीत होनेवाला कार्य भी सरलतासे सम्पन्न हो जाता है। लोकमें भी ऐसा सुना जाता है—*'जहाँ चाह होती है वहाँ राह होती है।'* इसी बलवती दृढ़ इच्छा-शक्तिके अदम्य उत्साहसे भक्त केदारनाथने नेत्रहीन होनेके बाद भी परमात्मप्रभु श्रीबदरीनारायणका अनायास ही दर्शन प्राप्त कर लिया, उसने अपनी तीर्थयात्रा पूरी कर ली और अपना मनोऽभिलषित प्राप्तकर असार संसारकी नश्वरता एवं अविनश्वर तत्त्वका सम्यक् आत्मबोध कर उस लीलाधारी जगन्नियन्ताके चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर दिया—उनका सायुज्य प्राप्त कर लिया।
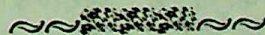
निज करनी पै अतिशय सकुचात हैं

त्यागि शेष-शय्या नृप दशरथके छैया भये,
जन-सुखदैया अग-जग-पितु-मात हैं।
विश्वके हितैषी विश्वामित्र विश्व-हित-हेतु,
लाये विश्वनाथके संकेत दोऊ भ्रात हैं॥

कौशिलाके अंक कभूँ पलना पर्यंक सोये,
पौढ़े आज पृथ्वीपर डासि कुश-पात हैं।
'नारायण' नैनन निहारि मुनि मन-ही-मन,
निज करनी पै अतिशय सकुचात हैं॥

—श्रीनारायणदासजी 'भक्तमाली'

बाल-कल्याण

(१)

माता-पिताके आचरणोंका बाल-जीवनपर प्रभाव

(श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')

यदि मैं यह कहूँ कि माता-पिताके आचरणोंका बालकोंपर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना अन्य किसीका नहीं तो कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी और सच बात तो यह है कि अपने बच्चोंको सुधारने-बिगाड़नेमें जितना हाथ अभिभावकोंका रहता है, उतना अन्य किसीका नहीं। यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि माता-पिताके सत्-आचरणों और सद्गुणोंके प्रभावसे ही संतान आदर्श गुणवान् बनती है। शुरूसे ही उनमें जिन संस्कारोंकी नींव डाली जायगी, आगे चलकर वे उन्हीं संस्कारोंके अनुरूप बनेगें—यह ध्रुव सत्य है। बालकगण शुरूसे ही जैसा आचरण अपने माता-पिताको करते देखते हैं, वैसा ही वे भी करने लगते हैं—जैसी भावना उनमें देखते हैं, वैसी ही अपनेमें बना लेते हैं—यहाँतक कि यदि बालकोंसे कुछ भी न बताया जाय तो भी वे अपने अभिभावकोंका अनुकरण बराबर करते रहते हैं।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि बालकोंके मस्तिष्क और उनकी भावनाएँ बहुत ही कोमल होती हैं। उनकी बुद्धि तो परिपक्व होती ही नहीं—ज्ञानकी परिधि बहुत ही सीमित होती है। अतः उनके मस्तिष्कमें पारिवारिक जनोंके आचरणोंका बहुत जल्दी असर पड़ जाता है। चाहे वह कितना ही बुरा क्यों न हो, अथवा वे उसे ठीक-ठीक न सोच पाते हों, पर फिर भी देखा-देखी असर तो उनमें उसी तरहका पड़ ही जायगा। यह तो केवल कहनेकी बात है कि बालक कुछ समझते ही नहीं। मैं तो यह कहूँगा कि जितनी जल्दी वे नकल उतारकर उसी आचरणको करनेका प्रयत्न करते हैं—चाहे वे अज्ञानतासे ही करें—उतना और कोई नहीं कर सकता और बचपनमें यही देखा-देखी नकल तथा माता-पिताके आचरणोंसे बालकोंके मस्तिष्कपर जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रायः जीवनपर्यन्तके लिये स्थायी हो जाता है।

यों तो संसारकी जितनी भी विभूतियाँ हुई हैं अथवा होती हैं, सब प्रायः स्वयं अपने ही सिद्धान्तों और अपनी ही लगनसे महान् होती हैं, पर फिर भी उनमें प्रेरणा उनके माता-पिताकी दी हुई होती है। बचपनसे ही उनके माता-पिता उनमें अच्छे संस्कारोंकी नींव डालते हैं, उनमें अच्छी भावनाकी वृद्धि करते हैं, उनके सामने अपना आदर्श उदाहरण रखते हैं ताकि वे भी वैसे ही चरित्रवान् बनें; उन्हें अपनी संस्कृति तथा आचरणका ऐसा आकर्षक प्रभाव दिखाते हैं कि बालकगण भी उसे अपना लेनेमें अपना गौरव समझते हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि अपने माता-पिताके आचरणोंसे प्रभावित और उनसे प्रेरणा मिलनेपर ये ही बालकगण अपने देश, समाज और राष्ट्रका सिर ऊँचा करते हैं। भरत—जिसके नामपर हमारे देशका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा है, वीराङ्गना माता शकुन्तलाके कारण वीर बन सका। बादमें प्रतापी सम्राट् हुआ और भारतके नामको उज्ज्वल किया। ध्रुवजी अपनी माताके आचरण और प्रेरणासे ही इतना ऊपर उठे। हिंदू-रक्षक वीर शिवाजीको शिवाजी बनानेमें उनकी माता जीजाबाईका पूरा-पूरा हाथ था। वीर बभ्रुवाहन, सिकन्दर आदि सभीके जीवनमें उनके माता-पिताके आदर्श आचरणोंका वह जबर्दस्त प्रभाव पड़ा, जिसने उन्हें भी गौरवान्वित कर देशकी विभूतियोंमें स्थान दिया। इसके अतिरिक्त इतिहासके पन्ने भरे हैं जो कि इसके साक्षी हैं कि माँ-बापके आदर्श आचरण ही बालकोंका उत्थान कर सकते हैं।

पर बड़े खेदकी बात है कि पहलेके लोग जितना अपने आचरणका ध्यान रखते थे, उतना आजके लोग नहीं रखते और इससे हमारी संतान भी अवनतिके गड्ढेमें गिरी जा रही है। जब हम स्वयं चरित्रवान् नहीं हैं तो संतान क्यों अच्छे आचरणकी होगी। हमें यह स्वप्नमें भी नहीं खयाल करना चाहिये कि हम अपना चरित्र भ्रष्टकर अपनी संतानको सुधार लेंगे। उनमें तो हमारी ही छाप रहेगी और संस्कृतमें एक कहावत भी है कि **'आत्मा वै जायते पुत्रः।'** अन्य दूषित वातावरणके बावजूद भी माता-पिता इस दोषसे वंचित नहीं। प्राचीन युगमें बालकोंको आचरण, शिष्टाचार

आदिकी बराबर शिक्षा अपने माता-पिता, गुरुजनों आदिसे मिलती थी, जिससे कि वे आरम्भसे ही चरित्रवान् बनते थे। पर इस वर्तमान युगने धीरे-धीरे शिष्टाचार-सदाचारको तो समाप्त ही कर दिया है और यदि मैं यह कहूँ कि इस वातावरणमें शील और चरित्र नामक कोई वस्तु ही नहीं रह गयी है तो शायद कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जमानेकी हवाने शायद सब कुछ भुला दिया है। पहले जहाँ सूर्योदयके पूर्व लोग उठकर तुरंत दैनिक कार्योंसे निपटकर पूजा-पाठ, जप-ध्यान करते थे, प्रार्थनाएँ करते थे, देव-दर्शन-लाभ करते थे, सुबह-शाम गायत्री जपते थे, अन्य धार्मिक कृत्योंका आयोजन करते थे—वहीं अब लोग सूर्योदयके काफी देर बाद उठते हैं, पूजा-पाठ और देवदर्शनकी जगह रेडियो, ग्रामोफोनके बढ़िया अश्लील गाने सुनते हैं; धार्मिक ग्रन्थोंके बजाय चटपटे और काम-क्रीडाको प्रोत्साहन देनेवाले पत्र और उपन्यासादि पढ़ते हैं तथा अन्य रँगरेलियोंमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं। शामको क्लब, होटल, थियेटर, सिनेमा आदिका आनन्द उठाते हैं। मनुष्य-आचरणको गिरानेवाले ये विलासिताके साधन आजके सभ्य और आधुनिक मनुष्यकी सोसाइटीके प्रमुख अङ्ग माने जाते हैं। आजके इन हमारे आचरणोंका हमारी संतानोंपर कितना गहरा प्रभाव पड़ता जा रहा है यह किसीसे छिपा नहीं है।

आजका जो बालक है, कलका वही पिता होता है तथा उस नवीन पितामें अपने बापके अधिकांश आचरणोंका समावेश रहता है। यदि कोई पिता जुआरी, शराबी, कबाबी, गुंडा, वेश्यागामी आदि है और उसकी यह हरकत उसकी संतान किसी रूपमें जानती है अथवा छिपकर देखती है तो वह भी उसका अनुकरण धीरे-धीरे करने लगती है। तथा फिर वह वैसी ही बन जाती है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी हो सकता है कि माता-पिताकी तरह उनकी संतान न हो, पिताके विपरीत गुण संतानमें हों, पर अधिकांशरूपमें तो संतानमें उनके माता-पिताके गुणोंकी ही मात्रा अधिक रहती है। यही नहीं, माता-पिताकी बीमारियोंके कीटाणु अपने-आप जन्मजात उनकी संतानोंमें आकर उनमें भी उसी रोगकी उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। वैज्ञानिक खोजने इस बातको अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। यह तो हुई रोगोंके कीटाणुओंकी बात, पर अब वैज्ञानिक खोजोंसे यह भी निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जैसे अधिकांशतया ये राजरोग भी पुश्तैनी रोग हैं और प्राय: इन रोगोंके कीटाणु जन्मजात ही होते हैं—उसी प्रकार जैसी हमारी भावनाएँ, संस्कृति और आचरण होता है—वैसे ही संस्कार गर्भावस्थामें ही हमारी संतानोंके पड़ जाते हैं। हमारा भारतीय कामशास्त्र तथा पाश्चात्त्य कामशास्त्र दोनों इस बातकी पुष्टि करते हैं कि शिशुकी गर्भावस्थामें उनके माता-पिताकी जैसी भावना होगी, जैसे विचार होंगे तथा होनेवाली संतानके प्रति जैसी भावना होगी तथा बच्चेकी गर्भावस्थातक माता-पितामें जैसे अच्छे-बुरे संस्कार जाग्रत् होंगे तथा उस समयतक माँ-बाप जैसे अच्छे-बुरे आचरणसे रहेंगे, वे ही सब लक्षण तथा संस्कार, भाव उन नवजात शिशुओंमें पाये जायँगे। महाभारतकी कथाको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अर्जुनके पुत्र अभिमन्युने गर्भावस्थामें ही अपने पिताद्वारा कही हुई चक्रव्यूहको तोड़नेकी सारी कला सीख ली थी। यही नहीं, आजकी खोजने तो यहाँतक सिद्ध कर दिया है कि जुआरी, शराबी, कबाबी, वेश्यागामी, दुष्ट, दुश्चरित्र, लंपट आदि व्यक्तियोंकी संतानमें भी इन दुर्गुणोंके कीटाणु अपने-आप पहुँच जाते हैं। जो लोग गाँजा, भाँग, अफीम आदिका नियमित सेवन करते हैं, उनकी संतानें भी कम-से-कम सुननेवाली, आलसी, जाहिल और इन मादक वस्तुओंके सेवनसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी शिकार होती हैं—चाहे उनके माता-पितामें वे रोग किसी भी वजहसे न भी उभड़ सके हों—पर संतानोंमें अवश्य उभड़ जाते हैं।

बच्चा जबतक अबोध है, अपने पिता आदिकी नकल करता ही है। जब वह अपने पिताको सिगरेट पीते हुए देखता है, तब उसकी इच्छा भी वही काम करनेकी होती है। लेकिन चूँकि बुद्धि परिपक्व नहीं होती और सामने ऐसा करनेमें झिझक और पकड़े जानेका भय रहता है, इससे वह लुक-छिपकर सिगरेट आदि इधर-उधरसे लाकर अथवा चुराकर चोरी-छिपे पीता है। यहाँतक कि कई बार ऐसा भी अनुभव किया गया है कि अगर बीड़ी-सिगरेट मिलनेमें कोई अड़चन हो तो बच्चे कागजको सिगरेटकी तरह लपेटकर उसकी सिगरेटकी-सी शक्ल बनाकर उसका धुआँ उड़ाते हैं, उन्हें तो धुआँ उड़ानेसे काम। अथवा कभी-कभी सींक आदि जलाकर उसका धुआँ मुखसे उड़ाते हैं। यह देखा-देखीका फल है। इसी प्रकार बालक अपने पिता आदिको शराब पीते हुए देखता है तो उसकी भी उत्कण्ठा अपने स्वभावके अनुसार उसे पीनेकी होती है

और न मिलनेपर वह उसी तरहका कोई पेय पदार्थ अथवा शरबत बनाकर उसी ढंगसे अदा और मस्तीके साथ पीता रहता है। धीरे-धीरे उसकी भावनामें शराबके संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं एवं अपना इतना प्रभाव उस बालककी छोटी उम्रमें कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप बड़े होनेपर उसे वह वस्तु अपनानी ही पड़ती है।

अपने माता-पिता आदिकी देखा-देखी कितने ही बालक जुआरी, शराबी, चोर, डाकू आदि बन जाते हैं। गुणोंका समावेश तो धीरे-धीरे होता है, पर अवगुण झटसे आ जाते हैं; क्योंकि बुरी आदतोंसे एक बार तो क्षणिक आनन्द मिल ही जाता है। इसी प्रकार अच्छे आचरणका उनपर अच्छा असर पड़ता है। बालकगण अपने बचपनमें ठीक एक पौधेके समान हैं, जिसे छोटे रहनेपर चाहे जिधर झुका दिया जा सकता है, पर बड़े होनेपर उसे किसी तरह नहीं झुकाया जा सकता। उपर्युक्त कथन बिलकुल सही और ध्रुव सत्य है। इसमें जरा भी शंकाकी गुंजाइश नहीं। यदि माता-पिताकी विचारधारामें बच्चेके बारेमें कुछ अन्तर हो तो उसे बच्चेके सामने निपटाना या झगड़ा-लड़ाई करना अच्छा नहीं, बल्कि जब बच्चा बाहर हो या वहाँसे दूर हो तो फैसला कर लेना चाहिये। एक बार एक मनोवैज्ञानिकने पाँच सालके बालकको देखा, वह घुटने नीचे करके झुककर दीवालमें लगे हुए शीशेके अंदर देखकर अपने बाल सँवार रहा था। शीशा तो ऊँचा लगा हुआ था, परंतु फिर भी बालक झुककर घुटने नीचे किये जा रहा था और स्वयं भी नीचे आ रहा था। पूछताछसे मनोवैज्ञानिकको पता चला कि उस बालकका पिता जरा कदमें लंबा था और दीवालमें लगा हुआ शीशा उससे कुछ नीचा था। इसलिये उसे झुककर हर रोज बाल सँवारने पड़ते थे। बच्चा यद्यपि कदमें छोटा ही था, फिर भी पिताकी नकल करने लगा और झुककर उसी तरह दीवालकी ओर देखने लगा।

एक नवदम्पति अपने वृद्ध पिताको बहुत कष्ट दिया करते थे। नवयुवकका पिता शरीरसे जर्जर होनेके कारण एक कोठरीमें हमेशा जमीनपर पड़ा रहता था। भूमिपर बराबर पड़े रहनेके कारण अक्सर उसे दर्दकी शिकायत हो जाती थी। उसने अपने पुत्रसे एक खाटके लिये माँग की। दम्पतिने एक बहुत पुरानी जीर्ण-शीर्ण खटिया उसे दी। वह बेचारा किस्मतको कोसता उसीपर पड़ा रहता। एक दिनकी बात है कि वे दम्पति कहीं बाहर गये हुए थे। लौटकर घर आये तो क्या देखते हैं कि उनका छः वर्षका पुत्र एक वैसी ही छोटी खिलौनेरूपी खटिया नारियलके झाड़के सींकोंकी जोड़कर बना चुका है। जब उससे पूछा गया, तब उसने बताया कि 'पिताजी! जब आप मेरे बाबाके उम्रके हो जायँगे और आपमें कुछ ताकत नहीं रह जायगी, तब मैं भी आपकी तरह बढ़िया पलंगपर स्वयं लेटूँगा और आपको लेटनेके लिये यही खाट दूँगा। यही नहीं, मैं ठाटके साथ चौकेमें बैठकर खाना खाया करूँगा और आपको चौकेका बचा-खुचा बासी भोजन आदि दिया करूँगा—जैसा कि आप मेरे बाबाको आजकल दे रहे हैं।' यह बात दम्पतिको तीरकी तरह लगी। उन्होंने बालकसे कहा—'ठीक कहते हो, एक दिन हम भी बूढ़े होगें।' तत्पश्चात् दोनों प्राणियोंने वृद्धके चरणोंपर गिरकर माफी माँगी और जीवनपर्यन्त उन्हें कोई तकलीफ न होने दी।

इसका यह मतलब नहीं कि बच्चे केवल बड़ोंकी शारीरिक क्रियाओंकी ही नकल करते हैं, बल्कि उनके भाषण, विचार और आचारकी भी। इसलिये हमें बच्चोंके सामने हर बातमें अधिक सावधान रहना चाहिये। बच्चोंके सुधारनेका प्रधान उपाय है—स्वयं सुधर जाना।

अतएव आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि यदि हमें अपनी संतानको आदर्श और सदाचारी बनाना है तो हमारे लिये यह परमावश्यक है कि हम अपना चरित्र इतना दृढ़ खरा और शुद्ध बना लें कि उसका असर हमारे बालकोंपर जब पड़े, तब अच्छा ही पड़े। यदि वे उसका अपनी आदतके कारण अनुकरण भी करें तो उनका कोई नुकसान न हो, हमारे आचरणसे उनकी आदतें खराब न हों। अगर हमारा ही चरित्र खोटा होगा, हमारी ही आदतें—हरकतें खराब होंगी तो बच्चोंके सुधरनेकी आशा करना ही व्यर्थ है। अतएव हमें विशेषरूपसे सतर्क रहना चाहिये और सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि हम कोई ऐसी गलत हरकत तो नहीं कर रहे हैं जिसका असर बालकोंपर भी होगा। इसके अतिरिक्त हमें भूलकर भी लड़कोंके सामने—

(१) गाली-गलौज नहीं बकनी चाहिये; क्योंकि इससे उनकी भी जबान खराब होती है।

(२) किसीसे भी अधिक हँसी-मजाक नहीं करनी चाहिये और न अश्लील बातें ही करनी चाहिये। बालक भी ऐसा ही करेंगे।

(३) किसीको भी डाँटना-डपटना अथवा किसीसे

दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये। देखा-देखीके कारण बालक भी ऐसा करने लगते हैं।

(४) किसीके प्रति अपना क्रोध-प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।

(५) किसीको मारना-पीटना नहीं चाहिये। इससे बच्चोंकी आदत बिगड़ जाती है।

(६) नशीली वस्तु आदिका सेवन नहीं करना चाहिये। ताकि बच्चोंकी भी आदत न पड़ जाय।

(७) अपनी स्त्री आदिसे किसी ऐसे ढंगसे वार्तालाप नहीं करना चाहिये, जिससे वे भी उसी ढंगको अपनायें और न उनके सामने गुप्त वार्ताएँ ही करनी चाहिये।

(८) कोई अन्य ऐसी हरकत भी नहीं करनी चाहिये जिससे उसका गलत असर बालकोंपर पड़े।

अन्तमें एक बात और है। वह यह कि माता-पिता चाहे अच्छे हों चाहे बुरे, लेकिन वे अपनी संतानको तो आदर्श और अच्छे रूपमें ही देखना चाहते हैं। वे माता-पिता, जिनका आचरण शुद्ध है—यदि अपनी संतानको अच्छे बननेकी सीख भी देते हैं तो उनपर असर भी हो सकता है और होता भी है। लेकिन यदि आचरणभ्रष्ट माता-पिता संतानको अच्छा बननेके लिये सीख भी देते हैं तो उनपर कोई असर नहीं होता। प्रसंगवश मैं यहाँ एक-दो उदाहरण बताना अनुचित नहीं समझता, जिससे कि उपर्युक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है।

मेरे एक मित्र हैं जिनकी कई संतानें हैं, उनमें सुबह बहुत देरसे उठनेकी आदत है। प्रायः सूर्योदयके बाद भी कई घंटोंतक वे सोते रहते हैं। धीरे-धीरे देखा-देखी लड़के भी ऐसा ही करने लगे। वे भी बहुत देरसे उठने लगे। पिता इसके लिये बच्चोंपर बहुत बिगड़ते, डाँटते, पर फिर भी बच्चे न मानते। अन्तमें वे परेशान हो गये तो उन्होंने मुझसे कहा। यह सुनकर मैंने कहा जब आप स्वयं इतनी देरसे उठते हैं, तब बच्चोंको जल्दी उठनेकी शिक्षा देनेके आप अधिकारी ही कहाँ हैं और यदि देते हैं तो वे फिर आपकी बात क्यों मानने लगे? यदि आप वास्तवमें उनकी आदत सुधारना चाहते हैं तो उनके सामने अपना जल्दी उठनेका आदर्श उदाहरण रखिये, तभी उनपर असर पड़ेगा। बड़ी मुश्किलसे धीरे-धीरे वे अपनी आदत सुधार सके और कहना नहीं होगा कि उनकी इस आदतमें सुधार होते ही बच्चे भी अपने-आप जल्दी उठने लगे।

मेरे एक अन्य मित्र हैं, जिनको एक पुत्र है। उसे प्रायः पेटकी शिकायत रहती थी। इसका कारण यह था कि बालक मिठाई अधिक मात्रामें सेवन करता था। बात यह थी कि उसकी माताको मिठाइयाँ बहुत पसंद थीं, जिसकी देखा-देखी वह बालक भी करने लगा। धीरे-धीरे उसकी जीभपर मिठाईका ऐसा चसका लग गया कि जब उसे मिठाई न मिलती, तब वह घरवालोंकी नजर छिपाकर चीनी ही फाँक जाता तथा स्कूलमें और बाहर बाजारकी मिठाई खाता। फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। उसकी माता उसको समझाते-समझाते थक गयी, पर वह क्यों मानने लगा। एक दिन मिलनेपर मुझे सारी बातें मालूम हुई। मैंने कहा कि 'जब बच्चेके सामने घरमें बराबर तरह-तरहकी मिठाइयाँ बनती हैं और आप भी उन्हें बराबर सेवन करती हैं तो भला बच्चा क्यों बाकी रखेगा—आप चाहे उसे मिठाई न खानेके लिये कितना ही क्यों न मना किया करें। आप कम-से-कम उसके सामने तो मिठाई खाना और बनवाना बंद कर दीजिये, तब देखिये उसपर क्या असर पड़ता है। उन्हें यह बात जँच गयी और फलस्वरूप बालककी भी आदत सुधरने लगी।

स्पष्ट है कि माता-पिताके आचरणका उनकी संतानपर सबसे गहरा प्रभाव पड़ता है। हम भी शुद्ध आचरण तथा आचार-विचार रखकर ही उन्हें वैसा बना सकते हैं। मात्र उपदेशसे काम नहीं चल सकता।

(२)

ईमानदार गरीब बालक

एक गरीब लड़का था। घरमें उसकी माँ थी और एक छोटी बहिन। बहिन बीमार थी। वह उसकी दवा करानेके लिये अपने चाचासे कहने जा रहा था। रास्तेमें उसे एक पाकेटबुक पड़ी मिली। उसमें एक सौ बीस रुपये थे।

लड़का बड़ा ईमानदार था। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि यह जिसकी पाकेटबुक है, उसका पता लगाकर उसे जरूर दूँगा।

उसने घर आकर अपनी माँसे सब हाल सुनाकर

कहा—'माँ! जिस बेचारेकी पाकेटबुक खोयी है, उसको बड़ी चिन्ता हो रही होगी; क्योंकि इसमें उसके रुपये हैं। हम ये रुपये रख लेंगे तो बहुत पाप होगा और प्रभु हमपर नाराज होंगे, पर जिसके रुपये खोये हैं; उसका पता कैसे लगे। माँ! तू कोई उपाय बता—जिससे मैं उसे खोज पाऊँ।' लड़केकी माँ भी बड़ी ईमानदार थी। तभी तो उसको ऐसा पुत्र हुआ। वह पुत्रकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसने कहा—'बेटा! भगवान् तेरी नीयतकी सच्चाई इसी प्रकार दृढ़ रखें। तेरा कल्याण हो बेटा! किसी अखबारमें खबर देनेसे मालिक स्वयं ही आकर ले जायगा।'

लड़का अखबारवालेके पास गया। उसकी नेकनीयती देखकर अखबारवालेने उसके नामसे यह विज्ञप्ति छाप दी—'मुझे एक पाकेटबुक रास्तेमें मिली है, उसमें एक सौ बीस रुपये हैं। जिसकी हो, वह अमुक पतेपर आकर सबूत देकर ले जाय।' विज्ञप्ति पढ़कर पाकेटबुकका मालिक आया और इतनी गरीबीमें भी ऐसी ईमानदारी देखकर चकित हो गया।

उसने कहा—'जो गरीब होकर भी दूसरोंके पैसोंपर जी नहीं ललचाता, वही सच्चा ईमानदार है और वही प्रशंसाके योग्य है। सचमुच गरीब ही ऐसे ईमानदार होते हैं। पैसेवाले तो प्राय: अभाव न होनेपर भी, पैसेके संगसे लोभमें पड़कर बेईमान हो जाते हैं। तुम लोगोंको धन्य है जो इस प्रकार प्रभुपर विश्वास रखकर अपने सत्यपर डटे रहे।' यह कहकर उसने वे रुपये लड़कीकी दवा और सेवाके लिये आग्रह करके दे दिये और लड़केको अपने यहाँ अच्छी नौकरी दे दी। लड़का अपनी ईमानदारीके बलपर आगे चलकर नामी और धनी व्यापारी बना।

(३)

तीन आदमियोंको आगसे बचानेवाला बालक

एक बार एक बड़े शहरमें एक घरमें आग लगी और देखते-देखते आस-पासके घरोंमें भी फैल गयी। घरके आदमी बड़ी कठिनाईसे बाहर निकल सके और अपना-अपना माल बचानेमें लग गये। कुछ देरके बाद आग बुझानेवाली दमकल भी आ गयी।

एक घरमें सीढ़ीमें ही आग लग जानेके कारण तीन आदमी निकलनेका बहुत उपाय करनेपर भी न निकल सके। अन्तमें वे रास्तेके ऊपरके किनारेपर आये। यदि वहाँसे कूदते तो उनका तुरंत ही प्राण चला जाता। रास्तेमें खड़े लोगोंने उनको देखा तो सही, पर इतनी लंबी सीढ़ी न होनेके कारण वे निरुपाय हो गये।

उन तमाशा देखनेवाले लोगोंमें एक विट्ठल नामक बारह-तेरह वर्षकी उम्रका जूता साफ करनेवाला लड़का था। उस लड़केने यह करुणाजनक दृश्य देखा और इधर-उधर नजर दौड़ायी। उसने रास्तेपर एक तारका खंभा खड़ा देखा। जलते घरके छप्परमें एक हुक मारकर तारका एक छोर वहाँ बँधा था। यदि खंभावाला छोर काट दिया जाता तो तार सीधे मकानके किनारे जमीनकी ओर लटक जाता। इसलिये तुरंत इधर-उधर देखकर आग बुझानेवालोंकी रास्तेमें पड़ी एक कुल्हाड़ी उसने उठा ली और उसे साथ लेकर तुरंत वह खंभेपर चढ़ गया तथा थोड़ी ही देरमें तारके छोरको काट डाला। तार काटे जानेपर घरके छतसे नीचेकी ओर लटक गया और उसको पकड़कर एक-एक करके तीनों आदमी तुरंत ही नीचे उतर आये। विट्ठलकी यह समयानुसार सूझ और दयासे भरा हुआ काम देखकर लोगोंको बहुत ही आनन्द हुआ और उसको लोग शाबाशी देने लगे। उसके बाद उतरे हुए तीनों आदमियोंने उसको इनाम दिया और उस लड़केका उपकार माना। तुरंत अखबारोंमें उसका चित्र छपवाया गया और उसके इस कामकी बड़ी प्रशंसा की गयी। यह बात शहरमें जीवदया-मण्डलके कानोंमें पहुँची तो उसने भी लड़केको सोनेका पदक दिया।

देखो, बारह-तेरह वर्षका बहुत ही गरीब लड़का भी किस प्रकार तीन आदमियोंकी जान बचा सका। मनुष्य चाहे कितना ही गरीब क्यों न हो, वह चाहे तो परोपकारका सुन्दर काम अवश्य कर सकता है। यह बात इस उदाहरणसे बहुत अच्छी तरह समझमें आ सकती है।

प्रभुका संकोची स्वभाव

मैया यशोदाका लाल बड़ा संकोची है। लेकिन नटखट इतना है कि अपना संकोच भी अपने नटखटपनके आवरणमें ढक लेता है। नटखटपन श्रीरघुनाथमें नहीं है, इसलिये उनका नाम ही एक मित्रने 'संकोची नाथ' रख दिया। स्वभाव तो बदलता नहीं रूप बदल लेनेसे। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

'सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥'

कोई एक बार मस्तक झुका देता है आपको तो आप संकोचसे गड़ जाते हैं कि 'मैं तो इसका कोई बड़ा हित नहीं कर सका।' बड़ा हित—अब जो जितना बड़ा, उसकी दृष्टि भी उतनी बड़ी। उसकी दृष्टिमें हित भी वैसा। कंगाल किसीको पाँच पैसे दे दे तो अपनी दृष्टिमें बड़ा दान……पाँच पैसेका दान किया उसने, परंतु यदि करोड़पति पाँच सहस्र रुपये भी दे दे तो सोचेगा—'केवल पाँच सहस्र ही तो।' अब जो अनन्त ऐश्वर्य-सिन्धु हैं, उनकी दृष्टिमें 'बड़ा हित'—बड़ा कहाँसे आये कुछ उनकी दृष्टिमें।

जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥

अपने दस मस्तक काटकर हवन कर दिये रावणने और तब उसे जो सम्पत्ति, जो ऐश्वर्य वरदानके रूपमें प्राप्त हुआ, वही ऐश्वर्य विभीषणको बड़े ही संकोचसे श्रीरामने दिया। बड़ा संकोच—'यह नन्ही सम्पत्ति मैं क्या दे रहा हूँ।'

× × ×

सुदामा मित्र थे श्रीकृष्णचन्द्रके। गुरुगृहके सहपाठी थे। पत्नीने बड़े आग्रहसे भेजा था उन्हें द्वारका। सुदामाकी दशा अत्यन्त दयनीय थी—

धोती फटीसी लटी दुपटी, अरु
पायँ उपानहकी नहिं सामा॥

कटिमें मैली-चिथड़े-सी धोती और कंधेपर उससे भी मैला फटा उत्तरीय। अत्यन्त दुर्बल शरीर। एक-एक हड्डी और नस दीख रही। एक तो नंगे पैर, वह भी बिवाइयोंसे चिथड़े हो रहे।

समाचार मिला—

पूछत दीनदयालको धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा॥

'सुदामा!' श्रीद्वारकाधीश अन्तःपुरमें महारानी रुक्मिणीके सदनमें पर्यङ्कपर विराजमान थे और वे निखिल ऐश्वर्यमयी व्यजन कर रही थीं। 'सुदामा आये हैं।' इतना सुना और दौड़े—कहीं वस्त्र गिरा और कहीं छूटा मुकुट। दौड़कर हृदयसे लगा लिया। भीतर भवनमें लाकर उसी पर्यङ्कपर बैठाया और स्वयं नीचे चरण धोने बैठे सुदामाके। जिनके चरणोंमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और देवेन्द्र दूरसे मस्तक रखते हैं, वे स्वयं ब्राह्मणके चरण हाथमें लेकर धोने बैठे। सुदामाके चरणोंपर दृष्टि गयी और कमललोचन विह्वल हो गये—

'ऐसे बेहाल बिवाइन सों,
पग कंटकजाल गड़े पुनि जो ए।
हाय! महादुख पायो सखा तुम,
आए इतै न कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा,
करुना करि कै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं,
नैनन के जल सों पग धोए॥'

वह स्वागत, वह सत्कार, वह आत्मीयता कि सेवक-सचिव ही नहीं, अपने स्वामीके स्वभावको जाननेवाली राजमहिषियाँतक चकित-थकित रह गयीं।

सुदामाको पता नहीं और उनके लाये चिउरोंके दाने चबानेके बहाने उन्हें ऐश्वर्य देने लगे तो स्वयं महालक्ष्मीरूपा महारानी रुक्मिणी घबरा गयीं, कि ये आज क्या करने जा रहे हैं। एक मुट्ठी चिउरे चबाकर जब दूसरी मुट्ठी श्यामने भरी, तब उन्होंने हाथ पकड़ लिया-'नाथ! बहुत हो गया। इस लोक और परलोकका सम्पूर्ण ऐश्वर्य तो आप एक मुट्ठीके साथ दे चुके।'

अपने स्वामीके संकोची स्वभावको जाननेवाली महारानीने वैसा ही अभिनय किया। उन्होंने भी कहा—'अकेले ही आप सब ग्रहण कर लेना चाहते हैं? आपके इस महाभाग मित्रका यह अमृतोपहार मुझे और मेरी बहिनोंको भी तो मिलना चाहिये। हमें तो एक-एक दाना ही अब अपने भागमें मिलेगा। आप इससे भी हमें क्यों वंचित करते हैं?'

यह सब स्वागत-सत्कार, सब अद्भुत व्यवहार। किंतु जब सुदामाको बिदा करनेका अवसर आया तब क्या हुआ?

नटखटपन छोड़ दे तो कन्हाई ही काहेका। आप सुदामासे कहते हैं—'भैया! मार्ग लंबा है और मार्गमें दस्युओंका भय भी है। यदि ये रत्नाभरण........।'

सुदामाको मुक्तामाला, रत्नाङ्गद आपने अपने हाथसे पहिनाये थे। अब यह कहते तो संकोच लगता है कि 'यह प्रसाद देते जाइये। इन्हें धारण करके मैं अपनेको परिपूत अनुभव करूँगा।'

'मार्ग लंबा है। मार्गमें दस्युओंका भय है।' कोई पूछे इनसे कि द्वारकामें रथ, अश्व, हाथियोंका अभाव हो गया है? मार्ग लंबा है तो आप ब्राह्मणको पैदल भेज क्यों रहे हैं?

मार्गमें दस्युओंका भय है तो आपका चक्र किस दिन काम आयेगा? चक्र निष्प्रभ हो गया है या उसने आपका आदेश-पालन बंद कर दिया है? आपका नाम लेकर मनुष्य तीनों लोकोंमें निर्भय हो जाता है। भयके पद भी भयकम्पित होते हैं आपके चरणाश्रितके सम्मुख और आप अपने सखाके मार्गमें दस्युओंका भय बताते हैं?

किंतु किसीको यह प्रकट करनेमें संकोच लगता है कि—'मैंने मित्रको कुछ दिया। मैंने मित्रकी कुछ सेवा की।' इसका क्या उपाय? सुदामाको लगना नहीं चाहिये, कम-से-कम सम्मुख नहीं लगना चाहिये कि श्रीकृष्णने उनको कुछ दिया, उनकी कुछ सेवा की। श्यामको लगता है कि मित्रके नेत्रमें कृतज्ञताके भाव आयेंगे तो उसे वह सह नहीं सकेगा। इसलिये यह सब नटखटपन—अपने संकोचको छिपानेके लिये यह सब लीला-चापल्य है।

सुदामाने सोने-जवाहरातके गहने उतार दिये चुपचाप। उनको न इनका मोह था न लोभ। अकिंचन, वीतराग ब्राह्मणके लिये ये अनुपयोगी थे। सखाने स्नेहसे पहिनाये थे, इसलिये पहिने हुए थे। श्यामके स्नेहका तिरस्कार कैसे करते; किंतु उतारनेमें लगा—मोहनने बड़ी कृपा की। इस क्षीणकायापर इतना भार मैं कैसे ढोता।'

'अच्छा! आप यह अमूल्य उत्तरीय एवं धोती तो लेते ही जायँ।' हँसकर श्रीकृष्णने कहा। इस चपलको सुदामाकी पहिनी धोती और उत्तरीयका भी लोभ है। इन्हें तो यह मस्तकपर लपेटेगा और प्राणके समान सँभाल कर रखेगा। मित्रके धारण किये वस्त्र···किंतु इसके कहनेके ढंगको तो देखिये।

'अरे नहीं! मैं दरिद्र ब्राह्मण कहाँ इनको पहिनकर अच्छा लगता हूँ।' सुदामाने अपनी मैली-फटी धोती लपेटते हुए द्वारकाके वस्त्र उतारते-उतारते कहा—'चलना पैदल, माँगना भीख और ये कपड़े! कोई दो मुट्ठी अन्न देनेवाला भी होगा तो इन वस्त्रोंको देखकर मुख बिचका लेगा।'

अब सुदामाजीको कहाँ पता है कि उनके इस नटखट मित्रने उन्हें ऐसा बना दिया है कि धनाध्यक्ष कुबेर भी उनके द्वार भिक्षा माँगे। द्वारकासे तो सुदामाको श्रीकृष्णने उसी रूपमें बिदा किया, जिस रूपमें वे द्वारका आये थे। मार्गके लिये दो मुट्ठी चने भी सुदामाको नहीं दिये गये।

घर पहुँचे सुदामा। अपने ग्रामसे दूर ही थे कि चौंके—'यह नगर! ये कनक-शिखर सौध (महल)! कहाँ आ गया मैं? न ग्राम है और न झोपड़ी।' वहाँ तो दूसरी द्वारका—सुदामापुरी बस चुकी थी। वह सुदामापुरी जिसके वैभवके सम्मुख अमरावती भी कंगालकी झोपड़ी लगे।

नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षं
याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः।
पर्जन्यवत्तत् स्वयमीक्षमाणो
दाशार्हकाणामृषभः सखा मे॥

(श्रीमद्भा० १०। ८१। ३४)

सुदामा नगरमें आये और अपने महासदनमें पहुँचे। सब कुछ देखा-समझा और गद्गदकण्ठ बोले—'यह सात्वत-शिरोमणि, यदुवंशविभूषण मेरा मित्र मेघोंके समान स्वयं ही आवश्यकता-पीड़ितोंको देख लेता है और उसे देने लगता है तो देते थकता नहीं, किंतु निश्चय अद्भुत स्वभाव है इसका। मैंने मुँह खोलकर कुछ माँगा नहीं तो इसने सामने कुछ दिया भी नहीं। इसे लगा होगा—मित्रको सामने कुछ देकर अपनेसे हीन, उपकृत बनानेकी तुच्छता नहीं करनी चाहिये। इससे मित्रको संकोच होगा। मित्रको तो यही लगना चाहिये कि मैंने दो मुट्ठी चिउरे ही सही—कृष्णको कुछ दिया ही है। भले श्याम द्वारकाधीश हो, अनन्त ऐश्वर्यका स्वामी हो, मैंने उससे कुछ लिया नहीं है।'

मित्रको संकोच होता या नहीं होता, कन्हाईको स्वयं जो महासंकोच हो रहा था। यह परम मित्रवत्सल! मित्रको उपकृत करनेका विचार ही इसे संकुचित करता है। मित्र गौरवान्वित रहे! उसका मस्तक ऊँचा रहे। मोहनको सदा

यही अभीष्ट रहा है।

× × ×

प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीहनुमान्‌जीसे कहते हैं—'हनुमान्! तुम्हारे उपकारका बदला तो मैं क्या चुका सकता हूँ, मेरा मन भी संकोचके मारे तुम्हारे सामने नहीं होता। मन भी तुम्हारे सामने लज्जित—संकुचित रहता है।'

यह बात केवल हनुमान्‌जीके सम्बन्धमें नहीं है। सुरासुरजयी रावणपर विजय प्राप्त करके अयोध्या पहुँचे तो वानर-भालुओंका परिचय देते गुरुदेवसे कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥

मर्यादापुरुषोत्तम झूठ नहीं बोलेंगे और वह भी अपने कुलगुरु, महर्षि वसिष्ठसे। अपने हृदयमें वे जैसा अनुभव करते हैं, वैसा कह रहे हैं—'गुरुदेव! ये सब मेरे सखा हैं। लंकाका युद्ध तो समुद्रके समान अपार था। मैं तो उसमें डूब ही गया होता; किंतु ये सब मेरे लिये जहाज बन गये। इन्होंने मुझे उस समर-सागरमें डूब जानेसे बचा लिया। विजयी तो इन्होंने बनाया मुझे।'

इन संकोचीनाथकी यह अनुभूति—यह स्वभाव है इनका। इन्होंने कुछ हित किया, कुछ कृपा की—जैसे कभी इनको लगता ही नहीं है। ये तो कृपा करके भी संकुचित ही होते हैं।

बड़ा सुकुमार, बड़ा मनोहर, बड़ा सौम्यशील है इन मेघसुन्दरका व्रजमें, मथुरामें, द्वारकामें और अयोध्यामें भी; किंतु लोकभयंकर नृसिंहरूपमें आप इनको क्या कहेंगे? वहाँ भी ये सौम्यशील हैं?

भले दिशाएँ नृसिंहकी हुंकृतिसे काँपती हों। भले ब्रह्मादि देवताओंके प्राण सूखते हों इन उग्रतेजाकी कराल भृकुटि देखकर और भले गम्भीर गुर्राहट करके समीप आती लक्ष्मीजीको ये भगा दें; किंतु अपने स्वभावका क्या करें? स्वभाव तो वही संकोचीनाथका है।

प्रह्लादने आकर चरणोंमें मस्तक झुकाया। नृसिंहने उठाकर गोदमें बैठा लिया। दुलारा, जीभसे चाटने लगे। पुचकारा और बोले—'बेटा! बड़ा सुकुमार है तू। बहुत अत्याचार सहने पड़े तुझे। बड़ा निष्ठुर निकला मैं। बड़ी देर हुई मुझे प्रकट होनेमें। मुझे तू क्षमा कर दे!'

क्षन्तव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः।

जिसकी स्तुति भी समीप आकर करनेका साहस सुरोंमें नहीं हुआ, जिनके पदोंमें प्रणिपात करने लक्ष्मीजी नहीं आ सकीं, वह गद्‌गदकण्ठ, साश्रुनेत्र बालक प्रह्लादसे कह रहा था—'पुत्र! मुझे क्षमा कर दे!'

बड़ा स्नेह, बड़ा वात्सल्य! मुखसे निकल गया—'वत्स! माँग तो सही, क्या लेगा तू?'

प्रह्लादने कहा—'स्वामी! आप मुझे प्रलोभन देते हैं? मैं कामनाओंसे पहिले संत्रस्त हूँ। मेरे मनमें कभी कोई कामना न उठे, यही वरदान दें आप।'

भगवान् नृसिंह उल्लसित हो उठे—'पुत्र! तूने अपने इस अकिंचन स्वामीकी लाज रख ली। नृसिंह तुझे क्या दे सकता था। त्रिभुवनका सिंहासन, त्रिलोकीका ऐश्वर्य तो तेरे पिताका ही है। वह तो तेरा स्वत्व है। मैं तुझे और क्या दे सकता हूँ।

'अपने श्रीचरणोंकी भक्ति दीजिये!' प्रह्लादको कहाँ इस ऐश्वर्यका लोभ था। उनको कहाँ अमरावतीके सिंहासनपर बैठना था; किंतु यह तो उनके स्वामीका स्वभाव है कि अपने जनको सब कुछ देकर भी अनुभव करते हैं—'इसे तो कुछ दिया ही नहीं।'

× × ×

आपसे धीरेसे—एकान्त सलाहकी भाँति एक बात कहूँ। श्रीनन्दबाबाका लाला बहुत संकोची है। इस सुकुमारसे कुछ माँगकर इसे और अधिक संकोचमें मत डालिये। आप कुछ माँगेंगे, कुछ प्रार्थना करेंगे तो बड़ा संकोच, बड़ा दुःख होगा इसे। इसे लगेगा—'मैं इतना अयोग्य—इतना प्रमत्त, इतना कृपा-कृपण हूँ कि मेरे स्वजनोंको कहना पड़ता है—प्रार्थना करनी पड़ती है।

इस आनन्दकन्दसे प्रमाद नहीं होता—यह आप जानते हैं। यह आपके मङ्गल-विधानमें लगा रहता है—यह भी आप समझते हैं। ऐसी अवस्थामें कुछ अपनी ओरसे कहकर, माँगकर इसे संकुचित करना क्या उचित है?

स्याम सँकोची प्रेमका।

—इसलिये इस परम संकोचीको संकोचमें मत डालिये। इसे तो उन्मुक्त हृदयसे प्यार-आशीर्वाद दीजिये। मोहनको निःसंकोच करेंगे तो आप जीवनमें, जगत्‌में और सर्वत्र संकोचहीन, सम्पूर्ण संतुष्ट रहेंगे—यह सर्वथा सुनिश्चित है।
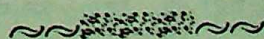
पढ़ो, समझो और करो

(१)

संतोंकी करुणा

कोई भी सत्कार्य एवं सेवाकार्य हो, प्राणिमात्रके योग-क्षेमको वहन करनेवाले प्रभु उसमें किसी-न-किसी प्रकार सहायता अवश्य करते हैं, पर आवश्यकता है अटूट विश्वास और सत्य-संकल्पकी। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है—

आजसे एक सौ वर्ष-पूर्व सन् १८९७ ई०में स्वामी विवेकानन्दके आह्वानपर उनके गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्दजीके नेतृत्वमें सेवाकार्यकी शुरुआत की गयी थी। संकल्प तो पहलेका ही था। '**जीवसेवा शिवसेवा**' किंतु सेवाकार्यकी शुरुआत अन्नपूर्णाकी पूजाके दिन सारगाछीसे हुई। इस वर्ष शतवार्षिकीके अवसरपर सारगाछी-आश्रममें चार दिनका समारोह दिनाङ्क १५ अप्रैलको माँ अन्नपूर्णाकी पूजासे प्रारम्भ हुआ। पूजा-पंडालमें वहींके स्थानीय चित्रकारने माँ अन्नपूर्णा एवं भगवान् शिवको अपनी सवारी नन्दीपर अत्यन्त भव्य-भावसे दर्शाया। उस चित्रमें अन्नपूर्णाजीके हाथमें चावलसे पूर्ण कटोरा है और भगवान् शिव एक छोटेसे पात्रमें भिक्षा माँग रहे हैं।

कलकत्तामें दुर्गा-पूजाके समय एक-से-एक भव्य प्रतिमाका दर्शन होता है; किंतु पता नहीं क्यों मुझे एक अनजान शिल्पीकी बनायी इस मूर्तिसे अधिक प्रेरणा मिली। रामकृष्ण-मिशनके प्रायः सभी शाखाओंके लगभग १५० संन्यासी, ब्रह्मचारी तथा हजारोंकी संख्यामें अन्यान्य भक्तगण भी इस चार दिवसीय समारोहमें उपस्थित थे। उनमें एक वृद्ध महिला लाठीके सहारे पधारी जो लगभग ६०-७० वर्ष-पूर्व स्वामीजीसे दीक्षित थी। इसी सारगाछी-आश्रमके पुनीत भूमिपर स्वामीजीने अनेक भक्तोंको दीक्षा प्रदान की थी और उन्हीं दीक्षित भक्तोंमें परम आदरणीय श्रीगोलवलकरजी भी थे। दिनाङ्क १६ अप्रैलकी शामको माँ अन्नपूर्णाकी पूजाके पश्चात् भक्तोंद्वारा भागवत-पाठ हुआ। प्रसादके बाद 'यात्रा' आदिका सांस्कृतिक कार्यक्रम बहुत देरतक होता रहा।

मुर्शिदाबाद-क्षेत्रमें १८९७ में भीषण अकाल पड़ा था और स्वामी अखण्डानन्दजीने अपने दो ब्रह्मचारियों एवं अन्य समाजसेवकोंके साथ महुआ ग्राम सारगाछीके पास केन्द्र बनाकर सेवा-कार्य शुरू किया। शुरुआत स्वामी विवेकानन्दद्वारा उनकी प्रणामीसे एकत्र मात्र एक सौ पचास रुपयेकी राशिसे हुई। अखण्डानन्दजीने कहा कि इतना कम साधन और अति विशाल राहत-कार्य, सम्भव कैसे हो पायेगा। यह सुनकर स्वामी विवेकानन्दजीने अपने गुरुभाईको ओजस्वी वाणीमें कहा कि रुपयेकी चिन्ता मत करो। रुपया स्वर्गसे बरसेगा। तुम नारायणकी सेवामें जा रहे हो। यह तुम्हारा अहोभाग्य है—अहोभाग्य है—'**अहोभाग्य-महोभाग्यम्।**' स्वामी अखण्डानन्दजी तत्परतापूर्वक सेवाकार्यमें लग गये। कलकत्ता-मठसे उनको समाचार मिला कि प्रेसको देने-हेतु राहत-कार्यका विवरण भेजें। जैसे ही स्वामीजी लिखने बैठे त्यों ही उन्हें ठाकुर रामकृष्णके दर्शन हुए। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे कह रहे हैं कि तुम्हें लोगोंपर भरोसा है, पर मेरेपर भरोसा नहीं है। स्वामी अखण्डानन्दजी अपने संस्मरणमें लिखते हैं कि 'यह वाणी उनके मनमें बिजलीकी भाँति कौंध गयी और समूचा कागज आँसुओंसे भीग गया।' फिर आँख मूँदकर ठाकुरसे प्रार्थना करने लगे कि हे ठाकुर, मेरी लाज रखो। सैकड़ों बच्चे दुर्भिक्षसे भूखे तड़प रहे हैं। समाजमें गरीबी और निर्धनता आसमान छू रही है। मेरे पास कोई साधन नहीं, मैं क्या करूँ? अति आश्चर्यकी बात तब हुई जब दूसरे दिन सुबह ही मद्रास-मठके संस्थापक—अध्यक्ष स्वामी रामकृष्णानन्दजीका एक हजार रुपयेका ड्राफ्ट अनायास आ गया, जिसमें यह लिखा हुआ था कि 'यह राशि मद्रासके एक भक्तने सेवा-कार्य-हेतु दी है तथा पाँच सौ रुपयेकी एक और राशि अगले सप्ताह भेजेगा।' इस प्रकार सेवाकार्यमें एक आशाका संचार हुआ और यह घटना चमत्कारपूर्ण प्रतीत हुई। यदि पाठक विस्तृत जानकारी चाहें तो स्वामीजीकी पुस्तक 'सर्विस ऑफ गॉड इन मैन' पढ़ें। शुरुआतमें एक सौ पचास रुपये स्वामीजीने राहत-कार्य-हेतु अपनी प्रणामीसे दिया। स्वामीजीकी प्रणामीकी यह सात्त्विक राशि सेवा-

कार्यमें अनन्त गुणा हो गयी। स्वामी अखण्डानन्दजीने भी एक सौ पचास रुपयेकी राशिमेंसे स्वयंके लिये बिलकुल ही उपयोग नहीं किया। स्वामीजी एवं उनके साथी बारी-बारीसे महुआ गाँवके गृही लोगोंके घर भिक्षा-हेतु जाते थे। सुबह कुछ गृही उनके लिये गुड़का शर्बत और मूढ़ी भेज देते। एक बार उसी समय ५-७ भूखे बच्चे खड़े थे। स्वामी अखण्डानन्दजी लिखते हैं कि 'उनके भोले चेहरोंको देखकर हृदय द्रवित हो गया और उन बच्चोंमें गुड़का शर्बत एवं मूढ़ी वितरित कर दिया।' कुछ दिनोंके बाद महाबोधी सोसाइटीने मुर्शिदाबाद राहत-कार्य-हेतु राशि एकत्र की, यह स्वामी अखण्डानन्दजीको भेजवा दी। स्वामीजी लिखते हैं कि मानसिक कष्टके समय उन्हें स्वामी विवेकानन्दकी वाणी '**मन्त्रं वा साधयेयम् शरीरं वा पातयेयम्।**'—मैं अपने कर्तव्यको पूरा करूँगा या शरीर छोड़ दूँगा?-से प्रेरणा मिलती रही।

१५ मई, १८९७ ई० को दुर्भिक्षसे पीड़ित मात्र १८ लोगोंको १२ औंस चावल प्रतिदिनके हिसाबसे दिया गया। श्रीठाकुरजीकी शक्तिका चमत्कार—मुर्शिदाबादके कलक्टर श्रीलिंभेज और अन्य सरकारी अधिकारी उनके कार्यसे बहुत प्रभावित हुए और कहने लगे कि महाराज, आप हमें मार्गदर्शन कीजिये। अकालमें लोगोंके रोजी-रोटीकी व्यवस्था हो इस हेतु स्वामीजीने महुआ गाँवमें सड़क-निर्माण-हेतु लोगोंको काम देनेके लिये कहा और कलक्टर महोदयने तुरंत आदेश जारी कर दिया।

मजिस्ट्रेटने वहाँके व्यापारियोंपर दबाव डालकर जबकि बाजार-भाव तीन रुपये मनका था, दो रुपये प्रति-मनकी दरपर स्वामीजीको चावल दिलाया। रामकृष्ण-मठ एवं मिशनके उपाध्यक्ष होनेतक वे निरन्तर सारगाछीमें रहे एवं उपाध्यक्ष होनेके बाद भी वे निरन्तर सारगाछी-आश्रम आते रहे। अखण्डानन्दजीने अपने भक्तोंसे कहा कि तुम लोग केवल सारगाछी जाकर बैठ जाओ। भगवत्कृपासे सब अपने-आप ठीक हो जायगा। महुआ ग्रामके सान्याल-परिवारके मकानमें स्वामीजीने चार महीना रहकर राहत-कार्य किया था। वह मकान अभी 'दुर्भिक्षपीडित-राहत-कार्य-भवन'के रूपमें ज्यों-का-त्यों है। परिवारके वंशज श्रीठाकुरजीकी पूजा नित्य करते हैं। हम सभी लोगोंने उस पुनीत मन्दिरका दर्शन किया।

—श्रीमदनलालजी टांटिया

(२)

बुरी परिस्थिति क्या नहीं करवा देती?

एक जौहरीने अपने अनुभव-प्रसंगकी सुन्दर बात बतायी—'भाई! धंधा करने बैठे हैं, अत: हमें सभी बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। कौन खरा खानदानी ग्राहक है और कौन धोखाधड़ी करनेके इरादेसे आया है, इसका हमें तुरंत पता लग जाता है।

× × ×

एक दिनकी बात है। एक अधेड़ उम्रकी महिला चूड़ियाँ खरीदने आयी। मैं उससे तथा उसके कुटुम्बसे अच्छी तरह परिचित था। एक समयका बड़े ठाट-बाटवाला यह कुटुम्ब आजकल कठिनाईमें पड़ा हुआ था। इस महिलाका हम सुमति नाम रख लेते हैं। यह महिला बड़ी चालाक थी। उसने भिन्न-भिन्न डिजाइनोंकी चूड़ियाँ दिखानेको कहा। हमारा सेल्समैन माल दिखाने लगा। उसकी नजर बचाकर उस महिलाने चूड़ीकी एक जोड़ी बड़ी सफाईसे अपने बटुएमें सरका दी। रात-दिन धंधा करनेवाले सेल्समैनकी पैनी नजरसे भला यह बात कैसे छिपी रहती? उसने तुरंत ही हमारी सांकेतिक भाषामें मेरी ओर इशारा किया। मैं समझ गया और मैंने उसे चुप रहनेका इशारा करके जोरसे बोलकर कहा—'भाई! मालिकका कौन मालिक है?' ग्राहककी पसंदगीकी बात है। इनको चीज पसंद आये तो लें, नहीं तो वापस रख दें। आज सुभीता न हो तो दस-पाँच दिनों बाद जब मन होगा, ले जायँगी। जाने दो, छोड़ो इस बातको—'सुमति चूड़ीकी जोड़ी बटुएमें छिपाकर नीची गर्दन किये तुरंत चली गयी।' दुकानपर सब लोगोंके सामने उसकी तलाशी ली जाती तो उसकी क्या आबरू रहती, उस प्रतिष्ठित महिलाके लिये तो वह मृत्युके समान होती।

मैं रात्रिको कुछ खा-पीकर उसके घर गया। मुझे देखते ही वह काँप गयी। उसको लगा कि ये मेरी चोरीको जान

गये हैं, अब क्या होगा? कुछ इधर-उधरकी बात करके मैंने ही वह बात छेड़ी। मैं उसकी आँख-में-आँख मिलाकर बात करना चाहता था, पर उसकी मेरे सामने मुख उँचा करके बात करनेकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी।

'आज इधर कैसे भूले-भटके आ गये?' सुमतिने बड़ी मुश्किलसे नीची नजर किये हुए सभ्यताके नाते कहा। मुझे बात करनेका अवसर मिल गया। 'बहिन! आजकल काम-धंधेमें इतनी देख-भाल करनी पड़ती है कि दूकान छोड़कर कहीं जानेके लिये अवकाश ही नहीं मिलता। यहाँ तो बाध्य होकर आना पड़ा है।'

'क्या कोई खास बात है?'—उसने डरते-डरते पूछा।

'तू बड़ी भाग्यशालिनी है, तेरी एक विपत्ति टल गयी।'

'सो कैसे?'

'आज तू दूकानपर चूड़ी लेने गयी थी न·······।'

'मुझे डिजाइन पसंद नहीं आयी, इस कारण बिना ही लिये वापस आ गयी।'

'तुझे ऐसा लगता होगा कि मैं बड़ी चालाक हूँ। मैंने दुकानसे चूड़ियाँ निकाल लीं और कोई देखा तक नहीं, पर 'चोरकी एक नजर तो साहूकारकी सौ नजर'—तुमने यह कहावत सुनी होगी। बटुएमें चूड़ियाँ सरका दीं इसका पता हमारे सेल्समैनको लग गया था।' यह सुनते ही उसका मुँह एकदम काला पड़ गया। मैंने बात आगे चलाते हुए कहा—'दूकानपर पाँच आदमियोंके सामने तेरी तलाशी ली जाती या फोनसे पुलिसको बुलाकर तुझे सौंप दिया जाता तो तेरी इज्जतकी क्या दशा होती? मुझे तो मेरी चीज मिल जाती, पर एक बार गयी हुई तेरी आबरू तुझे वापस कैसे मिलती? मनुष्यके जीवनमें बुरे दिन भी आते हैं, यह मैं जानता हूँ, पर उस कसौटीके कालमें ही मनुष्यको घरकी और कुटुम्बकी इज्जत-आबरू बचाये रखनेकी बात सीखनी चाहिये।'

'भाई' बड़ी कठिनतासे उसके रुँधे कण्ठसे आवाज निकली—'आपने मेरी आबरू बचायी है', कहती हुई वह मेरे पैरोंपर पड़ गयी और आँसू बहाती हुई सिसक-सिसककर रोने लगी। वह बोली—'घरकी बुरी हालतमें मुझपर लड़कीकी बिदाईका काम आ पड़ा। उसके बापके चले जानेके बादसे घर चलानेका भी कोई आमदनीका साधन नहीं रहा था। लड़कीके ससुरालसे आयी हुई चूड़ियाँ विपत्तिकालमें मैंने बंधक रख दी थीं। उन्हें छुड़ानेके लिये मेरे पास पैसे नहीं थे। लड़कीके ससुरालवाले बिदाईके लिये उतावली करने लगे। मेरी तो सरौतेके बीचमें सुपारी-जैसी हालत हो गयी। न तो किसीसे कहते बनता और न यह सहन ही हो पाता। इस स्थितिमें जहर खानेके सिवाय मेरे लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था, पर ऐसा करनेपर लड़कीके सिरपर काला टीका लग जाता और उसकी जिंदगी धूलमें मिल जाती। इसे बचानेके लिये ही मुझे यह नीच उपाय सूझा कि एक बार लड़कीको तो जैसे-तैसे कुशलताके साथ उसके ससुराल भेज दूँ, फिर मेरा जो कुछ होना होगा, सो हो जायगा—यह सोचकर मैंने यह जघन्य काम किया। झूठ क्यों बोलूँ? उसकी आँखोंसे गङ्गा-यमुना बह रही थीं। मनुष्यको परिस्थिति कितना लाचार और विवश कर देती है।

'ठीक है बहिन!' मैंने उससे कहा—'जो होना था सो हो गया। तेरी लड़कीको ये चूड़ियाँ उसके गौनेमें मेरी तरफसे दी गयी हैं—ऐसा मान ले और अब यों विलाप मत कर।' इतना कहकर मैं खड़ा हो गया। मुझे बिदा देते समय कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये सुमतिकी वाणी लाचार हो गयी थी। उसने दोनों हाथ जोड़े और उसकी आँखोंसे पश्चात्तापकी वारिधारा बहने लगी। मुझे लगा—भगवान् ऐसे बुरे दिन किसी दुश्मनको भी न दें।

—चीमनलाल सोमपुरा

भगवान् और सत्पुरुषोंका आश्रय लेकर भजन करनेकी जो कोशिश होती है वह अवश्य सफल होती है। उसमें कुसंग, आसक्ति और संचित कर्मादि बाधा तो डालते हैं, किंतु भजनके तीव्र अभ्याससे सब बाधाओंका नाश हो जाता है और उत्तरोत्तर साधनकी उन्नति होकर श्रद्धा तथा प्रेमकी वृद्धि होती है और फिर विघ्न-बाधाएँ नजदीक भी नहीं आ सकतीं।

मनन करने योग्य

दिव्यशक्तिका स्रोत मिला

वृद्ध शाहजहाँके जर्जर दुर्बल बूढ़े हाथोंसे पानी खींचनेकी रस्सी फिसली और पानीसे भरी बालटी धम्मसे फिर कुएँमें जा पड़ी। शहंशाहने निर्बलताकी एक गर्म आह भरी—'या अल्लाह! आज वह मनहूस दिन भी देखना पड़ रहा है, जब प्याससे तालु सूख रहा है। इस लंबी कैद और सुनसान जेलखानेमें मेरे लिये सभी कुछ है, पर इस बुढ़ापे और कमजोरीमें, इस तपती दुपहरीमें मुझे पानी तक पिलानेवाला कोई नहीं है। जिस हिंदुस्तानके शहंशाहके आराम तथा जीहजूरीके लिये हाथ जोड़े नौकरोंकी भीड़-की-भीड़ खड़ी रहती थी, वही आज अकेला निरुपाय खुद कैदखानेमें प्यास बुझानेके लिये पानी खींचने-जैसे मामूली कामको भी नहीं कर पा रहा है।' यह कैसी विवशता है।

थका हुआ लाचार प्यासा शाहजहाँ कुछ देर थककर बैठ गया। उसकी उम्र अब पककर पीले पत्ते-जैसी जर्जर हो चुकी थी। वह शारीरिक कमजोरी, निराशा और मानसिक परेशानीसे घबराया हुआ था। अंदरसे शीशेकी भाँति टूट चुका था।

मुगल शहंशाह शाहजहाँ भारतमें दक्षिणतक फैली हुई भूमिका एकच्छत्र सम्राट् था। उसने बहुत दिनतक एक बड़ी सल्तनतपर मनचाही हुकूमत की थी। वह बड़ा शौकीन-तबियत, कलाप्रेमी और एक महान् वास्तु-निर्माता था। उसने अपने युगकी बेहतरीन इमारतोंके रूपमें अद्वितीय वास्तुशिल्पकी अविस्मरणीय कलाकृतियाँ भारतको दी थीं। आगराका विश्वप्रसिद्ध ताजमहल और दिल्लीका लालकिला उसके कला-प्रेमके उत्कृष्टतम प्रतीक हैं। इतने बड़े भूभागका मालिक, ऐसी आलीशान इमारतोंका निर्माता आज एक जीर्ण-शीर्ण कैदखानेमें जल पीनेका असह्य कष्ट पा रहा था। सैकड़ों नौकरोंसे सदैव घिरा रहनेवाला शहंशाह आज बिना किसी सहायकके अकेला था। जीवनकी संध्यामें निराशा और आत्महीनताकी भावनाओंने आज उसे और भी निर्बल बना दिया था। वह नकारात्मक चिन्तनसे व्यग्र था। अपने पुत्रोंको धिक्कार रहा था। उनकी कृतघ्नतासे संतप्त हो घोर पश्चात्ताप कर रहा था। पुराने गुनाहोंकी सजा मानकर अशान्त था। इस पश्चात्ताप और अशान्तिके कारण क्लान्त-मन हो बिलकुल किंकर्तव्यविमूढ़-सा निढाल पड़ा था।

हीनताके बोधके साथ-साथ मनुष्यके मनमें नाना प्रकारके काल्पनिक भयकी भावनाएँ प्रवेश कर जाती हैं। जिस वयस्क संतानका बर्ताव अपने वृद्ध माता-पिताके साथ अच्छा नहीं होता, जिन्हें बात-बातमें अपमानित और तिरस्कृत किया जाता है, जिनका वातावरण संवेदनापूर्ण नहीं होता, उन्हें चारों ओरसे भय, निराशा और आशंकाएँ आ घेरती हैं। जिनके बच्चे क्रोधी, अनुशासनहीन, चंचलचित्त और कठोर-स्वभावके होते हैं, भय और निराशासे सदा पीड़ित ही रहते हैं। भयका कीड़ा जहाँ एक बार मनके भीतर घुसा, फिर वह रक्तबीजकी तरह अपना वंश बढ़ाता चला जाता है। बेचारे शाहजहाँके जीवनके अन्तिम दिन एक भयभीत निःसहाय कैदीकी तरह कट रहे थे। मनुष्य अपने दुष्कर्मोंकी सजा इसी जन्ममें पा लेता है। अपने राज्यकी रक्षाके लिये तथा सतत साम्राज्य-विस्तारकी महात्त्वाकांक्षाके कारण वह विरोधियोंको बुरी तरह दबाता आया था। उसीके पुत्र औरंगजेबने उसे बंदीगृहमें डालकर हिंदुस्तानकी हुकूमत अपने हाथमें ले ली थी। उसे मारनेके लिये जेलखानेमें कैद किया गया था। पुत्रके विश्वासघात एवं दुर्व्यवहारसे वह बेबस, क्रुद्ध और अत्यन्त व्यथित था।

आज उसके पास न वह शाही ऐशो-आराम थे, न सैकड़ों सेवक-सेविकाएँ! उसे अनपेक्षित तथा अकल्पनीय जिंदगी व्यतीत करनी पड़ रही थी। वह एकदम अकेला था। उसके इर्द-गिर्द न तो मुसाहिबों और तारीफ करनेवाले मुँह-लगे अफसरोंका जमघट ही था और न कोई उसका खिदमतगार ही पासमें था। अब वह नमाज अदा करते हुए—भगवान्‌की प्रार्थना करते हुए मनको सान्त्वना देनेमें व्यस्त रहता था, फिर भी न जाने क्यों उसे किसी भी प्रकारसे मनःशान्ति नहीं मिल रही थी।

गर्मियोंके दिन थे। दोपहरका तवे-जैसा तपता गर्म मौसम। शाहजहाँके पास रखा हुआ घड़ेका पानी समाप्त हो चुका था। उसे उस समय बहुत प्यास लगी थी, किंतु उस

समय उसके पास पानी खींचकर कुएँसे निकालनेवाला कोई सहायक न था। वह बिलकुल अकेला था।

अतः विवश हो अपने कमजोर बूढ़े शरीरकी परवाह किये बिना वह खुद कैदखानेके कुएँपर पानी खींचने गया। बालटी कुएँमें डालकर पानी खींचने लगा। पानीसे भरकर बालटी भारी हो गयी थी। जिन नाजुक हाथोंने हमेशा फूल ही छुए हों, कलम ही पकड़ी हों, राजदण्ड ही सम्हाला हो, अपराधियोंकी ओर उँगली दिखाकर सजाएँ ही दी हों, शहंशाहके उन नाजुक हाथोंमें कुएँसे निकालते हुए पानीकी भरी बालटी कैसे सम्हल सकती थी।

वृद्ध शहंशाहके कमजोर हाथोंसे रस्सी फिसल गयी। भारके कारण नियन्त्रण न रहा, बालटी गिरी, साथ ही उनके सिरमें चक्कर भी आया। थककर हताश हो वे हारे हुए सेनापतिकी तरह बेबस वहीं बैठ गये। आँखोंके आगे अँधेरा-सा छा गया।

शहंशाह नमाज पढ़ता और खुदाको याद करता था। अबतक तो वह मात्र औपचारिक बात थी, पर आज इन बेबसीके क्षणोंमें निराश शाहजहाँकी आत्मा जाग्रत् हो उठी। उसके मनमें एक ज्योति-सी जली! वह उसकी ईश्वरके प्रति सच्ची आस्थाकी मशाल थी। लगा जैसे ईश्वर स्वयं सहायताके लिये आ गये हों। उसके मुँहसे ये शब्द निकले—'ऐ मालिक! आज तूने देखा मैं इस जेलखानेके कुएँसे पानी खींचने-जैसे मामूली कामके लायक भी नहीं था। मैं एक नन्हें बच्चेकी तरह अपनी प्यासतक नहीं बुझा पा रहा हूँ। मैं यह महसूस करता हूँ कि दुनियामें शायद ही कोई आदमी मुझ-जैसा अभागा, कमजोर, अशक्त और निःसहाय होगा। मैं कितना नादान, बुद्धिहीन, अल्पज्ञ हूँ—यह मैं आज अनुभव कर रहा हूँ, दरअसल मैं तो किसी भी लायक नहीं हूँ। न बीती हुई शाही जिंदगीमें किसी योग्य रहा ही था।'

'फिर भी ऐ मेरे मालिक! दुनियाके सर्जनहार! मुझ-जैसे नालायक आदमीको आपने इतने लंबे अर्सेतक हिंदुस्तान-जैसे बड़े मुल्कका बादशाह बनाये रखा……मैं सालोंतक सफलतासे राज्य करता रहा……इन सब कृपा-दयाके लिये तुझे लाख-लाख शुक्रिया! आज मैं गिरी हुई हालतमें हूँ! ऐ दुनियाके पिता! तू हमें कुछ भी दे, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आनन्द-तकलीफ चाहे किसी तरह इम्तहान ले, पास या फेल करे, मैं हर सूरतमें तेरा एहसानमंद हूँ। जिंदगीके हर कदमपर मुझे तेरा ही सहारा है। आज तू मेरे मनमें रोशनी और शरीरमें आत्मशक्ति दे रहा है। यह दिव्यशक्ति मुझमें जाग उठी है। मैं सब कुछ सहूँगा। तुम्हारी दिव्य प्रेरक शक्ति मुझे सम्बल प्रदान कर रही है। अब मुझे अकेलेपनका एहसास भी नहीं हो रहा है, क्योंकि तुम तो मेरे साथ ही हो।'

बूढ़े शाहजहाँको आत्मासे एक ताकत मिली। तनाव कम हो गया। उसकी प्यास भी न जाने कहाँ गायब हो गयी। साहस, हिम्मत और सहनशीलताका सूर्य चमक उठा। उसने बड़े आत्मविश्वासपूर्वक कहा—'सब कुछ खोकर भी मेरे पास तेरी रहमतका छुपा हुआ अपरिमित खजाना है। वह शक्ति मेरी आत्मामें है। यह ताकत अब सदा मेरे पास रहनेवाली है। तेरी सहायतासे तो मैं अब बड़ी-से-बड़ी विपत्ति धैर्यपूर्वक सहन कर सकता हूँ। ऐ अल्लाह! अब तू मेरे साथ है। मैं नकारात्मक चिन्तन छोड़ता हूँ, तुम्हारा दिया हुआ आशावादी दृष्टिकोण अपनाता हूँ। तू सबका दाता है। मेरा पिता है। मुझे प्यार करता है। अब मैं अपने जीवनकी सब स्थितियों एवं लोगोंके दिखावटी स्वार्थको परख चुका हूँ। अब मैं सिर्फ उन स्मृतियोंको ही अपने मनमें रखूँगा, जिनसे मुझे खुशी मिलती है। आपके दिये हुए आत्मिक आनन्दको ज्यादा-से-ज्यादा अपनानेके लिये प्रयत्नशील रहूँगा। नकारात्मक विचारोंसे दूर रहूँगा। मैं जान गया हूँ कि जीवनमें कुछ परेशानियाँ तो इम्तहान लेनेके लिये आती ही हैं। उनसे बचा नहीं जा सकता। उन कठोर समस्याओंसे धैर्यपूर्वक जूझना ही होगा। उन्हें हँसते-हँसते सहन करना होगा। अब मैं उन परेशानियोंको वीरतासे सहन करनेको तैयार हूँ। मुझे अपने कर्ममें फिर नये सिरेसे, नये साहस और धैर्यसे लग जाना चाहिये।'

वृद्ध शहंशाहने एक बार फिर नये उत्साहसे बालटी खींचनी शुरू कर दी। परमात्मप्रभुकी असीम प्रेरणाशक्तिसे प्रकृति-प्रेमी उस बादशाहका चेहरा चमक रहा था। खुदाके प्रति सकारात्मक भावना, उनके सम्बलके अटूट विश्वाससे स्वतः स्फूर्त नव ऊर्जाके कारण शहंशाहका ललाट दीप्त हो उठा था।

—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

आज सारे संसारमें जीवनकी जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं। अधिकतर लोग अपनी असीमित भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें संलग्र हैं। वे अपने क्षुद्र स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंका अहित करनेमें भी कोई संकोच नहीं करते। परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, कलह और हिंसाके वातावरणमें अशान्त स्थिति है। देशके कुछ भागोंमें तो हिंसाका नग्र ताण्डव दिखायी दे रहा है। अधिकतर लोग मानसिक तनावके शिकार बनते जा रहे हैं। कलिका प्रकोप सर्वत्र व्याप्त है। प्रश्न यह होता है कि इस स्थितिका समाधान क्या है? ऋषि-महर्षि, मुनि और शास्त्रोंने इस स्थितिको अपनी अन्तर्दृष्टिसे देखकर बहुत पहलेसे यह घोषित कर दिया है कि 'कलिकालमें मानव-कल्याण और विश्वशान्तिके लिये श्रीहरिके नामके अतिरिक्त कोई दूसरा सुलभ साधन नहीं है।' इसीलिये यह बात जोर देकर शास्त्रोंमें कही गयी है कि 'भगवान् श्रीहरिका नाम ही एकमात्र जीवन है। कलियुगमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा—चारा नहीं है'—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

हमारे शास्त्रोंके अतिरिक्त अनुभवी संत-महात्माओंने भी भगवान्के नाम-स्मरण-जपको कलियुगका मुख्य धर्म (ऐहिक-पारलौकिक कल्याणकारी कर्तव्य) माना है। इतना ही नहीं, जगत्के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्के नाम-स्मरण-जपके महत्त्वको प्रतिपादित करते हैं। नामके जप-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्य-सिद्ध अपने बहुत-से नाम कृपा करके प्रकट कर दिये। प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

विपत्तिसे त्राण पानेके लिये आज श्रीभगवन्नामका स्मरण ही एकमात्र उपाय है। ऐसा कौन-सा विघ्न है, जो भगवन्नाम-स्मरणसे नहीं टल सकता और ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो नहीं मिल सकती? इस कलिकालमें मङ्गलमय भगवान्के आश्रयके लिये भगवन्नामका सहारा ही एकमात्र अवलम्बन है। अतएव भारतवर्ष एवं समस्त विश्वके कल्याणके लिये, लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक सुख-शान्तिके लिये तथा साधकोंके परम लक्ष्य एवं मानव-जीवनके परम ध्येय भगवान्की प्राप्तिके लिये सबको भगवन्नामका स्मरण, जप-कीर्तन करना चाहिये।

अतः 'कल्याण' के भाग्यवान् ग्राहक-अनुग्राहक पाठक-पाठिकाएँ स्वयं तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे प्रतिवर्ष भगवन्नाम-जप करते-कराते आये हैं।

गत वर्ष पैंतीस करोड़ नाम-जपकी प्रार्थना की गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि गत वर्षकी अपेक्षा इस वर्ष लोगोंने बड़े उत्साहसे भगवन्नामका जप किया तथा जप करनेवाले साधक महानुभावोंकी संख्यामें वृद्धि भी हुई। विभिन्न स्थानोंसे जो सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं, उनके अनुसार पैंतीस करोड़ इकहत्तर लाख दो हजार मन्त्र-नाम-जप हुए हैं, जिन्हें गत माह (सितम्बर)-में प्रकाशित किया गया है। पिछले वर्ष इस नाम-जपकी संख्या लगभग तैंतीस करोड़ नौ लाख थी। अतः आप महानुभावोंसे इस वर्ष चालीस करोड़ भगवन्नाम-मन्त्र-जपकी प्रार्थना की जा रही है। यह नाम-जप अधिक उत्साहसे करना तथा करवाना चाहिये, जिससे भगवन्नाम-जपकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि हो।

निवेदन है कि पूर्ववत् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमासे जप आरम्भ किया जाय और चैत्र शुक्ल पूर्णिमा वि०-सं० २०५५ तक पूरा किया जाय। पूरे पाँच महीनेका समय है।

भगवान्के इस प्रभावशाली नामका जप स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सभी कर सकते हैं। इसलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे हाथ जोड़कर विनयपूर्वक

प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक सबके परम कल्याणकी भावनासे स्वयं अधिक-से-अधिक जप करें और प्रेमके साथ विशेष चेष्टा करके दूसरोंसे भी जप करवायें। नियमादि सदाकी भाँति ही हैं—

(१) जप प्रारम्भ करनेकी तिथि कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा (दिनाङ्क १४। ११। १९९७ ई०) शुक्रवार रखी गयी है। इसके बाद भी किसी भी तिथिसे जप आरम्भ कर सकते हैं, परंतु उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ल पूर्णिमा सं० २०५५ को कर देनी चाहिये। इसके आगे भी अधिक जप किया जाय तो और उत्तम है।

(२) सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

(३) एक व्यक्तिको प्रतिदिन उपरिनिर्दिष्ट मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार माला (एक माला) जप तो अवश्य ही करना चाहिये, अधिक तो कितना भी किया जा सकता है।

(४) संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे अथवा अङ्गुलियोंपर या किसी अन्य प्रकारसे भी रखी जा सकती है। तुलसीकी माला उत्तम होगी।

(५) यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समयपर आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय—सोनेके समयतक इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

(६) बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो बादमें अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

(७) संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं; उदाहरणके रूपमें—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—सोलह नामके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिमन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है, जिसमें भूल-चूकके लिये ८ मन्त्र बाद कर देनेपर गिनतीके लिये एक सौ मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिन जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ल पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर हमें अन्तमें सूचित करें। सूचना भेजनेवाले सज्जन जपकी संख्याकी सूचना ही भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि नहीं। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

(८) प्रथम सूचना तो मन्त्र-जप प्रारम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितनी जप-संख्याका संकल्प किया हो उसका उल्लेख रहे और दूसरी बार जप आरम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या उल्लिखित हो।

(९) जप करनेवाले सज्जनको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव नष्ट हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक होकर और प्रभावक बनते हैं।

(१०) सूचना संस्कृत, हिन्दी, मराठी, मारवाड़ी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी, उर्दूमें भेजी जा सकती है।

सूचना भेजनेका पता—

नामजप-कार्यालय, द्वारा—'कल्याण'—सम्पादकीय विभाग, गीताप्रेस, पो०—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

प्रार्थी—
राधेश्याम खेमका
सम्पादक—'कल्याण'

॥ श्रीहरिः ॥

आगामी (जनवरी सन् १९९८ ई० का) विशेषाङ्क

'भगवल्लीला-अङ्क'

ग्राहक महानुभावोंकी सुविधाके लिये गत सितम्बर १९९७ के अङ्कमें आगामी वर्षके लिये शुल्क-राशि भेजने-हेतु मनीआर्डर-फार्म भेजा गया था। अतः जो ग्राहक सज्जन नये वर्षके लिये वार्षिक शुल्क-राशि रु० ८० (सजिल्दके लिये रु० ९०) यदि अभीतक न भेजे हों तो उन्हें शीघ्र भेज देनी चाहिये।

परमात्माके तत्त्व-दर्शन, लीला-रहस्य एवं सगुण-साकारस्वरूपकी विभिन्न मनोरम लीलाओं तथा अवतार-कथाओंकी विस्तृत जानकारी-हेतु **'भगवल्लीला-अङ्क'** के लिये आप स्वयं ग्राहक बनें एवं अन्य बहुतोंको बनायें।

यों तो भगवान्‌की लीलाओंका तत्त्व-रहस्य जानना केवल उनकी कृपासे ही सम्भव है; क्योंकि भगवान्‌के जन्म-कर्म और लीलाएँ आदि दिव्य हैं—**'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः'**—श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌के ही श्रीमुखके वचन हैं। परम मङ्गलकारी भगवान्‌की विभिन्न लीलाओंका मनन, चिन्तन, ध्यान और कीर्तन आदि निःसंदेह भगवत्प्राप्तिका अमोघ साधन और इस कठिन कलिकालमें एकमात्र कल्याणकारी उपाय है। इस दृष्टिसे विभिन्न लीलाओं, अवतार-कथाओं और अनेकानेक लोकमङ्गलकारी भगवच्चरित्रोंसे युक्त यह सरस-सलिल—**'भगवल्लीला-अङ्क'** निःसंदेह जन-जनके लिये परमोपयोगी और अवश्य पठनीय होगा—ऐसी आशा है।

महाविष्णुके चौबीस अवतारोंके रूपमें विभिन्न लीला-कथाएँ, भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्णके ऐश्वर्य, माधुर्यपूर्ण आदर्श लीला-चरित्र एवं भगवान् सदाशिवकी कल्याणकारी लीलाओंके साथ भगवान् श्रीकृष्णकी रासलीला एवं उसका आध्यात्मिक रहस्य (तात्पर्य) आदि अनेक भगवल्लीलाओंके सुरुचिपूर्ण वर्णनसहित इसमें भगवान्‌के विभिन्न लीला-अनुचरों, लीला-उपासकों और भगवद्भक्तोंके मनोरम चरित्र-चित्रण भी रहेंगे।

अनेक भावपूर्ण बहुरंगे, इकरंगे तथा आकर्षक रेखा-चित्रोंसे सज्जित तथा सचित्र आवरणसे युक्त यह विशेषाङ्क सर्वथा संग्रहणीय है। विदेशके लिये वार्षिक शुल्क US $ 11 डालर (समुद्री-डाकसे) अथवा US $ 22 डालर (हवाई डाकसे) है।

जयपुरके ग्राहकोंसे निवेदन—जयपुरमें हमारे अधिकृत विक्रेता—**गीताप्रेस-पुस्तक-प्रचार-केन्द्र (बुलियन बिल्डिंगके अंदर, हल्दियोंका रास्ता) जयपुर-३०२००३ (दूरभाष-५६३३७९)** द्वारा की गयी **'कल्याण'**-वितरणकी स्थानीय व्यवस्थाके अन्तर्गत जनवरी १९९८ का विशेषाङ्क—**'भगवल्लीला-अङ्क'** वहाँ उपलब्ध होगा। उक्त केन्द्रमें रुपये जमा कराते समय ग्राहकोंद्वारा वहाँ दिये हुए निर्देशके अनुसार मासिक अङ्क वे गोरखपुरसे सीधे (साधारण) डाकद्वारा अथवा जयपुर-वितरण-केन्द्रसे प्राप्त कर सकते हैं। वार्षिक शुल्क-रु० ८० अथवा सजिल्द-विशेषाङ्कका रु० ९० इच्छुक सज्जनोंको वहाँ शीघ्र जमा करा देना चाहिये; जिससे समयसे अङ्क-वितरण करनेमें सुविधा रहे। जयपुरके ग्राहकोंके लिये इस अङ्कमें विशेष मनीआर्डर-फार्म संलग्न है।

वर्तमान वर्षका विशेषाङ्क—'कूर्मपुराणाङ्क' अभी प्राप्य है।

[इच्छुक सज्जन मँगानेमें शीघ्रता करें]

पुराणोंको साक्षात् भगवान् श्रीहरिका (वाङ्मय) स्वरूप बताया गया है। **'कल्याण'**ने अनेक पुराणोंको विगत वर्षोंमें विशेषाङ्कोंके रूपमें जनहितार्थ प्रस्तुत किया है, जो बड़े उपयोगी और जनप्रिय सिद्ध हुए हैं। उसी गौरवमयी शृंखलामें इस वर्ष (सन् १९९७ ई०) **'कूर्मपुराण'** भगवान् वेदव्यासकी मूलवाणी (संस्कृत)-के साथ सरल हिन्दी-अनुवाद-सहित विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित किया गया है। जिसकी अब सीमित प्रतियाँ ही बची हैं। **'कूर्मपुराणाङ्क'**की शिक्षाप्रद कथाएँ बड़ी रोचक, सर्वजनोपयोगी और कल्याणकारी हैं। अतः जिज्ञासु, इच्छुक सज्जनोंको इससे विशेष लाभ उठाना चाहिये। वार्षिक शुल्क-रु० ८० (सजिल्दका रु० ९०) है। विदेशके लिये समुद्री-डाकसे US $ 11 डालर तथा हवाई डाकसे US $ 22 डालर है।

व्यवस्थापक—**'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

प्र० ति० २०-९-९७

LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

गीता-दैनन्दिनी—सन् १९९८ ई०

[दो आकार तीन प्रकारमें]

पुस्तकाकार (सचित्र) संस्करण—(कोड-नं० 503) (आकार ८''×५$\frac{१}{४}$'') चिकने मैपलिथो कागजपर सुन्दर छपाई और प्लास्टिक कवरसे युक्त, आकर्षक मजबूत जिल्द, श्रीमद्भगवद्गीताका मूल पाठ एवं रोमन पाठ, गीताभ्यासकी प्रेरणाप्रद बातें, महापुरुषोंके जीवनोपयोगी सुभाषित वचन (सूक्तियाँ) तिथि, वार, व्रत, उत्सव-पर्व, ग्रहण, त्यौहार आदिके उल्लेखके साथ भगवान् श्रीकृष्णका बहुरंगा चित्र, मूल्य रु० २५, रजिस्ट्रीसे डाकखर्च रु० १४ (१०० के कार्टून पैकोंमें भी उपलब्ध है।)

पाकेट साइज—(कोड-नं० 506) (आकार ५$\frac{३}{४}$''×३$\frac{३}{४}$'') प्रति वर्षकी तरह श्रीमद्भगवद्गीताका मूल पाठ, तिथि, वार, ग्रह-नक्षत्र, ग्रहण आदिके उल्लेख-सहित व्यवहारमें काम आनेवाले अनेक उपयोगी विवरण एवं स्तोत्र, दिनचर्या तथा महत्त्वपूर्ण स्मरणीय बातें लिखने-हेतु रुलदार 'स्मरण-पत्र' के रूपमें अतिरिक्त पृष्ठ भी साथमें। आरम्भमें सुन्दर बहुरंगा चित्र, कपड़ेकी मजबूत जिल्द। मूल्य रु० १०, डाकखर्च रु० ४

पाकेट साइज विशेष संस्करण—(कोड-नं० 615) उपर्युक्त पाकेट साइजका ही यह विशेष संस्करण है। आकर्षक प्लास्टिक आवरण एवं आरम्भमें एक भावपूर्ण रंगीन चित्र भी। मूल्य रु० १२, डाकखर्च रु० ४ (२०० के कार्टून पैकोंमें उपलब्ध।)

शीघ्र प्रकाश्य

साधन-कल्पतरु—(कोड-नं० 814) प्रस्तुत ग्रन्थ **'गीताप्रेस'** एवं **'कल्याण'**के संस्थापक ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय (श्रीसेठजी) श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके लेखोंका अनुपम संग्रह है, जो **'कल्याण'** के विभिन्न अङ्कोंमें पहले प्रकाशित हुए थे; बादमें उनको संगृहीत कर तेरह पुस्तकोंके रूपमें विभिन्न नामोंसे **'गीताप्रेस'**द्वारा प्रकाशित किया गया था। पाठकोंकी सुविधाको ध्यानमें रखकर उन तेरह पुस्तकोंका एक साथ प्रकाशन—यह दिव्य ग्रन्थाकार संकलन है। परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका उद्देश्य श्रीमद्भगवद्गीता तथा अन्य भारतीय धर्म-दर्शनके सार्वभौम लोक-कल्याणकारी सिद्धान्तोंको घर-घर पहुँचाना तथा उनके द्वारा वैचारिक परिवर्तन कर लोगोंको कल्याण-मार्गका पथिक बना देना था, जिससे लोग अपने वास्तविक उद्देश्यको पहचान सकें तथा अपने जीवनके लक्ष्यको प्राप्त कर सकें। **'गीताप्रेस'**की स्थापनाके पीछे भी उनका यही पवित्र उद्देश्य अन्तर्निहित था। इसके लिये वे कलि-प्रभाव-ग्रस्त संसारी लोगोंको पाप-तापसे मुक्त करने एवं भगवदुन्मुख करनेके लिये अपने गम्भीर चिन्तन तथा शास्त्रानुमोदित विचारोंको लेखबद्ध करते हुए प्राणपणसे आजीवन चेष्टावान् रहे। यह ग्रन्थाकार-प्रकाशन भी उन्हीं महाप्राण श्रीसेठजीके पवित्र संकल्पकी पूर्तिकी दिशामें एक प्रयास है। श्रीसेठजीके विचारके अनुसार—'इसमें सब बातें श्रीमद्भगवद्गीता तथा ऋषि-मुनिप्रणीत सत्-शास्त्रोंके आधारपर लिखी गयी हैं अतएव इन लेखोंसे सभी मनुष्य लाभ उठा सकते हैं तथा बहुत-सी बातें ऐसी सुगम हैं कि साधारण पढ़े-लिखे स्त्री-पुरुष और बालक-वृद्ध भी इन सिद्धान्तोंको अपने जीवनमें उतारकर भरपूर लाभ उठा सकते हैं।' इसका स्वाध्याय सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वका अनुभव करानेमें बहुत सहायक है। प्रत्येक साधकके लिये इस दिव्य ग्रन्थमें आत्मोद्धारकी पूरी सामग्री है।

बहुत दिनोंसे अप्राप्त कुछ पुनर्मुद्रित प्रकाशन

श्रीरामगीता—(कोड-नं० 232) यह पुस्तक भगवान् श्रीरामद्वारा श्रीलक्ष्मणजीको दिये गये उपदेशका अद्भुत संग्रह है। इसमें ज्ञान और कर्मकी मीमांसा, महावाक्य-विचार, आत्म-चिन्तन आदि विषयोंपर सुन्दर विवेचन है। मूल्य रु० १

विवाहमें दहेज—(कोड-नं 384) वर्तमान समयमें दहेज आजकी सबसे बड़ी समस्या तथा समाजका अभिशाप है। इस पाकेट-साइज पुस्तिकामें इस कुत्सित अपराधसे होनेवाली बुराइयोंपर विस्तृत प्रकाश डालते हुए नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने दाम्पत्य-जीवनमें पालनीय धर्मोंका सुन्दर विवेचन किया है। मूल्य रु० १

ध्यान और मानसिक पूजा—(कोड-नं० 302) इस पुस्तकमें ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा साधकोंकी रुचि और योग्यताको ध्यानमें रखते हुए भगवान्के ध्यान एवं मानसिक पूजाका सरल भाषामें वर्णन किया गया है। मूल्य रु० ०.५०

नवीन प्रकाशन

जय हनुमान—(कोड-नं० 787) प्रस्तुत पुस्तक मङ्गलमूर्ति श्रीहनुमान्जीके सत्रह सुन्दर चरित्रोंका अत्यन्त सरल भाषामें मनमोहक चित्रण है। प्रत्येक चरित्रके साथ हनुमान्जीके उपासना योग्य आकर्षक चित्र भी संलग्न हैं। मूल्य १० रुपये मात्र।

नवदुर्गा चित्र—(कोड-नं० 812) भगवती दुर्गाके उपासना योग्य नवों स्वरूपोंके चित्रोंका एक साथ सुन्दर प्रकाशन। मूल्य ५ रुपये मात्र।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

भगवान

वर्ष ७१ संख्या ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, नवम्बर १९९७ ई०

☆☆☆

चित्र-सूची

☆☆☆

इस अङ्कका मूल्य ४ रु०
विदेशमें—US$0.40
वार्षिक शुल्क (भारतमें)
डाक-व्ययसहित ८० रु०
(सजिल्द ९० रु०)
विदेशमें—US$11

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

दसवर्षीय शुल्क
डाक-व्ययसहित
(भारतमें) ५०० रु०
(सजिल्द ६०० रु०)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

आनन्दकन्दकी खीझ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥

वर्ष ७१ | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, वि० सं० २०५४, श्रीकृष्ण-सं० ५२२३, नवम्बर १९९७ ई० | संख्या ११ | पूर्ण संख्या ८५२

आनन्दघनकी खीझ

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हो, तू जसुमति कब जायौ?
कहा करौं इहि रिस के मारैं, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात॥
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

कल्याण

याद रखो—अकर्मण्यता न तो भगवान्पर निर्भरता है और न वैराग्य ही है। भगवान्पर निर्भरतामें तो जीवन भगवान्की सेवासे भरा होता है। भगवान्का सेवक आलसी नहीं होता, वह तो नित्य नये उत्साह और उल्लाससे भगवान्की सेवामें लगा रहता है।

याद रखो—आलसी और कर्मसे जी चुरानेवाले मनुष्य कई बार निर्भरता या वैराग्यके नामपर अपने आलस्य और अकर्मण्यताको छिपाना या युक्तियुक्त सिद्ध करना चाहते हैं; परंतु वस्तुतः यह उनका प्रमाद है।

याद रखो—जो पुरुष भगवान्पर निर्भर होगा, वह अपने एक-एक क्षणको भगवत्प्रीतिके लिये भगवान्के अनुकूल कार्योंमें लगायेगा। उसे कभी भगवत्सेवासे अवकाश ही नहीं मिलेगा। वह अपने मनको, बुद्धिको और इन्द्रियोंको निरन्तर भगवान्की सेवामें नियुक्त रखेगा।

याद रखो—जो लोग भगवान्की निर्भरताका नाम लेकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना, सोना या प्रमादमें लगे रहना चाहते हैं, वे अपने-आपको धोखा देते हैं। अकर्मण्यता तमोगुणका मूर्तिमान् रूप है और भगवान्पर निर्भरता सत्त्वगुणका फल है। इन दोनोंमें कभी मेल नहीं हो सकता।

याद रखो—जो वैराग्यवान् पुरुष हैं, उनको जगत्के किसी विषयमें, इस लोक या परलोकके किसी भी भोगपदार्थमें न तो आसक्ति है, न ही वे किसी पदार्थकी कामना करते हैं, परंतु अपने परमार्थ-साधनमें वे अत्यन्त तत्पर रहते हैं। संसारमें जबतक राग रहता है, तबतक परमार्थमें पूरी प्रवृत्ति नहीं होती। संसारकी आसक्ति बार-बार मनको खींचकर भोगोंकी ओर ले जाती है, परंतु जब संसारासक्ति छूटकर विराग प्राप्त हो जाता है, तब तो पूर्णतया परमार्थ-साधनमें संलग्नता हो जाती है। ऐसी स्थितिमें अकर्मण्यता कैसे रह सकती है?

याद रखो—पहले विचार होता है—कौन वस्तु त्याज्य है, कौन ग्राह्य है; कौन दुःखरूप है, कौन सुखस्वरूप है; कौन अनित्य है, कौन नित्य है; कौन असत् है, कौन सत् है; किससे जीवनमें छूटना है और किसको पाना है। विवेकके द्वारा जब यह भलीभाँति निश्चय हो जाता है कि एकमात्र परमात्मा ही ग्राह्य हैं—आत्यन्तिक सुखस्वरूप हैं। वे ही नित्य हैं, सत् हैं और उन्हींको प्राप्त करना है। उनके अतिरिक्त इहलोक और परलोकके सभी भोग त्याज्य, दुःखरूप, अनित्य, असत् हैं और उनसे भलीभाँति छूटना है। तब परमात्माके प्रति चित्तका अनुराग होता है और भोगोंके प्रति अपने-आप ही वैराग्य हो जाता है। इस वैराग्यसे छः प्रकारकी सम्पत्तियाँ (धन) मिलती हैं—उनके नाम हैं— (१) शम (मनका वशमें होना), (२) दम (इन्द्रियोंका वशमें होना), (३) तितिक्षा (सहनशीलता), (४) उपरति (भोगोंके सामने रहनेपर भी उनमें आसक्ति न होना), (५) श्रद्धा (परमात्मामें, उनकी प्राप्तिमें और प्राप्तिके साधन बतलानेवाले शास्त्र तथा संतोंके वाक्योंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास) और (६) समाधान (सारी शंकाओंका मिट जाना)।

याद रखो—जब ये छः सम्पत्तियाँ मिल जाती हैं, तब मोक्षकी—परमात्माको प्राप्त करनेकी तीव्र लालसा जाग उठती है। ऐसी अवस्थामें साधक सब कुछ भूलकर प्राणपणसे परमार्थ-साधनमें लग जाता है। उसका मन, चित्त, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ—सभी अन्तर्मुखी होकर परमात्माकी प्राप्तिके पथपर अनवरत चलने लगते हैं। अतएव जो लोग वैराग्यके नामपर अकर्मण्यताको आश्रय देते हैं, वे सर्वथा भ्रममें हैं।

याद रखो—भगवान्की निर्भरतामें भक्तका जीवन सर्वदा और सर्वथा भगवत्सेवा-परायण बन जाता है और वैराग्य उत्पन्न होनेपर वह परमात्म-साधनमें घुल-मिलकर साधनरूप हो जाता है। इन दोनोंमें ही अकर्मण्यता या आलस्यको स्थान नहीं है।

याद रखो—ऐसे साधकोंके द्वारा होनेवाले कर्म अवश्य ही विषयी पुरुषोंके कर्मोंसे भिन्न प्रकारके होते हैं। विषयी पुरुषोंके कर्म बाँधनेवाले होते हैं और इन साधकोंके कर्म कर्मबन्धनसे मुक्ति दिलानेवाले। इसीलिये इन कर्मोंका नाम 'कर्म' न होकर 'निष्कामसेवा', 'भक्ति' या 'ज्ञान' होता है। —**'शिव'**

मनुष्य-शरीरकी उपयोगिता

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

हम लोगोंको भगवान्के तथा महापुरुषोंके वचनोंपर श्रद्धा तथा पूरा विश्वास करके तदनुसार मन लगाकर प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये। फिर तो अपने उद्धार होनेमें विलम्ब ही क्या है। आसुरी सम्पदाके विषयमें और उसके परिणाममें भगवान्ने गीतामें कहा है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(१६। ४, २०)

पाखंड, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोर वचन और अज्ञान—ये सब आसुरी सम्पदाएँ हैं। ऐसे अवगुणवाले पुरुष मुझे न प्राप्त करके बारंबार आसुरी योनिमें जन्म ग्रहण करते हैं तथा उससे भी बढ़कर अधम गति यानी घोर नरकमें जाते हैं।

मतलब यह कि ऐसे उन पापियोंको मैं आसुरी योनियोंमें, तिर्यक्योनियोंमें, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि योनियोंमें बारंबार पटकता हूँ और उनको मेरी प्राप्ति न होकर और भी अधमगति यानी रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये इन वचनोंपर यदि हम विश्वास करें तो आसुरी योनिके जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे हमारे पास आ ही कैसे सकते हैं और हम उन्हें देख ही कैसे सकते हैं। जैसे हम कहीं बाजारमें जाते हैं और वहाँ बुरी चीज—मांस-मदिरा आदिका बाजार हो तो हम उस रास्तेको दूरसे ही त्याग देते हैं। जहाँ अंडा-मछली आदिकी बिक्री होती है, हम उस मार्गमें भी नहीं जाते हैं। खाना तो दूर रहा। इनको छूते भी नहीं, छूना भी पाप समझते हैं। इसी प्रकार जितने पापकर्म हैं—झूठ बोलना, चोरी करना, जूआ खेलना, व्यभिचार करना, हिंसा करना, मदिरा पीना, मांस खाना आदि जितने भी बुरे काम हैं, उनका मनुष्य दूरसे ही त्याग कर दे तो ये दोष पास नहीं फटक सकते। जैसे सूर्यके सम्मुख अन्धकार नहीं जा सकता, इसी प्रकार दैवी सम्पदाके निकट आसुरी सम्पदाके कोई भी लक्षण नहीं फटक सकते।

इसी प्रकार दुर्गुण तथा हृदयके बुरे भाव जैसे—काम-क्रोध, लोभ-मोह, अहंकार, राग-द्वेष दैवी सम्पदावाले पुरुषके अंदर प्रविष्ट नहीं हो सकते। इनके लिये भी भगवान् कहते हैं—काम-क्रोध-लोभ—ये तीनों साक्षात् नरकके द्वार हैं—नरकके दरवाजे हैं। नरकमें ले जानेवाले हैं। आत्माका पतन करनेवाले हैं। इन तीनोंका तू त्याग कर दे।

काम व्यभिचारके द्वारा नरकमें ले जाता है तथा क्रोध हिंसाके द्वारा नरकमें ले जाता है और लोभ झूठ-कपट एवं बेईमानीके द्वारा नरकमें ले जाता है। ये सब नरकमें ले जानेवाले हैं। जब मनुष्य इस प्रकार भगवान्के वचनोंपर विश्वास करके यह समझ जाता है कि ऐसा करनेसे नरकमें जाना पड़ेगा तो वह इन सबको कैसे मौका देगा। दुर्गुण (बुरे भाव), दुराचार (बुरे आचरण) आदि पाप-कर्म हैं। अतएव शास्त्रके वचनोंमें हम विश्वास कर लें कि पाप—दुर्गुण-दुर्व्यसन बहुत बुरी चीज है—इनका हम लोगोंको एकदम त्याग कर देना चाहिये। साथ ही आलस्य, प्रमाद, पाप, दुर्गुण, दुराचार तथा विलास पैदा करनेवाले भोगोंका भी त्याग कर देना चाहिये। त्याग न करनेसे आगे चलकर इनसे पाप पैदा होते हैं। ऐसी बातें हमें शास्त्र, गीता, भागवत, महाभारतमें उपदेशके रूपमें मिलती हैं। इनपर विश्वास कर निश्चय कर लेना चाहिये कि ये हमारे लिये हानिकर हैं, ऐसा समझकर इनका हमें त्याग कर देना चाहिये। इसमें बस एक मिनटका काम है। एक मिनटमें यह विचार कर लें कि 'आजके पहले जो हुआ सो हुआ, अब आगे ऐसा नहीं होगा।' आजके पहले जो हुआ है, उसे गङ्गामें स्नान करके साफ कर दिया। जब गङ्गामें स्नान कर लिया तो आजके पहलेके सारे पाप, सारे दुर्गुण—सब स्वाहा हो गये। अब आगे इस मार्गमें जाना नहीं है, करना ही नहीं है, पुराने पापोंकी समाप्ति हो गयी तो यह यज्ञ हो गया। इस प्रकारके साधनका नाम है यज्ञ। गीता (४। २३)-में भगवान्ने कहा है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

'आसक्तिसे रहित ज्ञानमें स्थित हुए चित्तवाले यज्ञके लिये आचरण करते हुए, मुक्त पुरुषके सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

इस प्रकारके साधनसे समस्त अमङ्गल, पूर्व तथा वर्तमानके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं—'**समग्रं प्रविलीयते**'। और साधक भगवत्प्राप्तिके लिये साधन करने लगता है।

जो मनुष्य अपने अच्छे कर्म भगवान्‌के समर्पण कर देता है तो फिर भगवान् उसे बुरे कर्मोंका फल भी नहीं भुगताते। जो कह देता है कि 'हे प्रभो! मैंने जो कुछ भी यज्ञ-दान किये हैं, सब आपको समर्पण कर देता हूँ'—'**श्रीकृष्णार्पणमस्तु**'! तो भगवान् कहते हैं कि तेरे जितने पाप हैं, उन्हें मैं माफ कर देता हूँ। इतनी देरका काम है। जन्म-जन्मान्तरोंमें जो कुछ भी पुण्य-कर्म किये हैं, उन सबको हम क्षणमात्रमें भगवान्‌को समर्पण कर दें तो क्षणमात्रमें बन्धनसे मुक्त हो जायँ। इस प्रकार यज्ञ-दान-तप भगवान्‌के अर्पणद्वारा हमने जो पुण्य अर्पण किया तो भगवान् पुण्य और पाप दोनोंसे उसी समय मुक्ति दे देते हैं। स्वयं भगवान्‌ने गीता (९। २७)-में कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्जुन! तू जो कुछ भी यज्ञ करता है, तप करता है, दान करता है, भोजन करता है या जो कुछ भी क्रिया तू अपने निर्वाहके लिये करता है, वह सब तू मेरे समर्पण कर दे। क्योंकि जब अच्छे कर्मोंको तू मेरेको अर्पण कर देगा तो शुभ और अशुभ—इन दोनों प्रकारके कर्मोंके फलसे मुक्त हो जायगा—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

(गीता ९। २८)

जब तुम पुण्य-फलको नहीं चाहोगे तो मैं पाप-फलको नहीं भुगताऊँगा। इसलिये दोनों प्रकारके कर्मोंके बन्धनसे तू एकदम मुक्त हो जायगा। पापोंका दण्ड भोगनेसे छूट जायगा। इतना ही नहीं संन्यासयोग-युक्तात्मा होकर मेरेको प्राप्त हो जायगा—

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

(गीता ९। २८)

भगवान्‌ने इस प्रकारकी छूट दे दी है, इसलिये हम आजतकके—जन्म-जन्मान्तरके सारे पुण्य भगवान्‌के समर्पण कर दें तो भगवान् हमको पापोंसे भी मुक्त कर देंगे। इस प्रकार खाता समाप्त हो जायगा। खाता समाप्त हो गया तो मुक्त हो गया, कितनी सहज बात है। आपने हजारों जन्मोंमें, जन्म-जन्मान्तरमें जो पुण्य आदि किये हैं, उन सबको भगवान्‌के समर्पण करना एक क्षणका काम है। एक क्षणमें भगवान्‌को समर्पण कर दें तो पुण्य और पाप दोनोंके बन्धनोंसे सदाके लिये हम मुक्त हो जायँगे। ये भगवान्‌के वचन हैं, कोई मेरे नहीं। आप बतलाइये कल्याण होनेमें कितना समय लगा। यदि मनुष्य इस रहस्यको समझ जाय, तत्त्वको समझ जाय और इस प्रकार पुण्य-फलका त्याग कर दे तो उस त्यागका यह फल प्राप्त हो जाय।

भगवान्‌का ध्यान करनेसे श्रेष्ठ है कर्मफलका त्याग; क्योंकि त्यागसे शान्ति मिल जाती है—परम शान्ति मिल जाती है—'**ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। इसलिये हम लोगोंको अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवदर्थ अर्पण कर देना चाहिये। सबका फल त्याग देना चाहिये। फल-त्यागसे बस कल्याण है। जो इस तत्त्वको जान लेता है, वह तुरंत ही पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कर्मफलोंका हृदयसे त्याग करना चाहिये। मान लो एक भाईके सिरपर लाख रुपयेका ऋण है और कई लोगोंको देना है। उसके पास केवल पचीस हजार रुपयेकी पूँजी है तो वह अपनी पूँजी लाकर गवर्नमेंटको सौंप देता है या महाजनोंके पास सौंप देता है और कहता है कि मेरे पास अपनी जितनी पूँजी है सब आपको दे देता हूँ, इससे आप मेरा ऋण सलटा दें। यह कानून है कि यदि कोई दिवालिया हो जाता है और सब कुछ लाकर सच्चे दिलसे सरकारमें जमा करा देता है तो सरकार पचीस हजार रुपयेमें भी एक लाख रुपयोंका कर्ज चुकता करवा देती है। निर्णय कर देती है कि यह दिवालिया हो गया, इसलिये माँगनेवालेको रुपयामें चौथाई मिलेगा।

किंतु भगवान्‌के दरबारमें इसका दूसरा कानून है। उनका कानून यह है कि अपने पासमें जो कुछ भी पूँजी है वह लाकर भगवान्‌के दरबारमें दे दे। भगवान् अपने प्यारे भक्तको दिवालिया नहीं करते। अपनी पूँजीमेंसे धन मिला करके माँगनेवालोंकी माँग पूरी करके बिदा करेंगे और उसे मुक्त कर देंगे।

भगवान् बार-बार यही कह रहे हैं कि 'तुम्हारे पास जो कुछ है, सब मेरे अर्पण करो, फिर तुम्हारे पाप और पुण्य—इन दोनोंके फल-बन्धन—सबकी जिम्मेवारी मेरी रही।' पुण्य-कर्म सोनेकी बेड़ी है और पाप-कर्म लोहेकी बेड़ी है। मतलब यह है कि पुण्य-कर्म करनेवाला स्वर्गमें जाता है और पाप-कर्म करनेवाला नरकमें जाता है। जो मनुष्य अपने स्वर्गका त्याग इस भावसे कर देता है कि 'अपना पुण्य-कर्म हम भगवान्को समर्पण करते हैं' तो भगवान् कहते हैं कि 'जब इसने अपना पुण्य-कर्म मुझे समर्पण कर दिया तो पुण्य-कर्मोंका जो फल है इतना ही यदि इसको हम लाभ दें तो फिर हमारे अर्पण करनेसे इसे क्या लाभ मिला, ऐसा तो कहीं भी मिल जाता है।' समर्पण करनेवालेसे भगवान् पूछते हैं कि तुम्हारे ऊपर ऋण कितना है? वह कहता है सरकार, मेरे ऊपर लाख रुपयेका ऋण है और मेरे पास पूँजी है पचीस हजार रुपये। तो भगवान् कहते हैं जाओ मौज करो। तात्पर्य यह कि भगवान् सबसे मुक्त कर देते हैं, इसलिये कि भगवान्के भण्डारमें तो कोई कमी है नहीं। जब वह शरणागत होकर कहता है कि भगवान् रुपया चुकाओ तो भगवान् रुपया चुकाते हैं और एकदम उसे ऋणसे मुक्त कर देते हैं। ऐसा भगवान्का भाव है। भगवान् ऐसे दयालु हैं कि शरण जानेमात्रसे बेड़ा पार हो जाय। संसार-सागरसे शीघ्र-से-शीघ्र पार होनेका यह एक सुगम रास्ता है।

आदमी यदि आज ही अपना कल्याण चाहे तो अपना जो कुछ भी है भगवान्के समर्पण कर दे और समर्पण करके फिर निश्चिन्त हो जाय। फिर जी कर दुनियाका उद्धार करे। केवल अपना ही उद्धार नहीं करना है। सब दुःखी हो रहे हैं, **'त्राहि माम्, त्राहि माम्'** कर रहे हैं, सबका उद्धार करे। प्रश्न उठता है कि सबका उद्धार कैसे होगा? उत्तर है—जैसे हमारा उद्धार होगा वैसे ही सबका उद्धार होगा। भगवदर्थ कर्मसे हमारा उद्धार होता है, सबका उद्धार होता है। हम ऐसी चेष्टा करें कि सारी दुनियाके लोग भगवदर्थ कर्म करें। जिससे सबका कल्याण हो जाय। जब हम उस प्रकारके बनेंगे तो हमारी वाणीका असर पड़ेगा। लोग उसी प्रकार करने भी लगेंगे और सबका कल्याण हो जायगा। जो आदमी ऐसा त्यागी होता है उसका असर पड़ता है। हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि सब भगवान्के भक्त बन जायँ। सब मुक्त हो जायँ। सब परमात्माको प्राप्त हो जायँ। इसमें अपना लगा क्या? यह भाव बड़ा ऊँचा है। इसमें खर्च कुछ भी नहीं लगता। परिणाम यह होता है कि उसका कल्याण हो ही जाता है और उसके प्रतापसे दूसरोंका भी कल्याण हो जाता है। इसी प्रकार हमारी चेष्टा भगवदर्थ होनी चाहिये। 'सबमें भगवान् विराजमान हैं और सबकी सेवा ही भगवान्की सेवा है।' इस भावसे हमारे द्वारा सेवा होने लगेगी तो हमारे आनन्दका पार नहीं रहेगा। यदि साक्षात् भगवान् यहाँ आ जायँ और सेवा करनेका मौका मिल जाय तो कितना आनन्द होगा यह अनुमान नहीं किया जा सकता, उसकी कोई सीमा नहीं। यदि दिन-भर हम भगवान्की सेवा करते रहें तो फिर आनन्दका ठिकाना ही क्या, ऐसा मौका बड़े भाग्यसे मिलता है। ऐसा मौका चौदह वर्षके लिये लक्ष्मणजीको बड़े भाग्यसे मिला।

लक्ष्मणजी अपनी माताके पास जाते हैं और उनसे कहते हैं कि 'माँ, भगवान् राम वनमें जा रहे हैं और माता सीता उनके साथ जा रही हैं। मेरी भी इच्छा है कि उनकी सेवाके लिये मैं भी उनके साथ जाऊँ।' इसपर माँ क्या कहती है, कहती है कि 'जब सीता-राम वनमें जा रहे हैं तो तेरा यहाँ क्या काम? बेटा! मेरा यही उपदेश और आदेश है कि रामको पिता और सीताको माताके समान समझकर उनकी सेवा करना।' अहा! माता कैसा उपदेश दे रही हैं। इतना ही नहीं, कहती हैं—

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥

(रा० च० मा० २। ७५। ३)

हे तात! तुम्हारे ही भाग्यसे राम वन जा रहे हैं। तुम्हारा भाग्य खुल गया, तुम्हारा अहोभाग्य है कि वनमें रामकी सेवाका मौका तुम्हें मिलेगा और कोई दूसरा हेतु नहीं है। कोई कहता है कि रामके वन जानेमें मंथरा हेतु है। कैकेयी भी निमित्त हो गयी। तो वे सब तो निमित्त मात्र हैं। असली बात यह है कि 'तुम्हारा भाग्य खुल गया।' यहाँ तो सेवा करनेवाले बहुत थे। तुम्हें इतना मौका कहाँ मिलता है और वहाँ भगवान् रामकी सेवाका, सीताकी सेवाका तुमको बड़ा मौका मिल गया। ऐसा मौका कहाँ मिलता है जो तुम्हारे मनमें भगवान्की सेवाका, सीताकी सेवाका भाव आया, मैं भी अपना अहोभाग्य समझती हूँ, आज मैं अपनेको पुत्रवती समझती हूँ—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
(रा० च० मा० २। ७५। १)

वह नारी पुत्रवती है जिसका पुत्र भगवान्‌का भक्त है, रघुनाथजीका भक्त है। आज मेरा अहोभाग्य है जो तू मुझसे पैदा हुआ। इसलिये आज मैं पुत्रवती हूँ, यदि किसी स्त्रीका पुत्र भगवान्‌का भक्त नहीं हो तो ऐसे पुत्रसे महान् हानि है। उसने गाय-भैंसकी तरह बच्चा पैदा किया है। उससे तो बाँझ अच्छी है। माता सुमित्रा किस प्रकारसे पुत्रको आशीर्वाद देकर बिदा करती हैं, कहती हैं कि 'बेटा! मेरा यह उपदेश है, आदेश है कि वनमें जाकर भगवान् राम और सीताकी सेवा कर।'

हम लोगोंकी यदि सबमें भगवद्‌बुद्धि हो जाय तो हम लोगोंके द्वारा सबकी सेवा भगवान्‌की सेवा ही होगी। इस प्रकार सेवा करनेसे यदि शान्ति-प्रसन्नता-आनन्द मिले तो ठीक है। यदि शान्ति-प्रसन्नता-आनन्द नहीं मिले तो समझो कि उनमें हमारी भगवद्‌बुद्धि नहीं है। अभी तो हम लोगोंका यह भाव है कि यह मनुष्य है, यह जानवर है, यह पक्षी है, पर यदि हम सबकी सबमें भगवद्‌बुद्धि हो जाय तो हम सबका भाव बदल जाय कि सब भगवान् हैं। भगवान् हमारे घरमें अतिथिके रूपमें आये हैं, उनको हम भोजन करा रहे हैं। मान लो रास्तेमें चल रहे हैं और रास्तेमें कोई गाय मिल गयी तो ऐसा समझें कि 'प्रभु यहाँ गऊका रूप धारण करके खड़े हैं।' कोई वृक्ष मिल जाय तो ऐसा समझें कि 'प्रभु यहाँ वृक्षका रूप धारण कर लिये हैं।' इस प्रकार जब सबमें हमारी भगवद्‌बुद्धि होगी तो सबके दर्शनोंसे हमारे हृदयमें हर समय एक अलौकिक आनन्द बना रहेगा। हमारा भाव बदल जायगा, जीवन बदल जायगा।

भाव बदल जानेके साथ ही सारी क्रिया बदल जाती है, यह हमने आँखोंसे देखा है। पूर्वकी बात है कि 'एक मुकुन्दजी पाण्डेय थे। आजसे कुछ वर्ष पूर्व मैं यहाँ स्वर्गाश्रममें कानपुरकी कोठीमें रहा करता था, जो रानीकी कोठीके बगलमें है। बहुत वर्षतक मैं वहाँ ठहरा करता था। वे मेरे पास मिलनेके लिये आये थे। वे बहुत प्रेमी और भावुक आदमी थे। कभी मुझसे मिले नहीं थे। पत्रोंके द्वारा जान-पहचान हुई थी। एक दिन मैं कोठीसे निकलकर प्रातः ८ बजेके करीब व्याख्यान देनेके लिये वटवृक्षकी तरफ जा रहा था। सामनेसे पाण्डेयजी आ रहे थे। उनके साथ एक नौकर था, जिसके पास एक पुलिंदा बिछौनाका था तथा उनके हाथमें भी एक-दो चीज थी। मैंने अनुमान किया कि यह आदमी कोठीकी तरफ जा रहा है, सम्भव है कोई सत्संगी भाई हो और मेरे पास ही जा रहा हो। मैंने पूछा कि आप कहाँसे आ रहे हैं, कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने प्रेमसे उत्तर न देकर उपेक्षासे ही कहा कि 'मैं जयदयालजीके पास जा रहा हूँ।' उन्हें मालूम नहीं था कि मेरा ही नाम जयदयाल है, वह आगे बढ़ने लगे। मेरे साथ और लोग थे। उन लोगोंने संकेतसे कहा कि आपहीका नाम है। मैं खुद उनसे पूछ रहा हूँ तब भी मेरी उपेक्षा कर रहे हैं, मेरी ओर नहीं देखते और कोठीकी ओर आगे बढ़ते जा रहे हैं। जब लोगोंने यह संकेत किया कि जिनके पास आप जा रहे हैं वे यही हैं, तो उनके हाथमें जो चीज थी, उसे तो फेंक दी और ऐसे लंबे पसर गये कि क्या कहें, वे बोले—'मैंने आपको पहचाना नहीं कि आप ही हैं! मैं आपहीके पास जा रहा था।' जबतक वे मुझे नहीं पहचाने, तबतक तो जैसे और मनुष्य हैं वैसे ही मुझे भी समझ कर उपेक्षा करके जा रहे थे और जब जान गये कि जिनके पास मैं जा रहा हूँ वह यही हैं तो उनका भाव बदल गया।' इसी प्रकार हम लोग सबको पशु, पक्षी, मनुष्य ऐसा समझते हैं, हमारी यह दशा है। हमारा भाव बदला हुआ है। हम जब यह समझेंगे कि जिस परमात्माको हमें प्राप्त करना है वह भगवान् सबमें विराजमान हो रहे हैं, तब क्षणमें हमारा भाव बदल जायगा। यह घटना इसलिये बतलायी कि एक क्षणमें उनका भाव बदल गया। उनके आँखोंमें आँसू आने लगे।

सोचना चाहिये कि भाव ही प्रधान है। हम लोगोंका जो अभी यह भाव है कि यह मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, जानवर है, वृक्ष है, गाय है, इसमें यदि हमारा यह भाव हो जाय कि ओहो, प्रभु इन सबके रूपमें प्रकट हुए हैं तो एक ही क्षणमें हमारा भाव बदल जायगा। फिर शान्ति-आनन्दका ठिकाना नहीं रहेगा। यह हमने तथा अन्य लोगोंने भी प्रत्यक्ष देखा है।

भाव बदलनेकी बातको सोचें कि जिन प्रभुकी हम खोज कर रहे हैं, वे हम सबमें प्रत्यक्ष विराजमान हो रहे हैं। हम संसारको जो नाना प्रकारके रंग-रँगीले रूपमें देख रहे हैं, यह हमारी दृष्टिका दोष है। यदि हम हरे रंगका चश्मा लगा दें तो सारा संसार हमें हरा-हरा दीखने लगे। वास्तवमें

तो यह झूठा चश्मा है, क्योंकि इससे सारा संसार हरा दीखता है, किंतु संसार हरा होता नहीं। वास्तवमें वह हरा है नहीं, रंग-बिरंगा है, नाना प्रकारके रंगका है। हरा चश्मा चढ़ानेसे वह हरा दीखने लग जाता है। इसी प्रकार हमारे हृदयके ऊपर संसारका झूठा चश्मा चढ़ा हुआ है, उस चश्मेको उतारना है। उसे उतारनेके साथ ही भगवान्‌का स्वरूप प्रत्यक्ष दीखने लगता है। जैसा है वैसा दीखने लगता है। अथवा अपने हृदयमें हरिके रंगका चश्मा चढ़ा लें—भावका चश्मा चढ़ा लें तो सब संसार हरिके रूपमें दीखने लगेगा। यह जो भगवान्‌के रंगका चश्मा चढ़ाना है वह सच्चा चश्मा है। वास्तवमें सबमें भगवान् हैं। गीता झूठ थोड़े ही कहती है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(७। १९)

बहुत जन्मोंके अन्तमें, चौरासी लाख योनियोंको भोगते-भोगते जो मनुष्यका शरीर मिला है, यह बहुत जन्मोंके अन्तका जन्म है। दूसरा भाव यह है कि साधन करते-करते हमारे बहुत जन्म बीत गये, किंतु किसीमें हमारा भगवद्भाव नहीं हुआ। भगवान् कहते हैं—साधन करते-करते 'जो कुछ है सब वासुदेव है'—इस प्रकार जो मुझको भजता है, मेरे स्वरूपका अनुभव करता है, वह महात्माओंमें भी दुर्लभ महात्मा है। बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें यह मनुष्यका जन्म मिला है। इसलिये इस जन्मके अन्तके बाद जन्म होना नहीं चाहिये। यह सभी भावी जन्मोंका अन्त करनेवाला है; क्योंकि मनुष्य-जन्ममें ही कल्याण होता है।

इस मनुष्य-शरीरमें हम लोग मौजूद हैं। हम लोगोंके लिये यह मनुष्य-शरीर अन्तका जन्म है और यह जन्म भविष्यमें होनेवाले सभी जन्मोंका अन्त करनेवाला है। अन्त कब होता है जब 'सब कुछ वासुदेव ही है' ऐसा भाव हो जाता है। ऐसा करनेमें अपना क्या लगता है न कौड़ी लगती है न छदाम, न कोई पैसा, इस भावकी कितनी प्रशंसा करें। ऐसा समझनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है—**'स महात्मा सुदुर्लभः'**। न कोई समय, न कोई परिश्रम। एक भाव ही तो है फिर अपनेको ऐंठ क्यों रखनी है कि हम नहीं मानेंगे। सच्ची बातको माननेमें आपत्ति क्या है? जब भगवान्‌के वचन हैं तो भगवान्‌के वचन मिथ्या हो नहीं सकते। भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'जो कुछ है सब मैं ही हूँ' तो यह बात सच्ची है। जब यह बात सच्ची है तो स्वीकार कर लेना चाहिये—मान लेना चाहिये कि प्रभु ठीक कह रहे हैं। 'सब कुछ वासुदेव ही है'—इस प्रकार भजनेवाला—माननेवाला महात्मा है और नहीं भजनेवाला संसारी जीव है। तो हम संसारी जीवकी कोटिमें क्यों रहें। क्यों नहीं हम महात्माकी कोटिमें आवें। भगवान् कहते हैं 'जो कुछ है सब मेरा स्वरूप है', इस बातको स्वीकार करनेके साथ ही उस माननेवालेका जीवन बदल जाता है। आप स्वीकार करके देख लें। अपनी बुद्धिमें इसका निश्चय करके देख लें। आपको इसमें कुछ करना तो पड़ता ही नहीं केवल भाव ही बदलना पड़ता है। बदलनेमें अपने जितने बुरे भाव हैं सब स्वाहा हो जाते हैं और क्षणमात्रमें परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। हमें कुछ करना-धरना नहीं पड़ता।

गीतामें एक-एक ऐसी बात है जिसे माननेसे ही मुक्ति हो जाती है। कुछ करना नहीं—जप करो, ध्यान करो या पूजा करो, नमस्कार करो, भक्ति करो—ये सब कुछ भी नहीं। यदि भगवान्‌के वचनोंको हम स्वीकार कर लें, उनको हम सच्चा मान लें तो बस बेड़ा पार है। भगवान् कहते हैं कि 'मैं सबका सुहृद् हूँ, बिना ही कारण दया और प्रेम करनेवाला हूँ'—इस प्रकार जानकर मनुष्यको परम शान्ति मिल जाती है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(गीता ५। २९)

इस प्रकारके भगवान्‌के वचन जाननेमें अपना क्या लगता है कि भगवान् सबके सुहृद् हैं। यदि भगवान् ही सुहृद् नहीं हैं तो बिना कारण ही प्रेम करनेवाला, बिना कारण दया करनेवाला सच्चा कौन सुहृद् है। यदि ऐसा नहीं मानें तो हम मूढ़ हैं, गुणोंमें दोष देखनेवाले गुण-चोर हैं, कृतघ्न हैं, क्योंकि बिना ही कारण दया करके भगवान्‌ने हमें मनुष्य-शरीर दिया। भगवान् बिना ही कारण प्रेम करनेवाले हैं, सुहृद् हैं। चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते हम तंग आ गये थे, दया करके भगवान्‌ने मुझे मनुष्य-शरीर दे दिया, यह भगवान्‌की कितनी भारी दया है। इसपर भी यदि हम उन्हें सुहृद् नहीं मानें तो हम कृतघ्न हैं। तुलसीदासजी कहते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी।
× × ×
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥

आकर माने होता है खान। जीवोंकी चार प्रकारकी खान है—स्वेदज, अंडज, उद्भिज्ज और जरायुज। पसीनेसे पैदा होनेवाले स्वेदज हैं और अंडोंसे पैदा होनेवाले अंडज जैसे पक्षी, चींटी आदि। जमीनसे होनेवाले उद्भिज्ज होते हैं—जैसे वृक्ष, दीमक आदि। जेरसे पैदा होनेवाले जरायुज हैं—जैसे मनुष्य, पशु आदि। यह जीव काल, कर्म, स्वभाव और गुणसे घिरा हुआ, मायाका प्रेरा हुआ चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते-करते ईश्वरकी कृपासे मनुष्य-शरीरमें आता है। भगवान्ने गीता (१८। ६१)-में भी यह बात दिखायी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

यानी परमात्मा सबके हृदयमें स्थित हैं। इस शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ़ अपनी मायाद्वारा सारे जीवोंको उनके कर्मोंके अनुसार चौरासी लाख योनियोंमें भरमाते हैं ऐसी दशा जीवोंकी है। इससे मुक्ति पानेके लिये भगवान्ने गीता (१८। ६२)-में कहा है कि तू सब प्रकारसे उस परमात्माकी शरणमें जा, उनकी कृपासे तू शाश्वत स्थानको प्राप्त हो जायगा—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

परंतु गीता (५। २९)-में कहते हैं कि ज्ञानमात्रसे—केवल मुझे सबका सुहृद् माननेसे शान्ति प्राप्त कर लेता है—**'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'। 'सुहृदं सर्वभूतानां०'** इस भगवद्वचनके मान लेनेमें कुछ करना नहीं, भजन नहीं करना, ध्यान नहीं करना, कोई निष्काम कर्म नहीं करना। भगवान् बिना ही कारण दया करनेवाले—प्रेम करनेवाले हैं। यह प्रत्यक्ष है। हम लोगोंको अपने ऊपर इसे घटाना चाहिये।

चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करते हुए—भटकते हुए जीवके ऊपर भगवान् दया करके मनुष्य-शरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(रा० च० मा० ७। ४४। ६)

भगवान् बड़े ही स्नेही हैं—बिना ही कारण उन्हें दया आ जाती है। भगवान् प्रेमी हैं—बिना ही कारण प्रेम करनेवाले हैं। हेतुरहित प्रेमी हैं, दयालु हैं, हेतुरहित दया करनेवाले हैं। जो हेतुरहित प्रेमी हो, दया करनेवाला हो उसे सुहृद् कहते हैं। भगवान् सुहृद् हैं जो जीवको दुःखी देखकर उसे मनुष्य-शरीर दे देते हैं। हम लोग उसी श्रेणीमें चौरासी लाख योनिमें भ्रमण करते-करते तंग आ गये थे जो भगवान्ने बिना ही कारण दया और प्रेम करके यह मनुष्य-शरीर हम लोगोंको दिया। भगवान् यदि हम लोगोंको मनुष्य नहीं बनाकर पशु बना देते, पक्षी बना देते, जैसे चिड़िया चूँ-चूँ करती है वैसे हम भी चूँ-चूँ करते। पशु-पक्षी कुछ उपाय कर सकते हैं क्या? कि हम मनुष्य बन जायँ और हम भी इनमें शामिल हो जायँ। वास्तवमें परमात्माको, हम लोगोंको हेतुरहित दयालु मानना ही चाहिये। पशु-पक्षी यदि न मानें तो न मानें, हम तो मनुष्य हैं, हम लोगोंपर भगवान्की विशेष दया हुई है जो मनुष्य-शरीर दिया। मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति तो देवताओंको भी दुर्लभ है—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
(रा० च० मा० ७। ४३। ७)

बड़े भाग्यसे मनुष्य-शरीर मिला है। यह देवताओंको भी दुर्लभ है। यह बात शास्त्रोंमें कही गयी है। सबसे दुर्लभ मनुष्य-शरीर है, जिसे हम लोगोंको परमात्माने दिया। यदि हम उनकी भक्ति न करें, भजन नहीं करें, ध्यान नहीं करें, उनकी सेवा नहीं करें तो कम-से-कम हमको एकदम नालायक तो नहीं बनना चाहिये। क्योंकि बिना कारण हमारा उपकार करनेवाले भगवान्को कम-से-कम सुहृद् तो मानना ही चाहिये कि भगवान् बड़े सुहृद् हैं, भगवान्ने कितनी बड़ी दया की, इतना ही नहीं, मौका दिया—भगवान्ने हमें उत्तम देश, उत्तम काल, उत्तम जाति, उत्तम धर्म, उत्तम संग भी प्राप्त करा दिया।

यह स्वर्गाश्रम उत्तराखण्डकी भूमिके बीच है, इसे 'मायापुरी' कहते हैं। यह मायापुरी कनखलसे लेकर लक्ष्मणझूलातक है। इसमें मरनेसे तथा सत्संग करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति बतलायी गयी है। यह गङ्गाका किनारा उत्तराखण्ड है। मायापुरी भी है और गङ्गाका किनारा भी है, इससे उत्तम देश और क्या होता है? उत्तम देश भी है और उत्तम काल भी है। क्योंकि कलियुग सबसे उत्तम काल बतलाया गया है। विष्णुपुराणमें कहा गया है कि—

यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥

(६।२।१५)

सत्ययुगमें दस वर्ष, त्रेतामें एक वर्ष और द्वापरमें एक मास साधना करनेसे जिस कार्यकी सिद्धि होती है, कलियुगमें उस कार्यकी सिद्धि एक दिनमें हो जाती है। कितनी सुगमता है।

कलियुग अवगुणोंकी खान है, किंतु उसमें एक ही गुण है कि भगवान्‌की भक्ति करनेसे शीघ्र उद्धार हो जाता है। कलियुगका मौका मिल गया। अब भक्ति करना हमारा काम है। तुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

(रा० च० मा० ७। १०३ (क))

यदि कोई विश्वास करे तो कलियुगके समान कोई युग नहीं, क्योंकि भगवान्‌के जो विमल गुण हैं, विशुद्ध गुण हैं उनके गाने मात्रसे ही बिना ही किसी परिश्रम, बिना ही प्रयत्नके मनुष्य संसार-सागरसे पार हो जाता है। समय भी अपनेको बहुत अच्छा मिल गया। देश तथा काल मिल गया। हम लोग मनुष्य हुए और भारतवर्षमें हुए जो सारी पृथ्वीपर उत्तम माना गया है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

(मनु० २।२०)

मनुजी कहते हैं कि सारी पृथ्वीके लोग अध्यात्मविषयक शिक्षा भारतवर्षसे लिया करते थे। उस भारतवर्षमें अपना जन्म हुआ। उत्तम धर्म इसलिये है कि इसके बीचमें कोल-किरात भी हैं। फिर इसमें कई धर्मावलम्बी हैं, वैदिक सनातन धर्म है। सनातन धर्म वह है जो सदासे चला आता है। जो सदा कायम रहता है उसे सनातन कहते हैं। यह अपना वैदिक धर्म सदासे है। सदा कायम रहेगा। ऐसे धर्ममें अपना जन्म हुआ है। आजकल संसारमें जितने धर्म हैं सभी आधुनिक हैं सनातन नहीं हैं। आप देखें इस्लाम धर्मका प्रधान ग्रन्थ—आदि ग्रन्थ 'कुरान शरीफ' माना जाता है और उनके पैगम्बर 'हजरत मुहम्मद' हैं। अब विचार करके देखें कि उनको कितने वर्ष हुए, चौदह सौ वर्ष। चौदह सौ वर्ष पहले संसारमें न तो 'कुरान शरीफ' था और न 'हजरत मुहम्मद' थे। ईसाका धर्म जिसे हम ईसाई कहते हैं, उस ईसाको आज १९५५ वर्ष हुए हैं। १९५५ वर्षके पहले न तो संसारमें ईसा थे और न ईसाई धर्म था। इसलिये पहले कुछ नहीं था। वे आज करोड़ोंकी संख्यामें हैं, आज मुसलमान भी करोड़ोंकी संख्यामें हैं, किंतु १९५५ वर्षके पहले, २,००० वर्ष पहले तो नाम-निशान भी नहीं था। गौतम बुद्ध हुए। उनका बौद्ध धर्म है। उनको कितने वर्ष हुए। ३,००० वर्षके पहले वे भी नहीं थे। वे भी आज करोड़ोंकी संख्यामें हैं।

यह हमारा सनातन धर्म सदासे है। जबसे संसार है तबसे है, ऐसे धर्ममें हम लोगोंका जन्म हुआ, यह भी ईश्वरकी कृपा है। यह सब होकर उस भगवान्‌की प्राप्तिके लिये हम सब लोग तीर्थ-स्थानोंमें यहाँ इकट्ठा हुए। यह भी भगवान्‌की कृपा है।

यह सब मिलकर भी यदि भगवान्‌की प्राप्ति हम लोगोंको न हो तो बड़ी लज्जा—शर्मकी बात है। तुलसीदासजी कहते हैं—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

(रा० च० मा० ७। ४४)

जो मनुष्य इस प्रकारके समाजको पाकर, संयोगको पाकर, सामग्रियोंको पाकर भवसागरको पार नहीं करता है, वह निन्दाका पात्र है, उसकी जितनी निन्दा की जाय उतनी थोड़ी है। वह मूर्ख है। उसकी वह दुर्गति होनी चाहिये जो दुर्गति आत्महत्यारेकी होती है।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर जिस कामके लिये हमको यह मनुष्य-शरीर मिला है, उस कामको शीघ्र ही बना लेना चाहिये। एक क्षणका भी भरोसा नहीं है कि काल कब आकर अचानक हमें मार डाले। हमारे हाथमें कोई ऐसी गारंटी—ताम्रपत्रपर नहीं लिखा है, अपनेमें कोई ऐसा बल नहीं है कि यमके दूत आयें और हम कहें कि कल चलेंगे, अभी मुझे फुरसत नहीं है। हमको तो वे जबरदस्ती पकड़कर ले जायँगे।

गवर्नमेंटका वारंट आ जाय तो घूस आदि देकर छूट सकता है, किंतु यमका वारंट आ जायगा तो उससे फिर पिण्ड नहीं छूटेगा। वह कब आये इसका कोई पता नहीं, अचानक आयेगा। अपनेको तो उसके आनेके बाद खबर मिलेगी। इसलिये अपना काम पहले ही बनाकर तैयार रहना

चाहिये, क्योंकि जबतक मृत्यु दूर है, वृद्धावस्था दूर है, शरीर आरोग्य है तबतक जिस कामके लिये आये हो उसके पहले ही अपना काम बना लो।

हम लोग चौरासी लाख योनियोंमें घूमे। कोई योनि बाकी नहीं छोड़ी। कोई लोक नहीं छोड़ा। सारे लोकोंमें घूमे, किंतु परमात्माकी प्राप्ति नहीं हुई। अगर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती तो फिर भटकना नहीं पड़ता। आजतक जिस चीजकी प्राप्ति नहीं हुई, उसीकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अत: उसे प्राप्त करना चाहिये। समझ लो, स्त्री-पुत्र-धन हमारे किस काम आयेंगे, शरीर किस काम आयेगा। अपना कुटुम्ब किस काम आयेगा। ऐश्वर्य और मकान किस काम आयेगा। भगवान्ने यह सब हम लोगोंको सबकी मदद करनेके लिये दिया है।

भगवान् कहते हैं कि इस मददसे तू मेरी प्राप्तिका प्रयत्न कर। ये सब हमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिले हैं। अब यदि हम इनका दुरुपयोग करें तो फिर दुर्गति ही होगी और क्या होगा। भगवान्ने तो बड़ी भारी दया की कि मनुष्य-शरीर दिया और मौका दिया। ऐसे दयालुको कम-से-कम हम दयालु तो समझें। दयालु समझनेसे हमारा बेड़ा पार हो जाता है, किंतु हम दयालु भी नहीं समझे। ऐसे कृतघ्न हो गये इसलिये दुर्गति हो गयी। अत: भगवान्की दयापर विशेष ध्यान देना चाहिये। भगवान्की कितनी भारी दया है, अपार दया है। दयासे ही भगवान्की प्राप्ति होती है। हमको तो इसमें साधनके लिये निमित्त मात्र बनना है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—यह सारी सेना मेरे द्वारा पहलेसे ही मारी हुई है, तू केवल निमित्त मात्र बन जा। बस युद्धके लिये खड़ा हो जा। यही कहा जायगा कि अर्जुनने मारा है। निमित्त मात्र बननेमें तुम्हारा क्या लगता है। मान लो, तू निमित्त मात्र नहीं बनेगा तो भैया, मुझे तो यह काम करना ही है। ये सब मरेंगे ही। किसी दूसरेको खड़ा करूँगा। भगवान् इस प्रकार अर्जुनको यश देते हैं। इसी प्रकार भगवान्की दया सारा काम करनेवाली है, वह भगवान्की दया हम लोगोंको निमित्त मात्र बनाती है। भगवान्की प्राप्ति होगी साधनसे ही, किंतु उस साधनमें हमको निमित्त बनना है। वह साधन अपने-आप ही भगवान्की दयासे होने लगेगा। यह हमको मानना चाहिये। भगवान् कहते हैं कि ये देखनेमें जीवित हैं, पर ये मरे हुए हैं। इन मरे हुओंको तू मार। इसी प्रकार हमें भगवान्की परम दया समझनी चाहिये और सारा काम उनकी दयासे होनेवाला है। हम लोग निमित्त बन जायँगे तो उस दयासे लाभ उठा लेंगे। जो अपनेपर भगवान्की दया समझेगा वह लाभ उठा लेगा। भगवान्को तो लोगोंका कल्याण करना है। जो निमित्त बन जायगा वह लाभ उठा लेगा और जो निमित्त नहीं बनेगा वह वंचित रह जायगा।

[पुराने प्रवचनसे]

श्रीकृष्णकी मनोहर छवि

कान्हा, अब मत छुप कुंजनमें।
ढूँढ़ तुम्हें लूँगा ओ नटवर भ्रमरोंके गुंजनमें॥
विद्युत-द्युति-सी दमक गये हो बरसानेके वनमें।
वह साँवली झलक नँदनंदनकी बस गयी नैननमें॥
कुंडल कान, कपोल सुघर जो अनुपम आभा दसननमें।
मनमोहन मन-मधुकर उर भयो घुँघराली अलकनमें॥
कटि पीताम्बरकी कछनी काछे बिहरत नित मधुवनमें।
जंतर-मंतर-सी मधु मुरली सजत साज अधरनमें॥
कोमल कमल-वदनकी वह छवि दरसत है कन-कनमें।
'रामानन्द' परम सुख पायो पल भरके दरसनमें॥

—स्वर्गीय रामानन्द द्विवेदी 'आनंद'

ईश्वर-समर्पण-बुद्धि

पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश

संसारमें दो प्रकारकी व्यवस्था हम देखते हैं—एक मनुष्योंद्वारा निर्मित, जिसे हम 'शासन-व्यवस्था' कहते हैं, जिसके अनुसार शासन हमारी सुख-सुविधाकी योजना करता है और बदलेमें हम शासनको कई प्रकारके कर देते हैं।

ठीक इसके विपरीत भगवान्‌की अपनी व्यवस्था है, जो बड़ी ही सरल, सुलभ और सस्ती है। भगवान्‌की इस व्यवस्थाका नाम 'भगवत्कृपा' है। अपने द्वारा दी हुई वस्तुओंका कोई भी मूल्य भगवान् हमसे नहीं लेते। भगवान् तो करुणानिधान हैं। उनकी अहैतुकी कृपा सदा हमपर बरसती रहती है। भगवान्‌के द्वारा हमें क्या-क्या प्राप्त है, हम इसे भूल जाते हैं और भगवान्‌का भी विस्मरण कर देते हैं। इतना ही नहीं, हम भगवान्‌की कृपापर टीका-टिप्पणी भी करने लग जाते हैं। एक लोककथा है—एक मुस्लिम सज्जन 'अल्लाह'की गलतियाँ बताने लगे और उनकी रचनाओंपर टीका-टिप्पणी करने लगे। मुस्लिम सज्जनने कुछ अन्य गलतियोंको बताते हुए एक गलती यह बतायी कि 'अल्लाहने कितनी बड़ी भूल की है, जो इतना विशाल आमका वृक्ष बनाया है, पर उसमें फल छोटे-छोटे लगाये हैं। दूसरी ओर उन्होंने खरबूजा, तरबूज और लौकीकी बेलें बनायी हैं, जिसमें बहुत पतली डालीपर बड़े-बड़े तरबूज, खरबूजे और लौकीके फल फलते हैं। अच्छा होता यदि अल्लाह छोटे-छोटे फल छोटे-छोटे वृक्षोंपर लगाते और तरबूज, खरबूजा और लौकी-जैसे बड़े फल आम-जैसे विशाल वृक्षोंपर लगाते।' उनकी यह दलील लोगोंको सुननेमें अच्छी लग रही थी। किंतु ठीक उसी समय आमके वृक्षसे एक पका आम उन सज्जनके सिरपर गिरा, जिससे उन्हें चोट आयी। तत्काल उनकी समझमें यह बात आ गयी कि यदि तरबूज-जैसा बड़ा फल मेरे सिरपर गिरा होता तो आज मेरा कचूमर निकल जाता। वे झट बोल उठे—'***खूब शुद कि तरबूज न बूद***'—अच्छा हुआ यह तरबूज नहीं था।

ये दो विधान हमारे समक्ष हैं—एक मानुषी विधान, दूसरा ईश्वरीय। इन दोनों विधानोंकी एक-दूसरेके साथ तुलना कीजिये। मनुष्यकृत विधान कितना कटु, अपर्याप्त और परिणाममें दुःखदायी है, जब कि ईश्वरीय विधान कितना दयापूर्ण, पर्याप्त और सुखदायी है। यथार्थमें दोनोंमें कोई तुलना ही नहीं हो सकती।

यह एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है कि एक ओर तो शासन जनताकी सुविधाके लिये जनतासे 'कर'के रूपमें कुछ द्रव्य लेता है, तभी वह जनताके लिये कुछ सुख-सुविधाकी व्यवस्था करता है। दूसरी ओर हमारी सुख-सुविधाके लिये भगवान्‌ने अनेकानेक वस्तुएँ हमें प्रदान कर रखी हैं और कर रहे हैं तथा अपनी दयाकी धारा सतत हमपर बरसा रहे हैं; किंतु इसके बदलेमें भगवान् हम लोगोंसे कुछ भी नहीं लेते। ऐसी दशामें उनके प्रति मनुष्यका—विवेकशील प्राणी होनेके नाते हमारा कोई कर्तव्य है या नहीं?

इस प्रश्नका उत्तर बहुत गहन और गम्भीर है। ईश्वर और जीवके सम्बन्धपर हमारे शास्त्रोंमें जो कुछ लिखा गया है, उसके अध्ययनसे हमारा यही कर्तव्य समझमें आता है कि भगवान्‌से हम जुड़े रहें, उनसे विलग या विमुख न हों। भगवान्‌के साथ हमारा जितना निकटका सम्बन्ध होगा, भगवान्‌की करुणा, दया हमें उतनी ही मात्रामें प्राप्त होती जायगी। भगवान्‌के साथ हमारे सम्बन्धको 'उपासना' कहते हैं। 'उपासना'का अर्थ है—'उप' अर्थात् निकट और 'आसन' अर्थात् स्थित होना। भगवान्‌के निकट होनेका नाम ही उपासना है। उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती; हम जो कुछ करेंगे, उसका फल हमें अवश्य मिलेगा। भगवान्‌ने जो आश्वासन दिया है, वह बड़ा विचारणीय है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

भगवान्‌की घोषणा है—'जो एक बार मेरी शरणमें आकर यह कह देता है कि 'भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ' और मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं सभी प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।' इतना होनेपर भी

हममेंसे कितने व्यक्ति हैं, जो भगवान्की शरणमें जाकर उनसे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। किसीसे यदि पूछा जाय कि 'क्या आप भगवान्का स्मरण करते हैं, क्या निश्छल अन्तः-करणसे आप भगवान्की पुकार करते हैं?' तो उसका उत्तर आपको नकारात्मक ही प्राप्त होगा। हम लोग शुद्ध अन्तः-करणसे भगवान्के सम्मुख कभी होते ही नहीं। 'यह काम हम कर चुके और अमुक काम हमें करना है' इत्यादि अनेक बहाने हम उपस्थित करते रहते हैं। इस प्रकार हमारी भगवान्से कभी निकटता होती ही नहीं। भगवान् यह कभी नहीं चाहते कि जो काम हमें करना है, उसे हम न करें और केवल उनको ही स्मरण करते रहें। वे तो यही चाहते हैं कि अपने सारे कार्योंको हम यथावत् करते रहें, उनमें कोई त्रुटि न हो और साथ ही हम उनसे सम्बन्ध बनाये रहें। इसके लिये उन्होंने गीता (९। २७)-में सरल उपाय भी बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'जो कुछ तुम करो, जो कुछ भी खाओ, जो भी हवन करो, जो कुछ दो या जो कुछ अपने धर्मके लिये कष्ट सहन करो, वह सब-का-सब मेरे (भगवान्के) अर्पण कर दो।' भगवान्के बताये इस ढंगसे चलनेपर ईश्वर-समर्पण-बुद्धिसे हमारे सारे-के-सारे कार्य तो होते ही रहेंगे, वे सफल भी होंगे और भगवान्के साथ हमारा सांनिध्य भी बना रहेगा। भगवान्से निकटता प्राप्त करनेका यह कितना सरल साधन है! इसके लिये कोई तप, जप या अनुष्ठान हमें करना नहीं है; सभी कर्तव्य-कर्म करनेकी छूट है। आवश्यकता है केवल इस बातकी कि हम अपना काम ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करें। इस छोटी-सी बातको यदि हम अपने दिन-प्रतिदिनके कार्योंको करते समय याद रखें तो हममें और किसी संत-महात्मामें कोई अन्तर नहीं रह जायगा। मान लें हम पतित हैं; फिर भी भगवान्के इस प्रकारके सांनिध्यसे—भगवदर्पण-बुद्धिसे कार्य करनेकी प्रणालीसे हमको भगवान्को प्राप्त करनेमें बड़ी सरलता हो जायगी। भगवान् किसी व्यक्तिविशेषसे ही सम्बन्ध रखते हों, केवल साधु-महात्माओंके ही हाथोंकी कठपुतली हों—ऐसी बात कदापि नहीं है। सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति भी—यहाँतक कि दुराचारी भी उन्हें प्राप्त कर सकता है। उनकी घोषणा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

यदि कोई दुराचारी व्यक्ति भी ईश्वरार्पण-बुद्धिसे अपना काम करता है या करनेका निश्चय कर लेता है तो भगवान्की दृष्टिमें वह साधु ही मानने योग्य है। भगवान् कोई खास नियम या विधान नहीं बतलाते हैं कि अमुक नियमपर सबको समानरूपसे चलना ही होगा, तभी वे हमको प्राप्त कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। यह कितनी छूट भगवान्ने हम लोगोंको दे रखी है। भगवान् अपनेतक पहुँचनेका सरल-से-सरल मार्ग सबके लिये बतलाते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(गीता ९। ३४)

'तुम्हारा मन निरन्तर मुझमें लगा रहे, तुम निरन्तर श्रद्धासहित मुझको भजते रहो—मन, वाणी और शरीरद्वारा मेरे परायण हो जाओ, मेरी पूजा-अर्चा करो, मेरे शरण होकर मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे शरण होकर—अपनेको मेरे साथ युक्त करके तुम मुझको अवश्य प्राप्त कर लोगे।' भगवान्के प्रति इस प्रकार सरल समर्पण होना चाहिये। यह संसार कर्मक्षेत्र है और कर्म करनेके लिये हम यहाँ भेजे गये हैं; किंतु हम जो कुछ करते हैं, उसे भगवत्प्रीत्यर्थ नहीं करते, अपितु अपने स्वार्थके लिये करते हैं और इस प्रकार हम भगवान्को क्रमशः भूल जाते हैं। हमें चाहिये कि हम अपने कर्म भगवान्को समर्पण करके भगवत्प्रीत्यर्थ ही करें।

[प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट]

विविध कार्योंके लिये विभिन्न भगवन्नामोंका जप-स्मरण

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

कामना-सिद्धिके लिये—

कामः कामप्रदः कान्तः कामपालस्तथा हरिः।
आनन्दो माधवश्चैव कामसंसिद्धये जपेत्॥

अभीष्ट कामनाकी सिद्धिके लिये 'काम', 'कामप्रद', 'कान्त', 'कामपाल', 'हरि', 'आनन्द' और 'माधव'—इन नामोंका जप करे।

शत्रु-विजयके लिये—

रामः परशुरामश्च नृसिंहो विष्णुरेव च।
विक्रमश्चैवमादीनि जप्यान्यरिजिगीषुभिः॥

शत्रुओंपर विजय पानेकी इच्छावाले लोगोंको 'राम', 'परशुराम', 'नृसिंह', 'विष्णु' तथा 'विक्रम' इत्यादि भगवन्नामोंका जप करना चाहिये।

विद्या-प्राप्तिके लिये—

विद्यामभ्यस्यता नित्यं जप्तव्यः पुरुषोत्तमः।

विद्याभ्यास करनेवाले छात्रको प्रतिदिन 'पुरुषोत्तम' नामका जप करना चाहिये।

बन्धन-मुक्तिके लिये—

दामोदरं बन्धगतो नित्यमेव जपेन्नरः।

बन्धनमें पड़ा हुआ मनुष्य नित्य ही 'दामोदर' नामका जप करे।

नेत्र-बाधा-नाशके लिये—

केशवं पुण्डरीकाक्षमनिशं हि तथा जपेत्।
नेत्रबाधासु सर्वासु .... ॥

सम्पूर्ण नेत्र-बाधाओंमें नित्य-निरन्तर 'केशव' एवं 'पुण्डरीकाक्ष' नामोंका जप करे।

भय-नाशके लिये—

हृषीकेशं भयेषु च।

भयके अवसरोंपर उसके निवारणके लिये 'हृषीकेश' का स्मरण करे।

औषध-सेवनके लिये—

अच्युतं चामृतं चैव जपेदौषधकर्मणि।

औषध-सेवनके कार्योंमें 'अच्युत' और 'अमृत' नामोंका जप करे।

युद्धस्थलमें जाते समय—

संग्रामाभिमुखे गच्छन् संस्मरेदपराजितम्।

युद्धकी ओर जाते समय 'अपराजित' का स्मरण करे।

पूर्व आदि दिशाओंमें जाते समय—

चक्रिणं गदिनं चैव शार्ङ्गिणं खड्गिनं तथा।
क्षेमार्थी प्रवसन् नित्यं दिक्षु प्राच्यादिषु स्मरेत्॥

पूर्व आदि दिशाओंमें प्रवास करते (परदेश जाते या रहते) समय कल्याण चाहनेवाला पुरुष प्रतिदिन 'चक्री' (चक्रपाणि), 'गदी' (गदाधर), 'शार्ङ्गी' (शार्ङ्गधर) तथा 'खड्गी' (खड्गधर)—इन नामोंका स्मरण करे।

सारे व्यवहारोंमें—

अजितं चाधिपं चैव सर्वं सर्वेश्वरं तथा।
संस्मरेत् पुरुषो भक्त्या व्यवहारेषु सर्वदा॥

समस्त व्यवहारोंमें सदा मनुष्य भक्तिभावसे 'अजित', 'अधिप', 'सर्व' तथा 'सर्वेश्वर'—इन नामोंका स्मरण करे।

क्षुत-प्रस्खलनादि, ग्रहपीडादि और दैवी विपत्ति-निवारणके लिये—

नारायणं सर्वकालं क्षुतप्रस्खलनादिषु।
ग्रहनक्षत्रपीडासु देवबाधासु सर्वतः॥

छींक लेने, प्रस्खलन (लड़खड़ाने) आदिके समय, ग्रह-पीड़ा, नक्षत्र-पीड़ा तथा दैवी-बाधाओंमें सर्वतोभावसे हर समय 'नारायण' का स्मरण करे।

डाकू तथा शत्रुओंकी पीड़ाके समय—

अन्धकारे तमस्तीव्रे नरसिंहमनुस्मरेत्॥

अत्यन्त घोर अन्धकारमें डाकू तथा शत्रुओंकी ओरसे बाधाकी सम्भावना होनेपर मनुष्य बारंबार 'नरसिंह' नामका स्मरण करे।

अग्निदाहके समय—

अग्निदाहे समुत्पन्ने संस्मरेज्जलशायिनम्।

घर या गाँवमें आग लग जानेपर 'जलशायी' का स्मरण करे।

सर्पविषसे रक्षाके लिये—

गरुडध्वजानुस्मरणाद् विषवीर्यं व्यपोहति।

'गरुडध्वज' नामके बारंबार स्मरणसे मनुष्य सर्पविषके प्रभावको दूर कर देता है।

स्नान, देवार्चन, हवन, प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करते समय—

कीर्तयेद् भगवन्नाम वासुदेवेति तत्परः॥

स्नान, देव-पूजा, होम, प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करते समय मनुष्य भगवत्परायण हो 'वासुदेव'—इस भगवन्नामका कीर्तन करे।

वित्त-धान्यादिके स्थापनके समय—

कुर्वीत तन्मनो भूत्वा अनन्ताच्युतकीर्तनम्।

धन-धान्यादिकी स्थापनाके समय मनुष्य भगवान्‌में मन लगाकर 'अनन्त' और 'अच्युत'—इन नामोंका कीर्तन करे।

संतानके लिये—

जगत्पतिमपत्यार्थं स्तुवन् भक्त्या न सीदति।

संतानकी प्राप्तिके लिये भक्तिपूर्वक 'जगत्पति' (जगदीश या जगन्नाथ)-की स्तुति करनेवाला पुरुष कभी दुःखी नहीं होता।

सर्व प्रकारके अभ्युदयके लिये—

श्रीशं सर्वाभ्युदयिके कर्मण्याशु प्रकीर्तयेत्॥

सम्पूर्ण अभ्युदय-सम्बन्धी कर्मोंमें शीघ्रतापूर्वक 'श्रीश' (श्रीपति)-का उच्चस्वरसे कीर्तन करे।

अरिष्ट-निवारणके लिये—

अरिष्टेषु ह्यशेषेषु विशोकं च सदा जपेत्।

सम्पूर्ण अरिष्टोंके निवारणके लिये सदा 'विशोक' नामका जप करे।

निर्जन स्थानमें तथा आँधी-तूफान आदि उपद्रवोंमें मृत्युके समय—

मरुत्प्रपाताग्निजलबन्धनादिषु मृत्युषु।
स्वतन्त्रपरतन्त्रेषु वासुदेवं जपेद् बुधः॥

स्वेच्छा या परेच्छावश अथवा स्वाधीन या पराधीन-अवस्थामें किसी निर्जन स्थानमें पहुँचनेपर, आँधी-तूफान (ओला-वर्षा), अग्नि (दावानल), जल (अगाध जलराशिमें निमज्जन) तथा बन्धन आदिके कारण मृत्यु या प्राण-संकटकी अवस्था प्राप्त हो तो बुद्धिमान् मनुष्य 'वासुदेव' नामका जप करे। ऐसा करनेसे बाधाएँ दूर हो जाती हैं।

कलियुगके दोष-नाशके लिये—

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा।
यन्न क्षपयते पापं कलौ गोविन्दकीर्तनात्॥

कलियुगमें इस जगत्‌के भीतर ऐसा कोई कर्मज (शारीरिक), वाचिक और मानसिक पाप नहीं है, जिसे मनुष्य 'गोविन्द' नामका कीर्तन करके नष्ट न कर दे।

शमायालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः।
शान्त्यै कलेरघौघस्य नामसंकीर्तनं हरेः॥

जैसे आग बुझा देनेके लिये जल और अन्धकारको नष्ट कर देनेके लिये सूर्योदय समर्थ है, उसी प्रकार कलियुगकी पापराशिका शमन करनेके लिये 'श्रीहरि' का नाम-कीर्तन समर्थ है।

पराकचान्द्रायणतप्तकृच्छ्रै-
र्न देहशुद्धिर्भवतीति तादृक्।
कलौ सकृन्माधवकीर्तनेन
गोविन्दनाम्ना भवतीह यादृक्॥

कलियुगमें एक बार 'माधव' या 'गोविन्द' नामके कीर्तनसे यहाँ जीवकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी इस जगत्‌में पराक, चान्द्रायण तथा तप्तकृच्छ्र आदि बहुत-से प्रायश्चित्तोंद्वारा भी नहीं होती।

सकृदुच्चारयन्त्येतद् दुर्लभं चाकृतात्मनाम्।
कलौ युगे हरेर्नाम ते कृतार्था न संशयः॥

जो कलियुगमें अपुण्यात्माओंके लिये दुर्लभ इस 'हरि'-नामका एक बार उच्चारण कर लेते हैं, वे कृतार्थ हो गये हैं, इसमें संशय नहीं।

विष्णुधर्मोत्तरमें मार्कण्डेय-वज्र-संवादमें कहा गया है—

जल-प्रतरणके समय—

कूर्मं वराहं मत्स्यं वा जलप्रतरणे स्मरेत्।

जलसे पार होते समय भगवान् 'कूर्म' (कच्छप), 'वराह' अथवा 'मत्स्य' का स्मरण करे।

अग्निदाहके समय—

भ्राजिष्णुमग्निजनने जपेन्नाम त्वखण्डितम्।

कहीं आग लग गयी हो उसकी शान्तिके लिये 'भ्राजिष्णु' इस नामका अखण्ड जप आरम्भ कर दे।

आपत्ति-विपत्ति, ज्वर, शिरोरोग तथा विषवीर्यमें—

गरुडध्वजानुस्मरणादापदो मुच्यते नरः।
ज्वरजुष्टशिरोरोगविषवीर्यं च शाम्यति॥

'गरुडध्वज' का नाम बारंबार स्मरण करके मनुष्य आपत्तिसे छूट जाता है, साथ ही वह ज्वररोग, सिरदर्द तथा विषके प्रभावको भी शान्त कर देता है।

युद्धके समय—

बलभद्रं तु युद्धार्थी।

युद्धार्थी मनुष्य 'बलभद्र' का स्मरण करे।

कृषि, व्यापार और अभ्युदयके लिये—

..................कृष्यारम्भे हलायुधम्।..................

उत्तारणं वणिज्यार्थी राममभ्युदये नृप।

नरेश्वर! खेतीके आरम्भमें किसान 'हलायुध' का स्मरण करे। व्यापारकी इच्छावाला वैश्य 'उत्तारण' को याद करे और अभ्युदयके लिये 'राम' का स्मरण करे।

मङ्गलके लिये—

मङ्गल्यं मङ्गले विष्णुं मङ्गल्येषु च कीर्तयेत्।

माङ्गलिक कर्मोंमें मङ्गलकारी एवं मङ्गलमय 'श्रीविष्णु' का कीर्तन करे।

सोकर उठते समय—

उत्तिष्ठन् कीर्तयेद् विष्णुम्।........................

सोकर उठते समय 'विष्णु' का कीर्तन करे।

निद्राकालमें—

..................प्रस्वपन् माधवं नरः।..................

सोते समय मानव 'माधव' का स्मरण करे।

भोजनके समय—

भोजने चैव गोविन्दं सर्वत्र मधुसूदनम्॥

भोजनकालमें 'गोविन्द' का और सर्वत्र सदा 'मधुसूदन' का चिन्तन करे।

विविध सोलह कार्योंमें विविध सोलह नाम—

औषधे चिन्तयेद् विष्णुं भोजने च जनार्दनम्।
शयने पद्मनाभं च विवाहे च प्रजापतिम्॥
युद्धे चक्रधरं देवं प्रवासे च त्रिविक्रमम्।
नारायणं तनुत्यागे श्रीधरं प्रियसङ्गमे॥
दुःस्वप्ने स्मर गोविन्दं संकटे मधुसूदनम्।
कानने नारसिंहं च पावके जलशायिनम्॥
जलमध्ये वराहं च पर्वते रघुनन्दनम्।
गमने वामनं चैव सर्वकार्येषु माधवम्॥
षोडशैतानि नामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते॥

औषध-सेवनके समय 'विष्णु' की, भोजनमें 'जनार्दन' का, शयनमें 'पद्मनाभ' का, विवाहमें 'प्रजापति' का, युद्धमें 'चक्रधर' का, प्रवासमें 'त्रिविक्रम' का, शरीरत्यागके समय 'नारायण' का, प्रिय-मिलनमें 'श्रीधर' का, दुःस्वप्न-दोषनाशके लिये 'गोविन्द' का, संकटमें 'मधुसूदन' का, जंगलमें 'नृसिंह' का, अग्नि लगनेपर 'जलशायी भगवान्' का, जलमें 'वराह' का, पर्वतपर 'रघुनन्दन' का, गमनमें 'वामन' का और सभी कार्योंमें 'माधव' का स्मरण करना चाहिये। जो प्रातःकाल उठकर इन नामोंका पाठ करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर विष्णुलोक (वैकुण्ठ)-में पूजित होता है।

राम-नाम-महिमा

(डॉ० श्रीवल्लभदासजी मेहता)

राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥

संतों, पुराणों और उपनिषदोंने राम-नामके अमित प्रभावका गान किया है। इस शृंखलामें शम्भु, ब्रह्मा, नारद, कुम्भज ऋषि, याज्ञवल्क्य, काकभुशुण्डि एवं वाल्मीकि प्रभृति देव तथा ऋषि-मुनियोंने राम-कथा और राम-नामकी व्याख्या अपनी मतिके अनुसार की है। वेद, पुराण, उपनिषद् तथा अन्य ग्रन्थोंमें कल्प-भेदसे राम-नाम एवं राम-कथाकी व्याख्या हुई है—

नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥

इस अपार कोटि रामायणमें प्रेमकी साक्षात् मूर्ति सर्वेश्वरी श्रीराधाजीने भी 'राम-नाम' की अद्वितीय व्याख्या की।

भगवान् श्रीकृष्णके मथुरा-गमनके पश्चात् यशोदाजी खिन्न तथा अनमनी-सी रहा करती थीं। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ सही ज्ञान होता है। यशोदा राधासे कहती हैं—'इस समय मुझे भक्त्यात्मक ज्ञानका उपदेश दो'। राधिकाने कहा—'पाँच प्रकारके ज्ञानोंमें भक्त्यात्मक ज्ञान सर्वोत्तम है। भक्तके संगसे भक्तिरूपी वृक्षका अंकुर बढ़ता है। आप अपने ऐश्वर्यशाली पुत्रका, जो साक्षात् परमात्मा और ईश्वर हैं, उनका उत्तम भक्तिके साथ भजन करें। उनके राम, नारायण, अनन्त, मुकुन्द, मधुसूदन, कृष्ण, केशव, कंसारि, हरि, वैकुण्ठ और वामन—इन ग्यारह नामोंके उच्चारण करनेमात्रसे मनुष्य सहस्रों कोटि जन्मोंके पापोंसे मुक्त हो

जाता है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इस वर्णनके साथ ही इन नामोंकी व्याख्या है। हम यहाँ राधिकाजीद्वारा की गयी 'राम' नामकी व्याख्या ही प्रस्तुत कर रहे हैं—

राशब्दो विश्ववचनो मश्चापीश्वरवाचकः।
विश्वानामीश्वरो यो हि तेन रामः प्रकीर्तितः॥
रमते रमया सार्धं तेन रामं विदुर्बुधाः।
रमाया रमणस्थानं रामं रामविदो विदुः॥
रा चेति लक्ष्मीवचनो मश्चापीश्वरवाचकः।
लक्ष्मीपतिं गतिं रामं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
नाम्नां सहस्रं दिव्यानां स्मरणे यत्फलं भवेत्।
तत्फलं लभते नूनं रामोच्चारणमात्रतः॥

(ब्रह्मवैवर्तपु०, श्रीकृष्णजन्मखण्ड १११। १८—२१)

तात्पर्य यह कि 'रा' शब्द विश्ववाचक है और 'म' शब्द ईश्वरवाचक, इसलिये जो लोकोंका ईश्वर है, वह 'राम' कहा जाता है। वह रमाके साथ रमण करता है, अतएव विद्वान् उसे 'राम' कहते हैं। रमाका रमण-स्थान होनेके कारण राम-तत्त्व-वेत्ता उसे 'राम' बतलाते हैं। 'रा' लक्ष्मीवाचक और 'म' ईश्वरवाचक है, इसलिये मनीषीगण लक्ष्मीपतिको 'राम' कहते हैं। सहस्रों दिव्य नामोंके स्मरणसे जो फल प्राप्त होता है, वह फल निश्चय ही 'राम'-शब्दके उच्चारणमात्रसे मिल जाता है।' इस व्याख्यापर विचार करनेसे यह स्पष्ट होता है कि 'राम' परमब्रह्म परमात्मा हैं और वे ही सगुण-रूपसे सत्त्वगुणी ब्रह्मा, रजोगुणी विष्णु एवं तमोगुणी महाशिवके रूपमें प्रकट होते हैं। ग्रन्थोंमें वर्णन आता है कि राक्षसोंके—विशेषतः रावणके अत्याचारोंसे संत्रस्त पृथ्वी जब ऋषि-मुनियोंके साथ शिव तथा ब्रह्माके नेतृत्वमें परमब्रह्मसे प्रार्थना की, तब वे साक्षात् रघुकुलके महाराज दशरथ और उनकी महारानी कौसल्याके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। वे परब्रह्म परमात्मा अपने अंशरूपमें कैकेयीसे भरत, सुमित्रासे लक्ष्मण और शत्रुघ्नके रूपमें उत्पन्न होकर नर-लीला करने-हेतु भूमण्डलपर अवतरित हुए। उस परब्रह्मकी आदिशक्ति जगज्जननी जनकसुता जानकीके रूपमें नर-लीलामें सहधर्मिणी बनकर करुणानिधानकी अतिशय प्रिय होकर निर्मलमति प्रदान करनेवाली साक्षात् उस भक्त्यात्मक ज्ञानकी प्रतीक बन गयीं।

रामकथा श्रवणकुमारके चक्षुहीन माता-पिताके शापसे आगे प्रगति पाती है। राम-जन्मके हेतु अनेक हैं। पुत्रहीन दशरथको पुत्र-वियोग सहना पड़े और उससे उनकी मृत्यु हो, इस गूढ़ रहस्यको श्रवणकुमारकी कथा अपनेमें सँजोये हुए है। चारों भाई एक साथ महान् योगी योगनिष्ठ गुरु वसिष्ठसे ज्ञान-ध्यानकी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करते हैं। विश्वामित्र विश्वके मित्र राम-लक्ष्मणको अपने यज्ञकी रक्षाके लिये ले जाते हैं। ताड़का और सुबाहुका वधकर, शिला बनी अहल्याको पगकी अँगुलीसे स्पर्शकर पद्मगन्धा सुन्दर नारीके रूपमें परिणत करते हैं। जनकपुरकी ललनाएँ रामके अनिन्द्य रूपपर मोहित हो कृष्णावतारमें गोपियाँ बन अपने मोहकी कामनाको पूरा कर परमात्मासे तादात्म्यभाव स्थापित कर लेती हैं—एक-रूप हो जाती हैं। जनकनन्दिनी जानकीसे विवाह कर अयोध्यामें राम आते हैं। दैवी वृत्तियोंकी प्रतीक-स्वरूपा कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्रा राम-सीताके मधुर रूपको नयनोंमें बसा सच्चे आनन्दका लाभ लेती हैं। समस्त अयोध्यावासी भी राम-नामके प्रत्यक्ष श्रवण-दर्शन-स्मरणपूर्वक भक्तिपथपर अग्रसर होते हुए मानो परब्रह्मसे ऐक्य ही स्थापित कर लिये हैं।

राम-नाम वास्तवमें पथ-दर्शक है, प्रकाश-स्तम्भ है और अपार शक्ति-सम्पन्न है, जो सब प्रकारसे भवसागरसे पार उतारनेवाला है। नामकी महिमा अपरम्पार है।

'कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥'

सही है—

राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

—नाम-भेद संस्कार-मूलक और बुद्धि-विवेच्यपरक हो सकता है, परंतु नित्य-निरन्तर स्मरण हमें विवेकपूर्ण भक्ति ही प्रदान करता है। यदि जीवनमें राम-पथ उतर आवे, तो कल्याण-ही-कल्याण है अन्यथा केवल पाठ करना तो शुक-जैसी स्थिति है, किंतु यदि पाठ तन्मयताके साथ किया जाय तो वह 'शुक' से 'शुकदेव' बना देता है और अन्तस्तलमें दैवी गुणोंका समावेश कर रामरूप उस परब्रह्मसे परमैक्य स्थापित कराता है।

साधक-प्राण-संजीवनी

[दीवानोंका यह अगम पंथ संसारी समझ नहीं पाते]

साधुमें साधुता—

(गोलोकवासी संत-प्रवर पं० श्रीगयाप्रसादजी महाराज)

[गताङ्क पृ०-सं० ७९० से आगे]

साधु कौ उद्धार तौ वाही क्षण सौं हैवे लगि गयौ, जा क्षण सौं वह पूर्ण-तत्परताके साथ भजन करिवेमें जुटि पर्‌यौ। बहुत जानकार बनिवेकी धुनिमें न परै, कर्तव्यपरायण ही बनै। कहवौ कम, सुनिवौ कम, करिवौ अधिक। इन्द्रिय तथा मनसौं सदा सावधान रहियौं, इनकूँ जीत लियौ हूँ, ऐसौ मत मान बैठियौं।

× × ×

तदेव करणीयं हि संविचार्य विवेकिना।
सद्भिराचरितं यत् स्यात् सर्वथा शास्त्रसम्मतम्॥

(अर्थात् विवेकी पुरुषको भलीभाँति विचार करके उसी कामको करना चाहिये, जो शास्त्रसम्मत और सज्जनोंद्वारा आचरित हो।)

× × ×

समस्त सुकृतन कौ केवल एक ही फल है, श्रीसद्गुरुदेव (परब्रह्म परमात्मा)-में पूर्ण सात्त्विकी श्रद्धा है जानौं और लक्ष्य केवल श्रीभगवत्-प्रेम। सबरी आसक्ति केवल एक श्रीजीवनधनमें ही, क्योंकि इनकौ धाम, नाम, लीला, स्वरूप तथा प्रेमीजन आदिक श्रीभगवत्के समान ही हैं।

× × ×

प्रेम-प्राप्तिके ताँईं इनकौ अवलम्ब परम आवश्यक है। इसके ताँईं आवश्यक हौं कि उनमें श्रद्धा दृढ़ बनै। शास्त्र-वाक्य अथवा संत-वाक्यके आधार पै ही जीवन व्यतीत करै। श्रीभगवन्नाम-जपमें पूर्ण रुचि हौनीं चहिए। नामोच्चारण शुद्ध हौनौं चहिए। इतनौं अभ्यास बढ़ावै कि, जीभ सतत् श्रीभगवत्-नाम रटती ही रहै। श्रीविनयपत्रिकाकौ यह पद बड़े ही मर्म कौ है—

राम राम राम जीह जौलौं तू न जपिहै।
तौलौं, तू कहूँ जाय, तिहूँ ताप तपिहै॥

× × ×

श्रीनाम जपिवे बारी जीभ कूँ संयमी बनावै। (अर्थात् श्रीनाम-जपके समय जिह्वापर अत्यन्त संयम रखना चाहिये।) श्रीभगवान्‌नें जीभ कोमल बनाई है। अतएव जीभ सौं मृदुता कौ ही बरताव करै, काहु सौं कठोर शब्द न बोलै।

× × ×

श्रीभगवान्‌के एक स्वरूप कूँ इष्ट बनावै। इनमें अपनौं एक दृढ़ भाव बनावै। समस्त जीवन इष्टके ताँईं यही उत्कट लालसा बनैं कि, इष्टके प्रेममें डूबतौ रहूँ। श्रीब्रजभूमिमें ही रहनौं। अर्थात् अपने इष्टकी भूमिमें ही रहनौं। श्रीब्रज सौं बाहिर कहूँ नहीं जानौं। ताहूमें जहाँ ताँईं बनै, श्रीगिरिराज भगवान्‌के सान्निध्यमें ही रहनौं। श्रीब्रजरज शरीरमें लगी ही रहै।

× × ×

स्वभाव अतिसरल बनै। रूक्षता (रूखापन) छू न जाय। कैसीहू परिस्थितिमें क्रोध नहीं करनौं। यदि कोई अपने पै क्रोध करै, तौ शान्ति सौं समझाय देनौं। कैसों हूँ अपनी साधुता भंग न हौन पावै।

× × ×

द्रव्य नहीं छूनौं, न कहूँ जमा करनौं। काम तथा क्रोधके भाव सौं काहू कूँ न देखनौं, न छूनौं, न सुननौं एवं न चिन्तन ही करनौं।

विकार बहुत ही प्रबल हौयँ हैं। इनसौं बहुत ही साबधान रहनौं।

× × ×

चिन्तन बनै श्रीभगवत् सम्बन्ध सौं ही। लक्ष्य, कर्त्तव्य, सत्संग-वाक्य तथा श्रीभगवत्कृपा विशेषतया ये ही चिन्तनीय हैं और सबही साधु-सन्त सम्माननीय हैं।

× × ×

साधुके तीन महाबाधक हैं, यह समस्त सन्त-समाज कौ कहनौं हैं। हमें तीनन सौं पूरौ-पूरौ बचनौं है—

(१) स्त्री-जाति सौं कैसें हूँ सम्पर्क न रहै। (२) द्रव्य लैवे सौं बचै, जैसें बनै निर्वाह करिले। (३) मान, बड़ाई, पूजा, प्रतिष्ठा सौं सर्वथा बचै।—ये तीनौं सरल नहीं हैं। युगके देखते भये ये तीनौं महाप्रबल हैं। ताहू पै लोकेषणा तौ अत्यन्त प्रबल है ही। यासौं कोई काम यह उद्देश्य लै कैं न करैं कि, ऐसौ करिंगे, तौ हमारी ख्याति होयगी।

× × ×

श्रीभगवत्-नाम कौ अभ्यास बनावै कि, सतत् नाम-जप होतौ ही रहै।

यह तौ सर्वमान्य बात है ही कि, या (इस) समय अध्यात्ममें चलिवौ अत्यन्त दुष्कर है, तथापि जिनने कृपा करिकैं अपनी श्री ब्रजभूमिमें बसाये हैं, ये ही सब सँभारते रहैंगें। यह दृढ़ विश्वास राखनौं। कठिन-सरल, इन दोऊ शब्दन पै बिचार करैं तौ, कठिन है जीवके ताँईं तथा सरल है सर्वसमर्थ श्रीभगवान्के ताँईं। श्रीभगवद् अश्रित जन कूँ सदैव श्रीप्राणनाथ कौ दृढ़ अवलम्ब राखनौं चहिए—

सबइ सुलभ जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥

× × ×

कुटिया नहीं बनानौं। शिष्य नहीं बनानौं। कोई पद नहीं लैनौं। अपने मन सौं नहीं, श्रीसद्गुरु आज्ञा सौं, जैसें बनै केवल दुलारे कन्हैयामें हीं प्रेम बढ़ानौं। यह माननौं कि यह काम तौ हम अपने श्रीसद्गुरु भगवान्‌की आज्ञा सौं करि रहे हैं। अपने बल सौं नहीं।

× × ×

अपने ही इष्टके रूपमें पूरी लगन, इनमें ही प्यार, इनकौ ही बार-बार चिन्तन। मायाके जाल सौं सर्वथा बचनौं। कन्हैयाँ कूँ ही सर्वस्व मान लैनौं तथा इनके ताँईं ही जीवन बनैं।

× × ×

जो कर्त्तव्य श्रीसद्गुरुदेवनें लिखे होयँ उनकौ पालन करनौं ही आराधना है। श्रीसद्गुरु भगवान्के सुझाये गये मार्ग सौं चलै तौ, धीरे-धीरे सब सुधरि जायगौ। यह विश्वास राखनौं कि, याही जीवनमें श्रीजीवनधनके प्रेममें डूबनौं है। अपनी ओर मत देखौ, चलौ इन वाक्यन के आधार पै ही।

× × ×

सात्त्विकी श्रद्धा ग्रहण करनी। यह देखते रहनौं कि, श्रद्धामें कमी तौ नायँ आय रही। श्रद्धामें बाधक है तर्क। श्रद्धामें सहायक है—श्रद्धावान्में श्रद्धा करनौं। बिना भजन किये श्रद्धा ठहर नहीं सकै। श्रद्धा कूँ पुष्ट करै है सदाचार।

× × ×

बहुत ही कम बोलनौं। प्रपंचन सौं सदाँ बचते रहनौं। परचर्चा कबहूँ नहीं करनौं। क्रोध कबहूँ नहीं करनौं और ***सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा*** (अर्थात् स्वप्नमें भी दूसरोंके दोषपर ध्यान नहीं देना चाहिये)।

× × ×

प्रतिक्षण सावधान रहै कि, कोई इन्द्रिय कुमार्गमें न जान पावै। व्यर्थ चिन्तन तथा बिषय चिन्तन सौं मन कूँ बचाते रहनौं। सद्बुद्धिके द्वारा मन कूँ समझाते रहनौं और सदैव ऊँचे बिचार तथा ऊँची क्रिया करते रहनौं चहिए।

× × ×

श्रद्धा—

जो शास्त्रनमें लिख्यौ है, तथा जो सन्त-जन कहैं हैं, वाकूँ बिना सोचे-बिचारे ज्यौं-की-त्यौं मान लैनौं ही श्रद्धा है। सीधे शब्दन में यौं समझनौं कि, अपनी बुद्धि सौं काम नहीं लैनौं।

× × ×

श्रद्धा ही तौ आध्यात्म कौ मूल है।

× × ×

सात्विकी श्रद्धामें तौ कछु और हू गहराई है। श्रद्धामें यह लोभ तऊ रहै है कि, हम यदि इनकी आज्ञा पै चलैंगे, तौ हमारौ परलोक सुधरैगौ। यामें स्वार्थकी कछु गन्ध है। किंतु सात्विकी श्रद्धामें तौ यहू नहीं रहै। वहाँ तौ केवल इतनौं ही भाव रहै है कि, हमें न लोक बनिवे सौं प्रयोजन न परलोक बनिवे की आशा। हम तौ अपनौं परम सौभाग्य याही में मानैं हैं कि, हमारे ताँईं इनकी आज्ञा तौ भई। [क्रमशः]
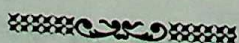
साधकोंके प्रति—

देनेके भावसे कल्याण

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्मासे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और चेष्टा करते हैं। वे परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९। ४) 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' अतः साधक जो भी कर्म करे, उसमें वह ऐसा भाव रखे कि मैं उस परमात्माकी ही पूजा कर रहा हूँ। किसीके साथ बर्ताव करे तो वह परमात्माकी ही पूजा है। किसीसे बातचीत करे तो वह परमात्माका ही पूजन है। इस प्रकार पूजन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है—यह कितना सुगम, सरल साधन है!

एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। वे एक ही अनेक रूपोंमें हैं और अनेक रूपोंमें वे एक ही हैं। उन्हीं परमात्माका पूजन करना है, और कुछ नहीं करना है। भाई लोग अपने कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करें, बहनें अपने कर्मोंसे। भाई लोग व्यापार करें, नौकरी करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। बहनें रसोई बनायें, बालकोंका पालन करें, घरका काम-धंधा करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। भगवान् ही अनेक रूपोंमें हमारे सामने प्रकट हुए हैं। उस साक्षात् भगवान्‌की सेवासे बढ़कर और क्या अहोभाग्य होगा!

कुछ लेनेकी इच्छा रखकर सेवा करना भगवान्‌का पूजन नहीं है। जिस वस्तुको लेनेकी इच्छा होती है, उसकी सत्ता और महत्ता अपनेमें आ जाती है। अतः लेनेकी इच्छासे अपनेमें जड़ता आती है और देनेकी इच्छासे जड़ता मिटकर चेतनता आती है। जब मनुष्य साधक बनता है, तब वह लेनेके लिये नहीं बनता, प्रत्युत देनेके लिये ही बनता है। जो कभी स्वप्नमें भी किसीसे कुछ लेना नहीं चाहता, केवल देना-ही-देना चाहता है, वही साधक होता है। लेना और देना—ये दोनों जिसमें हों, वह 'चिज्जड़ग्रन्थि' है, जो जन्म-मरणका कारण है। जो अपना उद्धार चाहता है, चिज्जड़ग्रन्थिसे छूटना चाहता है, उसको लेना बंद करके देना शुरू कर देना चाहिये। कहीं लेना भी पड़े तो वह भी देनेके लिये, दूसरेकी प्रसन्नताके लिये लेना है, अपने लिये नहीं। जो सुख लेता है, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। भोगीका पतन होता है। भोगी रोगी होता है। भोगीमें जड़ता आती है। भोगी पराधीन होता है। अतः जो लेता है, वह भोगी है और जो देता है, वह योगी है।

भगवान्‌से बढ़कर और कोई नहीं है; क्योंकि वे देते-ही-देते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने-आपको सबको सर्वथा सर्वदा समानरूपसे दे रखा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५)। उनमें कोई कमी है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं, पर भक्तकी प्रसन्नताके लिये वे लेते हैं। गोपियोंकी प्रसन्नताके लिये ही वे उनका मक्खन लेते हैं। अतः साधकको केवल देने-ही-देनेका भाव रखना चाहिये कि सबको सुख कैसे हो? सबको आराम कैसे हो? सबका भला कैसे हो? सबका कल्याण कैसे हो? सब सुखी कैसे हों? सबको प्रसन्नता कैसे हो? ऐसे भावोंसे दुनियामात्रकी सेवा होती है। यद्यपि भाव साधारण दीखता है और क्रिया बड़ी दीखती है, तथापि वास्तवमें भाव बहुत श्रेष्ठ है और क्रिया बहुत छोटी है। लाखों-करोड़ों रुपये लगा दें तो भी वह सीमित ही होगा, पर सेवाका भाव असीम होगा। असीमसे असीम (परमात्मा)-की प्राप्ति होती है। सीमितसे असीमकी प्राप्ति नहीं होती।

कर्मयोगमें सेवा मुख्य है। कर्मयोगसे केवल मलदोष ही नहीं मिटता, प्रत्युत मल, विक्षेप और आवरण—सभी दोष सर्वथा मिट जाते हैं और तत्त्वज्ञान हो जाता है। वही सेवा अगर भगवान्‌की पूजा समझकर की जाय तो भक्ति

प्राप्त हो जाती है। यद्यपि ज्ञान और भक्तिमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तथापि भक्तिमें प्रेमका एक विशेष रस, विशेष आनन्द है। हाँ, ज्ञानमें भी विशेषताका अभाव नहीं है, पर उसमें प्रेम छिपा हुआ है, जबकि भक्तिमें प्रेम प्रकट है।

लेनेसे वस्तुका नाश और अपना पतन होता है। भोगी मनुष्य भोजन लेता है तो भोजनका नाश और अपना पतन करता है। अपनेको भोजनके अधीन स्वीकार किया, भोजनको अधिक महत्त्व देकर अपनी महत्ता कम कर ली—यही अपना पतन है। भोजनसे अपनी भूखका, खानेकी शक्तिका नाश होता है। भोजन कर नहीं सकते—इस असामर्थ्यको ही तृप्ति कह देते हैं! इसी तरह कपड़ा लेनेवाला कपड़ेका नाश करता है, मान-बड़ाई लेनेवाला मान-बड़ाईका नाश करता है, आदर लेनेवाला आदरका नाश करता है और अपना पतन करता है। परंतु देनेवाला दूसरेकी सेवा करता है, वस्तुको सार्थक करता है और अपना उत्थान करता है। देनेवाला मनुष्य ऊँचा उठ ही जाता है, नीचा नहीं रहता। लेनेवाला नीचा रहता है। देनेवालेका हाथ ऊँचा रहता है और लेनेवालेका हाथ नीचा रहता है।

सेवक, सेवा और सेव्य—ये तीन होते हैं। सेवा करते-करते जब सेवकपनेका अभिमान मिट जाता है, तब सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है। अभिमान मिटनेपर केवल सेवा-ही-सेवा रह जाती है। जैसे, गोस्वामीजी महाराजने रामायणकी रचना की तो अब रामायणके द्वारा समाजकी कितनी सेवा हो रही है! तात्पर्य है कि गोस्वामीजी महाराज ही सेवारूपसे हमारे सामने आये हैं। रामायण गोस्वामीजी महाराजका ही रूप है और रामायणरूपसे सबकी सेवा कर रहे हैं। उनकी सेव्य (परमात्मा)-से अलग स्वतन्त्र स्थिति नहीं रही।

ज्ञानमार्गमें जब जिज्ञासुपनेका अभिमान मिट जाता है, तब केवल जिज्ञासा रहकर तत्त्वज्ञान हो जाता है। जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ' ऐसे जिज्ञासु रहता है, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता। जिज्ञासुपना मिटते ही तत्काल तत्त्वज्ञान हो जाता है। इसमें किसी गुरुकी जरूरत नहीं है। कारण कि वास्तवमें तत्त्वज्ञान होता नहीं है, प्रत्युत वह पहलेसे ही है। उत्पन्न होनेवाली चीज मिटनेवाली होती है, जो पैदा होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। ज्ञान नित्य है। यह उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं है। अज्ञानके मिटनेको ही ज्ञानका होना कह देते हैं। जैसे सूर्य उदय होता है, पैदा नहीं होता, ऐसे ही ज्ञान उदय (प्रकट) होता है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३। १७)

'वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका भी ज्योति और अज्ञानसे अत्यन्त परे कहा गया है। वह ज्ञानस्वरूप, जानने योग्य, ज्ञान (साधन-समुदाय)-से प्राप्त करने योग्य और सबके हृदयमें विराजमान हैं।'

केवल हमारे अज्ञानके कारण वे प्रकट नहीं हो रहे हैं—*'अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* (मानस, बाल० २३। ४)। अज्ञान मिटते ही तत्त्वज्ञान ज्यों-का-त्यों है।

गृहस्थमें रहते हुए अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन बहुत सुगमतासे किया जा सकता है। एकान्तमें रहकर साधन करनेकी अपेक्षा समुदायमें रहकर साधन करना श्रेष्ठ है। समुदायमें रहकर साधन करनेवाला एकान्तमें भी साधन कर सकता है, पर एकान्तमें साधन करनेवाला समुदायमें रहकर साधन नहीं कर सकता—यह उसमें एक कमजोरी रहती है। गृहस्थ छोड़कर साधु बननेवाला कायर होता है। कायर भागता है, शूरवीर नहीं भागता। शूरवीरका साधन तेज होता है। इसलिये गृहस्थमें बड़े अच्छे संत हुए हैं।

त्यागी सोभा जगत में, करता है सब कोय।
हरिया गृहस्थी सन्त का, भेदी बिरला होय॥

त्यागी संतकी महिमा तो सब जानते हैं और करते हैं, पर गृहस्थी संतकी महिमा जाननेवाले विरले ही होते हैं। अतः गृहस्थमें रहते हुए दूसरोंकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचायें, आराम पहुँचायें। अपना भाव सबके हितका रखें कि सब सुखी हो जायँ, सब नीरोग हो जायँ, सबका कल्याण हो, किसीको थोड़ा भी दुःख न हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

जिसका स्वभाव दूसरोंका हित करनेका होता है, उसके लिये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा प्रेम कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३१। ५)

सेवामें भावका ही महत्त्व है, वस्तुका नहीं। सेवाका भाव (असीम होनेसे) कल्याण करता है, वस्तु (सीमित होनेसे) कल्याण नहीं करती। एक सज्जन भगवान्‌से यह कहा करते थे कि 'महाराज! आप सबका पालन-पोषण करते ही हैं, थोड़ा मेरेको भी निमित्त बना दो, थोड़ी मैं भी सेवा कर लूँ! इससे मेरा मुफ्तमें ही कल्याण हो जायगा!' वास्तवमें कल्याणका मूल्य कोई चुका नहीं सकता। उसका मूल्य किसीके पास नहीं है। अपने-आपको दे दे—यही उसका मूल्य है!

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। पशु-पक्षी सेवा नहीं कर सकते। उनसे सेवा ले सकते हैं; जैसे—वृक्षोंसे फल, फूल, पत्ते, लकड़ी आदि ले सकते हैं, पशुओंसे दूध आदि ले सकते हैं, पर वे हमें दे नहीं सकते। देनेवाला केवल मनुष्य ही है। मनुष्य इतना विलक्षण है कि वह अपनेको भी देता है, संसारको भी देता है और भगवान्‌को भी देता है अर्थात् अपना कल्याण करता है, संसारकी सेवा करता है और भगवान्‌को राजी करता है! सेवा करनेवालेको दुनियाकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है। भगवान् भी भावके भूखे हैं; अतः उनको भी प्रेमकी गरज रहती है! ऐसा उत्तम मनुष्य-शरीर हमें मिला है! यह कोई मामूली चीज नहीं है। यह भगवान्‌की बहुत बड़ी देन है। बिना हेतु स्नेह करनेवाले प्रभुने कृपा करके यह मानव-शरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४। ३)

ऐसा मानव-शरीर पाकर अब देना-ही-देना शुरू कर दें। लेना पशुता है और देना मनुष्यता है। देना शुरू करते ही मनुष्य साधक हो जाता है और जब देना-ही-देना रह जाता है, तब वह सिद्ध हो जाता है, भगवान्‌के बराबर हो जाता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

देवर्षि नारदजी कहते हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। (भक्तिसूत्र ४१)

'भगवान् और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।'

यतस्तदीयाः। (भक्तिसूत्र ७३)

'कारण कि भक्त भगवान्‌के ही हैं।'

परमेश्वर आपके पापोंका नाश करे

वक्षःसद्मस्थपद्मं करकमलतलप्रज्वलच्छंखचक्रं

कंसघ्नं सर्पतल्पं खगवरवहनं नन्दयत्यर्धगं यः।

धर्मं बध्नन् ध्वजस्थं करगतकलशं वर्ष्म यश्च व्रतस्थं

शंसन्तं संस्मरन्तं नतमनवरतं सोऽव्ययः स्यत्वघं वः॥

(स्तुतिकुसुमाञ्जलि)

जो वक्षःस्थल-रूपी मन्दिरमें लक्ष्मीको धारण करनेवाले तथा करकमलोंमें उज्ज्वल पाञ्चजन्य शंख एवं सुदर्शनचक्रको धारण करनेवाले, कंसारि, शेषशायी, गरुडवाहन भगवान् श्रीविष्णुको अपने हरिहररूपके दक्षिण अर्धभागमें धारण करके आनन्दित करता है और जो अपनी ध्वजामें धर्म (वृषभ), हाथमें पीयूष-कलशको धारण करता हुआ अपना स्मरण और कीर्तन करनेवाले विनीत भक्तको निरन्तर आनन्दित करता है, वह अविनाशी परमेश्वर आपके पापोंका नाश करे।

आसक्ति और प्रीतिका विवेचन

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय संत स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

जीवनका अध्ययन करनेपर ये दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं—किसीकी आसक्ति और किसीका प्रेम। जिसमें आसक्ति प्रतीत होती है, उसमें प्रवृत्ति तो होती है, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती और जिससे प्रेम होता है, उसकी न तो प्रतीति होती है और न उसमें प्रवृत्ति ही होती है, परंतु उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम उसीसे होता है जो प्राप्त है और आसक्ति उसीमें होती है जिसकी प्रतीति तो हो, पर प्राप्ति न हो। अब विचार यह करना है कि प्रतीति किसकी हो रही है? तो कहना होगा कि प्रतीति उसकी हो रही है, जो इन्द्रिय, मन, बुद्धिद्वारा जाननेमें आता है।

यह नियम है कि जो जिसके द्वारा जाननेमें आता है, उससे उसकी जातीय एकता तथा गुणोंकी भिन्नता होती है और जो जानता है, वह उसकी अपेक्षा जो जाननेमें आता है, अधिक सूक्ष्म तथा विभु होता है। इस दृष्टिसे इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ जाना जाता है, उसकी इन्द्रियोंसे जातीय एकता है और वह इन्द्रियोंकी अपेक्षा स्थूल तथा सीमित है एवं जो इन्द्रियोंको जानता है, वह इन्द्रियोंकी अपेक्षा अधिक विभु और सूक्ष्म है। इस दृष्टिसे यह सिद्ध होता है कि मन इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु है; क्योंकि मनकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। पर जो बुद्धि मनको जानती है, वह मनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा विभु है।

समस्त सृष्टि अर्थात् दृश्य जगत् इन्द्रियोंके किसी अंशमें है तथा इन्द्रियाँ मनके किसी अंशमें हैं और मन बुद्धिके किसी अंशमें है, किंतु बुद्धि उस अनन्त नित्य-चिन्मयके किसी अंशमें है, जो बुद्धिका प्रकाशक है। अब यदि कोई यह कहे कि जो बुद्धिका प्रकाशक है, उसे अनन्त, नित्य एवं चिन्मय क्यों स्वीकार किया जाय? तो कहना होगा कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य स्वयं अपनेको अपने-आप प्रकाशित नहीं कर पाते। परंतु जिसके प्रकाशसे ये सब प्रकाशित हैं, वह अपनेको और अपनेसे भिन्न बुद्धि आदि समस्त दृश्यको भी प्रकाशित कर रहा है; इससे वह नित्य और चिन्मय है। सृष्टिकी किसी एक वस्तुकी भी गणना नहीं हो सकती। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी संख्या कितनी है और सीमा क्या है? जिस प्रकार किसी भी बीजके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कितने वृक्ष विद्यमान हैं, क्योंकि एक बीजसे जो वृक्ष उत्पन्न होता है, उसमें अनेकों बीज होते हैं।

इस प्रकार जब एक बीजके विस्तारकी भी गणना एवं सीमा सम्भव नहीं है, तब समस्त सृष्टिकी गणना तथा सीमा कैसे सम्भव हो सकती है? जब सृष्टिकी गणना तथा सीमा नहीं हो सकती, तो उससे सूक्ष्म जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि हैं, उनकी सीमा कैसे हो सकती है? जब बुद्धि आदिकी ही सीमा नहीं हो सकती, तो उसके प्रकाशककी तो बात ही क्या है? अत: जो बुद्धिसे अतीत है, वह अनन्त है।

बुद्धि और बुद्धिके प्रकाशकके मध्यमें किसीका स्वतन्त्र अस्तित्व तो जान नहीं पड़ता। केवल यह कह सकते हैं कि जिसमें अनन्तकी प्रीति और बुद्धि आदि समस्त दृश्यकी आसक्ति विद्यमान है, वह न तो दृश्य है और न दृश्यका प्रकाशक। उसे तो केवल प्रीति और आसक्तिका समूह ही कह सकते हैं। परंतु आसक्तिकालमें प्रीतिका दर्शन नहीं होता तथा जब प्रीति जाग्रत् होती है, तब आसक्तिका कोई अस्तित्व नहीं रहता। अत: उसे प्रीति और आसक्तिका समूह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दृश्यकी ओर गतिशील होनेमें आसक्ति भासती है और दृश्यसे विमुख होते ही प्रीति। इस प्रीति और आसक्तिके द्वन्द्वका निवारण ही जीवनका उद्देश्य है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब आसक्ति मिटकर प्रीतिसे अभिन्न हो जाय।

अब यदि कोई यह कहे कि प्रीति ही आसक्तिसे अभिन्न क्यों न हो जाय? तो कहना होगा कि यह सम्भव नहीं है। क्योंकि आसक्तिका सम्बन्ध उससे है, जिसकी नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और प्रीतिका सम्बन्ध उससे है, जिसकी नित्य स्वतन्त्र सत्ता है। अत: प्रीति आसक्तिमें विलीन नहीं हो सकती, अपितु आसक्ति ही प्रीतिसे अभिन्न हो सकती है। इस दृष्टिसे आसक्तिकी निवृत्ति और प्रीतिकी

जागृति ही वास्तविक साधना है।

'आसक्ति' पराधीनता और जड़तामें आवद्ध करती है, किंतु 'प्रीति' स्वाधीनता तथा नित्य-चिन्मय जीवनकी ओर गतिशील करती है। यह सभीको मान्य होगा कि परतन्त्रता और जड़तामें आबद्ध रहना किसीको अभीष्ट नहीं है, अपितु स्वाधीनता, चिन्मयता, दिव्यता आदि सभीको स्वभावसे ही प्रिय है। अत: स्वाभाविक प्रियताकी जागृति ही आसक्तिका अन्त करनेमें समर्थ है। परतन्त्रताकी वेदना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाभाविक प्रियता स्वत: जाग्रत् होने लगती है।

इस दृष्टिसे परतन्त्रताकी वेदना ही हमें उस अनन्तकी दिव्य-चिन्मय प्रीतिसे अभिन्न करनेमें समर्थ है। पराधीनताको ही जीवन मान लेनेसे आसक्ति पुष्ट होती है। पराधीनताकी वेदना जाग्रत् होनेपर आसक्ति मिटती जाती है और प्रीति सबल होती जाती है। आसक्ति अहंभावको पुष्ट करती है तथा प्रीति अहंभावको अपनेमें ही विलीन कर लेती है; क्योंकि प्रीति और प्रीतिकर्ताका विभाजन नहीं हो सकता। प्रीति जिसमें है उसको रस प्रदान करती है और आसक्ति जिसमें होती है, उससे सुखकी आशा कराती है। इस दृष्टिसे प्रीति दाता और आसक्ति भिखारी बनाती है, अथवा यों कहो कि आसक्ति पराधीन और प्रीति स्वाधीन बनाती है। आसक्ति कोई भी ऐसी नहीं होती, जिससे अरुचि न हो, किंतु प्रीति नित्य नव-रुचि जाग्रत् करती है। उसमें कभी अरुचि नहीं होती, क्योंकि प्रीति अनन्त, नित्य और चिन्मय है, किंतु आसक्ति अनित्य, जड़ और सीमित है। आसक्तिकी निवृत्ति होती है, परंतु प्रीतिकी नित्य नव-वृद्धि होती है। क्योंकि प्रीति तो उस अनन्तका स्वभाव है और आसक्ति प्रमादका परिणाम है। प्रमाद-रहित होते ही आसक्ति सदाके लिये मिट जाती है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रमादकी निवृत्ति कैसे हो? तो कहना होगा कि प्रमादको 'प्रमाद' जान लेनेपर ही उसकी निवृत्ति स्वत: हो जाती है। जिसे 'यह' कहते हैं उसको 'मैं' मान लेना वास्तवमें प्रमाद है। 'यह' 'मैं' नहीं है, ऐसा जानते ही प्रमाद मिट जाता है। 'यह' का अर्थ है—'जो अपनेको अपने-आप प्रकाशित न कर सके।' इस दृष्टिसे समस्त दृश्य, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि 'यह' के अर्थमें आ जाते हैं। अत: जो अपनेको बुद्धि आदिसे विमुख कर लेता है, उसका प्रमाद स्वत: मिट जाता है। उसके बाद प्रीति तथा प्रीतमसे भिन्न कुछ शेष नहीं रहता। इस दृष्टिसे आसक्तिकी निवृत्ति और प्रीतिकी जागृति ही वास्तविक जीवन है।

कुछ आविष्कार

(श्रीयुत एम० स्टोन)

जबसे मैं सत्यके सिद्धान्तोंका व्यापारिक जीवनमें प्रयोग करने लगा हूँ, मैं कुछ उपयोगी आविष्कार कर सका हूँ। उनमेंसे कुछ ये हैं—

१—ईमानदारी एक लाभप्रद व्यापार है

मेरे व्यापारी साथियोंने मुझसे कई बार कहा है कि सफलतापूर्वक व्यापार चलाना और साथ ही ईमानदार रहना असम्भव है।

एक समय था जब मैं इस बातको सत्य समझता था; क्योंकि यह कल्पना न्यायसंगत जान पड़ती थी कि यदि रुपया कमाना है तो मुझे अपने प्रतिद्वन्द्वियोंका उन्हींके-जैसे हथियारोंसे सामना करना चाहिये।

जहाँतक मेरी दृष्टि गयी, मुझे बहुत-से लोग ऐसे मिले जो आवश्यकता पड़नेपर न तो झूठ बोलनेमें हिचकते हैं, न किसी प्रतिस्पर्धीको गिराकर लाभ उठानेके लिये बेईमानीके नीचे-से-नीचे धरातलपर उतरनेमें संकोच करते हैं।

यह बात उन लोगोंके विषयमें बड़ी विचित्र लगती, जिनको मैं भलीभाँति जानता था कि वे अपने सामाजिक और गार्हस्थ्य-जीवनमें इससे बिलकुल विपरीत व्यवहार करते थे। वहाँ वे विचारशील, शीलवान्, दयालु और अपने परिवार तथा मित्रोंके साथ व्यवहार करनेमें बहुधा नि:स्वार्थ

रहते थे। उनके विषयमें यह विश्वास होना कठिन था कि वे कोई अनैतिकतापूर्ण बेईमानीका काम भी कर सकते हैं।

जब मैं इस समस्याको हल करनेकी चेष्टामें लगा तो मेरे मनमें आया कि अपने व्यापारिक जीवनमें उनके इस तरहके समाज-विरोधी व्यवहार करनेका कारण यह है कि उनके मनमें यह बात बैठी हुई है कि प्रत्येक दूसरा मनुष्य उन्हें धोखा देगा। इसलिये उनके मनमें स्वाभाविक ही यह विचार चक्कर काटते हैं कि सब लोग उन्हें धोखा देनेकी चेष्टा कर रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप उनकी यह सोचनेकी आदत पड़ गयी है कि ठगनेवालोंको ठगना ही अपनी रक्षाका एकमात्र साधन है।

मैंने अपने लिये ऐसे विषयोंमें सत्यके सिद्धान्तोंका प्रयोग करनेकी ठानी और निश्चय कर लिया कि मैं एक नये रास्तेपर चलकर परिणामकी प्रतीक्षा करूँगा। मैं दूसरोंके साथ ईमानदारीपूर्वक सच्चा व्यवहार करूँगा और इस बातपर मेरा विश्वास अटल रहेगा कि दूसरे भी मेरे साथ वैसा ही सचाईका व्यवहार करेंगे।

मेरा प्रयोग सफल रहा। वह खूब काम देता है।

२—देनेके लिये कभी कमी नहीं है

इस सत्यका भी मैंने आविष्कार किया और इसके बड़े सुन्दर-सुन्दर परिणाम मेरे देखनेमें आये हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि दी जानेवाली वस्तु सदैव रुपया ही हो।

सेवाका कोई भी एक कार्य बहुधा अधिक उपयोगी होता है।

विश्वासके तीव्रगामी साधनद्वारा भेजी हुई प्रार्थना चमत्कारपूर्ण कार्य करती है और वह एक अमूल्य देन है।

वह मुसकराहट जिसके पीछे हृदयकी निष्कपटता और सत्यता झाँक रही हो, एक ऐसी देन है जो पानेवालेकी स्थितिमें महान् परिवर्तन ला देती है।

निःसंदेह इस बातकी बिलकुल आवश्यकता नहीं कि दिया जानेवाला पदार्थ रुपया या कोई भौतिक वस्तु हो। दानकी क्रिया होनी चाहिये। वही असली चीज है। फिर तो सदा ही कुछ-न-कुछ देनेको मिल ही जायगा।

३—तत्पर रहनेमें बड़ा लाभ है

मनुष्य जितना ही अधिक सत्यके सिद्धान्तोंका अनुशीलन करता है, उतना ही बनावटी बातोंसे दूर और छलसे रहित हो जाता है।

विचारपूर्वक मस्तिष्कसे काम लेनेकी किसीकी नयी आदतके साथ 'प्रत्यक्षरूपेण' यह विशेषण जोड़ना ठीक ही है। यहाँ विचारके बिखरे हुए तार एकत्र करके एक साँचेमें व्यवस्थितरूपसे कस दिये जाते हैं, क्योंकि हम यह अनुभव प्राप्त करते हैं कि रचनात्मक विचारप्रणाली ही हमको सुख, स्वास्थ्य और समृद्धिके उस क्षेत्रमें पहुँचा सकती है, जिसके हम वास्तवमें उत्तराधिकारी हैं। तड़क-भड़ककी आवश्यकता बिलकुल नहीं, पर तत्पर तो बनना ही पड़ेगा।

४—शान्तिपूर्ण क्रियाशीलता

सत्यके विद्यार्थीका जीवन सदा क्रियाशील रहता है। उसके शरीर और मन दोनों नये-नये अनुभव प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहते हैं। पर जैसे-जैसे मनुष्यका चित्त स्थिर होता जाता है, अपने जीवनमें केवल कल्याणके ही विकासका निश्चय अधिकाधिक बढ़ता जाता है, उसे एक आन्तरिक शान्तिकी अनुभूति होती है, जो उसके प्रत्येक नये उपक्रममें अधिकाधिक उत्साह भर देती है।

नाचता हुआ लट्टू शान्त, पर घोर क्रियाशीलताका सुन्दर उदाहरण है। इसके विपरीत अवस्थाका उदाहरण लेना हो तो कुछ दिनोंकी ब्यायी हुई गायको देखिये। बछड़ेको स्तन पिलानेमें तल्लीन-सी दीखनेपर भी वस्तुतः वह दाना खाने और घास चरनेमें लगी रहती है।

जब किसीको यह अनुभव हो कि उसे तिलका ताड़ बना देनेकी आदत पड़ रही है तो इतना तो निश्चय जान लेना चाहिये कि उसकी विचारधारामें सुधारकी आवश्यकता है।

मानवी बुद्धिकी पकड़में न आनेवाली 'ईश्वरीय शान्ति'का सुखद अनुभव कठिन-से-कठिन कार्योंके बीचमें भी प्राप्त किया जा सकता है। इस सत्य-ज्ञानतक पहुँच जानेपर और इसको जीवनमें उतारना सीख जानेपर मनुष्य बहुत दूर आगे बढ़ जाता है।

व्यवहारमें परमार्थ-कला

(श्रीकेशोरामजी अग्रवाल)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४५-४६)

[भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन!] अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है, परंतु जिस प्रकारसे अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन। जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्वजगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।

गीताके उपर्युक्त दो श्लोक अपनी एक विशेषता रखते हैं। इनके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे विश्वके मानवोंको व्यवहारमें परमार्थ-कलाकी अद्भुत शिक्षा दी है। यानी अपने-अपने वर्ण-आश्रमके धर्मोंका आचरण करता हुआ प्रत्येक मनुष्य भगवत्प्राप्ति कर सकता है।

प्रायः एक धारणा बनी हुई है कि भगवत्प्राप्ति करनेके लिये मनुष्यको व्यावहारिक कर्म त्यागने पड़ते हैं। कहीं एकान्तमें, जंगलमें जाकर या किसी वृन्दावन, अयोध्या, काशी, काञ्ची आदि तीर्थस्थलपर जाकर वहाँ भगवान्का भजन-ध्यान करनेसे ही मनुष्य अपने जीवनका खास उद्देश्य—भगवत्प्राप्ति कर सकता है। व्यावहारिक जीवनमें रहते हुए यह सम्भव नहीं कि हम अपना कल्याण कर लें। भजन-ध्यान करते हैं तो व्यावहारिक जीवन सुचारु-रूपसे नहीं चलता और व्यवहार सुचारु-रूपसे चलानेका प्रयास करते हैं तो भगवत्स्मृति निरन्तर नहीं रह पाती। यह समस्या प्रायः बहुतसे साधकोंको परेशान करती रहती है।

भगवान्ने उपर्युक्त दो श्लोकोंमें एक अद्भुत कला बतलायी है, जिससे हम अपना कर्तव्य-कर्म सुचारु-रूपसे करते हुए सुगमतासे अपना कल्याण कर सकते हैं।

यहाँ प्रथम श्लोकमें भगवान्ने बतलाया है कि अपने-अपने वर्ण-आश्रमके धर्मोंमें अभिरत रहता हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्ति-रूप संसिद्धिको प्राप्त कर लेता है। वह संसिद्धि कैसे प्राप्त कर सकता है? 'कैसे प्राप्त कर सकता है' इस विधिको ध्यान देकर सुननेके लिये प्रेरणा करते हैं। यहाँ '**अभिरतः**' और '**निरतः**' पद आये हैं। इनकी विशेषता है। एक आसक्ति होती है और दूसरी अभिरति होती है। आसक्तिका अर्थ है मनुष्य उस कर्तव्य-कर्ममें चिपक जाता है—बँध जाता है—फँस जाता है। उस कर्मको अपना मानकर उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। आसक्ति प्राणी-पदार्थ, कर्म-परिस्थितिमें कहीं भी हो, मनुष्यको वहाँ बाँध देती है, इसलिये आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। '**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर**' (गीता ३। १९) आदि वचनोंके माध्यमसे भी गीताजीमें स्थान-स्थानपर आसक्तिके त्यागकी बात कही गयी है। आसक्तिसे मनुष्य कर्मके द्वारा राजसी-तामसी सुख प्राप्त करता है और बँधता है, परंतु अभिरति एक विचित्र बात है। अभिरतिमें मनुष्यके अन्तःकरणमें एक सात्त्विक प्रसन्नता होती है। उस प्रसन्नताका आधार प्राणी-पदार्थ, कर्म-परिस्थिति नहीं होते, बल्कि उसका आधार कर्तव्य-कर्म करनेवाले मनुष्यका भाव होता है। दूसरे प्राणीका हित हो अथवा जिस प्राणीसे उस कर्तव्य-कर्मका सम्बन्ध होता है, उसे भगवत्स्वरूप मानकर उसकी पूजा करता है, उस पूजाके भावसे उसके हृदयमें बड़ी प्रसन्नता होती है, उस कर्तव्य-कर्मके करनेमें उत्साह होता है। कर्म सुचारु-रूपसे होता है और उसका लक्ष्य भगवत्स्वरूप प्राणीको प्रसन्न करनेका ही रह जाता है। इन भावोंसे अभिरति होती है।

उपर्युक्त प्रस्तुत दोनों श्लोकोंमें द्वितीय श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्ने एक सिद्धान्तकी बात हृदयंगम करनेके लिये प्रेरणा दी है। यह सिद्धान्त समझकर कर्तव्य-कर्म करनेसे ही निरन्तर स्मृति तथा भगवत्प्राप्ति हो सकती है। सिद्धान्त है कि सभी प्राणी उस परमात्मासे ही उत्पन्न हुए हैं तथा वह परमात्मा ही सभी प्राणियोंमें बर्फमें जलकी तरह परिपूर्ण है। बर्फका आकार-गुण जलसे भिन्न दीखता है, परंतु विचारसे स्पष्ट समझमें आता है कि वह वास्तवमें जल-ही-जल है। इसी प्रकार समस्त प्राणी केवल दीखनेमें भिन्न-भिन्न दीखते हैं, परंतु यथार्थतः वे सब मेरे ही स्वरूप

हैं। यह भगवान्ने हमें हृदयंगम करनेके लिये कहा है। यह बात समझमें आ जानेसे हमारा प्रत्येक कर्म भगवान्की पूजा हो सकता है।

हमारा कर्तव्य-कर्म भगवान्की पूजा कैसे हो? इसके लिये दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि हममें उस कर्तव्य-कर्मसे अपना सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करनेका भाव किंचित् भी न हो। वह कर्म मेरा नहीं है, कारण कि सभी शक्ति भगवान्ने ही दी है। उन्होंने हमें उत्पन्न किया है, उन्हींकी शक्ति हमें मिली है, जिससे हम प्राणिमात्रकी—भगवत्स्वरूपकी पूजा करके अपना कल्याण कर लें। दूसरी बात यह है कि जिसके प्रति अपना कर्तव्य-कर्म हम कर रहे हैं, वे भगवान्के रूपमें ही हमारे सामने हैं। जैसे व्यापारी व्यापार करता हुआ ग्राहकको भगवान् ही समझे, डॉक्टर रोगीको भगवान् समझे। केवल उनके हितके भावसे जो भी कर्तव्य-कर्म करेगा, उससे एक अभिरति पैदा होगी तथा उसके भगवद्भावकी स्फुरना बार-बार होगी। ये ही भाव जब बढ़कर दृढ़ और प्रबल हो जाते हैं, तब उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

मनुष्यको भ्रम हो सकता है कि जब हम सभी कर्तव्य-कर्म केवल दूसरोंके हितके लिये ही करेंगे तो हमारा शारीरिक तथा पारिवारिक निर्वाह कैसे होगा? वास्तवमें बात यह है कि हम सबका जीवन प्रारब्ध तथा भगवत्कृपासे चलता है। परंतु यह भी विश्वास न हो तो अपने व्यवहारमें उचित मुनाफा, वेतन लेनेका निषेध नहीं है। जिस कमाईसे हमारा तथा हमारे परिवारका सादगीसे जीवन-निर्वाह हो सके, भोग-बुद्धि न रखते हुए ऐसा उचित मुनाफा लिया जा सकता है, किंतु ठगी करना, धोखा देना, चोरी करना, झूठ-कपट करना—यह व्यवहारमें नहीं रहना चाहिये। जब हम भगवान् समझकर ही व्यवहार करेंगे तो ये दोष सर्वथा निर्मूल हो जायँगे।

मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। बड़े पुण्यबलसे, खास करके भगवत्कृपासे यह मनुष्य-जन्म हमें प्राप्त हो गया है, अत: अब हमें चाहिये कि उपर्युक्त श्लोकोंके अनुसार कर्तव्य-कर्म करते हुए अपना समय व्यतीत करें और सुगमतासे भगवत्प्राप्ति-रूप सिद्धि प्राप्त कर लें।

रति राम-पदमें हो, मति हो विकार-मुक्त

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

सृष्टिका नियन्ता अभियन्ता है न जाने कौन,
किसके प्रकाशसे प्रकाशित हैं सोम-मित्र?
किसके निदेशसे प्रवहमान पवमान,
करती प्रदक्षिणा वसुन्धरा बनी विचित्र?
तूलिका कमालकी चलाता चित्रकार कौन,
अम्बर-पटल पै सजाता भावनाके इत्र?
कौन जड़-जंगमके दृश्यमें अलक्षित हो,
लक्ष-लक्ष रचता चरित्र-रचना-पवित्र?

ब्रह्म और जीव हैं अभिन्न, भिन्न-भिन्न या कि,
भिन्नाभिन्न हैं, प्रमाण-सिद्ध है विचार कौन?
कारण जगत्का प्रणव या स्वभाव-काल,
या कि आत्मतत्त्व ही, प्रसिद्ध है विचार कौन?
माया है विकृति किंवा प्रकृति महेश्वरकी,
अपरा-पराके मध्य विद्ध है विचार कौन?
ध्यान-मग्न हो सदैव रत हों विवेचनामें,
द्वन्द्व-द्वन्द्वातीतमें निषिद्ध है विचार कौन?

'मेरा' और 'तेरा' का विभाव बुद्धिका है मोह,
द्रोहमें प्रवृत्ति हो न वृत्ति भोगसे हो भुक्त।
काम-वासनाओंसे न क्षुब्ध कभी अन्तस् हो,
भव्य भावनाओंसे हृदय हो सदैव युक्त॥
सत्य-बोध जीव-आत्म-तत्त्वका प्रकाशक हो,
नाशक हो दूषित-विचार-अनाचार-शुक्त।
जीवनकी साधनाका सार समाराधनाका,
रति राम-पदमें हो, मति हो विकार-मुक्त॥

नारीके दूषण

कलह—

बात-बातमें लड़ने-झगड़नेको तैयार रहना, लड़े बिना चैन न पड़ना, घरमें तथा अड़ोस-पड़ोसमें किसीसे भी खुश न रहना—कलहका स्वरूप है। यह बहुत बड़ा दोष है। जो स्त्री कलह करके अपने दोष धोना तथा अपनी प्रधानता स्थापन करना चाहती है, उसको परिणाममें दोष और घृणा ही मिलते हैं। कलह करनेवाली स्त्रीसे सभी घृणा करते हैं। यहाँतक कि कई बार वह जिन पति-पुत्रोंके लिये दूसरोंके साथ कलह करती है, वे पति-पुत्र भी उससे अप्रसन्न होकर उसका विरोध करते हैं। कलहसे अपने सुख-शान्तिका तो नाश होता ही है, सारे परिवारमें महाभारत मच जाता है। सास-ससुर, पति-पुत्र-कन्या और नौकर-नौकरानियाँ—इन सबके मनमें उद्वेग हो जाता है। घरके कामोंमें विशृंखलता आ जाती है। पतिका अपने व्यापार या दफ्तरके काममें मन नहीं लगता। रोगीको उचित दवा-पथ्य नहीं मिलता। जिस कुटुम्बमें कलहकारिणी कर्कशा स्त्री होती है, उसके दुर्भाग्यका क्या ठिकाना। ताने मारना, बढ़ा-बढ़ाकर दोषारोपण करना, दूसरोंको गाली देना कलहकारिणीके स्वभावमें आ जाता है। अतएव उसके मुँहसे आवेशमें ऐसी-ऐसी गंदी बातें निकल जाती हैं कि जिन्हें सुनकर लज्जा आती है। जबानका घाव अमिट होता है। क्रोधावेशमें नारी अपने घर-परिवारके लोगोंको ऐसे शब्द कह बैठती है कि जन्मसे चला आता हुआ प्रेम सहसा नष्ट हो जाता है तथा जीवनभरके लिये परस्पर वैर बँध जाता है। इतना ही नहीं, क्रोधमें भरकर नारी ऐसी क्रिया कर बैठती है कि वह अपने स्वामीकी नजरसे भी गिर जाती है और फिर उम्रभर क्लेश सहती है। स्त्री जहाँ एक बार पतिकी आँखसे गिरी कि फिर सभीकी आँखोंसे गिर जाती है। अतः नारीको इस जघन्य दोषसे अवश्य बचे रहना चाहिये।

निन्दा—हिंसा-द्वेष—

जहाँ चार स्त्रियाँ इकट्ठी हुईं कि परचर्चा शुरू हुई। परचर्चामें यदि पराये गुणोंकी आलोचना हो, तब तो कोई हानि नहीं है; परंतु ऐसा होता नहीं। आजकल मानव-स्वभावमें यह एक कमजोरी आ गयी है कि वह दूसरोंके गुण नहीं देखता, दोष ही देखता है। कहीं-कहीं तो दोष देखते-देखते दृष्टि ऐसी दोषमयी बन जाती है कि फिर उसे सबमें सर्वत्र सदा दोष ही दीखते हैं और दोष दीखनेपर तो निन्दा ही होगी, स्तुति कैसे होगी। निन्दासे दोषोंका चिन्तन होता है; जिनकी निन्दा होती है, उनसे द्वेष बढ़ता है। द्वेषका परिणाम हिंसा है। अतएव परनिन्दासे बचना चाहिये। उचित तो यह है कि परचर्चा ही न हो। या तो भगवच्चर्चा हो अथवा सत्-चर्चा। यदि परचर्चा हो भी तो वह गुणोंकी हो, दोषोंकी नहीं। इससे सभीको शान्ति मिलेगी तथा बच्चे भी इसी आदर्शमें ढलेंगे। निन्दाकी भाँति चुगली भी दोष है। उससे भी बचना चाहिये। चुगली करके नारियाँ घरमें परस्पर झगड़ा कराने और घरके बर्बाद होनेमें कारण बनती हैं, जो सर्वथा अनुचित तथा हानिकारी है।

ईर्ष्या—

दूसरोंकी उन्नति देखकर, दूसरोंको धन-पुत्र आदिसे सुखी देखकर जलना ईर्ष्या या डाह है। यह बहुत बुरा दोष है और स्त्रियोंमें प्रायः होता है। इससे बहुत-से अनर्थोंकी उत्पत्ति होती है। अतएव इससे भी बचना आवश्यक है।

भेद—

नारियोंमें प्रायः दोष होता है कि वे घरके लोगों और नौकरोंके खान-पानमें तो भेद रखती ही हैं, अपने पति-पुत्रोंमें तथा घरके सास, ससुर, जेठ, देवर तथा ननद आदिमें एवं उनकी संतानमें भी खान-पान, वस्त्रादि पदार्थोंमें तथा व्यवहारमें भेद रखती हैं। बंबईमें एक सम्भ्रान्त घरकी बहूने पतिके लिये दही छिपाकर रख लिया था और विधुर ससुरके माँगनेपर वह झूठ बोल गयी थी। परिणाम यह हुआ कि ससुरने बुढ़ौतीमें दूसरा विवाह कर लिया और आगे चलकर उस पुत्र-वधू और पुत्रको ससुरके धनमेंसे कुछ भी नहीं मिला। अपने ही पेटके लड़के और लड़कीमें भी स्त्रियाँ भेद करते देखी जाती हैं। लड़केको बढ़िया भोजन-वस्त्र देती हैं, लड़कीको घटिया। लड़का अपनी बहिनको मारता है तो माँ हँसती है और कन्याको सहन करनेका उपदेश देती है; परंतु कन्या कहीं भाईको जरा डाँट भी देती है तो माँ उसे मारने दौड़ती है। पर आश्चर्य कि यह भेद तभीतक रहता है, जबतक कन्याका विवाह नहीं हो जाता। विवाह होनेके बाद माता अपनी कन्यासे विशेष प्यार करती

है और पुत्र-वधू तथा पुत्रसे कम। खास करके, पुत्र-वधूके प्रति दुर्व्यवहार और कन्याके प्रति सद्व्यवहार करती है। इस भेदसे भी घर फूटता है। नारियोंको इस व्यवहार-भेदका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

विलासिता-शौकीनी—

यह दोष आजकल बहुत ज्यादा बढ़ रहा है। भ्रष्ट तेल, साबुन, पाउडर, स्नो, बढ़िया-से-बढ़िया विदेशी ढंगके कपड़े-गहने आदिकी इतनी भरमार हो गयी है कि उसके कारण गृहस्थीका अन्य खर्च चलना कठिन हो गया है। पत्नियोंकी विलासिताकी माँगने पतियोंको तंग कर दिया है। इसीको लेकर रोज घरोंमें आपसमें झगड़े हो जाते हैं। यह भारतीय नारियोंके लिये कलंक है। शृंगार होता है पतिके लिये, न कि दुनियाको दिखानेके लिये। आजके फैशन तथा विलासिताने स्त्रियोंको बहुत नीचे गिरा दिया है। साज शृंगारमें घंटों समय व्यर्थ कर देना, खर्चको अत्यधिक बढ़ा देना, बुरी आदत डाल लेना—जो आगे चलकर दोहरा दुःख देती है—और घरके काम-काजमें हाथ न लगाना, ये बहुत बड़े दोष हैं, जो शौकीनीके कारण उत्पन्न होते हैं। स्वास्थ्य तथा सफाईके लिये आवश्यक उपकरण रखनेमें आपत्ति नहीं और न साफ-सुथरा रहनेमें दोष है; बल्कि साफ-सुथरा रहना तो आवश्यक है। दोष तो शौकीनीकी भावनामें है, जो त्याज्य है।

फिजूलखर्च—

शौकीनीकी भावनाके साथ ही दूसरी स्त्रियोंकी देखा-देखी तथा मूर्खतासे एवं संग्रह करनेकी आदतसे भी यह दोष बढ़ जाता है। वही गृहस्थ सुखी रहता है, जो आमदनीसे कम खर्च करता है। चतुर और सुघड़ बुद्धिमती स्त्रियाँ एक पैसा भी व्यर्थ खर्च नहीं करतीं। लोगोंकी देखा-देखी अनावश्यक सामान नहीं खरीदतीं, चौके तथा वस्त्राभूषणोंमें सादगीसे काम लेती हैं। बच्चोंको नहला-धुलाकर साफ-सादे कपड़े पहनाकर और उनके मनमें उस सादगी तथा सफाईमें ही गौरवबुद्धि उपजाकर सुन्दर सुडौल रखती हैं, जिससे न तो उनकी आदत बिगड़ती है और न खर्च ही अधिक होता है। खर्चकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अपव्यय करनेपर महीनेमें हजारों रुपये भी काफी नहीं होते और सोच-समझकर खर्च करनेसे इस महँगीमें भी सहज ही अपनी आमदनीके अंदर काम चल जाता है। स्त्रियोंको हिसाब रखना सीखना चाहिये और आमदनीमेंसे कुछ अवश्य बचाकर रखेंगी, ऐसा निश्चय करके ही खर्च करना चाहिये। *'ते ते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर।'*

गर्व-अभिमान—

कोई-कोई स्त्री अपने पति-पुत्रके धन या पद-गौरवका अथवा अपने गहने-कपड़ोंका गर्व—अभिमान वाणी और व्यवहारमें लाकर इतनी रूखी बन जाती हैं कि घरके लोगों तकको उससे बात करते डर लगता है और अपमान-बोध होता है। ऐसी स्त्री बिना मतलब सबको अपना द्वेषी बना लेती है। अतएव किसी भी वस्तुका गर्व कभी नहीं करना चाहिये।

दिखावा—

नारियोंके स्वभावमें प्रायः ऐसा देखा जाता है कि वे यही समझती हैं कि किसी भी चीजको दिखाकर करना चाहिये। कन्या या ननदको कुछ देंगी तो उसको पहले सजाकर लोगोंको दिखलायेंगी, तब देंगी। कहीं-कहीं तो दिखाया जाता है ज्यादा और दिया जाता है कम, जिससे कन्या आदिको दुःख भी होता है। इसी प्रकार किसी परिवारके या बाहरके अभावग्रस्त पुरुष या स्त्रीकी कभी कोई सेवा की जाती है तो ऐसा सोचा जाता है कि हमारी सेवाका पता इसको जरूर लग जाना चाहिये। सेवा करें और किसीको कुछ पता भी न चले तो मानो सेवा ही नहीं हुई। सेवा करके जताना, अहसान करना और बदलेमें कृतज्ञता तथा खुशामद प्राप्त करना ही मानो सेवाकी सफलताका निशान समझा जाता है। यह बड़ा दोष है। देना वही सात्त्विक है, जिसको कोई जाने ही नहीं। लेनेवाला भी न जाने तो और भी श्रेष्ठ।

विषाद—

कई स्त्रियोंमें यह देखा गया है कि वे दिन-रात विषादमें डूबी रहती हैं। उनके चेहरेपर कभी हँसी नहीं। दुःख-कष्टमें तो ऐसा होना स्वाभाविक है, पर सब तरहके सुख-स्वाच्छन्द्य होनेपर भी स्वभावसे ही हमेशा विषादभरी रहना और किसी बातके पूछते ही झुँझला उठना तो बड़ा भारी दोष है। इसको छोड़कर सर्वदा प्रसन्न रहना चाहिये। प्रसन्नता सात्त्विक भाव है। प्रसन्न मनुष्य सबको प्रसन्नताका दान करता है। विषादी और क्रोधी तो विषाद और क्रोध ही बाँटते हैं।

हँसी-मजाक—

कई नारियोंमें हँसी-मजाकका दोष होता है। कई तो देवर या ननदोई आदिके साथ गंदी दिल्लगी भी कर बैठती हैं। परिवारके तथा घरमें आने-जानेवाले पुरुषों तथा स्त्रियोंके साथ भी दिल्लगी करती रहती हैं। हँसमुख रहना गुण है। परंतु जहाँ हँसी-मजाककी आदत हो जाती है और उसमें ताना, व्यंग्य, कटुता और अश्लीलता आ जाती है, वहाँ उससे बड़ी हानि होती है। स्त्रीको सदा ही मर्यादामें बोलनेवाली और हँसमुखी होनेपर भी गम्भीर होना चाहिये।

वाचालता—

बहुत बोलना भी दोष है। इसमें समय नष्ट होता है, व्यर्थ-चर्चामें असत्य, पर-निन्दा, चुगली आदि भी हो जाते हैं। ज़बानकी शक्ति नष्ट होती है और घरके कामोंमें नुकसान होता है। गप लड़ानेवाली स्त्रियोंके घर उजड़ा करते हैं। अतएव नारीको सोच-समझकर सदा हितभरी, मीठी वाणी बोलनी चाहिये और वह भी बहुत ही कम। ज्यादा बोलनेवालीको तो भजन करनेकी फुरसत ही नहीं मिलती, जो बहुत बड़ी हानि है।

स्वास्थ्यकी लापरवाही तथा कुपथ्य—

स्त्रियोंमें यह दोष प्रायः देखा जाता है कि वे स्वास्थ्यकी ओरसे लापरवाह रहती हैं। रोगको दबाती तथा छिपाती हैं और कुपथ्य भी करती रहती हैं। जिन बहुओंको ससुरालमें सासके डरसे रोग छिपाना पड़ता है और रोगकी यन्त्रणा भोगते हुए भी जबरदस्ती बलवान् मजदूरकी तरह दिनभर खटना पड़ता है, उनकी बात दूसरी है। पर जो प्रमादवश या दवा लेने और पथ्यसे रहनेके डरसे रोगको छिपाती है, वह तो अपने तथा घरके साथ भी अन्याय करती है। साथ ही स्त्रियाँ प्रायः स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंको भी नहीं जानतीं; और कुछ जानती हैं तो उनकी परवा नहीं करतीं। ऐसा नहीं करना चाहिये।

मोह—

कई स्त्रियाँ मोहवश बच्चोंको अपवित्र वस्तुएँ खिलाती, अपवित्र रखती, जान-बूझकर कुपथ्य सेवन कराती, उन्हें झूठ बोलने, नौकरोंके साथ बुरा बर्ताव करने तथा गाली देने और मारनेकी बुरी आदत सिखाती, उनकी चोरी-चमारीकी क्रियाको सहकर उनका वैसा स्वभाव बनाती और पढ़ाने-लिखानेमें प्रमाद करती हैं। साथ ही उन्हें कुछ भी काम न करने देकर और दिन-रात खेल-तमाशों तथा सिनेमा वगैरहमें ले जाकर फिजूलखर्च, आलसी, सदाचाररहित, गंदा, रोगी और बुरे स्वभावका बनाकर उनका भविष्य बिगाड़ती हैं एवं परिणाममें उनको दुखी बनाकर आप भी दुखी होती हैं। इस दोषसे संततिका शील और सदाचार नष्ट हो जाता है और बच्चे कुलदीपकसे कुलनाशक बन जाते हैं। माताओंको व्यर्थके मोहसे बचकर बच्चोंको—पुत्र तथा कन्या दोनोंको—संयमी, धार्मिक, सदाचारी और सद्गुणसम्पन्न बनाना चाहिये, जिससे वे सुखी हों तथा अपने आचरणोंसे कुलका सिर ऊँचा कर सकें।

कुसंग—

स्त्रियोंको भूलकर भी परनिन्दा करनेवाली, खुशामद करनेवाली, झाड़-फूँक और जादू-टोना बतलानेवाली, पर-पुरुषोंकी प्रशंसा करनेवाली, विलासिनी, अधिक खर्च करनेवाली, इधर-उधर भटकनेवाली, कलहकारिणी और कुलटा स्त्रियोंका संग नहीं करना चाहिये। इनका संग कुसंग है तथा सब प्रकारसे पतनका कारण है।

आलस्य—

आलस्य, प्रमाद और निद्रा तमोगुणके स्वरूप हैं। तमोगुणसे चित्तमें मलिनता आती है और जीवनमें प्रगतिका मार्ग रुक जाता है। अतएव स्त्रियोंको सदा सत्कर्मोंमें लगे रहना चाहिये और आलस्य-प्रमादादिसे बचना चाहिये।

व्यभिचार—

स्त्रियोंके लिये यह सबसे बड़ा दोष है। शरीरसे तो क्या, वाणी और मनसे भी पर-पुरुषका सेवन करना महापाप है। सतीत्वका नाशक है। लोकमें निन्दा करानेवाला और परलोकको बिगाड़नेवाला है। जो नारी ऐसा करती है, उसका मुँह देखना पाप है। उसे लाखों-करोड़ों बरसोंतक नरकोंकी भीषण यन्त्रणा भोगनी पड़ती है और तदनन्तर जहाँ जन्म होता है, वहाँ बार-बार भाँति-भाँतिके भीषण दुःखों-कष्टोंका भार वहन करके जीवनभर रोना पड़ता है।

छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥

धरोहरकी वापसी

छज्जू भगतके जीवनपर आधारित एक कहानी

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच० डी०)

'बेगम! अल्लाहका शुक्र है हजकी पूरी तैयारी हो चुकी है, बहुत कम इंसानोंको हज शरीफ करनेका मौका मिलता है या परवर दिगार! हमेशा अपना रहमोकरम बनाये रखना!' पठान युसूफने अपनी पत्नीसे कहा!

'दरअसल हम लोग बड़ी किस्मतवाले हैं, जो हजके लिये जा रहे हैं।' 'क्या घरका सारा सामान अच्छी तरह बाँध लिया है तुमने? देखो, हमें हजमें आठ महीनेसे भी ज्यादा वक्त लग सकता है। तमाम कीमती चीजोंको पूरी हिफाजतसे रखना, यहाँ लाहौरमें गुंडे-चोर-गिरहकट भी बहुतेरे हैं।'

पत्नी फातिमा बोली—'मेरी एक उलझन है। समझमें नहीं आ रहा कि कैसे हल करूँ? कुछ नकदी है, उसे कहाँ रखूँ?' कितनी नकदी है बेगम?

'जिंदगी भर किफ़ायतसे रहते-रहते मैंने मुसीबतके वक्त काम आनेके लिये एक सौ अशर्फियाँ इकट्ठा कर रखी हैं। सोच रही हूँ कि हजके लिये जानेसे पहले उन्हें कैसे हिफाजतसे रखा जाय?'

'यह तो बड़ा आसान है। लाओ, ये अशर्फियाँ हम लाहौरके किसी साहूकारके पास धरोहरके रूपमें रख देते हैं। साहूकारके यहाँ पूरी हिफाजत रहेगी। उनकी साख है। बहुतसे और लोग भी अपनी रकम उन्हींके पास जमा कराते हैं। हम भी धरोहर उन्हींके पास रख देते हैं।'

'मुझे इन साहूकारोंपर यकीन नहीं है। लालची लोगोंका क्या विश्वास? हम ठहरे सीधे-साधे अल्लाहके बंदे। साहूकारोंके छंद-फंदसे वाकिफ नहीं हैं।'

'तो क्या चाहती हो? साफ कहो न?'

'ये सौ अशर्फियाँ आप पूरे लाहौरमें मशहूर ऊँचे संत छज्जू भगतजीके पास धरोहरके रूपमें जमा करा आवें। उनपर मुझे यकीन है। उनके पास पूरी सुरक्षा रहेगी।'

पठान व्यापारीने यह सुझाव सुना तो चकित रह गया! क्या कहती है यह नासमझ औरत! भला किसी फकीरके पास भी रकम जमा की जाती है? छज्जू भगतजी अल्लाहके बंदे हैं। बैरागी हैं। कभीके दुनियाके जंजाल, माया-मोह-ममता, लोभ-लालच वगैरह छोड़ चुके हैं। संत-महात्माओं और फकीरोंको रुपये-पैसेकी चौकीदारी, सुरक्षा, हिफाजतसे क्या वास्ता? उनके पास तो तन ढकने तकको पूरे कपड़े नहीं, ठंडसे बचनेके लिये लिहाफ और कम्बलतक नहीं, पास एक पैसा नहीं, फिर वे भला सम्पत्तिकी रक्षा करना क्या जानें? लाहौर शहरके उस पठान व्यापारीने अपनी पत्नीको तरह-तरहके तर्क दिये। फकीरोंसे धोखा लगनेकी बात कही, पर उसकी पत्नीने एक न मानी। वह किसी साहूकारके पास सौ अशर्फियाँ रखनेको राजी न हुई। छज्जू भगतके पास ही रकम रखनेको कहती रही।

पत्नीने तर्क पेश किया—'ये साहूकार तो लोभ-लालचके पुतले हैं। सारे दिन माया-मोहमें लिपटे रहते हैं। ब्याज कमाते हैं, कितनोंकी ही रकम हड़प कर लेते हैं। पैसे लेकर मुकर जाते हैं या कम देते हैं। कभी अपना दिवाला ही निकाल डालते हैं। बहुतोंके पैसे मार लेते हैं या मुकदमेबाजीमें फँसा लेते हैं। मैंने बहुतोंको रोते-कलपते देखा है। मुझे इन ठगों-साहूकारोंपर भरोसा नहीं।'

'फिर किसके पास इस रकमको रखना चाहती हो?'

'मैं एक नेक और पाक गरीबको इन अमीर साहूकारोंसे बेहतर समझती हूँ।'

'वह तो ठीक है, पर रुपया-पैसा लोभ-लालचमें फँसा देता है।'

'पाक इंसानको नहीं। वे तो तमाम दुनियादारीके लालचसे मुक्त रहते हैं।'

'तुम्हारे सामने तो हम लाचार हैं बेगम! लिहाजा अब तुम्हीं तय करो कि किसके पास इन सौ अशर्फियोंको रखा जाय।'

'छज्जू भगतजी अल्लाहके सच्चे बंदे हैं। एक नेक और पवित्र इंसान हैं। तमाम लालच—माया-मोहसे परे हैं। ऐसे पाक इंसानके पास ही मैं अपनी सम्पत्ति रखना पसंद करूँगी।'

'लेकिन उनके पास तिजोरी तो क्या, कोई टूटा-फूटा संदूक भी नहीं है, ढंगका सुरक्षित मकान तक नहीं, फिर भला कैसे सम्पत्तिकी रक्षा होगी'?

लेकिन पत्नी मानी नहीं। 'मैं तो छज्जू भगतके पास ही रकम रखना पसंद करूँगी'—यही जिद करती रही। विवश होकर पठान व्यापारी छज्जू भगतजीके चौबारेपर रकम जमा कराने पहुँचे।.......... ।

'मेरी एक प्रार्थना है, भगतजी?'

'कहो भक्त! क्या चाहते हो? कोई आध्यात्मिक उलफत हो तो जरूर मदद करूँगा।' भगतजी बोले।

'नहीं, एक मामूली सांसारिक बात है?'

'फिर बोलो, मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ?'

मेरी पत्नीने यह सौ अशर्फियाँ हज जानेकी वजहसे आपके पास धरोहरके तौरपर सुरक्षित रखनेके लिये भेजी है। वह किसी सेठ-साहूकारपर यकीन नहीं करती, उसे आपपर ही पूरा भरोसा है। आपसे मेरी प्रार्थना है कि यह रकम अमानतके तौरपर हमारे हजसे लौट आनेतक अपने पास रख लें।'

छज्जू भगत आश्चर्यमें पड़ गये। बड़ी विचित्र उलझन थी! पहली बार किसीने अपनी जमा पूँजीको उनके पास सुरक्षित रखनेके लिये दी थी। रख लें या इनकार कर दें? उनके मनमें द्वन्द्व उत्पन्न हो गया।

भगतजी कहने लगे, 'मेरे पास न कोई बड़ी स्टीलकी तिजोरी है, न कोई चौकीदार! न इस तरहकी कोई कीमती रकम या सामान रखनेके लिये संदूक या खास इन्तजाम! जिन्दगीमें खुद अपने पास ही पैसे नहीं रखे, दूसरोंकी क्या हिफाजत करूँगा? आप कहीं और यह रकम रखें।'

लेकिन पठान व्यापारीने अशर्फियोंकी थैली भगतके सामने रख दी। कहा, 'अब यह थैली आपको समर्पित है। मेरी पत्नीको आपकी हिफाजतपर पूरा यकीन है। पुरजोर शब्दोंमें उसने इस थैलीको आपके पास रख आनेको कहा है। मैं बेबस हूँ। आप जो चाहें, करें। मैं तो चला। यह पड़ी है।'

'अच्छा ठहरो! जब मेरे पास रखनी ही है तो एक काम करो। खान साहब! वह सामनेवाला एक ताक खाली पड़ा है। अल्लाहपर भरोसा रखकर उसके एक कोनेमें आप अपनी यह थैली रख दीजिये। जब आप आठ-नौ महीनेमें हजसे वापस लौटेंगे, तब आपको यह थैली यहीं ऐसे ही पड़ी मिल जायगी।'

लिहाजा पठान व्यापारीने अशर्फियोंकी थैली ताकमें रख दी और वापस घर लौट आये।

वे अपनी पत्नीके साथ हज करने मक्का-मदीनाकी तरफ पानीके जहाजसे रवाना हुए। उस युगमें हजमें नौ-दस महीने लग जाते थे। बड़ी-बड़ी तकलीफें भुगतनी पड़ती थीं और कितने ही हज यात्री तो असमय ही बीमार पड़ स्वर्गवासी हो जाते थे। हजसे सकुशल वापसीका कोई भरोसा नहीं था।

ईश्वरके बन्दे खान साहब अल्लाहको याद करते-करते सकुशल हजसे वापस लौटे। अब फिरसे सांसारिक दाल-रोटीकी फिक्र पड़ी। हजमें काफी रकम खर्च हो चुकी थी। हाथमें कुछ न था।

'वे छज्जू भगतजीके चौबारेपर रकम लेने पहुँचे। दरवाजा खट-खटाया और भगतजीसे प्रार्थना की, भगतजी नौ-दस महीने पहले मैं एक थैली आपके पास अमानतके तौरपर रख गया था। उसकी जरूरत है।'

भगतजीने कहा, 'मुझे तो याद नहीं पड़ता। अल्लाहके नामसे ही फुरसत नहीं मिली। जहाँ तुमने अपनी थैली रखी हो, वहींसे तलाश कर लो।'

'खान साहब उसी आलेकी ओर गये। वहाँ धूल-ही-धूल भरी हुई थी। धूलमेंसे थैली बड़ी मुश्किलसे निकाली। वह धूलसे ऐसी पटी हुई थी और ऐसा प्रतीत होता था जैसे नौ-दस महीनेसे उसे किसीने स्पर्शतक न किया हो। खान साहबने धूल झाड़-पोंछकर उसे साफ किया और बिना गिने ही अशर्फियोंकी थैली लेकर अपने घर वापस लौट आये।

× × ×

घरपर दरवाजा बन्दकर उन्होंने रकमको गिना। उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि गिननेके बाद उसमें पाँच अशर्फियाँ कम निकलीं।

अब तो खान साहब क्रोधसे आग-बबूला हो गये। भाँति-भाँतिके भ्रामक विचार उनके मनमें समुद्रकी लहरोंकी भाँति उठने लगे। किसने चुराई ये अशर्फियाँ? कहाँ गयी? छज्जू भगतपर तो मेरी पत्नीको बड़ा यकीन था। वे ही छिपे रुस्तम निकले। बाहरसे कैसे भोले-भाले भक्त लगते हैं। भक्तोंकी संख्या खूब बढ़ा रखी है। कहते हैं हम फकीर हैं। संन्यासी हैं। हमें रुपये-पैसेका लोभ-लालच नहीं है? लानत हैं ऐसे फकीरोंपर जो दूसरोंको धोखा देते हैं। वे भावनामें बहकर क्रोधावेशमें छज्जू भगतके चौबारेपर जा पहुँचे। सारे रास्ते भर भगतको कोसते और गालियाँ देते आये थे। अब भी आपेसे बाहर हो रहे थे। भावावेशमें मनुष्य पागल हो उठता है, उसकी विवेक-बुद्धि काम नहीं करती। जिससे मिलते भगतकी बेईमानीकी ही बात कहते। भगतजी कपटी हैं, ढोंगी है। गरीबोंतकका माल हड़प कर लेते हैं। मेरी तो पाँच अशर्फियाँ ही चुरा ली हैं।'

जो भी सुनता, उसे छज्जू भगतपर किये गये इन आरोपोंपर सहज ही विश्वास न हो पाता। कारण, उनकी

प्रतिष्ठा तो सर्वथा अग्निमें तपे सोनेकी तरह खरी थी।

अचानक बीस-पच्चीस लोग क्रोधमें भरे गालियाँ देते हुए चौबारेपर पहुँचे। गालियोंका गुबार निकलता रहा। विरोधियोंको मौका मिला था। उन्होंने जी भरकर अपने मनका मैल उड़ेला।

बेचारे छज्जू भगत शान्तिपूर्वक सब गालियाँ पत्थरपर बरसती बूँदोंकी तरह सहते रहे।

'जब शान्ति हुई तो बड़े रुन्दे स्वरमें सान्त्वना देते हुए भगतजीने कहा,' 'देखिये मैं तो परमात्माका बन्दा हूँ। दुनियादारी कभी की छोड़ वैराग्य ले लिया है। दूसरोंकी हानिका विचार कभी नहीं करता हूँ। '**एको लोभो महाग्राहः।** अर्थात् लोभको मैं बड़ा भारी मगरमच्छ मानकर हमेशाके लिये त्याग चुका हूँ।' **अन्तो नास्ति पिपासायाः**—अर्थात् तृष्णाका अन्त नहीं, परम सुख संतोषमें है। यह सदा मानता आया हूँ। मित्रो, **क्रोधमूलो हि विग्रहः** (महाभारत वन प० २६। २१) अर्थात् विवादका मूल कारण क्रोध है। आवेशमें हमें उचित-अनुचितका ज्ञानतक नहीं रहता। '**सुखस्य मूलं धर्मः**' (चाणक्य सू० १। १) अर्थात् धर्म ही सुख-शान्तिका आधार है। आपसे मैंने पहले ही कहा था कि मैं कोई साहूकार नहीं हूँ। मेरे पास रकमको सँभालनेका कोई उत्तम साधन नहीं है। आप यह रकम किसी साहूकारके पास रख दें तो अधिक सुरक्षित रहेगी। जब आप न माने, तब मैंने सामनेवाले ताकमें अशर्फियोंकी थैली रखनेको कहा था। जब आप रखने आये थे, तब मैंने अशर्फियाँ नहीं गिनी थी। थैली जैसी बन्द-की-बन्द आपने रखी थी, वैसी ही बन्द-की-बन्द आप ले गये। मैंने न आपकी अशर्फियाँ देखीं और न गिनीं ही। आप एक ईमानदार इन्सान हैं। हज करनेसे और भी पाक और नेक हो गये हैं। अल्लाहके भक्त होनेके नाते मैं आपकी इज्जत करता हूँ। आप जो कहते हैं, वह ठीक ही होगा। मेरा पुत्र अभी बाजार कामपर गया है। वह मजदूरीसे लौटेगा, तो उससे कह दूँगा कि आपकी खोई हुई अशर्फियाँ बाजारसे खरीदकर वापस कर दे।

इस बातपर तो लोगोंका संदेह विश्वासमें बदल गया कि भगतजीने जरूर चोरी की है। उन्होंने और भी बुरा भला कहा। खूब गालियाँ दीं। भक्तिमें ढोंग किया है। लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंकता है।

पठान साहब जब घर लौटे तो उनकी पत्नीने उन्हें बड़ा लापरवाह और गैर जिम्मेदार बताते हुए कहा कि आप कमरेमें अशर्फियोंकी थैली खुली छोड़कर बिना कुछ कहे-सुने कहाँ चले गये?

इसपर पठान व्यापारीने पाँच अशर्फियाँ कम निकलनेवाला सारा किस्सा पत्नीको कह सुनाया।

आश्चर्य! वहाँ अब अजीब नजारा छा गया? पत्नी उलटे अपने पतिपर बरस पड़ी—

'आप बड़े जल्दबाज हैं। जजबातमें बिना सोचे-विचारे कुछ-का-कुछ कर बैठते हैं। भावुकता और क्रोधमें अन्धे हो जाते हैं। भला मुझसे क्यों नहीं पूछा?'

'अरे हुआ क्या? साफ-साफ कहो न?'

'छज्जू भगत नेक इन्सान और अत्यन्त पवित्र भक्त हैं। वे ईश्वरके सच्चे भक्त हैं।'

'लेकिन पाँच अशर्फियाँ चुराकर उन्होंने अपनी ईमानदारी नष्ट कर ली है।'

'कतई नहीं।'

'वह कैसे? कुछ स्पष्ट करोगी या पहेलियाँ ही बुझाती रहोगी? पत्नी बोली, 'जब हम हज करने गये थे तो मैंने पाँच अशर्फियाँ आड़े वक्त जरूरतके लिये निकालकर अपने पास रख ली थी और पंचानबे अशर्फियाँ ही धरोहरके रूपमें थैलीमें रखनेके लिये दिया था। भगतजीने थैलीमेंसे कुछ भी नहीं निकाला है। ऐसे पवित्र इन्सानको आपने बुरा-भला कहकर बड़ा पाप किया है। ईश्वरकी सजा आपको मिलेगी।'

'अब क्या करूँ? गलती तो कर बैठा हूँ।'

'जल्दी करो, छज्जू भगतजीसे जाकर माफी माँगो। वे वास्तविक अर्थोंमें भक्त हैं। अवश्य ही क्षमा कर देंगे! पापको स्वीकार कर भविष्यमें वैसा न करनेका निश्चय ही प्रायश्चित्त है।'

जब पठानने क्षमा याचना की तो भक्तने उसे हृदयसे लगा लिया! भक्त छज्जू बोले—

'सुवा तेरी निन्दिया, ने सुवा तेरी उस्तत
छज्जे तू उत्थे का उत्थे ही है।'

'अर्थात् तेरी निन्दा और स्तुति दोनोंपर ही धूल पड़े।' छज्जू भगतपर निन्दा और स्तुति दोनोंका कोई असर नहीं। वास्तवमें उनकी मानसिक स्थिति तो स्थितप्रज्ञ की थी।

आकस्मिक और अकाल मृत्यु

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

एक 'आकस्मिक मृत्यु' होती है और एक 'अकाल मृत्यु' होती है। दोनोंका भेद न जाननेके कारण लोग आकस्मिक मृत्युको भी अकाल मृत्यु कह देते हैं, जबकि वह अकाल मृत्यु होती नहीं। इसलिये दोनोंका भेद जानना आवश्यक है।

कोई आदमी मरना चाहता नहीं, पर अचानक उसकी मृत्यु हो जाय अर्थात् वह किसी दुर्घटना (एक्सीडेंट)-में मर जाय, मकानसे गिरकर मर जाय, साँप काटनेसे मर जाय, नदीमें डूबकर मर जाय, बिजलीसे मर जाय, भूकम्प आदिसे मर जाय तो यह उसकी **'आकस्मिक मृत्यु'** है।

कोई आदमी आत्महत्या कर ले अर्थात् मरनेकी इच्छासे फाँसी लगा ले, जहर खा ले, रेलके नीचे आ जाय, छतसे कूद जाय, नदीमें कूद जाय अथवा अन्य किसी उपायसे जान-बूझकर मर जाय तो यह उसकी **'अकाल मृत्यु'** है।

आकस्मिक मृत्यु तो प्रारब्धके अनुसार आयु पूरी होनेपर ही होती है, पर अकाल मृत्यु आयुके रहते हुए ही होती है। अकाल मृत्यु अर्थात् आत्महत्या एक नया घोर पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। जो आत्महत्या करता है, उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है, जिसका परलोकमें भयंकर दण्ड भोगना पड़ता है। भगवान्ने अपनी प्राप्तिके लिये, अपना उद्धार करनेके लिये ही कृपापूर्वक मनुष्य-शरीर दिया है*। ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको आत्महत्या करके नष्ट कर देना महापाप है, बड़ा भारी पाप है!

आत्महत्या करनेपर भी कभी-कभी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसमें यह कारण रहता है कि उसके जीवनका सम्बन्ध किसी दूसरे प्राणीके साथ है। जैसे, भविष्यमें किसीका बेटा होनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी मरेगा नहीं; क्योंकि आगे होनेवाले बेटेका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। ऐसे ही दूसरेका प्रारब्ध साथमें जुड़ा हुआ रहता है तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरता नहीं। अगर भविष्यमें उसके द्वारा कोई विशेष कार्य होनेवाला हो अथवा प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरेगा नहीं। परंतु उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप तो लगेगा ही और दुःख भी बड़ा भारी होगा! जैसे, किसीने जजके सामने बंदूक करके गोली चला दी, पर गोली जजको लगी नहीं तो भी उसको सजा होती है; क्योंकि उसकी नीयत तो जजको मारनेकी थी। ऐसे ही आत्महत्याकी नीयत होनेमात्रसे पाप लगता है।

आत्महत्या करनेवालेको मरते समय बड़ा भयंकर कष्ट होता है और वह मरनेसे बचना चाहता है कि मैं अब किसी तरह बच जाऊँ, पर बचनेकी सम्भावना रहती नहीं! उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि मैंने बहुत बड़ी गलती की, पर अब क्या हो! इसलिये आत्महत्याकी इच्छा करना भी घोर पाप है।

कितनी ही आफत आ जाय, कितना ही दुःख हो जाय, कितना ही अपमान हो जाय, आत्महत्याकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। पहले किये कर्मोंके फलस्वरूप जो दुःखदायी परिस्थिति आनेवाली है, वह तो आयेगी ही†। आत्महत्या करके भी उससे कोई बच नहीं सकता। उल्टे आत्महत्याका एक नया पाप-कर्म और हो जायगा! परंतु दुःखदायी परिस्थितिको सहनकर लेंगे तो पुराने पाप नष्ट होंगे और हम शुद्ध हो जायँगे। कोई भी परिस्थिति सदा रहनेवाली नहीं

*बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥ (मानस, उत्तर० ४३। ४)
आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस, उत्तर० ४४। २-३)

†अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

होती। न सदा सुख रहता है, न सदा दुःख रहता है। सूर्यका उदय होनेके बाद अस्त होना और अस्त होनेके बाद उदय होना प्रकृतिका नियम है। अतः दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये—

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥

(महाभारत, शान्ति० २५। ३१)

'सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं। इसलिये धीर पुरुष इनके लिये न हर्ष करे, न शोक करे।'

यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण, पूर्व० ३७। ४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा जिनकी बुद्धिमें निश्चय होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

जब भगवान्‌का चरणामृत लेते हैं, तब बोलते हैं—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

'भगवान् विष्णुका चरणामृत अकाल मृत्यु (कुबुद्धि)-का हरण करनेवाला तथा सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाला है। उसको ग्रहण करनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता।'

इसलिये सभीको भगवान्‌का चरणामृत लेते रहना चाहिये, जिससे ऐसी (आत्महत्याकी) कुबुद्धि, खोटी बुद्धि पैदा न हो। गङ्गाजल भगवान् विष्णुके ही चरणोंका जल है। अतः सभीको अपने घरोंमें गङ्गाजल रखना चाहिये और छोटे-बड़े सबको सुबह-शाम उसका चरणामृत लेना चाहिये।

अगर एक आदमी दूसरे आदमीकी हत्या कर दे तो यह मरनेवालेकी तो आकस्मिक मृत्यु है, पर मारनेवालेका नया पाप है, जिसका भयंकर दण्ड उसको भोगना पड़ेगा। कारण कि किसीके भी प्रारब्धमें ऐसा विधान नहीं होता कि वह अमुक आदमीके हाथसे मरेगा। मरनेवाला आयु पूरी होनेपर किसी भी कारणसे मर सकता है, पर उसको मारनेवाला मुफ्तमें ही निमित्त बनकर पापका भागी हो जाता है। जैसे, न्यायालयने एक आदमीको दस बजे फाँसी देनेका हुक्म दिया। परंतु एक दूसरे आदमीने उसको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसकी हत्या कर दी। ऐसी स्थितिमें उस हत्यारेको भी फाँसीकी सजा होगी। कारण कि न्यायालयने उसको मारने (फाँसी देने)-का हुक्म जल्लादोंको दिया था, न कि दूसरे आदमीको।

मनुष्य चाहे तो अपनी आयु दूसरेको भी दे सकता है। परंतु यह अधिकार उसी मनुष्यको है, जिसने परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ली है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिगको ही होता है, नाबालिगको नहीं होता, ऐसे ही अपनी आयु देनेका अधिकार तत्त्वज्ञान होनेपर ही होता है। जबतक तत्त्वज्ञान, परमात्मप्राप्ति, जीवन्मुक्ति न हो, तबतक मनुष्य नाबालिग है और वह अपनी आयु दूसरेको नहीं दे सकता। कारण कि भगवान्‌ने अपना कल्याण करनेके लिये ही आयु दी है, इसलिये उसको अपने तथा दूसरोंके कल्याणमें लगाना चाहिये। उसको नष्ट नहीं करना चाहिये।

राजस्थानमें एक संत थे। वे और उनकी माँ—दोनों ही तत्त्वज्ञानी थे। जब उनका अन्तसमय नजदीक आया, तब उनकी माँने अपनी आधी उम्र उनको दे दी, जिससे वे पुनः जी उठे। बादमें जब वे मरे तो माँ और बेटा दोनों एक साथ ही मरे! इसलिये जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है, ऐसा समर्थ व्यक्ति ही अपनी आयु दूसरेको दे सकता है। परंतु ऐसा तभी होता है, जब आयु देनेवालेकी, लेनेवालेकी और भगवान्‌की—तीनोंकी मरजी हो। एककी मरजीसे कुछ नहीं होता।

दधीचि ऋषिने देवताओंके हितके लिये अपने प्राण छोड़ दिये, पर उनको पाप नहीं लगा; क्योंकि वे समर्थ थे। रामायणमें आया है—

समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥

(मानस, बाल० ६९। ४)

पृथ्वीपर जो मल-मूत्र आदि अशुद्ध वस्तुएँ रहती हैं, उनको भी अपनी किरणोंसे खींचकर सूर्य उनको शुद्ध बना देता है, इसलिये सूर्य समर्थ है। चन्दन हो या मुर्दा हो, अग्नि सबको जलाकर शुद्ध कर देती है, इसलिये अग्नि समर्थ है। गङ्गामें अशुद्ध वस्तु पड़ जाय तो वह उसको भी शुद्ध बना देती है, इसलिये गङ्गा समर्थ है। अतः 'समर्थ' नाम उसका

है, जो असमर्थको समर्थ कर दे, अशुद्धको शुद्ध कर दे, अपवित्रको पवित्र कर दे और स्वयं ज्यों-का-त्यों शुद्ध, पवित्र रहे। जो दूसरेको असमर्थ बनाता है, वह तो राक्षस, असुर होता है। जिसके पास धन ज्यादा है, वह भी समर्थ नहीं है। वह बेचारा तो धनका गुलाम है, दयाका पात्र है। ऐसे ही जिसके पास ज्यादा बल है अथवा ऊँचा पद है, वह भी समर्थ नहीं है; क्योंकि वह बल, पद, अधिकार आदिका गुलाम है। उसमें जो समर्थता दीखती है, वह उसकी खुदकी नहीं है, प्रत्युत उसको मिले हुए धन, पद, अधिकार, बल, राज्य आदिकी है, जो कि बिछुड़नेवाले हैं। आगन्तुक वस्तुओंसे अपनेको समर्थ मान लेना बेईमानी है।

कोई स्त्री सती होती है तो उसको आत्महत्याका पाप नहीं लगता; क्योंकि यह आत्महत्या है ही नहीं। सती होनेवाली स्त्री जान-बूझकर नहीं जलती। वह अपने आयुका नाश नहीं करती, प्रत्युत त्याग करती है। सती होना कोई साधारण बात नहीं है। जिसके भीतर 'सत्' आ जाता है, वह आगके बिना भी जल जाती है और जलते समय उसको कोई कष्ट भी नहीं होता। वर्तमान समयकी एक सत्य घटना है। हरदोई जिलेमें इकनोरा गाँव है। वहाँ एक लड़की अपने मामाके घरपर थी। उसका पति मर गया। उस लड़कीको जब पतिकी मृत्युका समाचार मिला तो उसने मामासे कहा कि मेरेको जल्दी पतिके पास पहुँचा दो। मामाने कहा कि कैसे पहुँचाऊँ? शरीर तो अब जल गया होगा! उसने कहा कि मैं सती होऊँगी। मामाने मना किया तो उसने अपनी अँगुली दीयेपर रखी। वह अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी। वह बोली कि अगर आप मेरेको सती होनेसे रोकेंगे तो आपका सब घर जल जायगा। मामा डर गया। उस लड़कीने दीवारपर अपनी जलती हुई अँगुलीको बुझाया और घरसे बाहर निकलकर पीपलके नीचे खड़ी हो गयी। उसने लकड़ी माँगी तो किसीने दी नहीं। उसने सूर्यसे प्रार्थना की कि ये मेरेको लकड़ी नहीं देते हैं, आप ही कृपा करके मेरेको अग्नि दो। ऐसा कहते ही उसके शरीरमें अपने-आप आग लग गयी और वह वहीं जल गयी। गाँवके लोगोंने यह सब अपनी आँखोंसे देखा। करपात्रीजी महाराज भी वहाँ गये थे और उन्होंने दीवारपर पड़ी वे काली लकीरें देखीं, जो जलती हुई अँगुली बुझानेसे खिंच गयी थीं, और पीपलके जले हुए पत्ते भी देखे। 'गीताप्रेस'के 'कल्याण'-विभागसे भी एक आदमी वहाँ गया था और उसने इस घटनाको सत्य पाया। उसने वहाँके मुसलमानोंसे पूछा तो उन्होंने भी कहा कि यह सब घटना हमारे सामने घटी है।

राजस्थानके दूधोर गाँवकी एक ठकुरानी थी। जब उसके पतिका शरीर शान्त हुआ तो उसको 'सत्' चढ़ गया। उस समय अँग्रेजोंका शासन था। अतः अँग्रेजोंके भयसे वहाँके लोगोंने कह दिया कि हम सती नहीं होने देंगे। पर उसने स्नान करके शृंगार करना शुरू कर दिया। लोगोंने दरवाजा बंद कर दिया। राजपूतोंके घरोंके दरवाजे भीतरसे बंद हुआ करते थे, बाहरसे नहीं। इसलिये दोनों किवाड़ोंकी जो कड़ियाँ थीं, उसमें साँकल डाल दी गयी और उस साँकलको पकड़कर तथा दरवाजेपर पैर देकर दो आदमी खड़े हो गये। उधर वह अच्छी तरहसे शृंगार करके आयी और भीतरसे दरवाजेको झटका दिया तो आदमीसहित वह दरवाजा नीचे आ पड़ा! वह बाहर निकल गयी। रास्तेमें जितने मन्दिर थे, उनको नमस्कार करती हुई वह श्मशान-भूमि पहुँची। वहाँ उसके पतिका शव जल रहा था। वहाँ खड़े आदमियोंने उसको आते देखा तो जैसे कबूतरको पकड़ते हैं, ऐसे ऊपरसे बड़ा कपड़ा डालकर पकड़कर उठा लिया और घर ले आये। घरके भीतर मन्दिरमें वह दस दिनतक रही। बादमें उसने मेरेसे भागवत-सप्ताह-कथा सुनी। उस समय मेरेको उसने बताया कि दस दिनतक मेरे पास एक प्रकाश रहा। फिर धीरे-धीरे वह प्रकाश ऊपरकी ओर चला गया।

तात्पर्य है कि सती जान-बूझकर नहीं होती। जब उसको 'सत्' चढ़ता है, तब वह सती होती है। उस समय वह जो बात कह देती है, शाप या वरदान दे देती है, वह सत्य होता है। अब समय बहुत गिर गया है, इसलिये आजकलके लोग इन बातोंको समझते नहीं। अगर किसानसे कोई कह दे कि तुम हवाई जहाज बनाओ तो वह कैसे बना देगा? जिस विषयको वह जानता ही नहीं, उसको क्या वह बता देगा? इसी तरह जो संसारमें रचे-पचे हैं, वे बेचारे धार्मिक और पारमार्थिक बातोंको क्या समझें? ***'माया को मजूर बंदो कहा जाने बंदगी'!***

रोटीकी समस्याका अवाञ्छनीय अर्थ

(श्रीमुरलीधरजी दिनोदिया बी०ए०, एल्-एल्०बी०)

वर्तमान विश्वव्यापी विद्वेष, वैमनस्य और विवेकहीन संहारकी तहमें 'रोटीकी समस्या' बतलायी जाती है। बेचारी 'रोटी'को इतना बदनाम और कभी नहीं किया गया। 'रोटी'से तात्पर्य है मनुष्य-जीवनकी रोटी-कपड़े आदिकी सामान्य आवश्यकताएँ। वास्तवमें तो यह 'रोटी' कभी इतनी महँगी नहीं हो सकती कि इसके लिये मनुष्यको मनुष्य खाने लगे अथवा ग्रामीण प्रयोगानुसार 'हाथको हाथ खाने लगे'। परंतु जीवनकी सामान्य आवश्यकताओंको जहाँ असामान्य बना दिया जाता है, वहींसे रोगकी जड़ शुरू होती है। 'बना दिया जाता है'का प्रयोग जान-बूझकर किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण इन आवश्यकताओंको घटानेका है और पाश्चात्त्य दृष्टिकोण बढ़ानेका है। इस घटाने-बढ़ानेकी सीमाएँ निर्धारित नहीं की जा सकती हैं और इसलिये तत्त्वत: आतिशय्य दोनोंका ही अवाञ्छनीय है। जीवनमें व्यावहारिक दृष्टिकोण ही कल्याणकर है।

तात्पर्य यह कि आवश्यकताओंको बढ़ाते-बढ़ाते हम आज इतने बढ़े चले आये हैं कि कहीं ओर-छोर ही दिखलायी नहीं पड़ रहा है, आँखें आकाशकी ओर और पैर धरतीसे नीचे। फल यह हुआ कि हमारा जीवन-दृष्टिकोण ही अर्थमय हो गया है, हमारी रग-रगमें अर्थ समा गया है। सावनके अंधेको जैसे सब कुछ हरा दिखलायी पड़ता है, ऐसे ही हमारी आँखोंपर भी केवल अर्थका ऐनक चढ़ गया है। शय्या-त्यागसे लेकर शय्या-ग्रहणतक सारा समय 'हाय पैसा, हाय पैसा' करते बीतता है। सम्बन्ध, वय, पद, योग्यता, आचार-विचार, आत्मीयता, सौजन्य, परलोक आदि सबको धता बताकर आज एक पैसेके पैमानेसे मनुष्यकी नाप-जोख की जाती है। आदमीका तोल-मोल, उसकी कद-कीमत, मान-प्रतिष्ठा उतनी ही है जितना कि उसके पास पैसा है। आप त्यागी हैं, तपस्वी हैं, विद्वान् हैं, चचा-ताऊकी कौन कहे—सगे पिता हैं, पति हैं। जो कुछ भी हैं, यदि आपके पास प्रचुर परिमाणमें पैसा नहीं है तो आप इनमेंसे कोई भी नहीं हैं। इसलिये यदि आप अपना नाम इनमेंसे किसी भी 'लिस्ट'में चढ़ाया जाना चाहते हैं अथवा उसे समाजकी 'ब्लैक लिस्ट'मेंसे 'कटाना' चाहते हैं तो आप चाहे जैसे भी, कुछ भी करके पैसा पैदा कीजिये। 'चाहे जैसे भी, कुछ भी करके' साभिप्राय लिखा है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि एक-दूसरेसे महत्तर, श्रेष्ठतर, योग्यतर बननेके लिये आज मनुष्य—'पूँजीपति, मजदूर, किसान, राजा, प्रजा, अधिकारी, हर एक—केवल पैसेका सहारा खोजता है। अवश्य ही पैसेका अपना स्थान है, और वह अपनी जगहपर जरूर रहे भी। परंतु आज तो पैसेको अनुचित महत्त्व दे दिया गया है और बस, यहीं विनाशका बीज निहित है। उपभोग्यसे आज पैसा हमारा उपभोक्ता बन बैठा है। दूषित अन्न जैसे अपने खानेवालेको ही खाने लगता है, (इसीलिये संस्कृतमें अन्नके दो शब्दार्थ हैं; खाया जाय वह और खानेवाला भी) वैसे ही यह 'दूषित' पैसा आज हमें खा रहा है। भयंकर आपाधापी मची हुई है। इसीलिये आर्यशास्त्रोंमें पदे-पदे संतोषकी महिमा गायी गयी है। संतोषी परमैश्वर्यवान् है, वही परम सुखी है। तृष्णावान् तो महादरिद्र है। गोस्वामी तुलसीदासने तृष्णावान्‌के बारेमें कितना अच्छा कहा है—

'तुलसिदास कब तृषा गई, सर खनतहिं जनम सिरान्यो।'

तालाब खोदते-खोदते जन्म बीत गया; पर प्यास नहीं बुझी। कहा जाता है कि बादशाह सिकंदरके प्रति एक भारतीय योगीने कहा था—'मैं संतोषी हूँ, तुम तृष्णावान् हो। मुझ परमैश्वर्यवान्‌को तुम भिखारी क्या दे सकते हो। हटो, कृपया धूप आने दो।' एक देहाती कहानी इस विषयपर अच्छा प्रकाश डालती है। किसी किसानने एक साधुको भोजनके लिये निमन्त्रित किया। भोजनोपरान्त साधुने देखा कि थालीके पास ही धनसे भरा हुआ एक टोकना जमीनमें गड़ा है। वह यह सोचकर प्रसन्न हुआ कि श्रद्धालु किसानका इससे कुछ हित-साधन कर सकूँगा और उसने किसानसे कहा—'बच्चा! तुम गरीब प्रतीत होते हो। आज

तुम्हें ऐसा उपाय बतला दूँ कि तुम्हारी निर्धनता दूर हो जाय।' किसानने हाथ जोड़कर कहा—'जो आज्ञा महाराज!' साधु बोला—'देखो, यहाँसे खोदकर धनसे भरा हुआ टोकना निकाल लो और सारी उम्र मौज करो।' इसपर किसानने पूछा—'बाबा! यह टोकना आपको पहले ही दिखलायी पड़ा था या भोजन करनेके बाद दिखलायी दिया है?' साधुने उत्तर दिया—'बच्चा! सच कहना, सुखी रहना, भोजनोपरान्त ही यह टोकना मुझे दिखलायी दिया है, पहले नहीं।' तब किसान बोला—'बाबा! तब यह आपकी सिद्धि नहीं, यह तो मेरे अन्नका प्रभाव है। इस टोकनेको तो मैं जाने कबसे देखता आ रहा हूँ। मेरा धन तो खेतमें गड़ा है। मैं अपने बीस नखोंकी कमाई खाता हूँ। ऐसे धनका लालची मैं होता तो मेरे अन्नमें यह प्रभाव काहेको होता।' साधुकी आँखें अब खुलीं।

हमें कहानीके सौन्दर्यसे तात्पर्य है। इस छोटी-सी देहाती कहानीमें—जिसे चुटकुला कहना उपयुक्त होगा—संतोष, परिश्रम और विशुद्ध अन्न—तीनोंकी महिमाका दिग्दर्शन एक साथ कितना सुन्दर हुआ है। हमारी भी आँखें खुलें, हमारी नाकपर चढ़ा हुआ अर्थका अपवित्र और यथार्थ-दृष्टिनाशक ऐनक हटे, पैसा अपनी जगहपर रहे तथा हम संतोष—मुर्दोंका संतोष नहीं—जीवितोंका संतोष प्राप्त करें। इसीमें सबका कल्याण है।

साधनोपयोगी पत्र

धनकी सार्थकता

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। पढ़कर खेद हुआ। आपके पास धन है, भगवान्ने आपको दिया है। फिर आप उसे अपने गरीब सगे भाई-बहिनोंकी तथा माता-पिताकी सेवामें लगानेसे इतना क्यों हिचकते हैं? आप ऐसा क्यों मानते हैं कि 'मेरे धनपर इन लोगोंका क्या अधिकार है, मैं अपने बाल-बच्चोंके पालन-पोषणमें ही इसको क्यों न लगाऊँ। इन लोगोंको देकर क्यों धनको बर्बाद करूँ।' मुझे तो आपकी इस बुद्धिपर तरस आती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्ने आपको जो विशेष धन, विशेष शक्ति या विशेष साधन दिये हैं, सो केवल दूसरोंकी सेवाके लिये ही दिये हैं। अपने प्राप्त साधनोंसे जो दूसरोंकी सेवा न करके, उन्हें सुख-सुविधा न देकर केवल अपने या अपने कुटुम्बके लिये ही उनका उपयोग करता है, वह तो ईश्वरको धोखा देता है। आपके धनपर प्राणिमात्रका अधिकार है। सबको उनका प्राप्य हिस्सा देकर जो बचा हुआ खाता है, वह अमृत खाता है। पर जो केवल अपने लिये ही कमाता-खाता है, वह तो पाप खाता है। उसका जीवन ही पापमय है। भगवान् गीता (३। १३, १६)-में कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

'यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापात्मा लोग अपने लिये ही पकाते (कमाते-खाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।' 'जो पुरुष इस प्रकार प्रवर्तित सृष्टिचक्रके अनुसार बर्ताव नहीं करता, वह इन्द्रियाराम पाप-जीवन मनुष्य तो व्यर्थ ही जीता है।'

इसलिये उचित तो यह है कि आप प्राणिमात्रकी सेवामें अपना धन लगावें और उसीमें सौभाग्य समझें। फिर आपके भाई जो गरीब हैं, आपकी जिन बहनोंको कष्ट है, वृद्ध माता-पिता हैं—उनकी सेवा करना तो आपका प्रधान धर्म है। 'माता-पिता आपकी अपेक्षा आपके अन्य भाइयोंसे अधिक स्नेह करते हैं, उनका पक्ष करते हैं और भाई-बहिन भी आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते।' यदि ऐसी बात है तो वे भूल करते हैं। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि वे मेरी बात मानें तो मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि आप उनके साथ चाहे जितना रूखा बर्ताव करें, आपको सम्पन्न और सुखी देखकर माता-पिताको सुखी होना चाहिये तथा आपके प्रति स्नेह करना चाहिये और भाई-बहिनोंको

भी अपने दुःखोंको अपने कियेका फल मानकर आपको न कोसना चाहिये, न आपके साथ बुरा बर्ताव करना चाहिये। बल्कि यह समझकर कि 'हम चाहे दुःखी हैं, हमारे बाल-बच्चे चाहे कष्ट पाते हैं, पर हमारा एक भाई और उसके बाल-बच्चे तो सुखी हैं। हमें उसके सुखसे सुखी होना चाहिये और आपके साथ उन्हें उत्तम-से-उत्तम प्रेमका व्यवहार करना चाहिये। परंतु जरा आप सोचिये, उनका ऐसा व्यवहार क्यों है और उसमें आप तथा आपका व्यवहार कहाँतक कारण है। पहले माता-पिताको लीजिये। आपके पास लाखों रुपये हैं, खेत है, सम्पत्ति है, मोटर है, मकान हैं, आपके घरमें दसों नौकर हैं। आपके माता-पिता वृद्ध हैं और वे अपने दूसरे गरीब लड़कोंके साथ गरीबीसे रहते हैं। वे ही उनको खानेको देते हैं। आप न खानेको देते हैं, न कभी आदर-सत्कार करते हैं, बल्कि अपने धनपर उनका जरा भी अधिकार नहीं मानते, उनकी सेवामें कुछ भी लगाना आप धनकी बर्बादी समझते हैं और यह बात आप उन्हें सुना भी देते हैं। इतना होनेपर वे बेचारे आपको शाप नहीं देते। केवल अपने दूसरे लड़कोंके पक्षमें कुछ कह देते हैं। तो क्या यह उनका अपराध है? माँ-बापके लिये सभी बच्चे एक-से हैं, पर जो गरीब, दुखी और संकटग्रस्त हैं, उनके प्रति उनकी अधिक सहानुभूति होना स्वाभाविक है। आप मौज-मजा करें, आपके बालक परम सुख-स्वच्छन्दतासे रहें और उनकी आँखोंके सामने उन्हींके दो लड़के, उनके पुत्र-पुत्रियाँ दाने-दानेको तरसें तथा आप उनको कुछ भी देनेकी बात तो अलग रही, मीठी वाणीसे बात-चीत भी न करें। फिर आप कैसे आशा कर सकते हैं कि भाइयोंका, बहिनोंका तथा माता-पिताका बर्ताव आपके साथ अच्छा हो। वे तो बेचारे दुःखी हैं। एक बात याद रखनी चाहिये, विपत्तिकालमें मनुष्य अपने आत्मीय स्वजनोंसे विशेष आशा रखता है। सम्पद्-कालमें उनसे कोई न बोले तो उन्हें दुःख नहीं होता। पर विपत्तिकालमें यदि भूलसे भी स्वजन नहीं बोलता तो विपत्तिग्रस्त मनुष्यको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी दुरवस्थाके कारण यह उपेक्षा की गयी है। इसीसे तुलसीदासजीने कहा है—*'बिपति काल कर सतगुन नेहा'* विपत्तिकालमें सौगुना प्रेम करना चाहिये। फिर आप तो अपने गरीब सगे भाई-बहिनोंको जली-कटी भी सुनाते हैं! यह आपका परम दुर्भाग्य है। आपका काम था अपना सर्वस्व देकर उनको सुखी करना। इससे आपको उनका ऐसा आशीर्वाद मिलता कि जिससे आपका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल और सुखमय हो जाता; परंतु आप जो कर रहे हैं, यह तो महापाप है और इसका परिणाम आपके लिये निश्चित ही बहुत दुःखदायी होगा। आपका यह धन फिर किस काम आयेगा। ऐसे धनको धिक्कार है! आप निश्चित समझिये, यदि आपने अपना व्यवहार नहीं बदला तो यह धन आपको भीषण नरकाग्निमें जलानेका कारण बनेगा।

महाभारतमें कहा है—

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥

(उद्योगपर्व ३३। ७०)

तात! गृहस्थधर्ममें स्थित एवं लक्ष्मीसे सेवित आपको अपने घरमें इन चार प्रकारके मनुष्योंको सदा आदरपूर्वक रखना चाहिये—अपने कुटुम्बका वृद्ध पुरुष, संकटमें पड़ा हुआ उच्च कुलका मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना संतानकी बहिन।

अतएव मेरा आपसे साग्रह निवेदन है कि आप अपने गंदे और तुच्छ विचारोंको बदलिये, इनकी सेवामें आपका धन बर्बाद नहीं होगा, बल्कि इसीसे उसकी सार्थकता होगी। अपनी पत्नीको भी समझाइये। खुले दिलसे सेवा करके पिता-माताका अमोघ आशीर्वाद और भाई-बहिनोंकी सद्भावना प्राप्त कीजिये। उन्हें हर तरहसे सुखी करनेमें ही आपका कल्याण है। भगवान्‌की कृपासे आपके पास साधन हैं, इन साधनोंका सदुपयोग कीजिये।

शेष भगवत्कृपा।

बाल-कल्याण

(१)

बालकोंके कार्य—१

बागवानी

भाई-बहिन सभी मिल आते। पानी देते, पेड़ लगाते॥
चुनते फूल गूँथते हार। इनका फूलोंसे अति प्यार॥

बाल-जुलूस

मिलकर आये बालक सारे। बना जुलूस लगाते नारे॥
देश-जातिकी जय-जयकार। इनका है उत्साह अपार॥

बालचरोंका सेवाकार्य

बालचरोंका सुन्दर वेश। इनपर गौरव करता देश॥
सेवाके ये व्रती उदार। यश गाता इनका संसार॥

बालकोंके कार्य—२
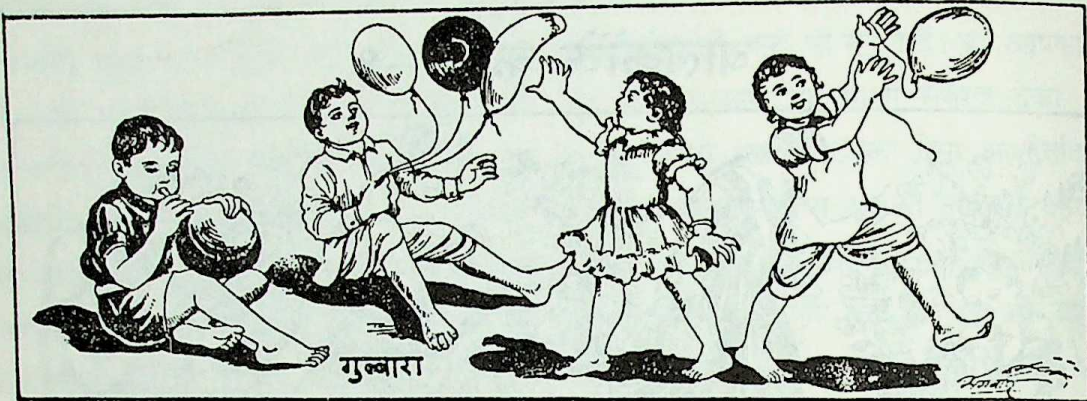
गुब्बारा

गुब्बारोंसे खेलें बच्चे। देखो, लगते कितने अच्छे॥
कभी नहीं ये झगड़ा करते। इससे नहीं किसीसे डरते॥

पशुपक्षियोंसे खेल
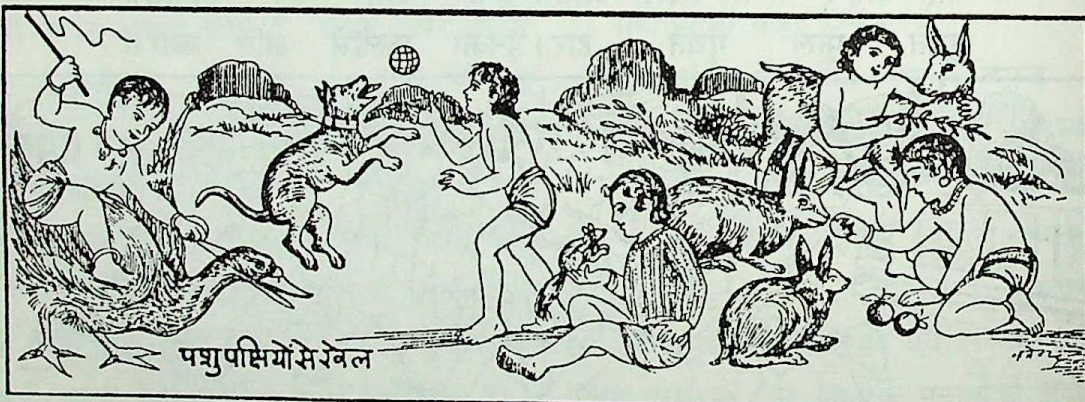
कितनी सुन्दर इनकी क्रीड़ा। नहीं किसीको देते पीड़ा॥
पशु-पक्षी सबसे कर मेल। खेल रहे सब मिल-जुल खेल॥

बेंत-बुनाई
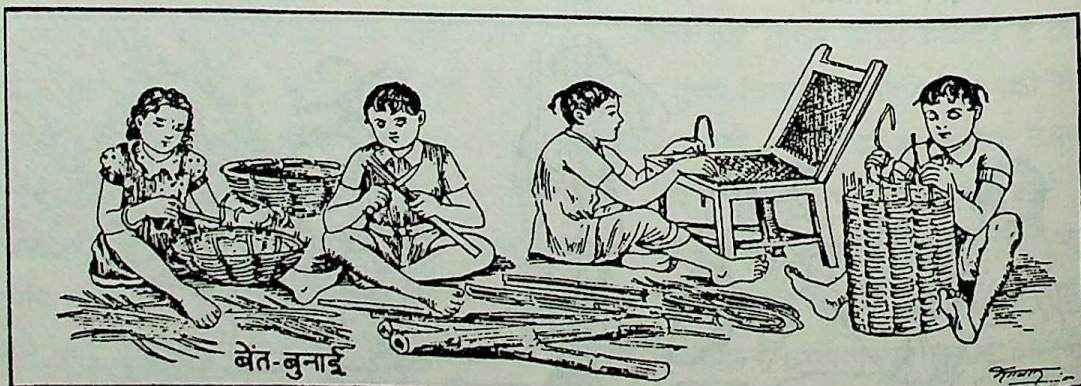
बेंत चीरकर बुनें चटाई। कुरसी कैसी भली बनाई॥
कहीं टोकरीका है काम। ये पायेंगे प्रथम इनाम॥

(२)

नकलचीकी प्रतिज्ञा

एक बार मैं अपने एक अन्तरङ्ग मित्रसे मिलनेके लिये गया था, यह बहुत दिनोंकी बात है। मेरे उस मित्रका नाम था—सी०आर० गुप्ता। जिस समय मैं उनके बँगलेपर पहुँचा तो दरवाजा खुला हुआ था, सामने कमरेमें बैठे हुए हमारे मित्र अपने प्रिय पुत्रको हिंदी लिखना-पढ़ना सिखला रहे थे। उनका पुत्र इतना सुन्दर और भोला था कि उसे देखते ही मन प्रफुल्लित हो उठता था। उस बालककी आयु थी केवल पाँच वर्षकी और उसका नाम था—'मुकुन्द'।

मेरे मित्र सी० आर० गुप्ताजी अपने मुकुन्दको पढ़ानेमें इतने तन्मय हो गये थे कि उन्होंने मेरा आना नहीं जाना। मैं जाकर उनके पीछेकी ओर रखी हुई कुरसीपर चुपके-से बैठ गया। उस समय वे कह रहे थे—'देखो, मुकुन्द! अब तुम सबके नाम लिखना सीखो।' बालकने भोले स्वरसे कहा—'बाबूजी! किछका नाम लिखूँ?' बाबूजीने कहा—'सबसे पहले मेरा नाम लिखो।' मुकुन्द—'कैछे लिखूँ।'

बाबूजीने दुलार करते हुए कहा—'लिखो मेरा नाम—सी० आर० गुप्ता।' बालक मुकुन्दने बड़ी कठिनतासे सोच-समझकर लिखा—'सियार' और कहा—'देखो बाबूजी थीक है।' बाबूजी नाक सिकोड़कर कहने लगे—'धत् तेरेकी, यह क्या लिख दिया 'सियार'!'

ठीक-ठीक क्यों नहीं लिखता? सी० आर० गुप्ता।

यह सुनते ही मुकुन्द कुछ हिचकिचाहटके साथ बोल उठा—'हाँ, बाबूजी! मैं भूल गया था, लाओ लिख दूँ—'सियार—कुत्ता।'

यह सुनते ही मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ा। चौंककर आश्चर्यसे बाबूजीने मुख फेरकर मेरी ओर देखा। कुछ लज्जित नेत्रोंसे देखते हुए कहने लगे—'अच्छा! आप किस समय आये, मुझे तो पता ही नहीं चला।' मैंने मुसकराते हुए कहा—'अब मैं योगी-वियोगीकी तरह जब जहाँ इच्छा होती है, वहीं उड़कर पहुँच जाता हूँ। इस समय मैं आकाशमार्गसे आकर यहाँ प्रकट हो गया हूँ। इसीलिये मेरे आगमनका आपको पता नहीं चला।'

बाबूजी हँसकर बोले—'आप तो हास्यरसमें मेरी बातको घसीट ले गये। सच-सच बतलाइये।'

मैंने कहा—'आपके यहाँ मेरा इस प्रकार आना आज सफल हुआ—आपके बालक मुकुन्दके मुखारविन्दसे आपके अंग्रेजी नामका हिंदी अनुवाद सुनकर जो आनन्द मुझे मिला है, ऐसा आनन्द स्वर्गमें इन्द्रको भी नहीं मिलता होगा। —*'धन्य-धन्य अंग्रेजी भाखा। बनि सियार कुत्ता रस चाखा॥'*

बाबू साहब अत्यन्त लज्जित होकर बोले—'क्या कहें! हमारा नाम ही ऐसा है कि बोलनेमें गड़बड़ हो जाता है।'

मैंने कहा—'आपका नाम तो बड़ा ही सुन्दर है, 'चन्द्ररमण'। अहा! ऐसा नाम तो लाखोंमें खोजनेसे भी नहीं मिलेगा; किंतु आपने अंग्रेजीकी नकल करके अपने नामको बिगाड़कर यह छीछालेदर करा डाली। अपनी ललित-मधुर भाषा देववाणीको छोड़कर परायी भाषाको आपने अपना रखा है, इस नकलचीपनको क्यों नहीं छोड़ते! यह सुनते ही बाबू साहब पानी-पानी हो गये। बोले—'बस, आजसे मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस अंग्रेजी भाषाका नामके साथ प्रयोग कभी न करूँगा और अपने सभी मित्रोंमें इस बातका इस प्रकार प्रचार करूँगा कि अंग्रेजीका प्रयोग सदाके लिये समाप्त हो जाय।' —स्वामी श्रीजयरामदेवजी

(३)

पितृभक्त खलासी-बालक

एक आदमी जहाजमें खलासीका काम करता था। उसका लड़का जब बारह वर्षकी उम्रका हुआ, तब वह भी अपने बापके साथ खलासीका काम करने लगा। बापने अपने लड़केको अच्छी तरहसे तैरना सिखलाया था। एक दिन तूफानसे जहाज डोलने लगा और जहाजपरसे एक मुसाफिरकी छोटी लड़की समुद्रमें गिर पड़ी। उसको गिरते देखकर खलासी भी समुद्रमें कूद पड़ा और उस लड़कीका कपड़ा पकड़कर उसको छातीपर रखकर तैरता हुआ जहाजके पास आने लगा; परंतु इतनेहीमें उसने देखा कि एक मगर उसको पकड़नेके लिये आ रहा है। यह देखते ही वह खलासी भयसे काँपने लगा। जहाजके ऊपरके आदमी बंदूक लेकर मगरको निशाना बनाकर गोली दागने लगे; परंतु कोई भी

हिम्मत करके उसकी मददके लिये पानीमें न उतरा।

जहाजपरसे जितनी गोलियाँ चलायी गयीं, उनमेंसे एक भी मगरको न लगी। इससे वह धीरे-धीरे पास आकर खलासीको पकड़नेके लिये तैयार हो गया। खलासीका लड़का बड़ा ही पितृभक्त था। पिताको मौतके मुखमें जाते देखकर वह एक धारवाली तलवार लेकर समुद्रमें कूद पड़ा और झटसे मगरकी ओर बढ़कर उसके पेटमें तलवार चुभो दी। इससे मगर गुस्सेमें आकर उसको पकड़ने चला, पर लड़का उसके पंजेमें न आकर कुशलतासे उसके शरीरके ऊपर-ऊपर तैरता हुआ तलवारकी चोटें करने लगा।

इतनेमें खलासी उस लड़कीको लेकर जहाजके पास पहुँच गया और जहाजपरके लोगोंने लड़की-सहित उसको जहाजके अंदर खींच लिया। खलासीके जहाजमें आ जानेके बाद सबका ध्यान पानीके अंदर गया और उन्होंने देखा कि मगर और खलासीके लड़केकी लड़ाई जैसी-की-तैसी चल रही है। तलवारके बहुतेरे घाव लगनेके कारण मगर कुछ कमजोर हो गया था और उसके शरीरसे इतना अधिक रक्त निकल रहा था कि उसके आस-पासके समुद्रका पानी खून-जैसा दीख पड़ता था। दूसरी ओर लड़का भी बहुत ही थक गया था और डूबने-जैसा गोता खा रहा था। इतनेमें मगर कमजोर होनेके कारण जरा धीमा पड़ा और वह लड़का हिम्मत करके जोशके साथ तैरता हुआ जहाजकी ओर बढ़ा और जैसे-तैसे जहाजके कुछ पास आ गया। जहाजके ऊपरके लोगोंने एक रस्सी उसकी ओर फेंकी, जिसके एक छोरको लड़केने पकड़ लिया। इसके बाद लोग रस्सी खींचने लगे; परंतु इतनेहीमें मगर पीछे जोरसे बढ़ा और लड़केके दोनों पैरोंको वह कमरतक निगल गया।

इसके बाद उस लड़केने इतने जोरसे झटका मारा कि उसके शरीरका निचला भाग जो मगरके मुँहमें था, उससे नीचेका भाग कट गया और मगर पानीमें डुबकी मारकर समुद्रके तले जा बैठा। लड़का अब एकदम शिथिल हो गया। फिर भी उसने पकड़ी हुई रस्सी न छोड़ी। इससे जहाजके लोगोंने उसे जहाजमें ले लिया। लड़केकी यह दुर्दशा देखकर उसके बापको मूर्च्छा आ गयी और वह पछाड़ खाकर जहाजमें गिर पड़ा। थोड़ी देरके बाद सचेत होनेपर उसने देखा कि लड़का उसके पास पड़ा हुआ एक नजरसे उसकी ओर देख रहा है। बापको होशमें आते देखकर लड़का बहुत खुश हुआ और फिर उसकी गोदमें सिर करके पहलेकी तरह एकटक उसके मुँहकी ओर देखने लगा। खलासीकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी और कलेजा धड़क रहा था, इससे वह बोल नहीं सकता था।

उसकी ऐसी अवस्था देखकर लड़का हिचकती हुई आवाजसे, पर बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक अपने बापसे बोला—'बाबा! क्यों आप इतना उदास हो रहे हैं? मैं तो अपना धन्यभाग्य समझता हूँ कि आपके प्राण जब संकटमें थे, तब मुझसे कुछ मदद हो सकी। यही नहीं बल्कि आपकी गोदमें सिर रखकर तथा स्नेहसे उभरी हुई आपकी आँखोंकी ओर देखकर मरनेका महादुर्लभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरी मृत्युसे आप तनिक भी खेद न करें और मेरी दयामयी माताको भी शोक न करने दें। जो पूरा भाग्यशाली होता है, वही इस प्रकारकी सुखभरी मौत पाता है। बाबा! अब आखिरी प्रणाम! मुझसे जो अपराध हुआ है, उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। मेरी जीभ और आँखें खिची जा रही हैं, इससे मैं बोल नहीं सकता। एक बार अपने प्रेमभरे हाथको मेरे सिरपर फेर दो।' इतना बोलते-बोलते उसकी जीभ थक गयी और उसकी आँखें हमेशाके लिये बंद हो गयीं। कैसा भाग्यशाली पितृभक्त लड़का था वह!

(४)

ग्रामीण बालिकाओंकी शिक्षाका स्वरूप कैसा हो?

गाँवोंमें स्त्री-शिक्षाका प्रसार बहुत ही कम है। अब भी अधिकांश स्त्रियों और बालिकाओंके लिये काला अक्षर भैंस-बराबर है। गाँवोंमें कन्या-पाठशालाएँ नाममात्रको हैं, जहाँ कहीं हैं, उनकी दशा शोचनीय है। साथ ही, जो शिक्षा-पद्धति चल रही है, उसके अनुकूल एवं अपेक्षित परिणाम नहीं प्राप्त हो रहे हैं। जिसके कारण शिक्षा समाप्त करनेके उपरान्त भी जीवन वैसा ही अन्धकारमय रहता है, प्रकाशकी किरणें कहीं दिखायी नहीं पड़तीं, जीवनका समुचित सुधार नहीं हो पाता। जीवनभर कँकरीले-पथरीले मार्गसे गुजरना पड़ता है।

ग्रामीण बालिकाओंकी शिक्षाकी योजना बनाते समय इस बातका ध्यान रखा जाय कि गाँवकी अधिकांश लड़कियाँ कालेज या युनिवर्सिटीमें पढ़ने नहीं जायँगी।

उनकी शिक्षाका आरम्भ और अन्त वहीं होता है। यही नहीं, वरं उन्हें शीघ्र ही गृहस्थजीवनमें प्रवेश करना पड़ता है। अतः केवल किताबी शिक्षासे कार्य न बनेगा। उन्हें आदर्श माता तथा आदर्श गृहिणी बननेके लिये तथा सफल पारिवारिक जीवन बितानेके लिये वैज्ञानिक शिक्षा दी जानी चाहिये। केवल किताबी शिक्षा लड़कियोंके जीवन-निर्माणमें सहायक न हो सकेगी। इसलिये उनकी शिक्षाको क्रियात्मक रूप देना ही आवश्यक होगा। ग्रामीण स्कूल और ग्रामीण जीवन पास-पास होने चाहिये। उसमें एक समन्वय रहना चाहिये। शिक्षामें कुछ अंश सफल आदर्श 'मातृत्व' और 'गृहिणीत्व' लानेके लिये अवश्य रखा जाय।

गाँवकी लड़कियोंके लिये वास्तवमें ऐसी ही शिक्षा चाहिये, जो उनके काम-काजमें सहायक हो। हाथकी कारीगरी भी परम आवश्यक है। गाँवकी जनता अधिकतर खेती करती है। अतः कृषिकार्यमें भाग लेनेकी क्रियात्मक शिक्षा भी आवश्यक है। लड़कियोंका कार्य करनेका ऐसा स्वभाव बनाया जाय, जिससे वे सभी घरेलू कार्य बिना किसी कठिनाई तथा संकोचके कर सकें। साथ ही उनको सच्ची समाज-सेविका बनानेका भी पूर्ण प्रयत्न किया जाय। यह कदापि नहीं होना चाहिये कि शिक्षिता होनेपर वे उपन्यास पढ़ने तथा लेख लिखनेके अतिरिक्त घरके आवश्यक कामोंको नीचा समझकर उनसे घृणा करने लगें।

लड़कियोंकी शिक्षाका ध्येय ग्रामीण आवश्यकताओंके अनुसार होना चाहिये। उनके लिये वही शिक्षा उपयोगी होगी, जिससे वह सफल-गृहिणी तथा ग्रामीण समाजकी उपयोगी सदस्या बन सकें। देहातोंमें घरोंकी दशा बड़ी शोचनीय रहती है। जीवन पशुवत् रहता है। सुखमय और उन्नतिशील जीवन उनके लिये प्रायः स्वप्नवत् बना रहता है। अतः इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि लड़कियोंको सिखाया जाय कि वे किस प्रकार अपने घर तथा गाँवको आदर्श बना सकेंगी तथा ग्रामीण समाजकी बुराइयोंको निकालकर वे किस प्रकार उन्नतिशील समाजका निर्माण कर सकेंगी। उनको यह भी बताया जाय कि किस प्रकार वर्तमान घरोंको, जो कलहके कारखाने बने हैं, शान्तिनिकेतन बनाया जाय। उनकी शिक्षामें स्वास्थ्य-विज्ञान, गृह-प्रबन्ध, गृह-शिल्पकला, पाक-कला, शिशु-पालन, सूईका कार्य, साधारण संगीत तथा बागवानी आदिकी समुचित व्यवस्था की जाय। भाँति-भाँतिके खेल भी सिखलाये जायँ। ग्रामीण जीवनमें कृषि तथा पशु-पालनका प्रमुख स्थान है। कृषिका सम्बन्ध सभीसे होता है। पशु-पालनका रिवाज तो आवश्यक-सा है। अतः कृषिसम्बन्धी साधारण जानकारी अवश्य होनी चाहिये तथा पशु-पालनकी वैज्ञानिक शिक्षा दी जानी चाहिये। यदि वे इस कलाको भलीभाँति सीख लें तो गाँवोंमें पशु-पालनकी व्यवस्था ठीक हो जाय। इस प्रकारकी शिक्षासे आर्थिक दशा भी सुधर सकती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ उनको पढ़ाया जाय वह क्रियात्मक ढंगसे पढ़ाया जाय। जैसे घरेलू हिसाबके लिये क्रय-विक्रयद्वारा उनको अभ्यास कराया जाय। प्रायः सभी विषयोंकी प्रायोगिक शिक्षा दी जाय। इसके साथ ही आत्मनिर्भरता, सहयोगिता तथा उपयोगी क्रियाशीलता सिखायी जाय।

आदर्श शिक्षा-योजनाके अतिरिक्त यह भी परम आवश्यक है कि कन्या-पाठशालाएँ ग्राम-सुधारके लिये उपयोगी सिद्ध हों। ग्राम-सुधार-योजनामें पाठशालाओंसे अधिक सहायता ली जा सकती है। इन्हींमें समाजका केन्द्र स्थापित हो सकता है। पाठशालाओंके द्वारा स्वस्थ विचारोंका प्रचार करके ग्रामीण जीवन उन्नतिशील बनाया जा सकता है। इस कार्यको सफल बनानेके लिये अभिभावकों और शिक्षकोंकी बैठक होनी चाहिये। सामाजिक सम्मेलन तथा उत्सवोंके द्वारा भी यह कार्य भली प्रकार हो सकता है। मेला तथा प्रदर्शनीद्वारा भी ग्राम-सुधारका कार्य पाठशालाओंकी सहायतासे हो सकता है। ग्राम्य जीवनको उन्नतिशील बनानेके लिये अध्यापिकाओंको पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। ग्राम-सुधार-योजनाको सफल बनानेके लिये पुस्तकालयका होना भी परम आवश्यक है। पाठशालाके पुस्तकालयमें ऐसी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ हों जो ग्रामीण समाजको आगे बढ़ानेमें सहायक बन सकें, उनके चरित्रको ऊँचा उठा सकें तथा नैतिकताकी भावना भर सकें।

अध्यापिकाओंको ग्रामीण नारी-समाजका नेतृत्व सौंपा जाना चाहिये। पाठशालाओंमें ऐसी अध्यापिकाएँ हों जिनके जीवनका उद्देश्य ही समाजसेवा हो। ग्रामोंके सभी उचित कार्योंको सफल बनानेकी शक्ति उनमें होनी चाहिये। वे गाँवका ऐसा वातावरण बनायें जिसमें स्त्रियोंको आगे बढ़नेका अवसर मिले। समाजमें स्त्री-शिक्षाका सम्मान हो।

प्रायः गाँवोंमें लड़कियोंको पढ़ाना अनुचित समझते हैं। उन्हें डर रहता है कि लड़कियाँ पढ़कर चरित्रहीन हो जायँगी। यह भय सर्वथा निर्मूल तो नहीं है, परंतु इस प्रकारकी भावनाको निकालकर प्रगतिशील भावना भरनेका कार्य अध्यापिकाओंका होना चाहिये। अपने कार्यद्वारा लोगोंके दिलोंमें यह बात बिठा दें कि बिना शिक्षाके जीवन पशुओंके समान है। अतः शिक्षा लड़कियोंको भी देनी चाहिये। इस

प्रकारकी भावना जब जनसाधारणकी होगी, तभी ग्रामीण नारी-शिक्षाकी योजना सफल हो सकेगी। लड़कियोंको आगे बढ़ानेमें अध्यापिकाओंको संरक्षकोंकी सहायता लेकर पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये, पर इतना अवश्य ध्यानमें रखा जाय कि लड़कियाँ कहीं ग्रामीण जीवनसे दूर न भटक जायँ।

लड़कियोंकी शिक्षाके साथ प्रौढ़ स्त्रियोंकी शिक्षाकी ओर भी ध्यान होना आवश्यक है। पूर्ण शिक्षाका प्रसार तभी हो सकता है, जब घरकी चहारदीवारीके अंदर रहनेवाली भोली-भाली निरक्षर स्त्रियोंकी शिक्षाका भी समुचित प्रबन्ध किया जाय। यह कार्य भी पाठशालाकी अध्यापिकाओंद्वारा बन सकता है। वे अपना समय निकालकर प्रौढ़ स्त्रियोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करें। इन्हें लिखने-पढ़नेके अतिरिक्त सिलाई-कढ़ाई, पाक-कला, शिशु-पालन आदि सिखाया जाय। स्वास्थ्य-सम्बन्धी जानकारी बढ़ायी जाय। इनके अन्धविश्वासोंको दूर किया जाय। गाँवोंमें विशेषकर स्त्रियोंमें अन्धविश्वास अधिक है। इससे हानि भी होती है और उन्नतिका मार्ग भी रुक जाता है। अत: नवीन, स्वस्थ तथा वैज्ञानिक विचारोंको उत्पन्न करना परम आवश्यक है। घरको भलीभाँति चलानेका ढंग भी सिखाया जाय।

परंतु यह सब कार्य केवल विज्ञापनबाजीसे नहीं हो सकता। इसके लिये अधिक धन और समय लगाना पड़ेगा। इसमें सरकार तथा जनता दोनोंका सहयोग होना चाहिये। गाँवोंकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय रहती है। अत: सरकारको इसके लिये अधिक धन देना चाहिये। इस योजनाके लिये योग्य और अनुभवी अध्यापिकाओंकी बड़ी आवश्यकता है। ग्रामीण पाठशालाओंके लिये प्राय: अनुभवी अध्यापिकाओंका अभाव रहता है। गाँवोंमें रहने-सहनेकी सुविधा अच्छी नहीं होती, वेतन भी कम मिलता है। इसीलिये अध्यापिकाएँ ग्रामीण पाठशालाओंमें जाना पसंद नहीं करतीं। यदि किसी प्रकार जाती भी हैं तो वे शिक्षा-कार्यके प्रति समर्पित नहीं हो पातीं। शहरकी अध्यापिकाएँ न तो गाँवोंकी समस्याएँ ही समझ पाती हैं और न वहाँके अनुसार अपने जीवनको ही बना पाती हैं। परिणाम यह होता है कि सारा कार्य फीका पड़ जाता है। इन सब कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये यह आवश्यक है कि ग्रामीण पाठशालाओंके लिये ग्रामीण अध्यापिकाएँ ही रखी जायँ। वे ही वहाँके जीवनमें अपना जीवन मिला सकती हैं।

ग्रामीण पाठशालाकी अध्यापिकाओंको गाँवकी नैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशाका सच्चा ज्ञान होना चाहिये। उनमें वह शक्ति होनी चाहिये जिससे वे वहाँकी समस्याओंका सामना कर सकें तथा उनमें उचित परिवर्तन और सुधार भी कर सकें। उनमें ग्रामीण विज्ञान तथा नागरिक शास्त्रकी जानकारी होनी चाहिये। जिससे वे सारे समाजको लेकर आगे बढ़नेमें समर्थ हों। उनमें विश्वास और प्रेमका प्रसार करनेकी सच्ची लगन होनी चाहिये। अध्यापिकाओंका व्यक्तित्व भी ऐसा होना चाहिये जो स्त्री-समाजके सम्मानकी रक्षा कर सके। वे आदर्शवादी हों। उनमें सेवा करनेकी शक्ति हो। सारांश यह कि वे आदर्श और सफल अध्यापिकाएँ हों।

इन सब बातोंके लिये ट्रेनिंग स्कूलोंकी बड़ी आवश्यकता है। कई गाँवोंके बीचमें एक ट्रेनिंग स्कूल होना चाहिये। वहाँपर समय-समयपर कार्यशालाओंका आयोजन कर संस्कृति-समन्वित नित्य-नवीन आधुनिक वैज्ञानिक एवं प्रायोगिक-व्यावहारिक शिक्षण-पद्धतिसे अवगत कराया जाय। शिक्षाकी मूलभूत समस्याओंकी तरफ उनका ध्यान आकर्षितकर ग्रामीण शिक्षाके प्रति उन्हें जागरूक बनाया जाय। अध्यापिकाओंको नागरिक जीवनसे भी उनका परिचय कराया जाय तथा युगकी सूक्ष्मतम आवश्यकताओंकी ओर भी उनका ध्यान दिलाया जाय। इसके साथ ही अध्यापिकाओंको सब प्रकारकी सुविधा दी जाय तथा उनका वेतन भी सम्मानजनक हो और विशिष्ट कार्योंके लिये जनता तथा सरकारकी ओरसे उन्हें सम्मानित किया जाना चाहिये।

इन सब बातोंके अतिरिक्त मुख्य बात यह है, लड़कियोंकी शिक्षाका आधार 'धर्म' होना चाहिये। धार्मिक शिक्षा देना परम आवश्यक है। नारी-समाजमें अधार्मिकता आनेसे देशका बड़ा ही अहित होगा। अत: उन्हें रामायण तथा गीताका सच्चा ज्ञान कराया जाय। महाभारतकी चुनी हुई आख्यायिकाएँ पढ़ायी जायँ। हमारे देशमें ग्राम्य जीवन स्वर्गीय जीवन तभी होगा, जब वहाँकी बालिकाएँ सती, सीता तथा सावित्री बननेका प्रयत्न करेंगी। इसके लिये धार्मिक शिक्षा ही एकमात्र उपाय है।

यदि इस प्रकार शिक्षाका ढंग बनाया जाय तो नारी-समाजका ही कल्याण नहीं वरं पुरुषोंका भी बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है; क्योंकि नारी ही पुरुषकी जननी है। अन्तमें हम भगवान्से विनय करती हैं कि वह दिन शीघ्र आये जब देशकी प्रत्येक बालिका सीता, सती तथा सावित्री बने।

[श्रीमती सुधा शुक्ला]

पढ़ो, समझो और करो

(१)

ईमानदार व्यक्तिकी कर्तव्यनिष्ठा

यह घटना कुछ समय पूर्वकी है। सकसोहरा बाजारके बैंकसे अमरेन्द्रसिंह नामक एक व्यक्ति अपने खातेसे दस हजार रुपये निकालकर उन रुपयोंको अपने पैंटकी जेबमें रखे और वहाँसे कपड़ा खरीदनेके लिये एक कपड़ेकी दुकानमें चले गये। वे कुछ शीघ्रतामें थे, इसलिये झटकेसे बाजारकी ओर चल दिये; क्योंकि उन्हें कपड़े खरीदकर जल्दी घर लौटना था। वे चलते-चलते एक गलीकी तरफ मुड़कर एक दुकानमें घुसे और कपड़े खरीदने लगे। अपनी पसंदके कपड़े खरीदनेके बाद जब पैसे भुगतान करनेके लिये उन्होंने अपने पैंटकी जेबमें हाथ डाला तो वे एकाएक घबरा उठे, जेबमें रुपये नहीं थे और तब उन्हें यह पता लगा कि पैंटकी जेब फटी हुई है तथा रुपये कहीं जेबसे गिर चुके हैं। अब तो उनके पाँव-तले जमीन खिसकती नजर आयी, आँखोंके सामने अँधेरा छा गया, पसीना-पसीना हो उठे और बेजान होकर वहीं बैठ गये।

जब व्यक्ति सब तरहसे निराश हो जाता है, तब उसे प्रभुका स्मरण भी होने लगता है। कोई उपाय न देखकर वे एक क्षणके लिये प्रभुसे प्रार्थना करने लगे और यह सोचने लगे कि अब क्या होगा? कपड़ेके मूल्यका भुगतान किस प्रकार किया जाय तथा आगेकी योजना कैसे पूरी हो? इसी ऊहापोहमें अत्यन्त चिन्ता-निमग्न थे कि उसी क्षण सीतारामसिंह नामक एक सज्जन अचानक वहाँ पहुँचे और उनसे पूछे कि क्या आपके रुपये गिरे हैं? अमरेन्द्रसिंहने अचकचाकर—एकदम घबराकर कहा—'हाँ भाई! रुपयोंकी ही तो चिन्ता कर रहा हूँ।' सीतारामसिंहने तत्काल वे रुपये उन्हें दे दिये और कहा—'देखिये! भविष्यमें ऐसी असावधानी नहीं करनी चाहिये। अमरेन्द्रसिंह तो बाग-बाग हो गये और उनको हृदयसे बार-बार धन्यवाद देने लगे। इसके बाद उनसे यह पूछने लगे कि ये रुपये आपको कैसे मिले? तब सीतारामसिंहजीने बताया कि ये रुपये जिस समय गिरे, उसी समय मैंने देख लिया था; पर जबतक मैंने इन रुपयोंको उठाया, तबतक आप काफी आगे निकल चुके थे। रुपये देनेके लिये मैंने आपका पीछा भी किया; परंतु आप शीघ्रतासे गलीमें मुड़ गये। यद्यपि मुझे यह तो अनुमान लग गया था कि आप किसी दुकानमें खरीददारी करनेके लिये गये होंगे, तथापि इस दुकानको खोजने और पता लगानेमें कुछ समय लग गया। अमरेन्द्रसिंह तो यह सब सुनकर भावविभोर हो गये। उन्होंने चाहा कि कुछ रुपये श्रीसीतारामजीको इनाम-रूपमें दे दूँ, परंतु वे इसे लेनेसे सर्वथा इनकार कर गये और साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि 'मैं इनाम लेकर अपना ईमान नहीं बेच सकता।'

अभी भी संसारमें कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो सत्यतापर आरूढ़ रहकर ईमानदारीपूर्वक अपना जीवन-निर्वाह करते हुए अपने कर्तव्यका निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। प्रभु ऐसे लोगोंका भला अवश्य करते हैं।

—डॉ०श्रीकुशेश्वरसिंहजी

(२)

गरीबोंका सहायक

कुछ वर्षों पहले बढ़वाण शहर और उसके आस-पासके भागोंमें महामारी फैल गयी थी। बालक-वृद्ध, छोटे-बड़े, गरीब-धनी—सभी इस रोगके शिकार हो रहे थे। रोज दर्जनों आदमी ईश्वरके दरबारमें पहुँचते थे। गरीबोंकी स्थिति तो अत्यन्त करुणाजनक थी। जहाँ पेट भरनेका साधन न हो, बच्चे दूधके अभावसे तिलमिलाते हों, वहाँ दवाकी तो बात ही कैसे सोची जाय?

इसी समय उसी शहरके एक दयालु पुरुषने गरीबोंके लिये अपने भंडार खोल दिये। वे अनाज, कपड़ा, दवा रोगियोंके घर-घर पहुँचाने लगे। सूनी अँधेरी रात हो, साँय-साँयकी आवाज करती ठंडी हवा चलती हो, कड़कड़ाता जाड़ा हो, यह दयालु पुरुष रातों घर-घर फिरता और यथासाध्य सबकी जरूरतें पूरी करता। रातको सोये लोगोंके किवाड़ खट-खटाकर जगाता। बाहरसे आवाज देता—'भाई! तुम्हें किसी चीजकी जरूरत है क्या? मैं तो तुम्हारे कुटुम्बका ही आदमी हूँ, मुझे दूसरा मत समझना। बताओ, क्या करूँ?' यों कहता हुआ उनको आवश्यक वस्तु देकर तुरंत ही दूसरे घरकी ओर जाता और ऐसे ही मीठे आत्मीयताभरे शब्दोंसे बातचीत करके आवश्यक वस्तुएँ देता। उसके मनमें उस समय महामारी-क्षेत्रके सभी लोगोंको दुःखसे बचा लेनेकी ही एकमात्र कामना थी।

एक दिन एक बुढ़ियाका भरपूर जवान पुत्र महामारीका शिकार होकर चल बसा। वृद्धाका एकमात्र सहारा टूट गया। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। बेचारी बुढ़ियाको आश्वासनके दो मीठे वचन कौन सुनाता। कौन उसका सहारा बनता। उस दयालु सज्जनको पता लगते ही तुरंत वह बुढ़ियाके पास पहुँचा और उसे आश्वासन देते हुए बोला—'तुम्हारा वह पुत्र चला गया तो क्या, मैं तो अभी जीवित हूँ। आजसे तुम मुझे ही अपना पुत्र मानना।' यों कहकर वह दयालु सज्जन उस बुढ़ियाको आदरपूर्वक अपने घर ले गया—एक पुत्र अपनी माताको जिस आदर और प्रेमसे ले जाता है, उसी आदर और प्रेमसे।

भगवान्‌की कृपासे महामारीका प्रकोप धीरे-धीरे कम होने लगा तथा अन्तमें शीघ्र ही सर्वथा शान्त हो गया। आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उस समय वहाँ ऐसा एक भी घर नहीं बचा था, जहाँ किसी रोगीकी चारपाई न हो। परंतु उस दयालु सज्जनके घरमें कोई भी इस रोगका शिकार नहीं हुआ। वह सज्जन स्वयं तो रात-दिन रोगियोंकी जमातमें ही बैठा रहता—उनकी दवा-दारू करता, उन्हें जरूरी चीजें देता, आश्वासन देता, इतनेपर भी रोगके अंशमात्रने भी इसका स्पर्श नहीं किया, मानो रोगियोंकी सेवा करनेके लिये ही ईश्वरने इसको रोगसे सर्वथा मुक्त रखा था।—रमणीक गोसलिया

(३)

मानवता

मेरे पड़ोसीका लड़का अचानक बीमार पड़ गया। आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेके कारण इलाजकी व्यवस्था ठीक न हो सकी और इससे बीमारी बढ़ती ही गयी। पता लगानेपर मैं एक अच्छे डॉक्टरको लेकर उसके घर गया। डॉक्टरने देख-भालकर एक इंजेक्शन लिख दिया और कहा कि यह 'इंजेक्शन तुरंत दे दिया जाय तो रोगीका बच जाना सम्भव है।' जहाँ घरमें खानेका ही ठिकाना न हो, वहाँ इंजेक्शनके लिये पैसे कहाँसे आयें। मैंने तुरंत डॉक्टरके हाथसे कागज ले लिया और एक किरायेका रिक्शा लेकर इंजेक्शन लाने मैं मेडिकल-स्टोर्सकी ओर चल दिया। आधे रास्ते पहुँचनेपर याद आया कि घरसे पैसे तो लाया ही नहीं। पर मनमें यह आशा हुई कि किसी अच्छे दूकानदारके पास जाकर सारी परिस्थिति समझा दूँगा तो वह इंजेक्शन दे देगा और मैं उसे बादमें दाम दे आऊँगा। मैं एक अच्छे मेडिकल-स्टोरमें पहुँचा। वे भाई खद्दरधारी थे और समझदार भी थे, ऐसा उनकी बोल-चालसे लगा। मैंने इंजेक्शन लेकर उनको सारी परिस्थिति समझा दी। कुछ ही देरमें दूकानदार महोदयके चेहरेका भाव बदल गया और उन्होंने उधार न देनेकी बात कहते हुए साइनबोर्डकी ओर मेरी दृष्टि खींची। जिसपर उधार न माँगने-सम्बन्धी कुछ बातें लिखी गयी थीं। फिर भी मैंने अपना परिचय देकर पता बताया और एक बार पुन: निवेदन करना चाहा, पर पैसेके पुजारी वे मेरी बात क्यों सुनने लगे। दिये हुए इंजेक्शनको तुरंत मेरे हाथसे वापस लेते हुए उन्होंने कहा—'पैसा हो, तब ले जाइयेगा!' उन्हें यों कहते जरा भी संकोच नहीं हुआ।

मैं दूकानपर पहुँचा था, तब इन दूकानदार भाईने कितनी सुन्दर प्रेमपूर्ण मानवताकी मुहर मुझपर लगायी थी। उसके साथ इस समयके इस कोरे व्यापारीकी तुलना नहीं हो सकती। पहली मुहर धोखेकी चीज निकली और मैं इंजेक्शन लिये बिना ही दूकानसे बाहर निकला।

रिक्शेवालेने मेरे हाथमें इंजेक्शन न देखकर सहज ही पूछा—'भाई साहब! आप इंजेक्शन ले आये?' मैंने सब हकीकत उसे सुना दी। और तब मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही, जब किरायेपर रिक्शा चलानेवाले तथा मुश्किलसे दो रुपये रोज कमानेवाले उस रिक्शाचालकने मेरे हाथमें दस रुपयेका नोट निकालकर रख दिया और कहा—'जाइये, इंजेक्शन ले आइये।' मैं नोट लेते झिझका और साथ ही बहुत-सी दलीलें भी दीं, पर उसने इतना ही कहा—'दु:खके समय मनुष्य मनुष्यके काम न आये तो वह मनुष्य कैसा?' मैं इंजेक्शन ले आया और इस प्रकार एक रिक्शेवालेकी मानवताने एक मरते मनुष्यको बचा लिया।

मजदूरी करके पेट पालनेवाला रिक्शाचालक जन्मसे ही भला था, इसलिये वह आजतक वैसा ही भला बना रहा। इधर, नाटक करता हुआ वह व्यापारी समयपर मानवताकी नकाब फेंककर अपने मूलस्वरूपमें आ गया।

—महेश आचार्य

मनन करने योग्य

(१)

कर्तव्यपरायणता

उन दिनों उज्जैनमें महाराज सज्जनसिंहजीका राज्य था। महाराजा बड़े ही न्यायप्रिय एवं प्रजारञ्जक थे। चारों ओर उनकी ख्याति थी।

रियासतके एक विशेष कार्यालयमें श्रीश्रीनिवास नामके एक वरिष्ठ अधिकारी थे। वे ईमानदारी और सज्जनताके लिये प्रख्यात थे। स्वभाव उनका बड़ा सरल था। आजके जीवनमें सरलता गुण नहीं, दोष समझा जाता है। कार्यालयके अफसर बड़े ही चतुर और चालाक थे। श्रीश्रीनिवासजीकी सरलताका उन्होंने दुरुपयोग करना चाहा। उन्होंने खर्चके झूठे कागजात तैयार किये और धोखेसे श्रीश्रीनिवासजीसे उनपर हस्ताक्षर करवा लिये। श्रीश्रीनिवासजी अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंपर विश्वास करते थे। अतएव उन्होंने खर्चके सम्बन्धमें पूछताछ नहीं की। सरकारी कोषसे एक बड़ी रकम कर्मचारियोंके हाथ आ गयी। किंतु अपराध छिपा नहीं रहता। दूसरे विभागके कुछ लोगोंको इसकी गन्ध लग गयी। उन्होंने महाराजसे उसकी शिकायत कर दी।

महाराज श्रीश्रीनिवासजीकी ईमानदारीसे परिचित थे। फिर भी शासनकी व्यवस्था बनाये रखनेके लिये उन्होंने उस मामलेकी जाँचका आदेश दिया।

श्रीश्रीनिवासजीके हस्ताक्षरसे ही रकम पास हुई थी, अतएव वे ही मुख्य अपराधी ठहराये गये।

उज्जैनमें न्यायाधीशके पदपर थे श्रीशिवशक्ति। वे श्रीश्रीनिवासजीके पुत्र थे। पिताकी भाँति श्रीशिवशक्ति भी अपनी ईमानदारी एवं कर्तव्यपरायणताके लिये प्रसिद्ध थे। न्यायाधीश श्रीशिवशक्तिके समक्ष मुकदमा पेश हुआ। दोनों ओरसे सुबूत पेश किये गये। श्रीश्रीनिवासजीने भी मुलज़िमके रूपमें उपस्थित होकर बड़ी ही धीरताके साथ अपने बयान दिये।

फैसलेका दिन आया। राज्यके कर्मचारी एवं नागरिकोंमें बड़ा कौतूहल था कि देखें न्यायाधीश श्रीशिवशक्ति अपने पिताके मामलेमें क्या निर्णय देते हैं। योग्य पिताके योग्य पुत्रने अपने पदकी गरिमा एवं न्यायाधीशके कर्तव्यको ध्यानमें रखते हुए निर्णय दिया—'मुलज़िमके हस्ताक्षरके अनुसार, जिन्हें वह स्वयं भी स्वीकार करता है, उसे अपराधी घोषित किया जाता है और उस अपराधके लिये उसको छः महीनेकी कड़ी सजा तथा पाँच सौ रुपये जुर्माना किया जाता है।'

फैसला सुनाते ही न्यायाधीश श्रीशिवशक्ति अपनी कुर्सीसे उठे और पिताके समीप आकर उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा-याचना करते हुए सुबक-सुबककर रोने लगे। पिताका हृदय भी भर आया। उनके नेत्रोंसे भी आँसू टपकने लगे। उपस्थित अनेकों व्यक्तियोंकी आँखें गीली हो गयीं। विरोधी पक्षके लोग भी अवाक् और स्तब्ध रह गये। इजलास बंद हो गया। न्यायाधीश महोदय अपने घर आ गये और उन्होंने अपने पदसे त्यागपत्र लिखकर फैसलेके साथ ही महाराजके पास भेज दिया।

महाराज फैसलेको पढ़कर मुग्ध हो गये। उन्होंने न्यायाधीश शिवशक्तिको उनकी कर्तव्यपरायणताके लिये बधाई दी और उन्हें अपने पदपर बने रहनेका आदेश दिया। अपने विशेषाधिकारसे महाराज सज्जनसिंहने निर्दोष श्रीश्रीनिवासजीको सजासे मुक्त कर दिया।

(२)

न्याय

अत्यन्त प्राचीन कालकी बात है। पञ्चाल-प्रदेशकी अत्यन्त बुद्धिमती एवं अनुपम लावण्यवती केशिनी नामक कन्याने सर्वश्रेष्ठ पतिसे विवाह करनेका निश्चय किया। उसके सौन्दर्यसे आकृष्ट अनेक धनपतियों एवं राजकुमारोंने उसके सम्मुख वैवाहिक प्रस्ताव उपस्थित किया। इतना ही नहीं, सर्वशक्तिसम्पन्न दैत्यराज प्रह्लाद-पुत्र विरोचनने भी उसके सम्मुख उपस्थित होकर अपनी विवाहेच्छा व्यक्त कर दी। किंतु सुन्दरी केशिनीकी दृष्टिमें अपार सम्पत्ति, उच्चाधिकार एवं विशाल वैभवकी अपेक्षा श्रेष्ठकुलोत्पन्न सत्पुरुष ही महनीय एवं वरणीय था। केशिनीने विनम्र उत्तर दिया—'राजकुमार! श्रेष्ठकुलोत्पन्न होनेके कारण मैंने महर्षि अङ्गिराके पुत्र सुधन्वाको वरण करनेका निश्चय किया है। आप कृपया बतानेका कष्ट करें, कुलकी दृष्टिसे ब्राह्मण और दैत्यमें कौन श्रेष्ठ है? यदि ब्राह्मण श्रेष्ठ है, तब तो मैं सुधन्वाकी ही सहधर्मिणी बनूँगी।'

जब प्रह्लाद-पुत्रने दैत्य-वंशको श्रेष्ठ सिद्ध करनेका प्रयत्न

किया, तब केशिनीने कहा—ठीक है, कल मैं स्वयंवर-सभामें आऊँगी। वहाँ सुधन्वा भी पधारेंगे। आप लोग वहीं सुस्पष्ट निर्णय कर लीजियेगा कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं या दैत्य।'

दूसरे दिन स्वयंवरके पूर्व ही विरोचन केशिनीके आवासपर पहुँच गये। कुछ ही देर बाद सुधन्वाको भी वहाँ आते देखकर विरोचनने उन्हें अपने समीप ही सिंहासनपर बैठनेका अनुरोध किया; किंतु सुधन्वाने कहा—'समान गुण-शील व्यक्ति ही एक आसनपर बैठ सकते हैं, अतएव मैं तुम्हारे इस सुवर्ण-सिंहासनका स्पर्शमात्र कर लेता हूँ; तुम्हारे साथ बैठ नहीं सकता।'

विषदग्ध शर-तुल्य वचनसे व्याकुल होकर विरोचनने उत्तर दिया—'बात सच है, पीढ़ा या कुशकी चटाईपर बैठनेवाला नगण्य ब्राह्मण सुवर्ण-सिंहासनपर बैठनेका साहस ही कैसे कर सकता है'?

महर्षि-पुत्र सुधन्वाने तुरंत कहा—'विरोचन! पिता-पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य एवं दो समान गुणधर्मी ही एक साथ एक आसनपर बैठ सकते हैं, किंतु अन्य दो व्यक्ति एक साथ नहीं बैठ सकते।' सुधन्वाने कुछ कठोर, किंतु सत्य बात कह दी—'तुम सुखसे पले अबोध बालकतुल्य हो; तुम्हें पता नहीं कि तुम्हारे पिता दैत्यपति प्रह्लाद मेरी उपस्थितिमें स्वयं सिंहासनसे नीचे मेरे चरणोंमें हाथ जोड़े बैठते हैं।'

विरोचनने कहा—मैं दैत्योंकी समस्त सम्पत्तिकी बाजी लगानेके लिये प्रस्तुत हूँ, हमारी और तुम्हारी श्रेष्ठताका निर्णय कोई निष्पक्ष बहुज्ञ व्यक्ति करे।

सुधन्वा बोला—'अपार सम्पत्ति तुम्हारे पास सुरक्षित रहे। हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगायेंगे। यदि दैत्य ब्राह्मणोंसे श्रेष्ठ सिद्ध हो सके तो मेरा प्राण तुम्हारे अधीन होगा; अन्यथा तुम्हारे प्राणका स्वामी मैं हो जाऊँगा।'

विरोचनने तुरंत कहा—'तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है, किंतु मैं देवता और मनुष्यको निर्णायक स्वीकार नहीं करूँगा।'

सुधन्वाने उत्तर दिया—'प्राणोंकी बाजी लग जानेपर निर्णयार्थ मैं तुम्हारे पिता प्रह्लादके पास चलूँगा । मेरा विश्वास है, वे सत्यनिष्ठ दैत्यपति पुत्र-मोहसे मिथ्या-भाषण नहीं कर सकेंगे।'

विरोचन और सुधन्वा दोनों क्रोधावेशमें प्रह्लादके समीप पहुँचे। दैत्यपति प्रह्लादने सुधन्वाको देखते ही उनके स्वागतार्थ पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क एवं अत्यन्त सुन्दर सवत्सा गौ लानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी। किंतु सुधन्वाने प्रह्लादसे कहा—'इस समय मुझे जल, मधुपर्क एवं सवत्सा गौकी अपेक्षा नहीं। तुम मेरे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दो—'मुझ ब्राह्मण और विरोचनमें कौन श्रेष्ठ है? हम दोनों प्राणोंकी बाजी लगाकर तुम्हारा निर्णय लेने आये हैं।'

एक ओर एकमात्र पुत्र विरोचन और दूसरी ओर ब्राह्मण सुधन्वा। अत्यन्त जटिल परिस्थिति थी प्रह्लादकी। किंतु धर्मप्राण प्रह्लादने सुधन्वासे पूछा—'झूठ बोलनेवाले दुष्ट व्यक्तिकी क्या दशा होती है?'

सुधन्वाने मिथ्या-भाषणके पापोंका वर्णन करते हुए कहा—'दैत्यराज! स्वार्थवश पशुके लिये झूठ बोलनेसे मनुष्य अपनी पाँच पीढ़ियोंको, गौके लिये झूठ बोलनेपर दस, घोड़ेके लिये असत्य-भाषण करनेपर सौ और मनुष्यके लिये झूठ बोलनेपर एक सहस्र पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। सुवर्णके लिये झूठ बोलनेवाला अपनी भूत और भविष्य—सभी पीढ़ियोंको नरकमें गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्रीके लिये झूठ कहनेवाला तो अपना सर्वनाश ही कर लेता है। इसलिये धर्मात्मा पुरुष भूमि या स्त्रीके लिये कभी झूठ नहीं बोलते।'

सुधन्वाके वचन सुन धर्ममूर्ति प्रह्लादने निर्णय दिया—

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात् त्वं तेन वै जितः॥

(महा०, उद्योग० प्रजागरपर्व ३५। ३५)

'विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं, सुधन्वा तुम से श्रेष्ठ है, इसकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है; अतः तुम आज सुधन्वाके द्वारा जीते गये।'

तदनन्तर प्रह्लादने अत्यन्त दीनभावसे सुधन्वासे प्रार्थना की—'सुधन्वन्! अब तुम विरोचनके प्राणोंके स्वामी हो; किंतु यदि तुम चाहो तो इसे मुझे दे दो। मैं इसे हृदयसे चाहता हूँ।'

महर्षि-पुत्र सुधन्वाने संतुष्ट होकर उत्तर दिया—'दैत्यराज! तुमने धर्मका पालन किया है, स्वार्थवश झूठा निर्णय नहीं दिया। इस कारण मैं तुम्हारा दुर्लभ पुत्र तुम्हें दे रहा हूँ।'

॥ श्रीहरिः॥

श्रीगीता-जयन्ती

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६। ३०-३१)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर बढ़ सकेगा।

मार्गशीर्ष शुक्ल ११ बुधवार, दिनाङ्क १० दिसम्बर १९९७ ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीता-प्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थ-पूजन।

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।

(४) गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके हेतु गीता-प्रचारार्थ एवं समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्य-परायण बनानेकी महती शिक्षाके लिये इस परम पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनाना तथा उसके संदर्भमें सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन एवं भगवन्नाम-संकीर्तन आदि करना-कराना।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीता-पाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण आदि।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीता-कथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन और आरती करना।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा (जुलूस) निकालना।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदयोंद्वारा गीता-सम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करने और करानेका संकल्प लेना, तदर्थ प्रेरणा देना और—

(९) देश, काल, पात्र (परिस्थिति)-के अनुसार गीता-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम अनुष्ठित होना चाहिये।

—सम्पादक

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

प्र० ति० २०-१०-९७

LICENCE NO.-3 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT.

बहुप्रतीक्षित प्रकाशित सूर-साहित्य

१—**श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी—(कोड-नं० 62)** इसमें भगवान् श्रीकृष्णके शिशु-लीलाओंके ३३५ पदोंका संग्रह है। साथमें पदोंका सरल भावार्थ एवं मुख्य कथाके मर्मस्पर्शी प्रसंग भी दिये गये हैं। मूल्य रु० १३.००, डाकखर्च ३.००

२—**श्रीकृष्ण-माधुरी—(कोड-नं० 555)** इस पुस्तकमें सूरदासजीके चुने हुए ३४३ पदोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णके बाल कुमार एवं किशोर-रूपकी छटा तथा उनके मुरलीकी मादकताका वर्णन भावार्थसहित प्रकाशित किया गया है। विषयकी दृष्टिसे इसे दो भागोंमें बाँटा गया है। पहले भागमें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर झाँकियों तथा दूसरे भागमें मुरलीकी अलौकिक माधुरीका वर्णन है। मूल्य रु० १२.००, डाकखर्च ३.००

३—**सूर-विनय-पत्रिका—(कोड-नं० 61)** सूरदासजीद्वारा रचित ३०९ पदोंके इस संग्रहमें वैराग्य, संसारकी अनित्यता, विनय-प्रबोध तथा चेतावनीके सुन्दर पदोंका सानुवाद संकलन है। इसके अतिरिक्त पदोंमें आये हुए कई मुख्य कथा-प्रसंगोंको पुस्तकके अन्तमें परिशिष्टके माध्यमसे अनुकरणीय कथाओंका वर्णन किया गया है। मूल्य रु० १२.००, डाकखर्च ३.००

४—**सूर-रामचरितावली—(कोड-नं० 735)** इस पुस्तकमें सूरदासजीके रामचरित-सम्बन्धी जितने भी पद उपलब्ध हो सके हैं, उनका संग्रह किया गया है। इन पदोंमें भगवान् श्रीरामके अनुकरणीय चरित्रका बहुत ही भावपूर्ण, मौलिक एवं रसमय वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त पुस्तकके अन्तमें परिशिष्टोंके माध्यमसे मुख्य कथा-प्रसंगोंका भी वर्णन है। मूल्य रु० ११.००, डाकखर्च ३.००

५—**विरह-पदावली—(कोड-नं० 547)** इसमें सूरदासजीद्वारा रचित भगवान् श्रीकृष्णके विरह-सम्बन्धी ३२५ से अधिक पदोंका चयनकर मुद्रित किया गया है। मुख्य रूपसे भगवान् श्रीकृष्णका अक्रूरजीके साथ मथुरा-प्रस्थानके समय माता यशोदा एवं गोपियोंकी दशाका मर्मस्पर्शी वर्णन हृदयमें प्रवेशकर भावोंकी चित्र-रेखा खींच देता है। मूल्य रु० १०.००, डाकखर्च ३.००

भूल-सुधार

श्रीरामचरितमानसके पाठकोंसे सादर अनुरोध है कि 'गीताप्रेस'से प्रकाशित श्रीरामचरितमानसं सटीक (गुजराती)-के ग्रन्थाकार तथा मझला आकारके संस्करणोंमें लंकाकाण्डके दोहा-संख्या ५५ की चौपाई-संख्या ३ तथा ४ अनुवादसहित अपरिहार्य कारणवश छूट गयी है, जिसके लिये हमें खेद है। अतः जिन सज्जनोंके पास यह ग्रन्थ पहुँच चुका है, सुधार कर पाठ करनेकी कृपा करें। वैसे केवल छूटे हुए अंशको अलगसे एक पृष्ठपर छापा गया है। आपका पूरा पता मिलनेपर आपके पास भेजा जा सकता है। सुविधाके लिये यहाँ भी नीचे छाप दिया गया है।

વ્યાપક બ્રહ્મ અજિત ભુવનેસ્વર । લછિમન કહાઁ બૂઝ કરુનાકર ।।
તબ લગિ લૈ આયઉ હનુમાના । અનુજ દેખિ પ્રભુ અતિ દુખ માના ।।૩।।

કોઈથી પણ નહીં જિતાએલાં, ચૌદ ભુવનના સ્વામી કરુણાનિધાન, વ્યાપક બ્રહ્મ રામચંદ્રજી, સર્વ યોદ્ધાઓને આવેલા જોઇ, ''લક્ષ્મણજી ક્યાં છે ?'' એમ પૂછતા હતા, તેટલામાં હનુમાનજી લક્ષ્મણજીને પોતાના બે હાથથી ઉપાડીને લઇ આવ્યા. લક્ષ્મણજીની દશા જોઇને રામચંદ્રજી બહુ દુઃખી થયા. ।।૩।।

જામવંત કહ બૈદ સુષેના । લંકાઁ રહઇ કો પઠઈ લેના ।।
ધરિ લઘુ રૂપ ગયઉ હનુમંતા । આનેઉ ભવન સમેત તુરંતા ।।૪।।

જામવંતે કહ્યું, ''સુષેણ નામનો વૈદ્ય લંકામાં રહે છે, તેને લઇ આવવા કોઇને મોકલવો જોઇએ.'' આ સાંભળતા જ હનુમાનજી નાનું રૂપ ધરીને લંકામાં ગયા અને તરતજ સુષેણને તેના ઘર સહિત ઉઠાવી લાવ્યા. ।।૪।।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५